

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj )

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृतग्रन्थमाला

४७

१९५३

कविप्रसुरारिदिरचितम्

अनर्घराघवम्



'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार —

व्याकरण-न्याय-वेदान्ताचार्य

आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्र'

मुजफ्फरपुरस्थवधममाजमन्वृतकाले ताव्यापक



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रथम संस्करण, सन् २०१७



पुनर्मुद्रणादिका सर्वेधिकारा प्रकाशकापीना  
The Chowkhamba Vidya Bhawan  
Chowk, Varanasi-1 ( India )  
1960

## समर्पणम्

दरभङ्गा-राजपण्डितानाम् अनर्घराजन-  
नाटकस्य निपये परा प्रीति दधता

श्रीवल्लभेश्वरमिश्रमहोदयानाम्

आदरणीयकर्ममलयो

ननहुमानमुपायनीकरोति

न्या वृत्तिमिमाम्

प्रकाशप्रणेतो

रामचन्द्रमिश्र

## अनूतारण्य

अथायमुपक्रम्यते प्रकाशयितु प्रकाशात्मन्वितो मुरारिहृतोऽनर्घराघव-  
नामा नाटकप्रथ । अस्य रचयितु पञ्चिपादिक साहित्यिक गौरव चात्रे  
राष्ट्रभाषाया लिखितमस्तीति तत एवागन्तव्यम् ।

अस्य पुस्तकस्य बहवष्टीका प्रवन्ते, यथा—१ पूर्णसरन्वर्ताहृता,  
२ हरिहरहृता, ३ मानविक्रमहृता, ४ म्चिपतिदत्तहृता, ५ धर्मानन्दहृता,  
६ वन्दपुत्रहृता ७ लक्ष्मणधरहृता, ८ विष्णुपण्डितहृता, ९ जीना-  
नन्दहृता च । एतदन्या अपि टीका श्रूयन्ते ।

तत्र यथोपलब्धाञ्चिचतुराष्टीका मिलोम्य मया व्याख्यानमिदं प्रस्तुती-  
कृतम् । अत्र व्याख्यानं मया प्रथमस्य सारल्यमानीतम्, गद्यभागोऽपि सर्वत्र  
व्याख्यात । आश्चर्यकतया प्रतीयमानश्छन्दाऽलङ्कारादिनिवेशोऽपि नोञ्चित ।  
पश्चिष्टे च ज्ञातव्या मत्रोऽपि त्रिषया समावेशिता । आशासेऽनया टीकया  
छात्रा अभ्यापकाश्च यथायोग्यमुपहृता भविष्यन्ति ।

परगुणपरमाणु परेतीकृत्य विक्रमना सता नित्यक्षमामयतया दोषैक-  
दृशानसता तु पुर क्षनाप्रार्थनाव्यापारस्यापि स्वप्नञ्चनामात्रसारतया क्षमा-  
प्रार्थनामन्तरे समापयामि स्वामिमामनतारणाम् ।

मुजफ्फरपुरम् ।

स० २०१७ ।

विदुषा त्रिधेय

रामचन्द्रमिश्रः

# समालोचना

## नाटकसाहित्यकी प्राचीनता

भारतीय नाटकसाहित्य विचारधारा तथा विकासक्रममें मूलतः स्वतंत्र है इस बातको अब सभी आलोचक मानने लग गये हैं।

वैदिक साहित्यकी समीक्षामें पता चलता है कि वैदिककालमें नाटक सभी अङ्ग—संवाद, सङ्गीत, नृत्य एवं अभिनय का किसी न किसी रूपमें अस्तित्व था। ऋग्वेदके यम-यमी, उर्वशी-पुरूरवा, सरमापणिके संवादात्मक सूक्तोंमें नाटकीय संवादका तत्त्व विद्यमान है। सामवेद तो सङ्गीत प्राण ही है। आलोचकोंका अनुमान है कि ऐसमें संवाद ही कालांतर में परिमार्जित होकर नाटकोंके रूपमें परिणत हुए होंगे। रामायण—महाभारतकालमें नाटकका कुछ और स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। विराट पर्वमें रत्नशालाका नाम आया है। नट शब्दका भी वहाँ प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामीके अनुसार 'नवरत्नाभिनय चतुर' है। हरिवंशमें रामायणकी कथापर आश्रित एक नाटकके खेले जानेका वर्णन आया है। रामायणमें भी 'नट' 'नर्तक' 'नाट्य' 'रत्नमञ्च' आदिना वर्णन स्थान स्थानपर मिलता है तथा 'कुशील्य' शब्दका प्रयोग भी 'नट' वा 'आभिनेता' के अर्थमें हुआ है। महामुनि पाणिनिने 'पाराशर्यशिलालिभ्या भिज्जुनटसूत्रयो' इस सूत्रमें नटसूत्र अर्थात् नाट्यशास्त्रका स्मरण किया है। इसने स्पष्ट है कि उनके समयमें या उनसे पूर्व भी अनेक नाटक रचे जा चुके होंगे, जिनके आधारपर इन नटसूत्रोंकी रचना हुई होगी। लक्ष्यग्रन्थोंको देखकर ही तो लक्षण ग्रन्थोंका निर्माण किया जाता है।

इधर द्वितीय ईस्वी सदी पूर्वकी एक प्राचीन नाट्यशाला भी छोटा नागपुर की पहाडियोंमें पाई गई है जो नाट्यशास्त्रमें वर्णित प्रेक्षागृहोंमें मिलनी जुलती है। इस तरह संस्कृत नाटकोंकी अपनी परम्परा सिद्ध होती है।

संस्कृत नाटकोंमें रत्नमञ्चके लिए कहीं कहीं 'यवनिका' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसीमें कुछ पाश्चात्य विद्वान् अनुमान लगाते हैं कि संस्कृत नाटकोंकी उत्पत्ति 'यवन' अर्थात् 'ग्रीक' नाटकोंके प्रभावसे हुई है, किन्तु यह धारणा भ्रान्त है, 'यवनिका' शब्दका रहस्य तो इतना ही भर है कि यह पद यवनदेशसे आये हुए वस्त्रोंमें बनाये जाते थे।

प्राचीन पद्धति क्रमसे विचार करनेपर भी नाटक साहित्यकी प्राचीनता मिट्ट होती है—भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें लिखा है—

महेन्द्रप्रमुखैदवैरक्ष किल पितामह ।  
 श्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत् ॥  
 न बन्धव्यवहारोऽय सश्राव्य शूद्रजातिषु ।  
 तस्मात्प्रजापर वेद पञ्चम सार्ववर्णिकम् ॥  
 ष्वमस्तिवृत्ति तानुक्त्वा देवराज विमुज्य च ।  
 सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय सत्प्रवित् ॥  
 धर्म्यमर्ष्यं यशस्य च सोपदेश सप्तप्रहम् ।  
 भवित्यतश्च लोकस्य सर्वस्मानुदर्शनम् ॥  
 सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न सर्वशिल्पप्रदर्शकम् ।  
 नाट्यसञ्ज्ञमिम वद सेतिहास करोम्यहम् ॥  
 भुव मङ्गलस्य भगवान् सर्ववेदानुस्मरन् ।  
 नाट्यवेद ततश्चने चतुर्वेदाङ्गसम्भवम् ॥  
 जग्राह पाठ्यमृग्वेदास्तामभ्यो गीतकानि च ।  
 यजुर्वेदाद्भिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥  
 वेदोपवेदे सम्प्रदो नाट्यवदो महामना ।  
 एव भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम् ॥  
 आज्ञापिनो विदित्वाऽह नाट्यवेद पितामहात् ।  
 पुत्रानध्यापय योग्याप्रयोग चास्य तत्त्वत ॥  
 एव प्रयोगे प्रारब्ध देवदानविनाशने ।  
 अभवन् क्षुभिता सब देव्या ये तत्र सङ्गता ॥  
 देवतानामृषीणाञ्च राजासथ कुटुम्बिनाम् ।  
 कृतानुकरण लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥

शारदातनयने अर्धने 'भावप्रकाशन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें लिखा है—

'कल्पस्थाने कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान् महेश्वर ।  
 स्व महिम्नि स्थित स्वर नृत्यज्ञानदनिर्भरम् ॥  
 मनसैवासृजद्विष्णु ब्रह्माण च महेश्वर ।  
 निद्योगाद् देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानध्यासजत् ॥  
 सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ।  
 दिव्य चरित्रमैश मे कथमप्युच्यतामियात् ॥  
 इति चिन्तापरे तस्मिन्भ्यगात्तन्दिशेस्वर ।

स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोग चतुर्मुखम् ॥  
 उवाच वाङ्मय भगवानन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ।  
 नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ॥  
 विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणाश्विनम् ।  
 भरतेषु प्रयोज्य तत्त्वया मन्मथग्विज्ञानता ॥  
 तस्मिन् प्रयुक्ते भरतेर्भावाभिनयकोविदे ।  
 प्राप्तानि च कर्माणि प्रयत्नाणि भवन्ति ते ॥  
 एवमब्रुवन्न्तरधानन्दो स भगवान् प्रभु ।  
 श्रुत्वा तद्ब्रुचनं प्रीतो ब्रह्मा दत्तं समन्वितं ॥  
 ततस्त्रिपुरदाहाय रूपकं संप्रगभ्यधात् ।  
 अध्याप्य भरतानतत्प्रयुङ्क्त्वमिति चात्रवीत् ॥  
 ततस्त्रिपुराटारये कदाचिद् ब्रह्मममदि ।  
 प्रयुज्यमाने भरतेर्भावाभिनयकोविदे ॥  
 तदेतत् प्रेक्षमाणस्य मुनेभ्यो ब्रह्मण क्रमात् ।  
 वृत्तिभिः सह च चार भङ्गाराद्या विनिर्गता ॥

उपर्युक्त समीक्षा तथा उद्धरणोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटक साहित्यने अपने क्रमबद्ध विकासमें वैदिकवाङ्मय, इतिहास तथा पुराणसे प्रचुर प्रेरणा पाई है। इस प्रकार भारतीय नाटकके विकासमें बहुत समय लगा होगा। उन्हीं नाटकसमये एक नाटक है —

### अनर्घराघवनाटक

अनर्घराघव रामायणकी कथापर आधारित एक सात अङ्कोंका नाटक है, इसी नाटककी योग्यता तथा रोचकताके कारण इसके प्रणेता 'बालवाङ्मयिक' नामसे प्रख्यात हो गये हैं। इस नाटककी भाषा, भावसमृद्धि और कथावस्तु सबत्र मरल नहीं होनेपर भी विद्वत्ता तथा कविव्रमे पूर्ण मानी जाती है। अधिकारकल्पनायें मौलिक तथा निची ढङ्गके रूपमें प्राकृतिक हैं, तिनसे यह नाटक नितान्त गौरवपूर्ण बन गया है। यद्यपि विद्वेशी आलोचकोंने कहा है कि भारतीय विद्वान् मुरारिको अनुचित तथा अनपेक्षित प्राधान्य दते हैं, परन्तु उनका ऐसा कथन इसलिये असंगत है कि वे अनर्घराघवको विना समझें ऐसा कहते हैं। अनर्घराघव नाटक साहित्यका मेरुदण्ड, व्याकरण-नैपुण्यका परीक्षा निकष माना जाता है। भट्टोजिदीक्षितके ऐसे व्याकरणने भी अपनी सिद्धान्त कौमुदीमें इसके अनेक उद्धरण दिये हैं जिससे इसकी विद्वत्तापूर्णता असन्दिग्ध रूपमें प्रकाशित होती है।



## कविचर मुरारि

अधिकांश भारतीय कवियोंकी तरह मुरारिना परिचय भी अन्धकारपूर्ण है क्योंकि इन्होंने जो अपने विषयमें लिखा है वह बहुत भ्रष्ट है। उनके लेखमें इतनाही ज्ञात होता है कि यह नौदाल्यगोत्रोपत 'वर्धमान'के पुत्र 'तत्सुमती' गमन थे।

इनके समयका निरूपण इन्हीं आधारपर किया जाता है कि इनके नाटकमें भवभूतिके नाटकाका स्पृहणीय अनुकरण पाया जाता है, अतः इनका समय भवभूतिके बाद हीना चाहिये। ८००-८८४ ए. डी. में वर्तमान 'अनन्तवर्मा'के दरबारमें रहनेवाले तथा 'हरविजय' महाकाव्यके प्रणेता 'रत्नाकर'ने लिखा है 'अद्भुतनाटक द्वयोत्तमनायकस्य नाम कविर्व्यधिन यस्य मुरारिरित्यम्'। इससे इनका तत्पूर्ववृत्तत्व प्रमाणित होता है। मुरारिने लक्ष्मण अयोध्या आते हुए रामके मुक्ताभ्यासमें अन्धान्य स्थानोंके साथ साहिष्मती' नगरीका वर्णन करवाया है—  
'इयं च करचुलिनोन्दमाधारणप्रमहिषी साहिष्मती नाम चन्मिण्डलमुष्टमाला नगरी'।

साहिष्मतीके करचुलि राजगण नवम शतकके मध्यमें 'साहिष्मती' छोलकर त्रिपुरी तथा 'रत्नपुरा' नामके ग्रन्थानिया बसा ली थीं।

बहुत सम्भव है कि मुरारि 'उदात्तराज' नामके एकके प्रणेता 'अनन्तवर्मा' नामके 'करचुलि' नरशके समकालिक रहे हों। अनन्तवर्मा स्वर्ण 'उद्दिनीमत' नामके ग्रन्थमें किया गया है।

इन सभी बातोंपर ध्यान इनमें प्रतीत होता है कि मुरारि अष्टमशतकके चरम तथा नवमशतकके प्रथमभागमें निवसमान थे।

### मुरारिका ग्रन्थ

मुरारिकृत ग्रन्थ एकमात्र 'अधरायव'ही प्राप्त होता है। परम आदरणाय होनेमें वह एक ही ग्रन्थ माघकी तरह अक्षयकान्तिना कारण इन गया।

शास्त्रधरपद्धतिमें लिखा है—

'भवभूतिमनादय निवागमतिना मया।

मुरारिपद्चित्त यामिदमाधीयत मन ॥'

अन्य सूक्तिया भी हैं—

'मुरारिपदविन्ता चेतदा माघ मति कुर।

मुरारिपद्चित्ता चेतदा माघ मति कुर ॥'

'मुरारिपद्चित्ताया भवभूतेस्तु का कथा।

भवभूति परित्यज्य मुरारिसुररीकुर ॥'

‘मुरारिस्तृतीय पन्था’ ।

मीमामाके भाट्टरहस्यादि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जिनका नाम तथा मत आया है वह मुरारि मेधिल ब्राह्मण तथा प्रकृत नाटक प्रणेता मुरारिसे भिन्न थे । प्रायः ‘मुरारिस्तृतीय पन्था’ यह आभाणक उन्हींके विषयमें चला था क्योंकि उनका मत भट्टमत तथा गुम्मतसे भिन्न था ।

ने समझता हूँ मुरारि भी दाक्षिणात्य ब्राह्मणोंमेंसे किसी ब्राह्मणवशम उत्पन्न हुए थे क्योंकि उनकी कवितापर भवभूतिका बड़ा प्रभाव पड़ा है, उनके समयमें और भवभूतिके समयमें तितना अन्तर है उनन समयमें दूरवर्ती कविपर इतना प्रभाव होना सम्भव नहीं है ॥

### मुरारिका शास्त्रीय पाण्डित्य

अनर्घराघवदा प्रत्येक पृष्ठही मुरारिके शास्त्रीय पाण्डित्यका प्रमाण है, खामकर मुरारि व्याकरण, धर्मशास्त्र, वेद, राजनीति और वैशेषिकके मर्मज्ञ प्रतीत होते हैं क्योंकि इन शास्त्रोंक तत्त्व उनक मुरारि बनायास निकल जाया करते थे । उदाहरणार्थ द्त्रिये—

- राजनति — १-‘अहिभयोपजायजर्जर सुहृद्गृहमुपश्रुत्य आसवलकदश बालि प्रतिग्रहाय प्राहिणोत्’ ( अङ्क २ )  
 २-‘आरण्योऽग्निरिव सुखदुःखामर्षन तेनो विक्रमयति, मण्डलस्य चानुब्राह्मो भवति’ । ( अङ्क ४ )  
 ३-‘राजपुत्रोऽद्भुतो सां बालो नवपुद्गिरामपात्रमिव यद्यदाधीयते तत्तद् वाचस्पति’ । ( अङ्क ६ )  
 ४-‘अरिपङ्कर्वर्ग एवायमस्यास्तातपदानि पट् तेषामेकमपि विदुन्दन् रज्जय अमरीं श्रियम्’ । ( अङ्क ६ )
- व्याकरण— १-‘प्रकृष्टरभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन्’ । ( अङ्क २ )  
 २-‘तपोभिरस्य ब्राह्मणातिदेशोऽपि क्षत्रकार्यं न जहाति’ ( अङ्क ३ )
- वेद— १-‘परिणमयति ज्योतिवृत्त्या यजू पि’ । ( अङ्क २ )  
 २-‘गायत्री द्रुपदा दत्री पाप्मानमपहन्तु ते ।  
 पुनन्तु पावान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम् ॥’ ( अङ्क ४ )
- धर्मशास्त्र— १-‘न दीक्षिष्यमाणा वृष्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियस्यपाददते ( अङ्क २ )  
 २-‘आतिपातिक कर्मणि राज्ञा सद्य शुद्धिः’ । ( अङ्क ५ )
- वैशेषिक— १-‘त्रिरव चालुपमस्तमन्ति हि तम ष्वल्यमौपाधिक प्राच्यादिष्ववहारशीजविरहादिह्यमात्रमेव स्थितम्’ । ( अङ्क २ )  
 २-‘वैशेषिक कन्दली पण्डितो जगद्विजयमान पर्यटामि’ ( अङ्क ५ )

## मुरारिका कवित्व

केवल शास्त्रीय पाण्डित्यके बलपर कोई प्रसिद्ध नाट्यकार होने का दावा नहीं कर सकता है -त मुरारिका कवि-जबतक हमारे सामने न आव तबतक हम उनके नाटकका आदर कैसे करेंगे ।

इस सम्बन्धमें म उनके नाट्यसे कुछ उद्धरण दकर उनके कवि-वका उदाहरण उपस्थित करता हूँ । देखिये —

'त्रियाणा रक्षायै दशरथमुपस्थाय त्रिमुञ्चं  
मुनी विश्वामित्रे भगवति गते सम्प्रति गृहान् ।  
तपेलैशत्रलेशाङ्गुपशमितविनप्रनिभय  
प्रवृत्ते यष्टु वा रघुमुल्लस्येनाम्तमयते ॥ ( १ ४१ )

रामको यज्ञरक्षार्थ तपोवन ले जानेके लिये विश्वामित्र दशरथक यहाँ आये थे, दशरथ विचार करते हैं कि विश्वामित्रक ऐसे तपस्वी यज्ञकी रक्षाके लिये मेरे पास आये अगर वे यों ही लौट जाते हैं और अपने तपके अंशको मर्च करके यज्ञ करने लगते हैं तब रघुवशकी दागीरताकी कथा ही भरत हो जाती है । कितनी उदारभावना तथा प्राङ्गल कथन है ।

'एकद्विप्रभृनिक्रमेण गणनामेपाभिवान्त यता  
कुवाण समशोचयद्दशशतान्यम्भोजसर्वशिका ।  
भूयोऽपि क्रमश प्रमारयति ता सम्प्रत्यमूनुद्यन्  
सरयानु सकुतूरत्वेव नलिनी भानो सहस्र करान् ॥ ( २ ५ )

कमलिनी सहस्रपत्रा होती है, जब सूर्य अस्त होने लगते हैं उनके अस्त होते हुए करोंके एक एक गिनती हुई यह कमलिनी अपने हजार पत्रोंको सङ्कुचित कर लेता है स्वयं मुद जाता है, फिर जब सूर्य उगने लगते हैं तब उनके उद्विग्न होने वाले करोंकी गिनती सी करती हुई वहीं नलिनी अपने हजार पत्रोंका विकसित कर लेती है । कितनी अच्छी उत्प्रेक्षा है यह ।

'दातव्यदमत्ररथमव दृहिता कस्मेचिद्नामसौ  
दोर्लोलामसृगीश्रुतत्रिभुवनो लङ्कापतिर्याचते ।  
तत्किं मूढवदीक्षसे ननु यथागाष्ठीपु न शासति  
त्वद्बृत्तानि परोरचासि मुनय प्राच्या मरीष्यादय ॥ ( ३ ४४ )

राज्य की ओरसे सीता की मँगनी करनेके लिये जाया हुआ पुरोहित शौकल जनकमे कह रहा है कि जब आपको कन्यादान करना ही है तब आप क्या देख रहे हैं, रावणके समान वीर पात्रका मिलना आपका सौभाग्य है । आप

विचार क्या करते हैं, आपका विचार करना मृदुताका प्रतीक है, आपसे तो ऐसी आशा नहीं की जाती है ।

रामने धनुर्भङ्ग कर दिया, पुरोहित शौक्लको इसकी खबर मिल गई, वह नारहा है, परन्तु जाते जाते चेतावनी देता है, वह कितना रम्य है —

समन्ताहुत्तलै मुरसहचरीचामरमर-  
 सरद्वैरमीलद्भुजपरिघसारभ्यशुचिना ।  
 स्वय पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता  
 मरे राम त्व मा जनकपतिपुत्रीमुपयथा ॥ ( ३ ६ )

रावगने जिस सीताको हृदयमें रख लिया है उस सीताके साथ विवाह करना सर्पमें खेलना होगा, अतः हे राम, धनुर्भङ्ग की कीर्तिमात्रसे सन्तुष्ट होकर आप लौट जाँय, विवाहके फन्देस न पडें ।

प्रमाद गुण कविताकी रीढ मानी जाती है । दक्षिण —

अभेदेनोपाम्ने कुमुदमुदरे वा स्थितवतो  
 विपत्तादम्भेनादुपगतवतो वा मधुञ्जिह्व ।  
 अपयाप्त कौऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय  
 प्रत्ये साधूनामयमनभिसन्धानमुर ॥ ( ६ ९ )

कुमुद अपने उदरमें रहनेवाले तथा शत्रुभूत कमलोंके पाससे जानेवाले भ्रमरोका समान आदर करता है, ठीक ही है साजुजन स्व तथा परका विचार किये बिना ही उपकार किया करते हैं ।

कितने उदाहरण दिये जाँय, श्लोकोंका अर्थ गौरव माघके श्लोकोंकी याद दिलाते हैं, बन्धगाढता तथा उपस्थापन शैलीके लिये एक श्लोक दगिये —

‘क्त्वान्तमुरुरोकरविन्दुमुखो मानुपद्वन्द्वयुद्ध  
 कीडाकण्डूयदूर्नस्त्रलसकलमुजालोरभूयोविलस ।  
 मन्भूयोत्तिष्ठमानस्त्रपरत्रलमहासन्धसपातभीमा-  
 मुवा शीवागमोष्ठीगुणमदनिर्गुणो नेकपेय पिषते ॥ ( ६ ३ )

रावगने युद्धावतरणका यह वर्णन कितना उदात्त बना है ।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इस नाटकमें कविबका बडा सुन्दर विकास है ।

## कथासार

अङ्क १

महर्षि विश्वामित्रके आश्रममें यज्ञ होनेवाला है, उन्हीं दशरथके पास जाकर राम तथा लक्ष्मणको यज्ञरक्षार्थ आश्रम लेनानेकी इच्छा प्रकट की। हृदयमें व्यथित होकर भी दशरथने विश्वामित्रका अनुरोध स्वीकार किया और विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणको आश्रममें ले जाये। वसिष्ठने भी वामदेवके द्वारा विश्वामित्रके अनुरोधका समर्थन किया।

अङ्क २

आश्रममें जानेपर रामने यज्ञकी रक्षा की। एकदिन संध्यामसक राक्षसोंने उपद्रव मचाया। विश्वामित्रकी आज्ञामें धनुष्यागि रामने ताडका का बध किया। विश्वामित्रने रघुकुलकी कीर्तिका गान किया।

अङ्क ३

विश्वामित्र राम तथा लक्ष्मणके साथ मिथिला जाये। वहाँ जनकने सीता स्वयंवरकी पूरी तैयारी कर रखी थी। विश्वामित्रके साथ राम लक्ष्मणको देखकर जनकको बड़ी प्रसन्नता हुई। विश्वामित्रने जनककी तथा जनकने विश्वामित्रकी बड़ी प्रशंसा की। वहीं पर विश्वामित्रने राम लक्ष्मणका परिचय कराया। जनकने अपनी प्रतिज्ञापर खेद प्रकट किया। इस पर विश्वामित्रने कहा कि दिग्गलाइये हर चाप, राम उम्मे भग्न करेगे। इसी समय रावणका पुराहित शौण्डिल आया, उसने बड़ी भूमिकाके साथ सीताकी भेगनी रावणके लिख की, उसकी बातके समाप्त होनेसे पहले ही रामने धनुर्भङ्ग कर लिया और वह अपनासा मुँह लेकर चला गया।

अङ्क ४

माल्यवान् तथा शूर्पणखाके बधोपबन्धन रूपमें अनन्तर करणीय स्थिर किया गया। इधर हरनाभभङ्ग सुनकर कुपित परशुराम मिथिलामें जाये। उनके कोपका सौम्य उत्तर रामने दिया, पर तु वह चढता ही गया, अन्तमें उन्होंने अपना वैष्णव धनुष रामको चणानेके लिये लिया, रामने अत्र उम्मे चढा दिया तब उनका सशय दूर हो गया, और वह आशीर्वाद देकर तपस्या करने चले गये। उनके जानेके बाद सीता विवाहोत्सवके साथ परशुराम विजया श्च भी मनाया ही जा रहा था कि कर्क्याने दासीने द्वारा पत्र भेजकर अपने

वरदानोंमें रामवनवास तथा भरतका राज्याभिषेक मागा। सभीमर्माहत हो उठे। परम पितृभक्त राम सीता तथा लक्ष्मणके साथ वन चले गये।

अङ्क ५

रामके वनमें जाने पर रावणने भिक्षुका वेप बनाकर रामके आश्रममें प्रवेश किया, उस समय राम आश्रममें नहीं थे। सीताका हरण हुआ, अज्ञात मारे गये, पीछे सब समाचार जानकर राम बड़े दुःखी हुए, उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये बालिबधपूर्वक सुग्रीवके साथ मंत्री कर ली।

अङ्क ६

सुग्रीव द्वारा आयोजित मारी वानर सेनाने समुद्र बाधकर लङ्कापर आक्रमण किया। युद्धमें इन्द्रनिव कुम्भकर्णके मारे जानेके बाद रावण स्वयं लड़ने आया जोर बड़ा भीषण युद्ध करता रहा। अन्तमें रामके अश्वोंमें आहत होकर वह भी धराशायी हो गया।

अङ्क ७

अग्नि परीक्षाके बाद शुद्धा सीताको साथ लेकर पुष्पक विमानपर आरूढ हो राम आदि अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए। मार्गमें नाना नदी, पर्वतों, स्थानोंको देखते हुए वह अयोध्या पहुँचे, जहाँ वसिष्ठ आदि उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रामका राज्याभिषेक होता है ॥

### कथाका आधार

अनर्घराघवकी कथा रामायणकी प्रसिद्ध कथापर आधारित है। जो कुछ परिवर्तन परिवर्धन किया गया है वह नाटककी दृष्टि से ही। इसमें भी महावीर चरितकी तरह राम-वनगमनका प्रसङ्ग मिथिलाम ही उठा दिया गया है। माल्यवान् तथा जाम्बवान् की पूरी मात्रगाय कविकी सृष्टियाँ हैं तिनसे कथा तथा रसका परिपोष होता है। परशुरामका विस्तृत भाषण-वर्णन कायसौष्ठव लाने तथा वीर रसको परिपुष्ट करनेके लिये किया गया है। सप्तम अङ्कमें कथा भाग नहींके बराबर है, उसमें तो कालिदास कृत रघुवशके त्रयोदश सर्गकी तरह केवल वर्णन मात्र है।



## पात्रालोचन

### १—राम

रामका चित्रण इस नाटकमें आदर्श वीरके रूपमें किया गया है। विश्वामित्रने यज्ञमें उनके गुरु विश्वामित्र उन्हें आदेश देते हैं कि 'गृहाण चाप निगृहाण ताडकाम्' उसपर वे कहते हैं कि यह तो स्त्री है। आप इसको मारनेकी आज्ञा क्यों दे रहे हैं। इसपर विश्वामित्र कह उठते हैं कि आपकी बाधा समीप आरही है उत्तर प्रयुक्त मत करो, इसको मारो। इसपर राम उसका बध तो करते हैं परन्तु उन्हें लज्जा होता ही है।

परशुरामसे बातें हो रही हैं, दशरथ, जनक, शतानन्द सभी गुरुजन उन्हें मना रहे हैं परन्तु उनका पारा नहीं उतरता, रामकी वीरता सौजन्यमें आवृत है वह कुछ कटोर बात नहीं निम्नालते हैं। परशुराम धड़ते जा रहे हैं, तब रामने देखा कि ऐसे काम नहीं चलेगा तब वे बोल उठे—

'नृपानप्रयत्नान् क्रिमपवदसे नन्वयमह शिशुक्रीडाभग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुर।  
अहङ्कारक्रान्तिभुजवनव्रश्चनकलानिसृष्टार्था बाहु कथय कतरस्ते प्रहरतु' ॥

व्यर्थमें बड़े बूढ़ोंका अपमान क्यों करते हैं, बालक्रीडामें ही शिवधनुर्भङ्गक म तो आपके सामने ही खड़ा है, सहस्रार्जुनको मारनेवाला आपका कौनसा हाथ मुझपर प्रहार करेगा? कृपया इमकी आज्ञा दीजिये।

कितना नम्र और दृढ़ यह वचन है, कितनी बहादुरी इस वचनके पीछे छिपी है।

परशुराम परास्त होकर जाने लगते हैं तब भी रामने उनकी बकी प्रतिष्ठा की जिससे उनकी वीरतामें चार चाँद लग गये हैं।

### २—लक्ष्मण

लक्ष्मण का चित्रण इस ग्रन्थमें बहुत थोड़ा है पर जहाँ है वहाँ उन्हें रामका अनुगामी चित्रित किया गया है। चन्द्रोदयादि वर्णनमें वह रामके साथ है। ताडकाके बधके समय जब राम शीवधके लिये कुछ विचारमें पड़ जाते हैं तब लक्ष्मण उन्हें कहते हैं कि जब विश्वामित्र कह रहे हैं तब कोई क्षति नहीं है।

परशुरामके आनेपर इनका कोप भडकता है, परन्तु रामके आदेशसे इन्होंने अपनेको सयत कर लिया। इस प्रकार यह धरापर रामका अनुगामी रहे।

### ३—सीता

सीताका चरित बहुत स्वरूप है, विवाहके पहले, वन जानेके समय, कहीं भी सीताका कुछ ऐसा उल्लेख नहीं है जिससे चारित्रिक विशेषणापर प्रकाश पड़े।

## ४—रावण

इस नाटकमें रावण प्रतिनायक है। प्रतिनायकका उत्कर्ष वर्णन फलतः नायकको उत्कर्षमें पर्यवसित होता है, इस दृष्टिसे रावणका चित्रण बहुत साधारण हुआ है। रावण वीर अवश्य है परन्तु इस नाटकमें उसका चित्र विलासीका चित्र है। उसकी बहादुरीका अवसर उपस्थित होता है लङ्काके घरे जानेपर। उसे हम चरित्र नहीं कहकर कात्ति कहते हैं।

## ५—मान्यवान्

यह रावणका मातामह भ्राता तथा मन्त्री है। इसका राजनीति ज्ञान इसके नापगोमे स्पष्ट झलकता है। इसके चार गण सर्वत्र सतर्क तथा बुद्धिमान् हैं। माह्यवान् भक्तिप्यकी चिन्ता इतनी सावधानीसे करता है कि इसके लिये उसको धन्यवाद देना चाहिये। राम रावणयुद्ध अभी दूर है परन्तु उसे उस समयकी परिस्थितिका चित्र अङ्कित करके अपने सहधर्मियोंको समझाना तथा तदनुसार आचरण करना है। वाली उसके मित्रोंमें है, उसने द्वारा की गई स्वपक्षपरपक्ष विवेचना तथा राजनीतिक घाट प्रतिघानकी एक राजनीतिक विवेचना होगी।

## ६—परशुराम

स्वाभाविक वीरता, तपस्या तथा गुरुभक्तिसे पूर्ण वे रत्नमञ्जपर जात हैं, उनका क्षत्रियविरोध तथा वीरभाव इतना प्रकट है कि वह रामकी बातोंपर ध्यान तक नहीं देना चाहते, वे अपनी ही बात कहे जाते हैं।

परशुरामको ब्राह्मणत्वकी पत्र तपस्या तथा क्षत्रियोचित वीरताका भी समान अभिमान है। शतानुवकी घातोंमें उनको चिढती होती है।

वीर होनेके कारण परशुराम रामकी प्रशंसा भी किये बिना नहीं रह सकते हैं, वह कह उठते हैं—'नापराद्धमस्मासु धत्सेन।'

## ७—विश्वामित्र

विश्वामित्रका चरित्र इस नाटकमें मूलस्रोत माना जाता है, वे रामको उम्मी प्रकार सवारत हैं जैसे मुद्राराक्षसका चागव्य चन्द्रगुप्तका। धनुष उठानेकी आज्ञा देते हैं तब धनुष उठता है, ताडका रथकी प्रेरणा होती है तब ताडकावध होता है। रामके सभी कर्तव्योंकी चिन्ता विश्वामित्रकी ही है।

इस नाटकमें पात्रके चरित्रपर कम ध्यान दिया गया है, वर्णन पर अधिक अतः चरित्रचित्रणका प्रकरण कुछ छोटा हो गया है।





## पात्र-परिचय

### पुरुष पात्र

१ दशरथ	अयोध्या गीश	१३ शौकन्त	रावण पुरोहित
२ वामदेव	दशरथके पण्डित	१४ माल्यवान्	रावणके मन्त्री
३ विश्वामित्र	प्रसिद्ध ऋषि	१५ जाम्बवान्	सुग्रीवके मन्त्री
४ राम	दशरथपुत्र	१६ जटायु	दशरथमित्र, गृध्र
५ लक्ष्मण	"	१७ गुह	नाविक
६ दौवारिक	एक मिपाही	१८ बाली	किष्किन्वाधाग
७ शुन शेष	विश्वामित्रशिष्य	१९ शुक	रावणके चर
८ पशुमेढ्र		२० मारण	"
९ शतानन्द	गौतमपुत्र जनक	२१ रत्नचूड	व्योमचारा सिद्ध
	पुरोहित	२२ हेमाङ्गद	"
१० जनक	मिथिलाधीश	२३ विभीषण	रावणानुज
११ परशुराम	प्रसिद्ध क्षत्रियद्वेषी	२४ सुग्रीव	वानरराज
१२ कञ्चुकी	जनकके दरबारका	२५ भरत	राम के अनुज
	भृत्य	२६ शत्रुघ्न	"

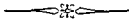
### स्त्री-पात्र

१ सीता	जनकपुत्री	३ शूर्पणखा	रावणकी बहन
२ कलहसिका	सीताकी दासी	४ अश्विनी	तापसी

॥ श्री ॥

# अनर्घराघवम्

‘प्रकाश’ सस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्



प्रथमोऽङ्कः

निष्प्रत्यूहमुपास्महे भगवत कौमोदकीलक्ष्मण  
कौरुप्रीतिचकोरपारणपटुज्योतिष्मती लोचने ।

भूतेषु नियमाय भोनिनि गते दूर वदचित्रन्दिनि  
म्लाने बालविधौ तथासृतभुजा मिन्यो भजन्या नृधम् ।  
यस्मिन्हमवती वरध विविधा भाद्रानुघन्धोद्भुरा  
चतोरुत्तिमसौ वृषीष्टकुशल दवो द्विपेद्रानन ॥ १ ॥  
श्रद्धानतेन शिरसा पितर मधुसूदनम् ।  
प्रम् जयमणिं चाह प्रणमामि पुन पुन ॥ २ ॥  
श्रीममुरारिकविता भावानवबोधप्रद्वेमुखात् ।  
मन्ये कतिचन बालान् प्रोसाहयिता प्रशाशोऽयम् ॥ ३ ॥  
मन्तो गुणेन तुष्यन्ति मनेरान्तेन दुर्लभ ।  
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पात क्रियता बुधै ॥ ४ ॥

नाटकप्रणयनयशस्वी महारविर्मुारारि शिष्टाचारानुमितकर्त्तव्यताक नान्दी  
सज्ञया प्रथमान मङ्गलमारचयति—निष्प्रत्यूहमिति । प्रत्यूहस्य विनस्याभावो  
निष्प्रत्यूहम् तस्मै निष्प्रत्यूहम् विघ्नाभावाय चिकीर्षितग्रन्थममाप्तिप्रचारयोनिर्विघ्न  
सम्पत्तये भगवत सर्वमामर्ष्यशालिन कौमोदकीलक्ष्मण कौमोदकी नाम विष्णु-  
गदालक्ष्म चिह्न यस्य तस्य तथोक्तस्य गदाधरस्य विष्णो कोकस्य चक्रवाकस्य  
प्रीति आनन्द चकोरस्य तदारयया प्रसिद्धस्य पक्षिभेदस्य पारणमुपवासान्त  
भोजनञ्च तयो कोकप्रीतिचकोरपारणयो पटुनी ज्योतिषी ययोस्तादृशी लोचने

विनशान्तिके लिये कौमोदकी नामक गदाने भूषित भावान् विष्णुक वन मयनोंको  
उपासना करते हैं जिनमें कोककी प्राणि तथा चकोरके वनान्त भोजनमें उपयुक्त सूर्य

याभ्यामर्घविवोधमुग्धमधुरध्रीरर्धनिद्रायितो

नाभीपत्रत्वपुण्डरीकमुकुल कम्पो सपत्नीकृत ॥ १ ॥

नयने उपास्महे आराधयाम्, भगवतो त्रिगोर्नयने सूर्यचन्द्रामके, तत्र सूर्य  
ज्योतिषा दिप्रममयोगिन कोरस्य प्रीति, चन्द्रज्योत्स्नापिवस्य चकोरस्य दिप्रमम  
नाहारेण यापितवतो ज्ञायमाने चन्द्रोदये पारणजायत इति नयनयोस्तयो कोक  
प्रीतिचकोरपारणपदुज्योतिष्मत्त्वमुच्यत । याभ्या सूर्यचन्द्रामभ्या विष्णुलोच  
नाभ्याम् अर्धविबोधेन आशिरत्रिजासेन मुग्धमधुरा अतिमनोहरा ध्री शोभा  
यस्य तथोक्त सूर्यरूपनेत्रमपर्ववशादर्थविक्रमिततया मनोहारीरर्ध, अधनिद्रा  
यित चन्द्ररूपद्वितीयनेत्रप्रभामपर्ववशादर्थमुद्रितश्च नाभी पत्रत्वमिव अल्प सर  
इव तस्य यत्पुण्डरीक सिताम्भोज तस्य मुकुल कल्िका कम्पो शङ्खस्थ सपत्नी  
कृत सादृश्य प्रापित । अयमाशय — विणोस्ते नयने भनामो ये सूर्यचन्द्रामक  
तया कोकप्रीति चकोरपारण च जनयत, किञ्च याभ्या सगृप्त कमललोचनस्य  
नाभीपत्रत्वपुण्डरीकमुकुलोऽशतो विक्रमितो मुद्रितश्च भूत्वा शङ्खस्थ साग्यमुपा  
च्छंतीति । निष्प्रत्यूहमिति 'अयय विभक्ती'त्यादिना समासे 'नाययिभावादतोऽ  
भवपञ्चम्या' इति चतुर्थ्या अम्भाव । 'कोमोदङ्गीलक्ष्मण' इति भगवतो द्वितो  
पण घृताश्रतया तस्य विशेषशमनसमर्थतामाह । इतराप्यङ्गानि विहाय भगवतो  
नेत्रयोरेव क्रियमाणाऽऽराधना तदीयशुभदृष्टिनिपाताभिलाषिता घनयति ग्रन्थकृत ।  
कोकप्रीतिचकोरपारणपदुज्योक्त्या च परमकारणिकयोर्नयनयोर्नैव कञ्चनोपाधि  
कोकाना प्रियाविरहशोकापहारितया प्रीतिप्रदानेन चकोराणा ज्योत्स्नारूपभव्य  
प्रदानविधया चोपकारितया निवेद्यमानया उपामनाकस्तुरभिलषितार्थप्रदानृव  
ध्वन्यते । नाभ्या पत्रत्वस्वरूपणेन गभीरताध्वनि, पुण्डरीकस्य श्वेतगुणयोर्  
तायाऽध्विकानितया च शङ्खसादृश्यमप्रगन्तव्यम् । अत्रार्धविवोधमुग्धमधुरध्रीरित्य  
नेनेवार्धनिद्राणत्वे लब्धेऽवशिष्टार्धसण्डितत्वज्ञानिराकरणायार्धनिद्रायितत्व दा इत  
उक्तम् इति केचित् । केषिन्तु 'अर्थत प्राप्तेऽपि निद्राणत्वे स एव विशेष शाब्दा  
वृत्त्या परिचीयतामिति तदुपादान शाब्दा वृत्त्या प्रकाशन न पौनरुक्त्यमावहती  
त्याहु, तथा चोक्त सरस्वतीकण्ठाभरणे—'आध्या वृत्त्या लब्धस्य शाब्देतिहामादौ  
शाब्दा वृत्त्या भणन न पौनरुक्त्याय' ।

अत्र निष्प्रत्यूहमित्यनेन प्रकृते निर्गत प्रसूहो रावणादियस्मास निष्प्रत्यूहो

चन्द्रात्मक ज्योति विद्यमान है, तिन सूर्यचन्द्रात्मक नरनोंके संपर्कसे आधा विक्रमित  
तथा आधा सुकुलित भगवान्वा नाभि कमल रङ्गकी समताको प्राप्त करवा दिया  
जाता है ॥ १ ॥

अपि च—

विरमति महाकल्पे नाभीपथैकनिकेतन

त्रिभुवनपुर शिल्पी यस्य प्रतिक्षणमात्मभू ।

किमधिकरण कीदृक्स्य व्यवस्थितिरित्यसा

उदरमविशद्द्रष्टु तस्मै जगन्निधये नम ॥ २ ॥

रामभद्रन्तमुपास्महे इति नायको रामस्तत्कृतराजगणवधश्च सूच्यते, कोमोदकीति, कीं पृथिव्या मोदनी हर्षहेतुरिन्द्रनिद्रिनाश, कोकप्रतीति मोक्तुल्यो त्रिभीषण, चक्रोरपन्त तदुपम सुग्रीव, अर्धत्रिमुग्धाधत्रिनासपद्मभ्या राजगमेनाया अविक्रामो रामसेनाया विक्रामश्च सूच्यन्ते ।

उपनात्रालङ्कार, कर्मो मादरयस्य कमलमुकुल बोधनात् । ‘कोमोदकी गदा’ ‘विघ्नोऽतराय प्रयुह’ ‘चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्’ ‘पल्लव चात्पसर’ ‘पुण्डरीक सिताम्भोजम्’ ‘कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्’ ‘कोकश्चक्रश्चक्रवाक’ ‘शङ्खोऽस्त्री कस्तुर-स्त्रियाम्’ इति सर्वत्र कोपा ।

शार्दूलविनीडित वृत्तम्—‘मयाश्वेर्मसनास्तता मगुरव शार्दूलविनीडितम्’ इति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

विरमति । महाकल्पे महाप्रलये विरमति अतिक्रामति सति पुन सर्गप्रारम्भ काले नाभी पथे पथा भगवदुदरप्रवेशमार्ग एकम् अद्वितीय निकेतन वामस्थान यस्य तथोक्त, त्रिभुवनपुर त्रिलोकीनगर्या शिल्पी निर्माता असौ आमभू ब्रह्मा कस्य वस्तुन कीदृक् व्यवस्थिति व्यवस्था किमधिकरणा च कस्मिन् अधिकरणे क पदार्थ क्व रूपेण व्यवस्थित इति द्रष्टु प्रयत्नमीक्षितु यस्य भगवत उदरमविशन् तस्मै जगन्निधये जगन्निवामाय चारायणाय नम । महाप्रलयावमाने सृष्टिभारवु कामो भगवताभीकमलनास्तयो ब्रह्मा सल्लसष्टव्यपदार्थस्थितिपरिचयार्थं यस्य भगवतो विश्वावासभूतमुदरमविशत्तस्मै जगन्निवासाय प्रलये विश्वमात्मनि सहनवने नमोऽस्तु इत्यर्थं ।

अनेन पद्येन दशप्रवे विरमयामभू रामो लङ्कोदर तत्सन्निवेशदर्शनाय प्रविष्ट

प्रलयकालके समाप्त होनपर विष्णुके नाभिकमलने रहनेवाले तथा त्रिभुवन निर्माणके शिल्पी ब्रह्मा जब ससार बनानेकी इच्छा करते हैं तब बनाये जानेवाले समारका क्या स्थिति है ? किना बड़ा अधिकरण है ? क्या व्यवस्था है ? इत्यादि सभी बातोंको प्रत्यक्ष देखनेके लिये जिस भगवान् विष्णुके उदरमें प्रवेश करते हैं, उस ससारके आश्रय प्रलय कालमें ससारकी अपने उदरमें समेट लेनेवाले विष्णुको नमस्कार है ॥ २ ॥

( नान्यन्ते । )

सूत्रधार—अलमतिविस्तरेण । भो भो लवणोदवेलावनालीतमाल  
तरुकन्दलस्य त्रिभुवनमौलिमण्डनमहानीलमणे कमलाकुचकलश  
केलिकस्तूरिकापत्राङ्कुरस्य भगवत पुरपोत्तमस्य यात्रायामुपस्थानीया  
सभासद, कुतश्चिद् द्वीपादागतेन कलहकन्दलनाम्ना कुशीलवेन रौद्र-

इत्यर्थं सूच्यते । हरिणी वृत्तम्, 'नसमरसलाग पद्भवेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति  
तरुलक्षणात् ॥ २ ॥

नामने । नन्दयति देवादीनिति नान्दी, रङ्गविघ्नोपशान्तये नटै क्रियमाणो  
मङ्गलाचरणविशेष । उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—'यन्नाट्यनस्तुन पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।  
कुशीलवा प्रकुर्वन्ति पूरंरङ्ग स उच्यते ॥ प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयासि  
यद्यपि । तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ जाशीर्वचनसयुक्ता स्तुतिर्य  
स्माप्रयुज्यते । देवद्विजानृपादीना तस्मान्नान्दीति सजिता ।' अत्राप्युक्ता नादी,  
तथा चोक्त तत्रैव, 'पदेयुक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैस्त' । अत्र पदशब्द श्लोक  
पादपर सुप्तिटन्तरूपो वेति द्वेषम्, इह तु श्लोकपादपरकतयैव समन्वय कर्त्तव्य ।

लवणोद् लवणसागर चारजलतथा तथा नाम । वेला तीरभूमि । तत्र या  
वनाली वनराजि तस्या य तमालतर तापिच्छवृद्ध, तस्य कन्दलस्य काण्ड  
भूतस्य, लवणोद्धितटत्रस्थितस्येत्यर्थ, त्रिभुवनस्य लोकरत्रयस्य मौलिर्मस्तक  
तस्य मण्डनाय अलङ्काराय य महान् नीलमणिर्नीलकान्तररत तस्य तथोक्तस्य  
लोकरत्रयवदनीयस्येत्यर्थ । कमला लक्ष्मीस्तस्या कुचापेव कलशौ तयो केलि  
क्रीडा तदर्थं कस्तूरिकया पत्र पत्रावलीविरचनम् तदङ्कुरस्थैव, हरे कृष्णत्वाग्निभि  
रिह रूपणम् । पुरपोत्तमस्य पुरपश्रेष्ठस्य । यात्रायाम् उत्सवे, 'यात्रा स्याद्याप  
नाया च गतौ द्वाचर्चनोत्सव इति धरणि । उपस्थानीया उपस्थिता, 'भव्य  
गेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लायापात्या वा' इति कर्त्तर्यनीयर् । सभासद  
सामाजिना । 'सभासद सभास्तारा सभ्या सामाजिकाश्च ते' इत्यमर । कुत  
श्चिद् द्वीपात् द्वीपविशेषात् सिंहलात् । कुशीलवेन नटेन । प्रसन्धम् नाटकम् ।  
अभिनयता प्रयोज्यदर्शयता । उद्वेजित खेदित ।

[ नान्दीके अनन्तर ]

सूत्रधार—अधिक विस्तारका आवश्यकता नहा है । लवण समुद्रके तटपर वतमान  
वनमालाके तमालवृक्षप्ररोह-ममान, त्रिभुवनक्षिरोभूषण महानीलमणितुल्य, लक्ष्माके  
कुचकलशपर लिखित भृगमदलेखसदृश इयामवण भगवान् पुरपोत्तमकी यात्रामें उपस्थित  
सभासदी, विसी अन्य द्वीपसे आये हुए कलहकन्दल नामक नटेने रौद्र, बीमस्त तथा

भीमत्सभयानकाद्भुतरसभूयिष्ठ कमपि प्रबन्धमभिनयता नित्य किला-  
यमुद्वेजितो लोक ।

तत्कस्यचिदभिमतरमभाजभाज प्रेक्षणस्य प्रयोगानुज्ञया नाट्य-  
वेदोपाध्यायबहुरूपान्तेरासी मध्यदेशीय सुचरितो नाम भरतपुत्रोऽह-  
मनुगृह्ये । यत —

प्रीतिर्नाम सदस्याना प्रिया रङ्गोपजीविन ।

जित्वा तद्वहर्त्तारमेष प्रत्याहरामि ताम् ॥ ३ ॥

( आकाशे कर्णं दत्त्वा । ) किं ब्रूथ । ‘वैदेशिको भवानसमप्रपात्र कथ  
मीदृशो कर्मणि प्रगल्भते’ इति । ( विद्वस्य । मप्रथमञ्जलि बद्ध्वा । )

अभिमतरसभावभाज अभीष्टरसभाजराजिन । प्रेक्षणस्य दर्यनाय  
प्रभेदस्य । नाट्यवेदोपाध्यायस्य नाट्यवेदाचार्यस्य बहुरूपनाम्न अन्तेवामी शिष्य,  
भरतपुत्रो नट । अनुगृह्ये अनुगृहीत स्याम् । मा नाटक प्रयोनयितुमनुमयन्ता  
भवन्त इति तदाशय ।

प्रीतिरिति । यत यस्मात् सदस्याना सामानिकाना या प्रीति मन्तोप सा मम  
रङ्गोपजीविनी नटस्य प्रिया अपक्षिता । तस्या प्रीते अपहर्त्तारम् अपहारकम्  
कलहकन्दलनामानम् ( मतत नीरसनाटकप्रयोगेण भवदीयाप्रीतिकरम् ) नट  
निवा स्वप्रयोगानेपुण्येन विनित्य ष्य अहम् ता भवत प्रीति नाम प्रियाम्  
प्रत्याहरामि पुनरानयामि । अत्र प्रियाहरणत कृत्तपराजयप्रियापुनरानयनादिभिरत्र  
नाटके वच्यमाणसीताहरणराजणपरानयसीताप्रत्याहरणादिरूपोऽथो ध्वनित ॥ ३ ॥

वैदेशिक — अन्यदशायात पथिक । असमप्रपात्र तत्तद्भूमिनाप्राहिजन

भयानक रमने ओतप्रोत कोर प्रबन्ध नित्यप्रति दिखन्कर यहाँके लोगोंको उद्वेजित  
कर दिया है ।

अन आप नाट्यकलाके आचार्य बहुरूपके शिष्य मध्यदेशवासी सुचरित नामक  
मुझ नटको आशा देकर कृतार्थ करें कि मैं अभिनय रसवाले किमी रूपकका अभिनय  
दिखलाऊ । क्योंकि—

सदस्योंको प्राति नाट्योपजीवा नटोंकी प्रियतमा हुआ करता है उसे छानकर ले  
जानेवाले उस दुष्टको चोचकर में, उस प्रीतिरूप प्रियतमाको वापस लाना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

( आकाशमें कान लगाकर ) क्या कहा ? ‘आप वैदेशिक होकर बिना पात्रोंके ऐसे  
कायमें किम प्रकार उद्यन हो रहे हैं’ । ( इसकर, नत्रनाके साथ हाथ जोडकर ) अहा,

हन्त भो, किमेवमुदीर्यते। भवद्विधानामाराधनी वृत्तिरेव मे पात्राणि समप्रयित्यति। यत् —

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।

अपन्थान तु गच्छन्त सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ ४ ॥

( पुनराकाशे कर्णं दत्त्वा । ) किं नृप ! 'तर्हि प्रहितेयमस्माभि पत्रिका' इति ।

( प्रविश्य नट पत्रिका ददाति । सूत्रधारो गृह्णात्वा वाचयति । )

'यत्र सर्वपुरुषार्थरहस्यनि स्यन्दिनि—

विस्त । इदंशे बहुपात्रप्रयोजनीयेऽभिनयात्मकं कार्यं । प्रगल्भते प्रवृत्तिमाह निवृत्त्य दर्शयति । भवद्विधाताम् विज्ञानामाजिकानाम् । आराधनी—मेवाभिधात्री । वृत्ति ध्यापारो व्यवहारो वा । समप्रयित्यति—पूर्णता नेप्यति ।

या गानि न्यायप्रवृत्तस्य नीत्यनुवर्तिनो जनस्य निर्यञ्च तिर्यग्योनिताता वित्रेऽविकला वानरादयोऽपि सहायताम् उपभारतपरता यान्ति गच्छन्ति, अपन्थानं तु गच्छन्त यान्तु तु सोदर भगव्योऽपि विमुञ्चति परिहरति । इह सन्मागानुगतस्य रानस्य वानरादयोऽपि सहाया सन्तु अपथप्रवृत्तस्य तु रावणस्य सोदरोऽपि विभीषणस्त त्यक्त्वा राममाश्रित इति नाटकीय वस्तु ध्वनितम् ॥ ४ ॥

'प्रहितेयमस्माभि पत्रिकेति नटम्यवचनानुवाद -

यत्र यस्मिन् सर्वपुरुषार्थरहस्यनिम्यन्दिनि सर्वे पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षा तेषा रहस्य गोपनीय तत्रम् तस्य निस्यन्द धारण तद्वति सर्वपुरुषार्थरहस्योद्घाटके सकलपुरुषार्थप्रदानरूपे सम्दभ इति प्रिष्टोप्यमप्याहृत्य याजनीयम् ।

एना क्यों कहते हैं । आप मरीख महानुभावोंको प्रसन्न करनेकी मेरा प्रवृत्ति ही मुझे पार्श्वोंको जुगनेमें सहायता देगी । क्योंकि—

'याय सद्गतभागसे चलनेवालोंको पशु पक्षी भो सहायता प्रदान करत हैं, और अपथ प्रवृत्त जाको जाके सोदरभी छोड देते हैं ॥ ४ ॥

( फिर आकाशमें बान लगाकर ) क्या कहा ? 'तो हमने यह आज्ञा पत्रिका दे दी' ) ( प्रविष्ट होकर नट आज्ञापत्रिका देता है । सूत्रधार लेकर पढता है )

'जिस प्रबंधमें चतुर्विध पुरुषार्थका रहस्य प्रवाहित होता है—

चेत शुक्तिकया निर्णीय शतश शास्त्रामृतानि क्रमा  
 द्वान्तेरक्षरमूर्तिभि सुकविना मुक्ताफलैर्गुम्फिता ।  
 उन्मीलत्कमनीयनायकगुणप्राप्तोपसवलान  
 प्रौढाहकृतयो लुठन्ति सुहृदा कण्ठेषु हारस्त्रज ॥ ५ ॥  
 तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरादात्तवस्तवे ।  
 जगदानन्दकन्दाय सद्भाय त्वरामहे ॥ ६ ॥

चेत शुक्तिवैति । ( यत्र मन्दर्भे ) चेत एव शुक्तिका तथा क्रमात् यथावसर  
 शतश शास्त्राणि शत शतमुपदेशप्रदशासनानि एव अमृतानि निर्णीय सादर पीत्वा  
 समालोच्य वाते उद्गीर्णे मुक्ताफलं मात्तिकै अक्षरमूर्तिभि वर्णस्वरूपे सुकविना  
 गुम्फिता सन्ध्या उन्मीलता प्रस्फुरता कमनीयाना नायकगुणाना प्राप्तस्य ससु-  
 दायस्य उपसवल्गनेन सम्बन्धन सद्भावन प्रौढाहङ्कृतय रचनोत्कर्षजनिताभि  
 मानशालिन्य हारस्त्रन मनोहारिण्यो वर्णमाला सुहृदा सहृदयमामानिकाना  
 कण्ठेषु लुठन्ति निवमन्ति । अन्यानि अपि मोक्तिकानि शुक्तिनासु बहुश पीत  
 पानानासु वान्तानि सुचतुरपुरपेग गुम्फितानि कमनीयमध्यमणितयुतानि सूत्र  
 प्रतिनानि सपुरपाणा कण्ठेषु लुठन्तीनि प्रसिद्ध तथैव चेत शुक्तिरया शास्त्रा  
 मृतानि पीत्वा वान्तैरक्षरस्वरूपमुक्ताफलं प्रथिता कमनीयनायकरूपमध्यमणितद्  
 गुणरूपसूत्रस दन्धतयोत्कृष्टताजनितगर्वभात प्रवधरूपमाला महद्वयमामानि-  
 काना कण्ठेषु स्थान लभन्त उत्थयर्थ । अत्र वान्तदाहप्रयोगेणारलीलत्वं भासङ्कि,  
 तस्य दापस्य लाङ्गिकप्रयोगानिरिक्तस्थ विषयतया नियतत्वात्, अत्र प्रकाशि-  
 नाथे वान्तपदस्य लाङ्गिकत्वात्, तथा चोक्त दण्डिना—‘निःश्वृतोद्गीर्णवान्तादि  
 गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र आभ्यकक्षा विगाहते’ । शिल्पपरम्परित-  
 रूपकमलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

तस्मै इति । तस्मै प्रसिद्धाय वीराद्भुतयो रसयोरारम्भेण सम्बन्धन ताडका  
 वधधनुर्भङ्गादिप्रकरणप्रयोज्येन गम्भीर दुरवगाहम् उदात्त सर्वहृद्य च वस्तु कथा  
 वस्तु यत्र तस्मै तथोक्ताय जगदानन्दकन्दाय सकलरसिकान् उदात्ते सन्दभाय

जिम प्रवधर्भे—हृदयरूप शुक्तियाँ शास्त्ररूप अमृत पाकर यथाक्रममे अक्षररूप  
 मौक्तिक उत्पन्न करती हैं, उन्हें लेकर सुकविना हार तैयार करते हैं, जिसमें नायक  
 ( नेता-सुमेरु ) का रमणाय गुण द्योतित होता है, जिससे अहङ्कार श्लका करता है,  
 ऐसे यह हार सहृदयोंके गलेमें शोभा पान् है—यह वान चरिताथ होता हो ॥ ५ ॥

उक्त वीर तथा अद्भुतरमणूण कथावस्तुसे युक्त ससारको आनन्द प्रदान करनेवाले  
 सद्भक्तो अभिनीत करने की शास्त्रा करे ॥ ६ ॥



( विमृश्य सहर्षस्मितम् । ) मारिष, रामायणमिति शृणोपि तत्रभवत  
कवित्वावतारप्रथमतीर्थस्य बल्मीकजन्मनो मुने सरस्वतीनिर्यासो यश  
शरीरमिच्छाकृणाम् ।

नट —अथकिम् ।

सूत्रधार —तत्प्रतियद्धप्रबन्धानुबन्धिनी परिषदाज्ञा ।

नट —( विहस्य । ) अहो, सकलकविसार्थसाधारणी खल्विय वात्मी-  
कीया सुभाषितनीवी ।

सूत्रधार —मारिष, किमुच्यते ।

नाटकप्रबन्धाद्य त्वरामहे स्तवरा भवाम । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ६ ॥

मारिषेति सूत्रधारामन्त्रणम् ।

तत्रभवत पूजनीयस्य, 'पूज्यस्तत्रभवानत्रभवान्' इत्यमर । कवित्वावतार-  
प्रथमतीर्थस्य कविनेन कवित्वस्य वा योऽवतार प्रकाशस्तस्य प्रथमतीर्थस्य  
आदिमस्थानस्य, आदिकपेरित्यर्थ । बल्मीकजन्मनो वात्मीके । सरस्वतीनिर्यास-  
वाचप्रमर । इच्छाकृणा यश शरीरम्, इच्छाकुलक्रीत्तिगाया ।

अथकिम्—सत्यमुक्त त्वयेति भाव ।

तत्प्रतियद्धेति । तेन वात्मीकिना प्रतिबद्धो विरचितो यो रामायणरूप प्रबन्ध  
तदनुबन्धिनी तदनुमारिणी परिषदाना सामानिकानामान्देश । सामाजिका  
कमपि रामायणानुगत प्रबन्धमभिनेतुमान्तिशान्ति इति भाव ।

सकलेति । सकलाना कविसार्थाना कविसमुदायाना साधारणी सवादिनी सकल-  
कविभि समानभावेनाहता । सुभाषितनीवी वात्मीकिकृतसूत्ररूप मूलधनम् ।  
सर्वेऽपि कवयो वात्मीकिसूत्रमुपजीवतीत्यर्थ । 'नीवी स्याद् वसनप्रथो नीवी  
मूलधनेऽपि च' इति विश्व ।

( विचार करके ) ( सहष मुस्कराकर ) मारिष, पूजनाय कविताके प्रथमावतारके लिये  
प्रसिद्ध भगवान्—वाल्मीकि मुनिका कृति सरस्वताके मारभाग रामायणको तुमने सुना  
होगा जो रक्षाकुवशियोंका यश शरीर है ?

नट —और क्या ?

सूत्रधार—रामायणसे सम्बन्धित प्रबन्धके अभिनयकी आज परिषद् दे रही है ।

नट—( हसकर ) अहा सभी कविगण वात्मीकिकी कवितारूप मूलधनका ही तो  
उपजीवन किया करते हैं ।

सूत्रधार—मारिष, क्या कहना है ?

अपि कथमसौ रक्षोराजस्तताप जगत्त्रयी

मपि कथमभूद्विष्वाकूणा कुले गरुडध्वज ।

अपि कथमृषौ दैव्यो वाच स्वत प्रचकाशिरे

सुचरितपरीपाक सर्व प्रबन्धकृतामयम् ॥ ७ ॥

तत्र तात्रत्रिरूपयामि रूपकमभिरूपमीदृशम् । ( मुहूर्तमिव स्थित्वा । स्मरणमभिनीय । सोल्लामम् । ) अस्ति मौद्गल्यगोत्रसम्भ्रस्य महारूपेर्भट्ट-श्रीवर्धमानतनूजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारे कृतिरभिनयमनर्घराघव

अपि कथमिति । अपि असौ रक्षोराज सरलराजसचक्रवर्ती रावण जगत्त्रयीं त्रिलोकीं कथं तताप स-तापितवान् ? अपि इक्ष्वाकूणा तदाभयया प्रथिताना सूर्य वश्यरानन्यकानाम् कुले वशे गरुडध्वज विष्णु कथमभूत् केन प्रकारेण—रामात्मनाऽवनतार, अपि कथम् ऋषौ वाल्मीकी दैव्य द्रवभाषिता सस्कृता गिर वाच प्रचकाशिरे छन्दोबद्धवागा मना पर्यंगमन्, सर्वं अयम् प्रबन्धकृताम् रामाश्रित-त्तत्प्रबन्धप्रगयनयशस्विनाम् कवीनाम् सुकृतपरिपाक पुण्यपरिणाम, रावणरत्तुक जगत्स-तापनतदुपशमोद्देश्यकरामावतारतद्यशोऽर्जनप्रयोजनकादिरत्रिनिष्ठच्छन्दो बद्धवागवतारादि सर्वं सुकृत्सुकृतनिदानकमेव, कथमन्यथेदं सम्भवदिति । त्रयोऽभ्यपय प्रश्नार्थां, ‘अपि सम्भावनाप्रक्षशङ्कागहासमुच्चये’ इति विश्व । हरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

निरूपयामि विचार्य निधारयामि । अभिरूपम् योग्य यथोक्तगुणयोगि । अभिनीय-शिर रूपादिना स्मरण नाटयित्वा ।

वर्धमानतनूजन्मन वर्धमानात्पविद्रुप पुत्रस्य । तन्तुमतीनन्दनस्य तन्तु मती नाम मुरारिमाता तन्नन्दनस्य त-पुत्रस्य । ‘गोत्र नाम च र्धनीयात् पूजा-वाक्य च पार्षद । नाटकस्य च यत्राम गर्भनिद्रिष्टलक्षणम्’ इति भरतौक्तदिशात्र मुरारिजनकतननीनामनिदृश त-कृतिप्रशम्भा च । तत् अनर्घराघव नाम नाटकम् ।

यह कैसे समझ हो गया कि रावणने मार समारको मन्तापिन कर दिया, यह भा कमे सम्भव हो गया कि भगवान् विष्णुने इक्ष्वाकुवशमें जन्म ले लिया, और यह भी कमे सम्भव हो गया कि वाल्मीकिके हृदयमें वाणने अपना प्रकाश फैलाया ? निश्चय ही यह सारा वाण्ड सुकृत्विकोंके पुण्यप्रतापका फल है ॥ ७ ॥

इमालिये सोचना हूँ कि वीन रूपक उपयुक्त होगा । ( धनभर रक्कर ) ( याद करके उल्लासके साथ ) मौद्गल्यगोत्रोत्पन्न महाकवि वर्धमान भट्टके पुत्र तन्तुमती नामक

नाम नाटकम् । तत्प्रयुञ्जाना सामाजिकानुपास्महे । ( विचिन्त्य सहर्षम् । )  
अहो रमणीया रत्निय सामग्री परिपदाराधनस्य । यत् —

मद्दुर्गा रसपाठगीतिगतिषु प्रत्येकमुत्कर्षिणो

मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरा १ व्यूतय ।

१ धीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपति काव्यार्थग्रीज मुनि

वाल्मीकि फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिर ॥८॥

अयं तु प्राचेतसीय कथावस्तु बहुभिः प्रणीतमपि प्रयुञ्जानो नाप-

प्रयुञ्जाना अभिनयन्त ! सामानिदानीं सहृदयसम्भ्यान् । उपास्महे—आराधयाम ।  
सामग्री—उपकरणम् । परिपदाराधनस्य—सभ्यजनसन्तोषस्य ।

मद्दुर्गा इति मद्दुर्गा मम सम्प्रदाय वर्तमाना जना प्रयेकम् एकैकम् रसा  
नाटकप्रयोयाश्चद्वारधीरादयः, पाठ स्वरस्वादमापुर्णम्, गीति सद्गीतञ्च तेषु  
उत्कर्षिण उत्कर्षवन्त, मौद्गल्यस्य मौद्गल्यगोत्रोत्पन्नस्य कवमुरारिनाम्न गिरा  
व्यूतय वागिस्तरा गभीरा अर्थगौरवपूर्णा मधुरा मनोहराश्च उद्गारा उक्तयो  
यासु तादृश्य अर्थगौरवपूर्णा मनोहराश्चेत्यर्थ । धीरोदात्तगुणोत्तर धीरोदात्त-  
श्रेष्ठ रघुपतिश्च काव्यार्थग्रीजम् काव्ये वणनीयतया तदर्थमूलम्, यस्य रघुपते  
रामस्य चरितस्तोत्राय कीर्त्तितस्तुतय वाल्मीकिनाम् मुनि दिव्या अमानुषी गिर  
वाच फलति स्म आत्रिर्भावयति स्म । एतेन सामग्रापूर्णता द्योतिता, नटकप्रिकाय-  
वस्तुविभाषाणामुत्कृष्टतया प्रबन्धाभिनयसामग्रीपूत्तिरर्त्तानि भाव । 'अवि-  
कथन क्षमावाननिगम्भीरो महामत्स्य । स्थयान्निगूढमानो धीरोदात्तो हृदयत  
कथित ॥' इति धीरोदात्तलक्षणम् ॥ ८ ॥

अयम् मुरारि । प्राचेतसीयम् वाल्मीकिवृत्तम् । कथावस्तु चरितम् । बहुभि-

माताक गभस उत्पन्न मुरारिद्वय अनर्घराधन नाटक इ । उक्ताक अभिनयद्वारा सामानिदो  
का अनुरोधन किया जाय । कथोक्ति—

मेरे सहृदयी रससृष्टि, पत्रपाठ, गीतिकला, समा नाट्याङ्गोंमें एकमे एक बदकर  
सिद्धिस्त्र इ, मौद्गल्यकवि मुरारिकी कविता गभार मधुर उद्गारशालिनी है, काव्यके  
नायक बोर तथा उदात्तगुण मण्डित भगवान् रामचन्द्रही इ, जिनके चरित की प्रशंसामें  
वाल्मीकिने दिव्यवाणीका प्रयोग मन्त्रुल किया है ॥ ८ ॥

यह श्रोत्रियपुत्र मुरारि यदि वाल्मीकिद्वारा प्रयुक्त कथावस्तुका उपयोग करता है तो

राध्यति श्रोत्रियपुत्र । पश्य—

यदि क्षुण्ण पूर्वैरिति जहति रामस्य चरित  
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति क्व ।  
स्वमात्मान तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-  
स्फुरद्वाग्महाग कथमुपकरिष्यन्ति कथय ॥ ९ ॥

उपक्रममाणश्च स कवि स्वनिर्भासशब्दत्रह्याणमाचार्यं प्राचेतस गिर  
च देवतामेवमुपश्लोक्तवान् ।

कालिदासादिप्राचीनकविभिः, प्रगीतम् प्रशशित स्वकाये आद्यम्, प्रयुक्तान  
स्वनाटकं उपाददान । नापराध्यति न दोषभाग् भवति । श्रोत्रियपुत्र वेदन्स्य  
वर्धमानस्य तनय ।

यदि क्षुण्णमिति । यदि पूर्वे प्राचीन पण्डितै वात्मीकिप्रभृतिभि क्षुण्णम्  
बहुशो वर्णितमिति कृत्वा रामस्य चरितम् रामायणीय कथायन्तु जहति त्यजन्ति,  
यदि साम्प्रतिक कवयो भूतपूर्वकविभिराश्रेयिततया रामचरित्र न स्वकविताप्रिय  
चिर्नीर्यन्ति, तदा तत्तद्गुणाना मायुषान प्रसादादीना गरिमा गारवण गम्भीरमर्थ  
गुर मुर ह्य च यथा स्यात्तथा स्फुरद्वाग्महा शब्दरूप ज्योतिर्येषा ते तथोक्ता  
तत्तद्गुणपूणकविदशालिन कथय कथम् स्वम् आत्मानम् कथम् उपकरिष्यन्ति  
प्रतिपत्तिरूपमुपकार प्रापयिष्यन्ति यशस्विन करिष्यन्ति, यत एतावद्भि अपरिस्मरे-  
यंगुर्जगति ऋण्यो रामाभिरिक्तो जयति सर्वोत्कृष्टेण वर्त्तते पूर्वकविपरिगृहीततया  
यदि रामस्य चरित साम्प्रतिका कवयो न स्वकविताया प्रियीकरिष्यन्ति तदा ते  
स्फुरद्वाग्महाग सन्तोऽपि कथमात्मानमुपकरिष्यन्ति, तादृशपुण्यकीर्तिनाप्रकान्त-  
रस्य दुर्लभतादियर्थ । शिखरिणीवृत्तम्, 'रसे रद्वैरिद्ध्या यमनमभलाग शिख-  
रिणी' इति तल्लक्षणात् ॥ ९ ॥

उपक्रममाण — काव्यमारभमाण, स कवि मुरारि । स्वनिभास स्वन प्रकाश

इममें उसका कुछ दोष नहीं माना जाना चाहिये ।

यदि प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित होनेके कारण रामचन्द्रके चरितको अपनी  
काव्यकलाका आधार नहीं बनायें, तो तबसरा रामचन्द्रसमान चरितनायक इम सभारमें  
कहाँ पाया जायगा, और तब तत्तद् गुणकी गरिमा तथा गम्भीरतामे पूण बागीवाले  
कविगण अपनेको महाचरित प्रदर्शन द्वारा कैसे उपकृत कर सकेंगे ? ॥ ९ ॥

अपनी कविताके प्रारम्भमें महाकवि मुरारिने स्वन प्रकाश शब्दत्रय वाले प्राचेतस  
वात्मीकि तथा सरस्वता की वन्दना निम्नलिखित रूपमें की है ॥

नमृषिं मनुष्यलोकप्रवेशविश्रामशास्त्रिन वाचाम् ।  
 सुरलोकादघतारप्रान्तरखेदच्छिद वन्दे ॥ १० ॥  
 वातुश्चतुर्मुखीऋण्डशृङ्गाटकविहारिणीम् ।  
 नित्यप्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम् ॥ ११ ॥

नट—( सहर्यम् । ) भाव, तत्प्रस्तूयताम् । अस्य हि मौद्गल्याना'

शब्द एव ब्रह्म यस्य त स्वतोऽवतीर्णवाक्प्रसरम् अनायासप्राप्तकृतिवप्रवाहमित्यर्थ ।  
 आचार्यम् सञ्जलकविगुरम् । प्राचेतसम् वाल्मीकिम् । उपलोकितवान् स्तुतवान् ।

तमृषिमिति । वाचाम् कवितारूपवचनविन्यासानाम् य मनुष्यलोके मर्त्ये  
 प्रवेश समागम तत्र [ स्वगात् ( कविताया ) अवतारे अवतरणे प्रान्तरखेद  
 शून्यवर्मनि निरवलम्बनतया गमनवलेन त द्विजत्तानि तथोक्त ] विश्रामशास्त्रिन  
 श्रमापह तर तमृषिं वाल्मीकि वन्दे । अनालम्बे वर्त्मनि स्वलेन स्वगाद् भुवमव  
 तरन्त्या कविताया विश्रामदृष्टभाव भवन्त वाल्मीकिं नामपि वन्द इत्यर्थ ।  
 आर्यावृत्तम् । रूपमलङ्कार ॥ १० ॥

धातुरिति । धातु ब्रह्मण चतुर्णां मुग्धाना समाहार चतुर्मुखी मुखचतुष्टयम्  
 तस्या ऋण्डा एव शृङ्गाटकानि चतुष्पथम् तत्र विहारिणी सततविहारशीलाम्  
 प्रगल्भवाचालाम् समुद्धता वाचदृकाञ्च सरस्वतीम् वाचम् सतत सर्वदा उपतिष्ठे  
 पृथगामि । ब्रह्ममुखवासरमिका वाच मन्त्रद्वाराऽऽराधयामीत्यर्थ । ननु बहुभाषि  
 त्वेन सरस्वत्या का स्तुतिरिति चेन्न, सरस्वत्या चतुर्मुखमुखरूपशृङ्गाटकविहारि  
 तया पण्यस्त्रीत्वेन रूपितत्वे वाचालताया एव स्तुत्यत्वात् । 'शृङ्गाटक भवेद्धारिकण्टके  
 च चतुष्पथे' इति मेदिनी । 'स्याज्जल्पकस्तु वाचाल' इति च । रूपक स्पष्टमलङ्कार ॥

प्रस्तूयताम् जारभ्यताम् । ब्रह्मर्षीणाम् ब्रह्मणश्च ते ऋषयो ब्रह्मर्षयस्तेषाम्

वाणी मनु यलोभमे प्रवेश करने बली तव वाचमे हमने अपने विश्रामके लिये  
 वाल्मीकिरूप वृक्षको चुना, उस वृक्षने अपनी छायामें बैठकर वाणीकी छायावाहित  
 मागमें सुरलीयन मत्स्यलोकक आनेके वृक्षको दूर कर शीतलता प्रदानका, मे उस विश्राम  
 शाली वाल्माकि मुनिको नमस्कार करता हू ॥ १० ॥

ब्रह्माके चारो मुखरूप चतुष्पथमें विहार करनेवाला मदा प्रगल्भ तथा वाचाल  
 सरस्वताकी वन्दना करता हूँ ॥ ११ ॥

नट—( इसके साथ ) भाव, तव प्रारम्भ कर क्षीजिये । इस मौद्गल्य गोत्रोत्पन्न ब्रह्मर्षि

ब्रह्मर्षीणामन्वयमूर्धन्यस्य मुरारिनामधेयस्य बालवाल्मीकेर्वाङ्मयममृत-  
बिन्दुनिष्यन्दि कन्दलयति कोतुरु मे ।

सूत्रधार — मारिप, स्थाने भगवत् कुतूहलमीदृशमेवैतत् । तथाहि—

तत्तादृगुज्ज्वलककुत्स्थकुलप्रशस्ति  
सौरभ्यनिर्भरगभीरमनोहराणि ।

वाल्मीकियागमृतकूपनिपानलक्ष्मी

मेतानि विभ्रति मुरारिकवेर्षासि’ ॥ १२ ॥

अपिस्वरूपाणा ब्राह्मणानामित्यर्थ । अन्वयमूर्धन्यस्य वशे प्रधानस्य । मुरारिनाम-  
धेयस्य मुरारिनामकस्य । बालवाल्मीके बालमीक्यवतारभूतस्य बालपद वृद्ध-  
वाल्मीकेर्भेदकम् । वाङ्मयम् वचनविन्यासो नाटकमित्यर्थ । अमृतनिष्यदि सुधा-  
वपि । कोतुकम् अस्तुक्यम् । कन्दलयति अङ्कुरयति । स्थाने भवत् कुतूलम् ।  
उचित तवौत्सुक्यम् । ईदृशमेवैतत्—उत्सुकता जनकमेव वचन मुरारिरतो युक्त  
मेव तत्प्रयोगे तवौत्सुक्यमिति भाव ।

नत्तादृगिति । तत् प्रसिद्धम् तादृक् अनन्यसाधारणम् उज्ज्वलम् स्वगुणप्रकाशम्  
यत्कुतूहलकुलम् सूर्यवश्यराजकुलम् तस्य या प्रशस्ति चरितकीर्त्तनरूपा प्रशमा  
तस्या सौरभ्य रयानिस्तया गभीरमनोहराणि मदान्ति सुन्दराणि च एनानि  
मुरारिकवेर्षासि बालमीकेर्षद् वागेवामृत तस्य य कूपस्तस्य निपानलक्ष्मीम्  
कूपममीपस्थेष्टादिप्रदुस्त्वल्पपलाशयशोभा विभ्रति धारयन्ति । यथा कूपान्मयून  
निपान तथा बालमीकिवचनेभ्य किञ्चिन्न्यूनानि मुरारिवचनानांति भाव । ‘आहा  
वस्तु निपान न्यादृपकूपनलाशये’ इति कोष । अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वक्ष्यतीति  
मुरारिवचनस्य निपानस्य च त्रिभ्यप्रतिनिम्नभावात् निदर्शनालङ्कार , ‘सम्भवन्वस्तु-  
सम्प्रथोऽमम्भन्वापि कुत्रचित् । यत्र त्रिभ्रानुविम्बत्वं बोधयेत्मा निदर्शनेति

वशमूर्धन्य बालवाल्मीकि मुरारिका कविताये—ना अमृत बिन्दुकी वषा करता ह—मेरे  
हृदयमें उत्सुकता पैदा कर रहा ह ।

सूत्रधार—मारिप आपका कोतुक ठीक ही है, यह कविता ऐसी हा है ।

उन अवगनीय वाङ्मयकुलकी प्रशामां मुरारिनाम गभीर तथा मनोहर मुरारिकी  
कविताये बाल्मीकिके वचनरूप अमृतके लिये कूप निपानकी शोभा धारण करती है ॥१२॥

१ क्वचित् तत्तादृगुज्ज्वल-’ इत्यादि श्लोकाग्रे ‘अपि च । देवा वाचमुपामते हि  
वदव’ इत्यादि श्लोको दृश्यते ।

( नेपथ्ये गीयते । )

दिग्भरकिरणुक्केरो पिआभरो नो वि जीबलोअस्स ।  
कमलमउलरुवालीकिअमहुअरकड्डणविअड्डो ॥ १३ ॥

[ दिनकरकिरणोत्कर प्रियाकर कोपि जीवलोअस्स ।  
कमलमुकुलाङ्गपालीकृतमधुकरकर्षणविदग्ध ॥ १३ ॥ ]

सूत्रधार — ( आश्चर्य्यम् । ) कथमुपक्रान्तमेव नर्तकैः, यदिय दश  
रथोत्सङ्गाद्रामभद्राकर्षिणो विश्वामित्रस्य प्रावेशिनी ध्रुवा । ( पुरीञ्जलो  
कथ सप्तमम् । ) अये, कथमत्रैव तत्रभवत् कमलयोनिजन्मनो मुनेराय

लक्षणात् ॥ वसन्ततिलक वृत्तम्, 'ज्ञेय वसन्ततिलक तम्भा जगो ग' इति  
च तल्लक्षणम् ॥ १२ ॥

दिनकरेति । दिनकरस्य सूर्यस्य किरणोत्कर तेजोनिग्रह ( तत्स्वरूप ) जीव  
लोकस्य ससारस्य प्रियाकर सुगन्ध कोऽपि अनिबचनीयगुणगण पुरुष कमल  
मुकुलेन पद्मरत्निकया अङ्गपालीकृत क्रोडविनिहित य मधुकरो भ्रमरस्तस्य  
कपर्णे तत् क्रोडात् रहिर्नयने विदग्ध चतुर सम । यथा कमलमुकुलक्रोडीकृतस्य  
भ्रमरस्य ततो वहिर्नयने सूर्यकिरणोत्कर एव दक्षस्तथा दशरथस्य क्रोड स्थितस्य  
रामस्य ततो प्रकृप्य तपोवननयने विश्वामित्र एव समर्थ इति ध्वनि । एतद्गाथा-  
सूचितोऽयोऽयमग्रे सूत्रधारकथनेन स्पष्टीभविष्यति ॥ १३ ॥

उपक्रान्तम् प्रारब्धम् । प्रावेशिनी प्रवेशमूचिका । ध्रुवा गीतिभेद । तथा  
चोक्त भरतेन 'ध्रुवा तु गीतिभेदोऽयं शृण्वन्मामा निबध्यते । सा चेय पत्रधा  
'प्रावेशिनी निष्कमणी परिक्लामण्यवस्ति । उत्थापनी तु पत्रग्या ध्रुवा नाट्यार्थ  
सिद्धये । तत्र प्रावेशिनी ज्ञेया प्रवक्षे गानयोगत ॥' सप्तमम् सादरम् । कमल-  
योनिजन्मन कमलयोनिर्गन्हा ततो जन्म यस्य तस्य मुनेवसिष्ठस्य । आयतनान्

( नेपथ्यमे गायता जाता ह )

यद् सूर्यका किरण समुदाय लीगोंको अनिबचनीय आन द प्रदान करता ह जो कमल  
कुल्की गोदरूप कारागारमें बन्दीभूत मधुवरोको बाहर निकालनेमें पड्ड है ॥ १३ ॥

सूत्रधार — ( सुनकर ) क्यों, नर्तकोंने पारम्भ भी कर दिया ? जिसमें दशरथकी  
गोदसे रामको अन्न करनेवाले विश्वामित्रकी सूचना देनेवाली यह गीत है । ( आगे  
देखकर धबडाहटके साथ ) अरे, वसिष्ठमुनिके आश्रमसे वापस आये हुए वामदेवके

तनात्प्रतिनिवृत्तेन ऋत्विजा यामदेवेन किमपि तद्वाचिकमभिधीयमानो महाराजो दशरथस्तिष्ठति । तदेहि । न द्वयोस्तृतीयेन’ भ्रितव्यमित्या-  
वामप्यनन्तरकरणीया सञ्जीभया । ( इति निष्कन्तो )

प्रस्तावना

( तत प्रविशति यज्ञोद्दिष्टो दशरथो वामदेवध । )

दशरथ—अहो, बहुधा श्रुतमपि मगतो यमिष्टस्यानुशासन  
नय नवमिष प्रमोदयति माम् ।

आश्रमपदात् । प्रतिनिवृत्तेन परावर्तमानेन । किमपि मानिष्यरहस्यम् । तद्वाचि-  
कम् वसिष्ठमन्देशम् । अभिधीयमान उच्यमान । यमिष्टाश्रमान्निवृत्तो वामद्वयो  
दशरथाय वसिष्ठमन्देश कथयन्तिष्ठति, तन्नयो रहस्यकथाया नावाभ्या सङ्गत  
व्यमित्याह—न द्वयोरिति, न द्वयोस्तृतीयेन भ्रितव्यम् न द्वयो कथाया नृत्तयेन  
मम्मिलिव्यमिति ‘पद्वणो भिद्यते मन्त्र’ इति स्मरणात् । आवाभ्य नदसूत्रधारो ।  
सञ्जीभवाव उच्यते भया ।

प्रस्तावना—‘नटी विदूषको वापि पारिपाश्विक एव वा । सूत्रारेण सहिता  
सलाप यत्र कुर्वते ॥ चित्रेवाच्य स्वकायोर्धेर्दीध्यङ्गेष्वपि नाटके । प्रस्तावना  
हि सा ज्ञेया प्रकृतार्थोचित वच ॥’ इति तत्त्वज्ञम् । अयमेव पूर्वरत्न, ‘पूर्व  
रत्न सभापूजा कर्तव्योत्रादिकीर्तनम् । नाटकादिस्तथा सजा सूत्रधारोऽप्यधो  
मुखम् ॥ गीतित्रिया च गान च वगिकाग्रहण तथा । एतैर्नृत्तनिशयाश्च पूर्वरत्न-  
श्चतुर्विध ॥’ इति तत्त्वज्ञस्य नरतेन निवेदनात् ।

बहुधाश्रुतम् अनेकार्थमाश्रितम् । अनुशासनम् आज्ञावचनम् । नव नव-  
मिव नूतननूतनमिव । प्रमोदयति आनन्दयति ॥ /

द्वारा कहे गये सत्कारो सुनन हुइ महाराज दशरथ पहा नो ह । अन चलो नो  
आदमियोका रहस्य कथाने नृतान नदी वतना चाहिमे । अब हुन अपने अग्रिम कथयके  
लिये सङ्गित हो ले । ( शोनोंका प्रधान )

[ प्रस्तावना समाप्त ]

( इसके बाद यथोल्लेखमे दशरथ तथा वामदेवक प्रवेश )

दशरथ—अहो ! अनेक बार सुना गया मा वसिष्ठका अनुशासन नित्य नूतनकी तरह  
मुझे आनन्दित करता है ।

१ क्वचिद् ‘न द्वयोस्तृतीयेन मन्त्रियमिति निष्कान्तौ’ इत्येवावदेव पाठः ।



वामदेव —

मधुकैटभदानवेन्द्रमेद प्लवविद्या विपमैव मेदिनीयम् ।

अधिवास्य यदि स्वकैर्यशोभिश्चिरमेनामुपभुञ्जते नरेन्द्रा ॥ १४ ॥

दशरथ — ( सविमर्शास्मितम् । ) सखे<sup>१</sup> वामदेव,

तस्याज्ञयैव परिपालयत प्रजा मे

कर्णोपकण्ठपलितङ्कुरणी जरयेयम् ।

यद्र्भरूपमिव मामनुशास्ति सर्व

मद्यापि तन्मयि गुरुर्गुणपक्षपात ॥ १५ ॥

मधुकैटभेति । मधुकैटभ<sup>१</sup> दानवेन्द्रो प्रथितौ तयोर्मेदसो वमाया प्लवेन प्रवाहा  
रमना चरणेन विद्या आमगन्धरती इय मेदिनी पृथ्वी विपमा दुभोग्या एव दान  
वेन्द्रयोस्तयोर्वसापङ्केन पङ्किलेय धरित्री नोपभोगक्षमा जामीदिति पूर्वाद्धार्थं  
नरेन्द्रा राजान स्वकैर्यशोभिरधियास्य स्वकीर्त्तिभि सुरभीकृत्य चिरम् उपभुञ्जते  
तदि उपभुञ्जते, राक्षसै पूनिगन्धिता प्रापिताया अस्य भुजो राजकीर्त्तिभिरेव  
सुरभीकृतत्वेन वासक्षमता जातेति हृदि कृत्य भवतोऽपि भुव यशसा सुरभीकर्त्तुं  
यन्तामिति वसिष्ठस्य सदेशो वामदेवेन दशरथाय निवेद्यमानो बोध्य । 'विस्र  
स्यादामगन्धि यत्' इति मेदिनी ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्य वसिष्ठस्याज्ञया आदशानुसारन् एव प्रजा रक्षत पालयतो मे  
मम इयम् कर्णोपकण्ठे कर्णपार्श्वे पलितङ्कुरणी शैबल्यसम्पादिना जरा वृद्धावस्था  
जातेति शप, वसिष्ठाज्ञयेव प्रजा पालयतह वार्द्धक्य प्राप्त इत्यर्थ, अद्यापि इह  
वृद्धावस्थायामपि गर्भरूपमिव अस्तिवालम्पित गुरु वसिष्ठ सर्वं कर्त्तव्यज्ञातम्  
माम् अनुशास्ति आदिशति, तन्मयितस्य गुरुपक्षपात, महान्स्नेहातिशय, वृद्ध

वामदेव—यह पृथ्वी मधुन-म आदि शनवाक नेद प्रवाहमे दुग्ध पून हो रही थी,  
इम अपनी कात्तपोसे सुवाग्नि करके हा दन नृपनिर्वाणे उमका उपभोग किया ॥ १४ ॥

दशरथ—( विचारकर मुत्तुराते हुए ) सखे वामदेव महाराज वसिष्ठजी आज्ञासे  
हम म दस पृथ्वीका शासन करना आया हू म अब बूढ़ा हो चला, फिर भी आज  
भा वसिष्ठ छोड़ बालककी तरह मुझे सभा विषयोंमें राय देन हैं यह उनका-सहान्  
अनुग्रह है ॥ १५ ॥

वामदेव—महाराज, किमुच्यते । समानवृत्तेरपि क्वचिदेव कस्य-  
चित्तारामैत्रयम् । तथाहि स तत्रभवान्—

साधारणो रघूणा गुरुर्भवन्नपि विदोषदृष्टिस्ते ।

नामोदयति कमिन्दु कुमुद पुनरस्य सर्वस्वम् ॥ १६ ॥

दशरथ—गामदेव, मम हि गुरुवचनश्रवणतृष्णांमद्गुशीकरोति श्रोत्र  
वृत्तिरिन्द्रियान्तरानुसारिणो हृदयमहाराजस्य । तत्र किञ्चिदपरमत्र  
शिष्यते ।

मपि यन्मा गुरुरनुशास्ति तत्सर्वं स्नेहविभूतमित्यर्थं । ‘पलित जरसा शौमल्यम्’  
इति कोप । पलित त्रियते यया सा पलितङ्करणी । वमन्ततिलक वृत्तम् ॥ १५ ॥

समानवृत्ते सर्वचनसमवर्तिन । तारामैत्रकम् चक्षुराग, समवृत्तेरपि जनस्य  
कचन स्नेहातिशयो दृश्यत इति भवति वमिष्टस्यास्ति प्रेमप्रकर्ष इति भाव ।

साधारण इति । रघूणा रघुवश्याना साधारणो गुरुर्भवन्नपि वमिष्टस्ते तव त्रिपये  
विशपदष्टि त्वयि घृतसविरोषप्रेमा तिष्ठतीति दोष, अत्र दृष्टान्तमाह—नामोदयतीति  
इन्द्रश्चन्द्र कन्न नामोदयति हर्षयति सर्वमप्यानन्दयतीत्यर्थं, अस्य चन्द्रस्य  
पुन कुमुद सर्वस्वम् निमिभूतम्, यद्यपि चन्द्र सवानानन्दयति, तथाऽप्यसौ  
कुमुदस्याप्यतमानन्दजनक इत्यर्थं । प्रतिवस्तूपमालङ्कार, ‘वस्तु किञ्चिदुपन्यस्य  
ममानात्ससधर्मण । साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमना मता’ इति तल्लक्षणम् ॥ १६ ॥

मम दशरथस्य, श्रोत्रवृत्ति श्रवणव्यापार इन्द्रियान्तरानुसारिण किञ्चिद  
परमिन्द्रियान्तरानुसारिणो तत्रभवान् इति

वामदेव—महाराज, क्या कहें, समवर्ती होने पर मा किमाक साथ किमाका लग्न  
मिल जाना है । महाराज वसिष्ठ—

यद्यपि समा रघुवशिष्योके तुल्यभावम गुरु रहे हैं फिर भी उनका आप पर खास  
रूपा रहती है, चांद्रमा किमको नहा आनन्दित करता है किन्तु कुमुद उमका सबस्व  
कदा जाना है ॥ १६ ॥

दशरथ—इन्द्रियान्तरके साथ सबध जोडनेकी इच्छा रखनेवाले हमारे हृदयको  
कान शुखचन तृष्णा द्वारा अपने वशमें कर रहे हैं, तो क्या कुछ और स-देश है ?

१ 'अद्भुशयति' इति । २ 'तत्किमपरमवशिष्यते' 'तत्र किञ्चिदवशिष्यते' इति च ।

२ अ० रा०

वामदेव—महाराज, नि शेषमभिहितम् । इमा तु सर्वसदेशसग्रह कारिका कारिकाप्रतिप्रयत्नेन भगवान्भवन्तमनुस्मारयति ।

दशरथ—( आदरम् । ) अवहितोऽस्मि । किमाज्ञापयति<sup>१</sup> ।

वामदेव—

हुतमिष्टं च तप्तं च धर्मश्चायं कुलस्य ते ।

गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिनः ॥ १७ ॥

दशरथ—( महर्षम् । ) सुप्तु शिरसि कृतमाचार्यवचनम् ।

किं च—

अस्मद्गोत्रमहत्तरं क्रतुभुजामघायमाद्यो रवि

तद्विषयान्तरान्निर्जयति, अन्योऽपि हस्तिपको मार्गान्तरं प्रपित्समानं करिणं पला दद्भुशेन निवर्तयति तद्वदित्यर्थः ।

नि शेषमभिहितम्—सर्वं वक्तव्यमुक्तम् । सर्वसन्देशसग्रहकारिकाम्—सर्वसन्देशसङ्ग्रहनरूपाम् । कारिकाम्—श्लोकम् । ( कारिका तु कृती श्लोके ) अति प्रयत्नेन—महता प्रयासेन । भगवन्तमनुस्मारयति—स्वा स्मारयति ।

अवहित—ऋताग्रधानं, श्रोतुमुत्सुकः ।

हुतमिति । हुतं होमं देवतोद्देशेन बह्वौ हविस्स्यात्, इष्टमग्निहोत्रानि, तप्तं तपः, धर्मश्च ते कुलस्य, यत् अतिथयो याचका पूर्णकामा प्रार्थितं लब्ध्वा गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते गच्छन्ति । तपः कुलस्य होमो यागस्तपस्याधर्मश्चायमेव यदतिथयो लब्धकामा एव तव गृहात्प्रतिनिवर्तन्ते नालम्बकामा इत्यर्थः । एतेन विश्वामित्रं वृत्तरामप्राथनाया अनुपदभाविन्या साफल्यं सूच्यते ॥ १७ ॥

सुप्तु माधु । शिरसि कृतम् अङ्गीकृतम् । आचार्यवचनम् वसिष्ठाज्ञा ।

अस्मद्गोत्रमहत्तरं । क्रतुभुजा देवानाम् आद्यं प्रथमो रवि अथ अस्मद्गोत्रमहत्तरं

वामदेव—महाराज नि शेषरूपसे स देश बह चुका ह, सभी सदेशोंको समेट लेनेवाले इस सूत्रको भगवान् वसिष्ठने विशेषरूपसे याद कराया है ।

दशरथ—( आदरके साथ ) सावधान ह, क्या आदेश है ?

वामदेव—होम, याग, धर्म तथा तप सब कुछ आपके वशना यही है कि आपके घरसे याचक पूर्णकाम होकर ही लौटा करते ह ॥ १७ ॥

दशरथ—( सह्य ) आचार्यके सन्देशको मैंने भलो भांति मिरपर चढ़ाया, आज यज्ञांश भोक्ताओं में प्रथम भूय हमारे वंशके प्रवक्तव्य सिद्ध हुए आज हमारे

१ 'किमाज्ञापयन्ति गुरव इति' इति ।

यंज्वानो वयमद्य ते' भगवती भूरद्य राजन्वती ।

अद्य स्व बहुमन्यते सहचरैरस्माभिराखण्डलो

येनैतावदहन्वतीपतिरपि स्वेनानुगृह्णाति न ॥ १८ ॥

वामदेव — राजर्षे, सहजानुभासगम्भीरमहिमानो यूयमेव तादृशाय यशसे । वयं तु केवलमुपदेशार ।

उन्मुद्रयति हि कुमुदाकरमशरन्निशातनिस्तुपोऽपि तुपारकिरण ।

मदीयकुलमूलम्, (सूर्यस्य मदीयगोत्रमूलतायां फलमद्य लभ्यते मया) अद्य ते वयं यज्वान इष्टवन्त (यागसाफल्यमप्यद्येव प्राप्यते) भगवती भू सर्वममर्था मही अद्य रानवन्ती प्रशस्तराजशालिनी । अद्य अस्माभिः सहचरैः सहाये सद्भिः आखण्डल इन्द्र स्वम् आमाम् बहुमन्यते धन्य मन्यते, येन यत् अहन्वतीपति वसिष्ठ अपि स्वेन आमना अस्मान् एतावत् इयत् अनुगृह्णाति अनुकम्पते । वसिष्ठस्यैव दयाया पात्रेव नाद्याह सूर्यवशप्रसूतरः यज्ञकर्तृत्वं राज्यमिन्द्रसाय च स्वीय धन्य मन्य इत्यर्थः । ‘सुरानि देशे रानन्वान्’ इत्यमरः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १८ ॥

सहजति । सहजः स्वाभाविको योऽनुभाव प्रभावस्तेन गम्भीर दुरवगाहो महिमा माहात्म्यं येषां तथाविधा यूयमेव तादृशाय वसिष्ठदयापात्रत्वप्रभावाय तादृशकीर्त्तिशालिंवरूपाय वा यशसे प्रभवधेयर्थः ।

उन्मुद्रयति । शरद ऋतुभेदस्य निशा रात्रिस्तथा निशातः तीक्ष्ण समेपिन कर अन एव निस्तुप मेघाद्यनाहत — शरनिशानिशात निस्तुप — स न भवति इति पश्चान्नना समासे अशरन्निशानिशातनिस्तुपोऽपि तुपारकिरण शीतरश्मि चन्द्र कुमुदाकरम् कुमुदसमूहम् उन्मुद्रयति विभासयति स पुनर्वसिष्ठो द्वितीय

यद्य सफल इष्ट, आज हा पृथ्वीन सुराजा प्राप्त किया, आज इन्द्र हमारे समान भिन्नको पाकर अपनेको जाइन समझते हैं, वकि स्वयं वसिष्ठ मुझपर इतना अनुग्रह रखते हैं ॥ १८ ॥

वामदेव—राजर्षे, स्वाभाविक प्रताप तथा गम्भीर महिमाके आश्रय आप स्वयं उस नीतिके योग्य हैं, हम तो केवल उपदेश करते हैं ।

शरद निशामें प्रकट प्रकाश तथा मेघाद्यनाहत चन्द्रमा कुमुद कुलको विकसित

१ ‘नो भगवती’ इति ।

२ ‘न केवलमुपदेशारोवयम्’ इति ।

स पुन किमुच्यते भगवान्द्वितीयपरमेष्ठी वसिष्ठ ॥ १९ ॥

- अपि च—

इदं वो याज्यानामुदितमुदितं यत्कुलमभू

यदिष्टं वा कुर्वन्नकृत सगर पूर्तमुदधिम् ।

असौ पूर्वेपा ते सुचरितपताका यदमर

स्रवन्ती कृत्स्नोऽयं त्रिभुवनगुरोस्तस्य विभव ॥२०॥

किं च—

कौशिकस्वीकृतस्यापि यदाज्ञातिक्रमादभूत् ।

परमेष्ठी अपरो ब्रह्मा किमुच्यते ? स हि सर्वाधिक कुमुद प्रकाशयेत्, ब्रह्मवद्  
मितसामर्थ्यशालित्वादित्यर्थ । इदं तु कुमुदाकर नाम वृक्षम्, एकादशभिर्वर्गे  
रष्टादशभि क्रमादुभौ पादौ । तत्कुमुदाकरवृक्ष चरमौ तु दशाक्षरौ यस्य इति  
तल्लक्षणम् ॥ १९ ॥

इदमिति यत् याज्याना वसिष्ठेन याजनीयानाम् व युष्माक रघुवश्यानाम्  
कुल वश उदितमुदितम् उदययुक्तं हृष्टं च अभूत्, यत् इष्टं यागं कुर्वन् सगरो  
नाम राजा उदधिं सागरं पूर्तं स्वातम् अकृतं कृतवान् । यत् अमरस्रवन्तीं दवनी  
गङ्गां ते तव पूर्वेपा भगीरथाभिधपूर्वजन्मनाम् सुचरितपताका कीर्तिवैजयन्ती,  
अयं कृत्स्न सकलोऽपि त्रिभुवनगुरो वसिष्ठस्य विभव प्रभाव अस्तीति शेष,  
भवता कुलस्योदये प्रमोद, भवत्कुलोत्पन्नस्य सगरस्य समुद्रखननपूर्वकयज्ञ  
सम्पादनमाफल्ये भवत्कुलस्य भगीरथस्य गङ्गाप्रवाहानयनरूप सामर्थ्ये च  
भगवतो वसिष्ठस्यैव प्रभावो विनृम्भते इत्याशय । 'पूर्तं त्रिषु पूरिते स्यात् बर्लाय  
खातादिक मत्तम्' इति मेदिनी । 'पताका वैजयन्ती स्यात्' 'स्रवन्ती निम्नगापगा'  
इत्युभयत्रामर ॥ २० ॥

कौशिकनि । यस्य वसिष्ठस्य आज्ञातिक्रमात् आदशोल्लङ्घनात् कौशिकस्वी  
कृतस्य विश्वामित्रेण याज्यतयानुमतस्यापि त्रिशङ्कोनाम प्राचीननृपस्य उपभोगाय  
वासविहारादिकर्मणे द्यौ स्वर्गं भू पृथ्वीलोकौऽपि नाभूत् । वसिष्ठाज्ञामुल्लङ्घ

करता है, वसिष्ठक सम्बन्धम क्या कहा जाय ? वे तो अपर ब्रह्मा ह ॥ १९ ॥

यह विश्वगुरु वसिष्ठका ही सारा प्रभाव है कि आपका यह आशिक वश मिल्य नूतन  
उदय प्राप्त करता रहा है, यज्ञ करते हुए सगरने सागर खुदना डाला, आपके पूर्वज  
भगीरथका ही यह प्रताप है कि गङ्गा प्रवाहित है ॥ २० ॥

निस वसिष्ठकी आज्ञाको नहीं माननेके कारण विश्वामित्र द्वारा अनुगृहीत होनेपर भी

त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न भूरपि ॥ २१ ॥

प्रतीहारी—‘जयतु जयतु देव । देव, भगवान्कौशिको द्वारमध्यास्ते ।  
दशरथ —( ममभ्रमम् । ) किं<sup>३</sup> कौशिक ।

वामदेव —अहं तमुपेत्य श्रौतेन त्रिधिना पुरस्कृत्य प्रवेशयामि  
तपोनिधिम् ( इति प्रतीहार्या सह निष्कान्त । )

दशरथ —( सहर्षम् । )

य क्षत्रदेहं परितक्ष्य टङ्कैस्तपोमयैर्ब्राह्मणमुच्चकार ।

विश्वामित्र पुरोहित कृत्वेष्टवतोऽपि त्रिशङ्कोरं स्वर्गोऽसिद्धयत्, न वा धरित्री  
वामक्षमाऽवर्तत, किन्त्वमो मध्येऽल्मरत तदीदृशप्रभावो वसिष्ठपिरिति नात्र ।  
पुरा किल त्रिशङ्कुनाम राजा सदेह स्वर्गं गन्तुकामो यागाय वसिष्ठ वृत्तवास्तेन  
निषिद्धस्तत्पुत्राश्च वृत्तवास्तदनन्तर विश्वामित्र पुरोहित कृत्वा यज्ञे प्रवृत्तो  
वसिष्ठेन चाण्डालतयाभिज्ञप्त, देवाश्च तयज्ञे गोपासदम्तद्विधे स्त पौरोहित्य  
हीयमान त्रिलोक्यापरा मृष्टि त्रिधातुसुपक्रममाणो विश्वामित्रो ब्रह्मणा प्रमाद्य  
वारितो भूत्वा स्वतपसा त्रिशङ्कु स्वर्गं प्रेषितवास्ततश्चाण्डालस्य स्पर्गानर्हतामालो  
क्येन्द्रेण हुङ्कृतोऽथ पतितो चावापृयिष्योरन्तरालेऽवर्ततति पौराणिकी क्या  
त्रानुसन्धेया ॥ २१ ॥

द्वारमध्यास्ते—द्वारदेश निष्ठतीत्यर्थ ।

ममभ्रमम्—मभ्रमश्चात्र तत्प्रभावजनित प्रत्युद्धानस्वागतादिचिन्ताजन्य ।

श्रौतेन—शास्त्रोक्तेन । पुरस्कृत्य आदृत्य । प्रवेशयामि राजद्वारमानयामि ।

य क्षत्रदेहिनिः । य विश्वामित्र तपोमयै तपस्यारूपै टङ्कै पापाण-

त्रिशङ्कुके लिये स्वर्ग तथा पृथ्वी कहीं पर स्थान नहीं रहा, व अथरमे लटकन रह ॥ २१ ॥

प्रतीहारी—जय हो महाराजको देव भगवान् कौशिक, दरमनेपर खडे है ?

दशरथ—( ककिन होकर ) क्या कौशिक है ?

वामदेव—मैं उनके पास जाकर वैदिक विधानसे सत्कृतकरके बुढा लाना हूँ ।

( प्रतीहारीके साथ जाने हे )

दशरथ—( सहर्षं )

जिस विश्वामित्रने तपस्यारूप छेत्रीमे कायकर मत्रिय शरीरको ब्राह्मण शरीरके रूपमें

१ प्रतीहार ' इति । २ 'जयति जयति देव', 'जयतु देव' इति च ।

३ 'किं कौशिक' इत्यस्मादत्र 'प्रतीहार —अथ किम्' इत्यधिक कचिद् दृश्यते ।

४ 'प्रतीहारेण सह' इति ।

परोरजोभि स्वगुणैरगाध स गाधिपुत्रोऽपि गृहानुपैति ॥२२॥

( तत प्रविशति वामदेवोपदिश्यमानवर्त्मा विश्वामित्र । )

विश्वामित्र—मखे 'वामदेव, त्वमधुनेव वसिष्ठाश्रमादागतोऽसि । कञ्चित्कुशली तावदरन्धतीनाम्ना पतिव्रतामयेन ज्योतिषा सहचरित धर्मा तत्रभवान्मैत्रावरुणि ।

वामदेव—प्रशेषेण पुनरद्य याज्यकुलमुपतिष्ठमाने चिरन्तनप्रणयिनि कौशिके ।

दारणास्वभेदै चन्द्रदेह च्छत्रियशरीर परितप्य गण्डयित्वा तनूकृत्य ब्राह्मणम् उच्चकार तदेव च्छत्रियशरीर ब्राह्मणभावमानीतवान्, परोरजोभि रजोगुण सवन्धवर्जिते स्वगुणे सार्विकगुणे अगाध अतलस्पर्शगभीर स विश्वामित्र अपि गृहान् अस्मद्गृहान् उपैति, तद्दहो भाग्य ममेति भाव । 'टङ्क पापाणदारण' ,अगाधमतलस्पर्श' इत्युभयत्रामर ॥ २२ ॥

कञ्चिदिति जिज्ञासासूचकमव्ययम्, पतिव्रतामयेन पतिव्रत्यपूर्णेन । ज्योतिषा तेजसा । सहचरितधर्मा सन्नतधर्मा, अरन्धतीसहधमिणीक अरन्धतीपति, मैत्रावरुणि मित्रवरुणयोरपय वसिष्ठ ।

याज्यकुलम् यजमानगृहम्, उपतिष्ठमाने समागते । चिरन्तनप्रणयिनि प्राचीनमित्रे । त्वयि प्राप्तनमुहृदि रघुकुलगृहमायाते सातिशयकुशल प्रसन्नो वसिष्ठ इत्यर्थ ।

परिणत कर दिया, रजोगुणसे परे अपने सार्विक गुणोंसे अगाध वही गाधिपुत्र विश्वामित्र हमारे घर पधार रहे हैं ॥ २२ ॥

[ वामदेवके साथ विश्वामित्रका प्रवेश ]

विश्वामित्र—मित्र वामदेव, आप अभी वसिष्ठके आश्रमसे आये हैं । अरन्धती नामक पतिव्रतान्योपिते सहचरित धर्मानुष्ठानकता वसिष्ठ कुशल तो है ?

वामदेव—स्वास् करके आज चिरप्रणयी कौशिकके यजमानगृहमें पधारनेपर वसिष्ठ सानन्द हैं ।

१ 'वामदेव' इत्यरमादग्रे 'कथय' इति । २ 'विश्वामित्रे' इति ।

विश्वामित्र —सखे वामदेव, चिरेण दशरथो द्रष्टव्य इति सर्वमनोरथानामुपरि वर्तामहे ।

वामदेव —( सविनयम् । ) भगवन्कुशिकनन्दन, धन्य सख्य राजा सावित्रो यमेयमनुस्थ्यन्ते भवन्तोऽपि ।

विश्वामित्र —सखे, धन्य एवायम् ।

नमनृपतिमण्डलीमुकुटचन्द्रिकादुदिन

म्फुरचरणपङ्कजप्रतिपदोत्तदो सम्पदा ।

अनेन ससृजेतरा तुरगमेघनुक्तभ्रम

सुरङ्गखुरचन्द्रकप्रसरदन्तुरा मेदिनी ॥ २३ ॥

सर्वमनोरथानाम् सवाभिलषणायानाम् । उपरि वर्तामहे सर्वपि न कामा सिद्धा इति भाव ।

अथ राजा सावित्र सूर्यवशोद्भवोऽथ रात्रि दशरथ । यन् दशरथम् । एवमनु स्थ्यन्ते इत्य बहु मानयन्ति ।

नमन्ति । नमन्ती पादयो प्रणमन्ती या नृपतिमण्डली राजसमुदाय तस्या मुकुटानाम् किरीटानाम् चन्द्रिकाया नानावर्णप्रभया दुर्दिने आच्छन्ने स्फुरन् रात्रि यश्चरणपङ्कज पङ्कजकोमल पाद तेन प्रतिपदम् सर्वत्र उक्ता प्रकटीकृता दो सम्पत् बाहुबल यस्य तादृशेन पादप्रगतरात्रन्यकप्रकटीकृतमुनकीर्येणेत्यर्थ, अनन रात्रि दशरथेन तुरगमेघेषु अश्वमेधनामन्यागभेदेषु मुक्तानाम् अभिमन्य विशृष्टानाम् भ्रमताम् अनिरुद्धप्रसर सर्वासु दिक्षु मञ्जरताम् तुरङ्गाणाम् अश्वानाम् खुरचन्द्रप्रसर चन्द्रकलाकारखुरसमूह, तेन दन्तुरा नतोत्रता मेदिनी पृथ्वी ससृजेतराम् क्रियतेस्म । अनेन दशरथेन अश्वमेध त्यक्तेनाश्वेन सकलदिशाम्

विश्वामित्र सख वामदेव, बहुत दिनोंके बाद रात्रि दशरथस सिद्धि यह समा मनोरथो के ऊपर है ।

वामदेव—( नम्रता के साथ ) महाराज विश्वामित्र, ये सूववशी रात्रिदशरथ धन्य हैं आप इतना आदर करते हैं

विश्वामित्र—सख ये राजा दशरथ धन्य हैं ।

अन्योन्य राजगण इनके चरणों पर नत होते हैं इनके मस्तकालङ्कारस्थित ज्योत्स्नासे प्रकाशित होनेवाले चरणोंकी शोभा ही इनके बाहुके प्रतापकी प्रतिपादन करता है, यह राजाने अश्वमेधमें छोड़े गये अश्वके खुरचिहासे सारा पृथ्वीकी निम्नोत्रत बना दिया है ॥

१ ‘भगवन्तोऽपि’ इति ।



( पुरोऽवलोक्य महर्षम् । )

चिरादक्ष्णीर्जाड्यं शमयति समन्तासुरवज्र-

कचाकृष्टिक्रीडाप्रसभमुभग भावुकमुज ।

त्रिलोकीजहालोलसद्वजतेजा मनुकुल

प्रसृति सुत्राम्णो विजयसद्वृत्त्या दशरथ ॥२४॥

सखे वामदेव, इयमेनेन पीयूषतुपारसीकरामारवर्षिणी मुजनसवाद

भ्रमता मरुता अपि दिशो निता इयर्थ । 'मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्निम्' 'मुत्राह  
प्रवयो दो' इत्युभयत्रामर ॥ पृथ्वीवृत्तम्, जमी जमग्रला वमुग्रहयतिश्च पृथ्वी  
गुम्' इति हि तल्लक्षणम् ॥ २३ ॥

चिरादिनि । समन्ताना सर्वेषाम् असुराणां राजमाना या यच्च अङ्गना तामा  
रुचाकृष्ट्या वेशाकर्षणेन या क्रीडा विलास तथा सतत मुभगभावुकौ प्रसह्यमनो  
हरौ भुञ्जी यस्य स तथोक्त मर्षासात्रपि निशाधरवभूना तत्पतिवधपूर्वककेश  
कर्षकतया मनोनी भुञ्जी वधान इयर्थ । त्रयाणां लोकानां समाहारत्रिलोकी  
तत्र जहालम् अतिशीघ्रग यत् उज्ज्वल प्रकाशशालिं महान् स्वभाविकं च तेनो यस्य  
म, सुत्राम्ण इन्द्रस्य विजयपु तत्र तत्र युद्धेषु जायमानेषु जयेषु सद्वृत्त्या साहा  
यकेनोपकृता मनुकुलप्रसूनि मनुवशतमा अथ राजा दशरथ चिरात् बहुकाला  
नन्तरम् अङ्गो मम नेत्रयो जाड्यम् द्विपयप्रहासनिम् शमयति, नेत्रे विक्रासयति  
मकलासुरजयिन त्रिभुवनप्रचारियदास राजसहायकमेन दृष्ट्वा चिरस्य विक्राम  
भजनो ममाक्षिणी इति भाव । 'जहालोतिजस्तुल्यौ' 'सुत्रामा गौत्रमिद् वत्री'  
इत्युभयत्रामर, शिपरिणी वृत्तम्, तल्लक्षणमुत्तपूर्वम् ॥ २४ ॥

अनेन लोकनाथेन-राजा दशरथ, पीयूषमेव यत्तुपार हिम तस्य सीकरो  
ऽम्बुकणस्तस्यामारो धारामम्यातमन्तद्वर्षिणी मुजनाना सवाद परस्परालापे यत्कौतु  
कम् आनन्दमन्तस्य मवलेवा घनश्रेणी पौरस्त्येतमन्ता पूर्वदिग्द्वेन राज्ञेण  
सहस्रशिखरीत्रियते महस्रशिखरशालिता प्राप्यते, यथा जलसीकरामारवर्षिणी

बहुत दिनोंपर आज राजा दशरथ हमारी आँखोंकी तकलाफकी दूर करेगा त्रिन्होंने  
समस्त असुर सौ ममुदायके बचाकपगदारा अपने बाहुओंको सुमगता बढाइ है, जिनका  
वश त्रिलोकमें व्याप्त है, जो मनुकुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा जो युद्धमें द-द्रको विजय  
दिलाया करने हैं ॥ २४ ॥

सखे वामदेव जैसे पूरबसे आनेवाली वायु मेघमाऊकी बढाती है उसी तरह इस

कौतुकमेघलेग्ना पौरस्त्येनेव मरुता लोकनाथेन सहस्रशिखरीक्रियते ।

वामदेव — भगवन्, अत्र खलु दिलीपकुलकुशलकर्मकल्पलता-  
नामद्भ्रमन्थिभि<sup>१</sup> हृदीर्यन्ते किसलयानि । यदत्र भवानपि त्रिभुवनसना-  
तनगुरुरेवमस्मै नरेन्द्राय स्पृहयति ।

( इति परिक्रामत । )

दशरथ — ( सहर्षं ससन्नममासनादुत्थायोपसृज्य च । ) भगवन्कुशिक  
नन्दन, ऐत्थाक पङ्क्तिरथोऽभिवाडयते ।

विश्वामित्र — स्वस्ति भवते सपरिवाराय ।

( इति सर्वे यथोचितमुपविशन्ति । )

घनमाला पौरस्त्यवातेन सहस्रशिखरता प्रापय्य विस्तार्यते तथवेन्द्रेण दशरथेन  
सह वात्तालापकौतुक सहस्रवल्गुं विस्तार्यते, इन्द्र सर्वदा दशरथेन सह वात्ता-  
लाप कामयत इत्यर्थ । ‘सीरुोऽम्बुकणा स्मृता’ ‘भरतौ पवनामरौ’ धारासग्यात  
आसार’ इति सर्वनामर ।

लिपेति । दिलीपस्य कुल वशास्तस्य कुशलरमाण्येन कल्पलता स कर्मरूप  
कल्पवल्ली तासाम् अद्भ्रमन्थय पवागि ते किसलयानि नक्षत्राणि उदीर्यन्ते  
प्रकाश्यन्ते, दिलीपनरयनृपतिविहितसन्कर्मरूपवल्ली किसलयानि प्रसूते, नवीभवति  
‘फलाभिमुखीभवतीत्यर्थ । अत्रभवान्-पूतनीयो भवान्, त्रिभुवनमनातनगुर  
लोकप्रितयमूर्धन्य, एवम् पूर्वोक्तप्रकारेण । अस्मै नरेन्द्राय-दशरथाय ।

पङ्क्तिरथ — दशरथ ।

राजाने सुजन सवादको-पिसमें अमृतकी वृद्धे वरसनी रहनी हैं-बडावा प्रिया करता है ।

वामदेव—महाराज, आज दिलीप वंशके गुभकमरूप तरुओंने नय पत्ते पैदा किये हैं,  
जिससे आपके सद्गुरु त्रिभुवनगुरु मुनि इस राजाकी प्रशंसा करते हैं ।

[ दोनों चलते हैं ]

दशरथ — ( सह्य आमनसे उठकर सनीप जाकर ) महाराज विश्वामित्र, रक्षाकु  
वशी न दशरथ भगान करता हूँ ।

विश्वामित्र—आपका परिवारके साथ मङ्गल बडे ।

[ सभी यथोचित स्थान पर बैठते हैं ]

<sup>१</sup> ‘उद्गार्यन्ते’ इति । २ ‘सप्रणवन्’ इति ।

दशरथ — ( सप्रथयम् । ) भगवन्विश्वामित्र,

कच्चिरकान्तरभाजा भवति परिभव कोऽपि शौचापदो वा

प्रत्यूहेन क्रतूना न खलु मखभुजो भुञ्जते वा हवींषि ।

कर्तुं वा कच्चिदन्तर्वसति वसुमतीदक्षिण सप्ततन्तु

र्यत्सप्राप्तोऽसि किं वा रघुकुलतपसामीदृशोऽय विवर्त ॥२५॥

विश्वामित्र — ( विहस्य । )

जनयति त्वयि वीर दिशा पतीनपि गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिन ।

सप्रथयम्—सविनयम् ।

कच्चिरकान्तरभाजाम् जरण्यवासिना भवता मुनीना कोऽपि शौचापद्  
 श्चापदकृत परिभव अनादरादि वलेश भवति कच्चिन् किम् ? भगभुजो यज्ञ  
 भागभोक्तारो दवा वा क्रतूना प्रत्यूहेन राक्षसादिभिर्यज्ञाना विहिततया हवींषि  
 न खलु भुञ्जते अश्नन्ति वा ? वसुमतीदक्षिण पृथ्वीदक्षिणाक सप्ततन्तुर्याग वा  
 कच्चिद् अन्तर्वसति मनसि वर्तते ? यत् यस्मात् सप्रथय अस्मद्गृहान् समायात  
 अग्नि, किंवा रघुकुलतपसाम् रघुवशचरिततपस्यानाम् अर्थम् इदृश पृतादृश  
 एव विवर्त परिणाम । वनवामिन श्चापदा अभिभवन्ति किम् ? राक्षसकृत-  
 विघ्नेन दवाना हविभोजने बाधा वा जायते किम् ? पृथ्वीदक्षिणाक याग वा वस्तु  
 मन्तरभित्तापो वर्तते ? यदस्मद्गृहानागता भवन्त, अथत्राऽय रघुवशतप  
 प्रभावो यज्ञवाहशा समागच्छन्तीति भाव । शुन इव प्रदमेपामिति श्चापदा  
 व्याघ्रा, ततोऽपि शौचापदमिनिरूपम् । 'द्वारादीनाञ्च' इत्यंजागम । 'सप्ततन्तु  
 मस्य क्रतु' 'त्रिवर्त्त परिणामे स्यात्' इति भेद्विन्यमरौ । स्वधरावृत्त तल्लक्षण  
 यथा—'ग्रभेयाना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्वधरा कीर्त्तितेयम्' ॥ २५ ॥

जनयतीति हे वीर, त्वयि दशरथे दिशापतीन् दिग्धीशान् इन्द्रादिनपि  
 गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिन त्वद्गृहाङ्गनसततस्थायिन ( सर्वदा यज्ञानुष्ठानात्सतत

दशरथ—( नम्रताके साथ ) क्या वनवासियाको किमा प्रकारसे दवापदोंमें कष्ट दिया  
 है ? क्या यज्ञन कुल बाधा हुए हैं जिससे देवोंको हवि नहीं प्राप्त हो रही है ? क्या  
 आपके हृदयमें सारी पृथिवी दक्षिणा में देकर कौद् यज्ञ करनेकी इच्छा हो रही है ? जो  
 आप हमारे घर पधारे हैं, या यह रघुवशिशो के तपजाही परिणाम है ॥ २५ ॥

विश्वामित्र—(हसकर) हे वीर, आपने जब सभी असुरों को परास्त करके देवोंको भी  
 घरभरमें नित्यनवासी बना रक्खा है तब हम लोगों को भय किम प्रकारका ? भय तो

रिपुरिति श्रुतिरेव न वास्तवी प्रतिभयोन्नतिरस्तु कुतस्तु न ॥२६॥

अपि च—

दत्तेन्द्राभयविभ्रमाद्भुतभुजासभारगम्भीरया ।

त्वद्बृहत्या शिथिलीकृतस्त्रिभुवनत्राणाय नारायण ।

अन्तस्तोषतुपारसौरभमयश्वासानिलापूरण

प्राणोत्तुङ्गभुजङ्गतल्पमधुना भद्रेण निद्रायते ॥ २७ ॥

त्वद्बृहोपस्थितिशालिन ) जनयति कुर्वति सति, रिपुरिति अस्माक यज्ञस्य शत्रुरिति श्रुतिरेव वास्तवी श्रवणमात्रमेव रिपुणाम् न पारमाधिक सत्त्वमिति न अस्माक प्रतिभयस्य शत्रुकृतस्य त्रासस्य उन्नति वृद्धि कुत तु, शत्रूणा नाममात्र-शिष्टत्व शत्रुभयसम्भारना नितान्तनिरस्ता वेंधेति भाव । द्रुतविलम्बित वृत्त, ‘द्रुतविलम्बितमाह मभौ भरौ’ इति तल्लक्षणम् ॥ २६ ॥ -

दत्तेन्द्रेति । दत्तम् विनीर्णम् इन्द्राय अभयम् निर्भयत्व येन तादृशो विभ्रमो विलासो ययो तयोस्तथोक्तयो अतएव अद्भुतयो आश्चर्यकरयो भुजयो सभार सामर्थ्यम् तेन गम्भीरया उद्भटया त्वद्बृहत्या त्वदीयव्यापारेण इन्द्राय वृत्ताभयस्य तत्र बाहुबलस्य प्रभावेणेत्यर्थ त्रिभुवनत्राणाय लोकरक्षाक्रमणे शिथिली कृत अनपेक्षित नारायण विष्णु अधुना सम्प्रति अन्तस्तोषण आन्तरसन्तोषेण तुपार शीतल सारभमय सुगन्धपूर्णं य श्वासानिल तेन आपूरण परि-पुष्टिर्यस्य तथाभूतेन प्राणेन प्राणाख्यवायुना उत्तुङ्ग ममुनतो यो भुजङ्ग शेष स एव तल्प शय्या यत्र तथा भद्र सुषम् निद्रायते स्वपिति । इन्द्रायापि निर्भयभाव दत्तवतोरद्भुतयोस्तव भुजयोर्व्यापारेण जगति रच्यमाणे तत्रानपेक्षितो भगवान्विष्णुरन्तस्तोषयञ्जकेन स्वेन सुगन्धिना श्वासानिलेन भक्ष्यभूतेन पुत्र तनो शोषनागे स्वतल्पे सुख स्वपितित्याशय । ‘तुपार शीतल शीत’ ‘दोर्दापा च भुजा भुज’ ‘तल्प तु शयनीये स्यात्’ इति मंत्रत्र विश्वामरौ । निद्रायत इत्यत्र ‘कतु क्यद्’ इति क्यद् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २७ ॥

केवल मुनने की धान रह ग है वस्तु वह कोइ वस्तु नहीं है ॥ २६ ॥

इन्द्रको अभय देनेवाले आपके भुजबलगम्भीर व्यापारोंने नारायणके शिरस भुवन रक्षाका भार उतार दिया है अत नारायण आन्तरिक सन्तोषको अभिव्यक्त करनेवाला स्वसिद्धि करके हैं जिससे नारायण के तल्पभुजापवनाश होने से स्थूल होते जाते हैं, और भगवान् नारायण उस पलायनपर आनन्द की नींद सोते हैं ॥ २७ ॥

दशरथ — ( सर्वैलक्ष्मितम् । ) भगवन्विश्वामित्र, अभ्यमित्रोणस्य तत्रभरत सुनासीरस्य नासीरपूरकेण पदातिपरमाणुना भयापि कदाचि दुद्धृत धनुर्यन्मूलोऽयमलीकलोकप्रजादो भरन्तमप्याप्याययति ।

विश्वामित्र — ( सोऽमाहस्मितम् । ) 'सखे,

त्रेलोन्याभयलग्नकेन भवता वीरेण विस्मारित-

न्तज्जीमूतमुहूर्तमण्डनधनु पाण्डित्यमाखण्डल ।

सर्वैलक्ष्मम्—सङ्कोचम् ।

अभ्यमित्रोणस्य शत्रोरभिमुख गच्छत । सुनासीरस्य इन्द्रस्य । नामीरपूर कण सैन्याग्रगामिना । पदातिपरमाणुना जुष्टपदानिना । उद्धृतम् उत्थापितम् । यन्मूल यत्कारणम् । अलीकप्रवाद मिथ्याप्रचार । आप्याययति तर्पयति । शत्रू-  
ल्लक्ष्योऽयं पिपासोरिन्द्रस्य सैन्यसमुदयऽहमप्येक पदानि स्व धनुरुद्यत कृत वानेतावतव ममेय कीर्तिर्भवन्तमपि प्रशसार्थं मुत्तरयतीत्यर्थ । 'यो गच्छयत् विद्विषत प्रति । सोऽभ्यमित्रोऽभ्यमित्रोऽभ्यमित्रोण' इत्यमर । 'सुनासीर पुरहृत पुरन्दर' इत्यमर । 'नामीरोऽग्रगन्तरि' 'अलीक स्वप्रियेऽनृते' इति च विश्वामरौ ॥

वृत्ताभ्यामयेति । आखण्डल इन्द्र त्रेलोक्यम् लोकत्रयम् तस्य पदभयम् सर्वं तोऽप्यकुतोभयव तत्र लग्नकेन प्रतिभूस्वरूपेण वीरेण भुजशौर्यशालिना भवता तत् प्रसिद्धम् जीमूते मेवे मुहूर्तं क्षणिक मण्डनमलङ्करण धनु तस्य पाण्डित्य चालनचानुर्यं विस्मारित, स्वया वीरेण त्रिलोक्या निवृत्तभयाया कृताया शक्त कदापि स्व मेघालङ्कारभूत धनुरावश्यवताऽभावेन न स्पृशतीति चिराद्भ्यासाभावान्सौ तत्पाण्डित्यमेव विस्मृतवानित्यर्थ । किञ्च अनस्रं बहुलम् मखेषु यज्ञेषु अपि तेन दत्तेन हविषा हवनीयद्रव्येण सम्पुल्लेन प्रवृद्धेन मासेन उल्लसन्ती जायमाना

दशरथ—( लज्जा तथा मुस्तुराइटके साथ ) भगवन् विश्वामित्र इन्द्रने जब शत्रुओं पर आक्रमण किया था तब उनका सेनामें मैं सो पैदल सैनिकके रूपमें धनुष उठाया था, जिसके चलते यह किबदनी फलाइ गई जो आपको प्रसन्न कर रही है ।

विश्वामित्र—( उत्साहके साथ हसकर ) सखे,—

त्रेलोक्यकी अभयदान देनेवाले आपने मेघरूप धनुषकी पण्डिततासे इन्द्र को सूना कर दिया है अनभ्यास हो जानेके कारण इन्द्रने धनुर्विद्या पाण्डित्यसे सर्वथ छुड़ा लिया है,

किं चाजस्रमस्त्रापितेन ह्यविषा संकुलमासोल्लस-  
त्सर्वाङ्गीणवलीविलुप्तनयनव्यूढ कथ वर्तते ॥ २८ ॥

‘वामदेव — महाराज भूकरश्यप, यथाह भगवान्कौशिक । स्वय-  
मनेकधा सुधर्मायामध्यक्षीकृतमहमपि व्रयीमि ।

त्वय्यर्थासनभाजि किंनरगणोद्गीतैर्भवद्विक्रमै  
रन्त सभृतमत्सरोऽपि भगवानाकारगुप्तौ कृती ।

उन्मीलद्भवदीयदक्षिणभुजारोमाञ्ज्विन्दोच्चर-  
द्वाधैरेय विलोचनैरभिनयत्यानन्दमाखण्डल ॥ २९ ॥

या सर्वाङ्गीणा सर्वाङ्ग्यापिनी वली स्थूलता तथा विलुप्त समाच्छन्न नयनव्यूह  
सहस्र नयनानि यस्य तथाभूत सन् कथ महता कष्टेन वर्तते जीवति । तत्रा  
सतत यज्ञानुष्ठानेऽनवरतहमिभोजनावसरप्राप्त्या शरीरस्थौल्ययोगादाघृतनयनोऽ-  
साविन्द्र कृच्छ्र जीवतीति तापर्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २८ ॥

भूकरश्यपेति दशरथस्य नामान्तरमिति रचिपति । यथाह भगरान् कौशिक  
विश्वामित्रोक्त सत्यमित्यर्थं । स्वयम् आत्मना । सुधर्मायाम् देवममायाम् । अध्य-  
क्षीकृतम् प्रत्यक्षीकृतम् ।

त्वय्यर्थासनेति । त्वयि दशरथे अध्यासनभाजि इन्द्रस्यासनार्धमलङ्कुरुवति सति निज्ञ-  
रगणोद्गीतै किन्नरा द्वययोनिभेदास्नेपा गणोद्गीतै उच्चै स्तुते भवद्विक्रम  
त्वदीयपराक्रमै अन्तर्मनमि सभृतमसर सञ्जनितद्वेषोऽपि ( कथ किन्नरा मास-  
पहाय मनुष्यमपीममित्थ स्तुवन्तीति ईर्ष्याकलुपमानस सम्नपि ) आकारगुप्तौ  
मत्सरोऽपि विह्वगोपने कृती निपुण आखण्डल उन्मीलद्भि भवदीयगुणगीतध्वजान्

सतत यज्ञमे समपिन हव्यभागस इन्द्रका दहमे माम वहुत वट गथा ई, उन्मीमे इनके  
सारे नयन छिप गये हे न जाने वह कैमे रहते हैं ? ॥ २८ ॥

वामदेव—महाराज भूकरश्यप, कौशिकने ठीक ही कहा है । मैंने भी जो वस्तु देव  
ममामें अनेक बार देखी है, वह कहता हू—

आप जब इन्द्रके साथ अर्धामन पर विराजमान रहते हैं, उस समय जब किन्नरगण  
आपकी कार्तिका गान करते हैं तब इन्द्रको मात्सय होता है परन्तु वह आकार गोपनमें  
बहुत चतुर होनेके कारण पडकने वाले आपके दक्षिण बाहु में बसमान रोमाञ्जमे विद  
उनके नयनोंमें निर्गम वाष्पों द्वारा आनन्दका अभिनय करके रख जानें हैं ॥ २९ ॥

१ वामदेव’ इत्यस्मादग्रे विद्स्य’ इति । २ ‘यथाह’ इति ।

३ ‘वधोच्चरत्’ इति ।

दशरथ — ( सस्मितम् । ) 'वामदेव, त्वमपि भगवन्त गाधिनन्दन  
मनुप्रविष्टोऽसि ।

एतस्मै समराङ्गप्रणयिने तिष्ठेत क प्रज्वल-

द्ग्भोलिद्युतिमण्डलोद्भुजस्तम्भाय जम्भारये ।

निर्यद्गिर्यहारेप रोपदहनज्योति स्फुलिङ्गरिव

स्वै रज्यद्गिरपीक्षणे समतनोदाग्नेयमख्यं द्विषाम् ॥३०॥

विश्वामित्र — ( सर्गारव दशरथयाहु'भामृशन् । ) राजर्षे वसिष्ठशिष्य,

समृत्तोऽथ यदि तत्र भुजच्छायया सम्प्रतीन्द्रो

विश्वामित्रि भगदीयदक्षिणभुजाया तत्र दक्षिणग्रहो रोमाञ्चं रोमकण्ठकै विद्वानि  
जत एव च उच्चरन् उद्गरच्छन् वाप्य जल येभ्य तथाभूतं इव विलोचनै स्वनयनै  
आनन्दम् अभिनयति नाटयति । दक्षिणभागस्थितस्य तत्र ग्रहो जायमानेन रोमा-  
ञ्चनेन तदक्षिभेदे जाने प्रवृत्ते च वाप आनन्दाधुप्रवाहोऽयमियभिनयच्छिन्त अमपै  
प्रभवमधु गोपयतीत्यर्थ । शार्दूलिक्रीडितमेव वृत्तम् ॥ २९ ॥

गाधिनन्दनम्—विश्वामित्रम् । अनुप्रविष्ट अनुसृतवान् । यथाऽसौ मा स्तोति  
तथैव स्तुवैस्वमपि तदनुसारी जात इत्यर्थ ।

एतस्मै इति । प्रज्वलता दाप्यमानेन दग्भोलिद्युतिमण्डलेन उद्भूतौ भीषणौ  
भुजापेय स्तम्भौ यस्य तथाभूताय प्रकाशमानवत्रभीषणभुजशालिने एतस्मै जम्भा  
रये समराङ्गप्रणयिने सन्नामभुजापयनीर्णाय क तिष्ठेत आत्मान प्रकाशयेत् ?  
न कोऽपि शत्रुभिर्भुगव रणे स्यानुमीश इत्यर्थ । एष इन्द्र वहि निर्यद्गि रोप  
दहनस्फुलिङ्गरिव कोपाग्निकणरिव रज्यद्गि रत्नीभवद्गि स्वै निज इच्छणे नयनै  
द्विषा शत्रूगाम् आग्नेयम् अख्यम् समतनोत् विस्तारितवान्, कोपरक्तानि तदीय  
नयनान्येत्र शत्रूणा मनसि दहनास्रभयमादधानास्तात्रिशारयन्तीति भाव । 'त्रिषु  
स्फुलिङ्गोऽग्नि कण' 'दग्भोलिरशनिर्द्वयो' इत्युभयत्रामर । शार्दूलविक्रीडित  
वृत्तम् ॥ ३० ॥

दशरथ—( हंसकर ) वामदेव, तुम भी भगवान् विश्वामित्रस मिल गये हो ।

इन्द्र जब युद्धक्षेत्रो मुख हो जाते हैं तब बज्रप्रभाभासित मुजदबशाली इन्द्रके सामने  
कौन ठहर सकता है ? उनकी रक्त आँखें ऐसी प्रतीन होती हैं मानो रोपवहिकी स्फुलिङ्गा  
बलिया हों, उन रक्त आँखोंसे उनके शत्रु आग्नेय अखकी तरह भीत हो उठते हैं ॥ ३० ॥

विश्वामित्र — ( आदरपूर्वक शरथके हाथको पकडकर ) हे वशिष्ठके शिष्य राजर्षे !

१ 'सखे वामदेव' इति ।

निर्विघ्नश्रीरियमभिनवा कीदृशी ते प्रशस्ति ।

इक्ष्वाकूणा लिखितपठिता स्वर्णधूगण्डपीठ

श्रीडापत्रप्रकरमकरीपाशुपाल्य हि वृत्ति ॥ ३१ ॥

दशरथ — भगवन्सर्वादभुतनिधे, भगवन्तमनुगन्तुमुक्तिप्रत्युक्तिरुपा  
के वयम् । एष किल त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्तनोपाख्यानपारदृश्वान पौराणिका  
रुथयन्ति—

त्रासोत्कम्पत्रिदशपरिषन्मौलिमागिन्धमाला

वालादित्यप्रकरकिरणस्मेरपादारविन्दे ।

महत्तोऽयमिति । यदि अयमिन्द्रस्तव भुवच्छायया बाहुबलाध्रयेण सम्प्रति  
निर्विघ्नश्री अत्राधलक्ष्मीक सृष्ट इय ते कीदृशो अभिनवा नूतना प्रशस्ति  
र्याति, नेय तवाभिनवा प्रशस्तिरपि तु कुलजमागतैवेति भाव । हि यत इक्ष्वा  
कूणाम् त्वद्दशभवानाम् नृपाणाम् स्वर्णधूनाम् स्वर्णवासिनीना रमणीना गण्डपीठेषु  
कपोलभोगेषु य श्रिडापत्रप्रकर । गिलामार्थं विरचित पत्रावलीसमूह तत्र चित्रिना  
या मकरी मकरारयजलजन्मुच्छी तस्या पाशुपाल्य रक्षावृत्ति व्यापार लिखित  
पठिता लिखिता पठिता च लोकोक्तिरिय लिखितपठितेति त्वकुलजा प्राचीन-  
कालादय दवाता रक्षास्वासना जतस्वया शत्रो निर्वाधलक्ष्मीकता गमित इति  
तव प्रशसा न नूतनाऽपि तु कुलजमागतैवेति तापर्यम् । मन्दाजान्तावृत्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वादभुतनिधे सजलाश्रयनिधान । उक्तिप्रत्युक्तिरुपा कथनोपकथनद्वारा ।  
भगवन्तमनुगन्तुम् त्वा तुल्यितुम् । के वयम् न समर्था इत्यर्थ । त्रिशङ्कुसङ्कीर्त्त  
नोपाख्यानपारदृश्वान — त्रिशङ्कुकथाज्ञातार ।

त्रासोत्कम्पेति—त्रासेन भयन उत्कम्पा वेपथुशालिनी या त्रिदशपरिपत् देव  
मण्डली तस्य मौलिषु किरिटेषु या मागिक्यमाला मागिक्यारयरत्नविशेषस्त्रज एव  
वालादित्यप्रकरकिरणा नवोदितसूर्यसमूहप्रभा तै स्मेर बिकासशालिपादारविन्दे

आपके मुर्झोको आश्रय बनाकर सम्प्रति इन्द्र निर्विघ्न हो रह हैं, हममें आपको  
कौनसा नवान प्रशसा होता है ? इक्ष्वाकुवशियोंको देवाङ्गनाओंके कपोलस्थलापर वर्तमान  
क्राडापत्र मकरीके पालनवा मार लिखा पढी बरके सौधा गया है ॥ ३१ ॥

दशरथ—हे सभी आश्रयोंके निधि विद्वामित्र, कथोपकथनमें आपको दगावरी हम  
कहा तक कर सक्ते हैं ? त्रिशङ्कुको कथाको जानने वालोंका कहना है कि—

भयभीत देवगणके मस्तकोंपर बचमान मागिक्यमालाकी किरणस्वरूप दानवशियोंके



प्राचीमेता भुवनरचनामन्यथा निर्मिमाणे

कार्पण्योक्तीस्त्वयि रचितधानन्तरायं महेन्द्र ॥ ३० ॥

( विन्ध्य । )

जगद्गाराद्दधु त्वामुपनमति वर्गे दिविपदा

'मपन्यस्तो मन्दैरजनि रघहसै कमलभू ।

नियच्छामो जिह्वा न तव चरितेभ्य किमुत ते

सुधासध्रीचीनामतिपतति' वाचामधसर ॥ ३३ ॥

यस्य तादृशं स्वयि विश्वामित्र एता प्राचा भुवनरचनाम् विश्वसृष्टिम् अन्यथा प्रसारान्तरेण निर्मिमाणे रचयति सति महेन्द्र शक्य कार्पण्योक्ती दीनता सूचकचनानि अन्तराय रचितवान् विघ्नतयोपस्थापितवान् । भयभीतदेवगण शिरोरत्नमालासतिसूर्यप्रभासमुदयविक्रामितचरणरुमलस्त्रमिमा प्राचीना सृष्टि रचनामन्यथाकृतुं प्रवृत्त एव दीनचचनादि प्रयुक्तानेन्द्रेण न्यवार्यथा इत्या शय । पुरा द्वितीया सृष्टिं कर्त्तुमुद्यत विश्वामित्र भयोद्विग्ना द्या समुपेय पाद पतनेन देव्यजस्रमा च निवारयामासुरिति पुरागन्थात्रानुसंधेया । मन्दाप्रान्ता वृत्तम् ॥ ३२ ॥

जब दिति । दिविपदा इवाना वर्गे समुदाये त्वाम् नूननसृष्टिप्रवृत्त विश्वामित्र नामपिम् जगात् वगात् उपनमति प्रवृत्ते सति कमलभू ब्रह्मा मर्देमन्यरगामिभि रथहस ररथनियुक्तैहसै अपन्यस्त विमस्थुल अजनि जात, दवधु त्वा प्रमाद यितुमहमहमिरागनेन परापतत्सु म्वरथस्थहसगतिमान्छाद् ब्रह्मापश्चात्पदे भूत्वाऽ पत्रपित इवाजायतेयथं । तव चरितेभ्यो जिह्वा न नियच्छाम निवारयाम त्व चरितस्तुतेजिह्वा न निवारयामो वयम्, किमुत किन्तु सुधासध्रीचीनाम् अमृत महचरीणा तव वाचामधसर काल अतिपतति अतिक्रामति, अत परमपि यद्य

जब आपका उरणकमळ गिरल उठा था, और जब आप इस भुवनका रचनापद्धतिको पलट देना चाहते लग थे, तब ईद्र आपके सामने गिडगिटा रह थे ॥ ३२ ॥

( डमरर ) जब भगवन्देवगण त्वाम् आपकी आराधनाके लिए दौटकर आने लगे थे तब रथमें जुन हुए इसोकी मन्दगतिसे ब्रह्माकी दिव्यत जाना पडा था, मैं आपके चरित कीचनसे अपनी जिह्वाको बिरन नहीं करूंगा, किन्तु सुगामदृश आपके वचनोंका अवतर बीना आ रहा है ॥ ३३ ॥

( अञ्जलि बद्ध्वा । ) भगवन्, 'प्रसीद तावन् । उत्तरोत्तरेषा महोत्सवाना कदाचिदपि न तृप्यन्ति पुसा हृदयानि, यद्विय त्वदुपस्थानसुलभ-सम्भावनानिप्रसन्नसङ्गीतनर्तकी मे चित्तवृत्तिर्नियोगानुग्रहाय स्पृहयति । अपि च ।

पताभिस्तत्र कौतुञ्जोक्तिभिरपि त्रैविध्यमूर्तेरिव

त्वष्टम्यामरशिखिना दिनदृतोऽरुणोदवेदाक्षरै ।

पूता स्मं वयमद्य यद्यपि तदध्याज्ञामपि स्यामहो

बोहु विष्टिरनर्तता रघुकुले कल्पान्तमुन्मीलतु ॥ ३४ ॥

मेव तव स्तुतिं प्रवृत्ता रवेय तदा तवोक्तय कदा ध्रुवरश्मिति विचायेव निह्ना स्वीया तव स्तुतेर्निवर्तयामि न नृपयेति भाव ॥ शिखरिणा वृत्तम् ॥ ३३ ॥

उत्तरोत्तरेषाम्—अग्रिमाग्रिमाणाम् । महोत्सवानाम्—भट्टाणाम् । तृप्यतियोगे भट्टाणामिति करणे षष्ठी । त्वदुपस्थानेन तवोपस्थित्या सुलभ स्वयमुपगतो य सम्भावनानिप्रसन्न त्वद्विषयजादरानिश्चयस्तस्य सङ्गीते कीर्तने नर्तकी नटी ( भवदागमने भवदादरबुद्ध्या स्तुतिपरायणा ) मम चित्तवृत्ति मनोदशा नियोगानुग्रहाय आज्ञाप्रदानरूपाय भवतोऽनुग्रहाय स्पृहयति स्पृहा करोति ।

पताभिस्तवेति । यद्यपि उयम् तत्र पताभि पूर्वनिदिष्टाभि कौतुञ्जोक्तिभि परिहासवचने अमरशिखिना त्रिध्वकर्मणा त्वष्टस्य यन्त्रोद्भिग्वितस्थ त्रैविध्यमूर्ते बद्ध-त्रयीभयक्षरारस्थ दिलकृत सूर्यस्य अवच्छेदा खण्डा एव वदाक्षराणि तेरिव पूता स्म परित्रीकृता स्म, तदपि तथापि आज्ञाम् भवदायमादरा बोहु सम्पादयितुम् विष्टि कर्मकर स्याम्, इयम् अनर्घता अमाधारणता रघुकुले रघुवशे कल्पात

( हाथ जोटकर ) भगवन्, कृपा नाशिये । उत्तरोत्तर महोत्सवसे पुत्रपौके हृदयोंका लति नहीं होता है, देखिये आपके भागमनस गौरवशास्त्री हमारी यह चित्तवृत्ति आपके भागमनप्रयोजनको पूरनेका स्पृहा कर रहा है ।

और—आपने जो यह वचन परिहासमें कहें—यह वेद-उपसृष्टिधारी सूर्यके विश्व-पुत्रद्वारा रचित होने पर उनके जशभूत वेदाक्षरोंके समान हैं, यद्यपि हम आपके पुनः-पुनःमें ही पवित्र हो गये हैं तथापि आपकी आज्ञाके पालनका अवसर मुझे मिले और यह गौरव रघुवशके लिये प्रकृतकाल तक वक्तमान रहे ॥ ३४ ॥

१ प्रसीदतामुत्तरोत्तरेषाम्' इति । २ 'नियोगानुग्रहाय' इति ।

३ 'तथाप्याज्ञामपि स्यामहम्' इति ।

विश्वामित्र — ( विहस्य । ) ऐन्दुमतेय, किमन्यन्नियोज्यम् ।

निर्मुक्तशेषधवलैरचलेन्द्रमन्थ-

सश्रुन्द्रदुग्धमयसागरगर्भगौरै ।

राजन्निद्व वदुत्पक्षदलन्मृगाङ्क

च्छेदोऽन्वलेस्तव यशोभिरशोभि विश्वम् ॥ ३५ ॥

पुनरिदानीमपि—

यश स्तोमानुच्चैरुपचिनु चक्रोरप्रणयिनी

समुन्मीलतु प्रसरतु । अयमाश्रय — परिहायरूपतयोर्दीरिताभिरपि वदत्रयमूर्त्तं विश्वकर्मणा परितक्ष्य कृशीकृतम्य सूयस्य खण्डभूर्त्तवेंदात्तरैरिय पूताभिस्तव वाग्भि र्वय पूतीकृतास्तथापि तान्कमादेश पालयितुमप्रसर लभेय, इयमसाधारणता मम कुले जायतामेतदर्थं तवान्श श्रोतु कामये इति । पुरा सौर तेजोऽमहमानया सज्जानामिन्त्या सूर्यधन्याऽभिहित पिता विश्वकमा सूर्यं यन्त्रमारोप्योहिरय चेष क्षीनतेजसमकरोदिति पुराणार्त्ताऽत्रानुमन्धेया । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३४ ॥

ऐन्दुमतेय—इन्दुमतीतनय । नियोयम्—आदेष्टव्यम् ।

निर्मुक्तैति । निर्मुक्त निर्मोकरहित य शप शेषनागस्तद्वद्धवल श्वेतवणे, अचलेन्द्र मन्दरगिरि तेन य मन्थ विलोडनम् तन सश्रुध चालितो यो दुग्ध मयसागर क्षीरसमुद्रस्तस्य गर्भो मध्यभाग इव गौरै धवलवर्ण, बहुलपद्म कृष्णपक्षे दलन् उन्मीलन् य मृगाङ्कच्छेदक्षन्द्रखण्डम् सद्बहुज्ज्वलेंस्तव यशोभि कीर्त्तिभि, हे राजन् इद विश्वम् अशोभि शोभाशालि कृतम् । अत्र यशस उपमान त्रयमुक्तम्, निर्मोकरहित शेष एकम्, मन्दरमथनचालितक्षीरसागरमध्यभागो द्वितीयम्, कृष्णपक्षप्रकाशमानम् चन्द्रखण्ड तृतीयम्, तदेवमिय मालोपमा नाम लङ्कार । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३५ ॥

यश स्तोमानिति । चक्रोरप्रणयिनीना चक्रोरीणा या रसज्ञा निह्ना तस्या पाण्डित्य चन्द्रिकापानचातुर्यं तस्य छिदुर भेदक यत् शशिधाम चन्द्रतेज तस्य

विश्वामित्र—( इत्तर ) हे इन्दुमानन्दन, और क्या कहना है ?

हे राजन्, वैचुल छूट हुए शेष नागकी तरह धवल, तथा मन्दराचलद्वारा मये गये क्षीरसागरके अन्धन्तर भागकी तरह स्वच्छ तथा कृष्णपक्षके चन्द्रखण्डोंकी तरह स्वच्छ आपके यशसे सारा विश्व शोभित हो रहा है ॥ ३५ ॥

अव भी आप—

चक्रोरीणकी रसज्ञाकी भ्रममें डालनेवाले स्वच्छ चन्द्रकरीपम यशकी आप

रसज्ञापाण्डित्यच्छिदुरशशिधामभ्रमभरान् ।

अपि त्वत्तेजोभिस्तमसि शमिते रक्षतु दिशा-

मसौ यात्रामैत्र्या नभसि नितरामम्बरमणि ॥ ३६ ॥

किं तु <sup>१</sup>कतिपयरात्रमायुधसत्रीचा रामभद्रेण सनिहितवैतानत्रताना मस्माकमाश्रमपद सनाथीकरिष्यते । अपि च—

मध्येकृत्य घनं धिनोति जलधि स्वैरम्बुभिर्मैदिनीं

हन्ति स्वै किरणैस्तमिस्रमरुण कृत्वान्तराले रवि ।

भ्रमभर सदेहप्राचुर्यं यत्र तादृशान्—चकोर्यो हि चन्द्रकरान् रसयन्ति, तामा रसज्ञाया पाण्डित्य चन्द्रकरान् पीत्वा तृप्यति, यशसि तादृशाना चन्द्रकराणा भ्रमो जायत इति तादृशान् यश स्तोमान् उच्चैरपचिनु वृद्धि नय । तथा तत्र तेजोभि प्रतापे किरणेश्च तमसि अन्धकारे दुःखे च शमिते सति शान्ति गमिते ऽपि सति असौ अम्बरमणि सूर्यं नभसि आकाश दिशा यात्रामैत्री गमनेन मित्रता नितरा रक्षतु । तत्रैव तेजसा सूर्यमाध्य तमोनाश साध्यमाने तदुदयस्य निरर्थकतया सूर्यस्य दिक्षु भ्रमगमिदानीं केवल पूर्वतनमत्रीरक्षणार्थमिति तात्पर्यम् । शिवरिणीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

कतिपयरात्रम्—कतिपयरात्रिपर्यन्तम्, आयुधमश्रीचा—शूनास्त्रेण, रामभद्रेण—रामचन्द्रेण, सनिहितवैतानत्रतानाम्—सन्निहितयज्ञानुष्ठानानाम् । आश्रमपदम्—आश्रम, सनाथीकरिष्यते—पालयिष्यते । कतिपयदिवसपर्यन्त रामो घनास्र सन् यज्ञपरागामस्माकमाश्रम परिपालयत्वियर्थ ।

मध्येकृत्येति । जलधि सागर घन मेघ मध्येकृत्य द्वाराकृत्य स्वै अम्बुभि पानीयं मेदिनीं पृथ्वीं धिनोति तर्पयति, रवि सूर्य अष्ण नाम स्व सूतमन्तराले मध्ये कृत्वा स्वै किरणै स्वप्रभाभि तमिस्र तम हन्ति क्षपयति । त्व च वदारथ

विस्तारित करें, आपके नेत्रसे अन्धकारके नष्ट हो जाने पर सूर्य भगवान् आकाशमें यात्राको अनायास सम्पन्न करें ॥ ३६ ॥

किन्तु—कुछ दिनोंके लिये आयुधके साथ राम हमारे आश्रमोंको सनाथ करेंगे, क्योंकि हमारे यज्ञका समय समीप आ गया है । और—

समुद्र मेघको बीचमें करके अपने जलसे पृथ्वीको आर्पणकरता है, सूर्य अष्णको मध्यवर्ती बनाकर अपनी किरणोंसे अन्धकारका उन्मूलन करता है, आप रामको मध्यवर्ती

त्व रामान्तरितश्च पालय निजैरेव प्रतापै प्रजा  
मीढकोऽपि परोपकारसुहृदामेव स्वभावो हि ध ॥ ३७ ॥

किं च—

दृष्ट साक्षादसुरविजयी नाकिना चक्रवर्ती  
मात्स्यो न्याय कथयति यथा धारुणी दण्डनीति ।  
पातालेन्द्रादहिभयमयान्त्येव नित्यानुपक्त  
तत्र पुण्यैरजनि भवता वीर राजन्वती भू ॥ ३८ ॥

रामान्तरित राम मध्ये कुर्वन् निजै एव प्रतापै प्रताम पालय, परोपकारसुहृदाम् परोपकारकर्मणि दत्तचित्तानाम् व युष्माकम् कोऽपि विशिष्य निर्वक्तुमनर्ह इदम् स्वभाव प्रकृति । यामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार । सादृश विनीडित वृत्तम् ॥ ३७ ॥

दृष्ट इति । नाकिना देवाना चक्रवर्ती सम्राट् इन्द्र असुरविजयी असुराणा विजेता साक्षाद् दृष्ट प्रत्यक्षमालोकित, इन्द्रो ह्यसुराणामेव जेता नाधर्मस्येति प्रयत्नमेवचित्तम् असुरविजयीत्यनेन तस्य भ्रान्तभ्रातृपुत्रादिवधप्रवृत्त्युक्त्या दुष्कृति नस्तस्य राज्ये वास्यो नोपयुक्त इति व्यञ्जितम् । असुरविजयीत्यस्य असुरवृत्तक जयत्रिपय इत्यर्थस्यापि सम्भवन तस्यासुरैर्नितत्वमित्यप्यथो ध्वनित । वारुणी वरुणप्रवृत्तिता दण्डनीति शासनपद्धतिर्यथा यादृशी, तत् मात्स्यो मत्स्येषु प्रसूत न्याय कथयति निवदयति, जलाधिपस्य वरुणस्य राज्ये प्रत्नारूपा मत्स्या स जातीयदुष्टलभक्षणा इति तत्रत्यो मात्स्यो न्याय एव वरुणस्य दण्डनीतौ साधू नामरूपमाम्भ्याना महाधनेर्वलवद्भिर्निग्रह प्रकाशयन् तदीयराज्यस्य वासद्धमता निपेयति । अथ त्रिद्व पातालेन्द्रात् वासुदे अहिभय सपाणा भय नित्यानुपक्त

वनाकर अपन प्रतापमे प्रजाका पालन करें, परोपकार-रसिकोंका कुछ ऐसाहा स्वभाव हुआ करता है ॥ ३७ ॥

इन्द्र मदा अगुरोंसे उलझे रहते हैं, उनके राज्यमें रहना स्वस्थतासे पूण नहीं है, वरुणका नाति केमा है ? हम बाणको मात्स्य-याव ही वना देता है-अर्थात् बडे मात्स्य छोटे मात्स्योंकी निगल जाते ह इससे वरुणका शासन दुष्ट सिद्ध होता है, वासुकिनागके राज्यमें रहनेवाल सर्पोंको मश भय बना रहता है अत उनके भी राज्य अच्छा नहीं समझा जा सकता है, अब हमारे सौभाग्यसे ही यह पृथ्वी आप सहस्र राजाओं पा सका है ॥ ३८ ॥

१ 'प्रतापै' इति ।

दशरथ — ( नविषादमागतम् । ) कथमिदमस्मान् सकललो-  
 शोकशङ्कद्वरणशीलशीतलेभ्य कौशि<sup>१</sup>कप्रसादेभ्यो रामभद्रप्रवासवैम-  
 नस्य<sup>२</sup>मुत्पत्स्यते । दृष्ट वा नि शेषानन्दनि स्यन्दिनीनामपीन्दुकरकन्द-  
 लीना<sup>३</sup> कमलवनीमीलन कल<sup>४</sup>ङ्कस्थानम् । ( विहस्य । ) का गति ।

कूर्मराजभुजगाधिपगोत्रप्रावदिकरिभिरेकधुरीण ।

सततसम्बद्धमस्येव, पानाले राधा वासुकिस्तप्रनाश्च सथा त सह वानो मृयुरेव,  
 सर्पवद्धंशे वामस्य ‘ससपे च गृहे वामो मृयुरेव न सशय’ इति निदितात्वात्  
 तदिय ईरगतेलपानालाना वासानहतोक्ता । तत् तस्मात् ह वीर न अस्माक पुण्ये  
 सुकृते भू इय प्रथित्री भवता रात्न्यता शोभनरात्रयुक्ता अपनि जाता । तत्र राष्ये  
 प्रनाना नास्ति क्लेश इति भायमस्माकमिति भाव ॥ ३८ ॥

सकललोकशोकशङ्कद्वरणशीलशीतलेभ्य । मर्जनतदु लक्षणेद्वरणशीलेभ्य  
 कोमलपट्टतिभ्य । कौशिकप्रसादभ्यो विश्वामित्रानुग्रहेभ्य । रामभद्रप्रवासवैम  
 नस्यम्—रामभद्रस्य प्रवासरूप दु खम् । उत्पत्स्यते—भविष्यति । यो विश्वामित्र  
 सकललोत्पदु लशल्योद्धर्ता म एव कुतो मम पुत्र प्रवास्य मह्य क्लेश प्रदास्यतीति  
 भाव । नि शेषानन्दस्य—सधानन्दस्य । निप्यन्दिनीनाम्—वपिणीनाम् । इन्दुकरक  
 न्दलीनाम्—चन्द्रकिरणनिचयानाम् । कमलवनीमीलनम् कमलाकरमङ्गोचनम् ।  
 कलङ्कस्थानम् अपनीर्त्तिनिदानम् । सकललोककल्याणकरस्य मुनेविश्वामित्रस्य  
 मपुत्रप्रवासननद्वारा मद्दुःखप्रदत्त्व सकलानन्ददायिनश्चन्द्रस्य कमलकुलसङ्गोचक-  
 त्वमिव कलङ्कपदमिति तापर्यम् ।

कूर्मराज । कूर्मराज कसठ ( शेषस्य धत्ता, ) भुजगाधिप शपनाग,  
 गोत्रप्रावाण कुलाचला, दिक्करिणो दिग्गजाश्च त एकधुरीण समानधुरन्धर  
 रघुवशो मा दशरथ प्रसूय जनयि<sup>५</sup>वा कथ केन प्रकारेण पराधविमुक्त परकायार्थ

दशरथ—( विषादके माथ स्वगत ) समस्त लोकके दुःखको दूर करने वाले  
 विश्वामित्रके अनुग्रहे वा हमको राम-प्रवासरूप कष्ट क्यों होने जा रहा है ? अथवा  
 समस्त प्रपाननकी आनन्द देने वाले चन्द्रमाया कमलवन-सङ्गोचन देला ही हुआ है ।  
 ( इसवर ) क्या उपाय है ? कूर्मराज, भुजगराज, गोत्राचल तथा दिग्गजोंके साथ समान

१ ‘कौशिकपादेभ्य’ इति पाठान्तरम् । २ ‘अप्युत्स्यते’ इति पाठान्तरम् ।  
 ३ ‘कमन्दिनीमीलनम्’, ‘कमलवनीविनिमीलनम्’ इति च ।  
 ४ ‘अङ्कस्थानम्’ इति ।

मां प्रसूय कथमस्तु विगीतो हा परार्थविमुखो रघुवश ॥३९॥

विश्वामित्र — ( सस्मितम् । ) राजपै, ममकारो हि राजपुत्रेषु राक्ष-  
मुपलालनक्लेशाय केवलम् । उपयोगस्तु प्रजानाम् । यथैतत् ।

कथा वेधव्यथा कष्टो नित्यमुद्रहन्फलम् ।

श्रवणानामर्लंकार कपोलस्य तु कुण्डलम् ॥ ४० ॥

दशरथ — भगवन्, परमनुगृहीता वयमेव तत्रभवता सम्भाव्य

साधनपराङ्मुख सन् विगीत निन्दित अस्तु । कूर्मराज शेष धत्ते स कुलात्  
लान्, ते दिग्गजान्, ते च भुव धारयन्ति, तद्वित्थमेते यथा परार्थसाधनलगा  
तथैव सदा परार्थसाधनधुरीणता प्राप्तो रघुवश सम्प्रति मा प्रसूय मया परार्थं  
पराङ्मुखीभूयोपेक्ष्यमाणे कथं निन्दितत्वं व्रजतु नैतन्मया कथमपि कर्तुमुचित  
मिति भाव ॥ ३९ ॥

ममकार — मम अनुद्धि । उपलालनम् पालनपोषणादि । उपयोग उपकार ।  
राजानं स्व पुत्र समवेन केवलं पालयन्ति, नहि तेन स्वार्थमपेक्षन्ते, राजपुत्रस्यो  
पयोग तु स्वपालनद्वारा प्रजा एव लभन्त इति भाव ॥

कथेति । श्रवणानाम् श्रोत्राणाम् वेधव्यथा वेधजनिता पीडा कष्टा क्लेशदा,  
तथा नित्यं सततम् उद्रहन्ते कुण्डलधारणे श्रोत्राणां क्लमं भ्रमं, तु किन्तु कुण्डलम्  
कपोलस्य गण्डनक्षय्यं अलङ्कारं भूषणम् । यथा श्रोत्राणि वेधव्यथामनुभवन्ति  
कुण्डलानां बहने श्राम्यन्ति च परं तैः कपोलप्रदेशां भूषिता भवन्ति, तद्वद्वाजानं  
स्वपुत्राणां लालनपालनादौ क्लिश्यन्ते, परन्तैरपक्रियन्ते प्रजा एव न जनकास्ते  
पामिति भाव ॥ ४० ॥

परम् अनुगृहीता — अत्यर्थमनुकम्पिता तत्रभवता-पूज्येन स्वया । एव

रूपमें पृथ्वाके मारको वृद्ध करने वाले रघुवशको मेरे द्वारा पराधविमुक्तान्जन्म अवश  
कैसे प्राप्त होगा ? ॥ ३९ ॥

विश्वामित्र — ( हसकर ) राजपै, राजपुत्रोंपर राजोंका ममत्व केवल लालन पालाके  
समय क्लेशके लिये होता है, उनसे लाभतो प्रजाओंको ही होता है । जैसे—

कानोंकी विधना पढना है, नित्य दोनेका कष्ट उठाना पढता है, परन्तु इनका होने  
पर भी कुण्डल कानोंसे अधिक कपोलोंकी सोमा-वृद्धि करते हैं ॥ ४० ॥

दशरथ — भगवन्, आपके इस आदरसे हम अनुगृहीत हो गये हैं, किन्तु इस

माना । किं पुनरकृतास्त्र क्षीर'कण्ठो वत्सोऽयमिति 'मुग्धोऽस्मि ।

विश्वामित्र —( वित्तस्य । ) सखे. तत्र भवन्त मैत्रावरुणिमृषिं पुरो-  
वाय चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य धनुर्वेदसस्कारास्तावदस्य कृशाश्वप्रसादाद्-  
स्मात्स्वायतन्ते ।

दशरथ —( सविनयोपरोधम् । ) भगवन्, उच्छ्वसितमग्निं रघुराज-  
बीजिना त्वदायत्तमेव, किमुत कार्मुकविद्यासम्प्रदाय-<sup>शङ्के</sup> सहस्रकि-  
रणकुलैरुपक्षपातेनैव महन् वत्सरान्मर्गानन्ते, कृशाश्वमुपासीनो दिव्या-  
स्त्रमन्त्रोपनिषदमध्यगीष्ठा ।

सम्भाव्यमाना —इत्थमाद्रियमाणा । अकृतोम् —अगृहोतधनुर्वेदशिक्ष । क्षीरकण्ठ-  
दुग्धमुत्र । मुग्ध —किङ्कतंन्यतानानशून्य

मैत्रावरुणिम्—वसिष्ठम् । पुरोधाय—पुरोहित कृत्वा । चरितब्रह्मचर्यव्रतस्य-  
धनत्रयचर्यस्य । धनुर्वेदसस्कारा—अस्त्रविद्याशिक्षा । कृशाश्वप्रसादाद्—  
भगवन्मो मम गुरो कृशाश्वस्यानुग्रहाद् । आयतन्ते—आयत्ता । ब्रह्मचर्यमनेन  
साधु निरूढ सम्प्रति कृशाश्वान्मया लब्धा धनुर्वेदविद्या मयैव राम शिक्षणीय  
इति तदप्रति-तयाऽहं भयताऽऽस्मान्मायास्येति भाव ।

रघुराजबीजिनाम्—रघुराज बीजी आदिपुत्रपो येषां तेषाम् रघुवरयानाम् ।  
उच्छ्वसितम्—जीवनम् । त्वदायत्तम्—त्वदर्धीनम् । कार्मुकविद्यासम्प्रदाय-  
धनुर्वेदोपदेश । शङ्के—सभावयामि । सहस्रकिरणकुलैरुपक्षपातेन—सूर्यशरानुग्रह-  
बुद्धया । उपासीन—सेवमान । दिव्यास्त्रमन्त्रोपनिषदम्—दिव्यास्त्रमन्त्ररहस्यम् ।  
अध्यगीष्ठा—अधीतवान् ।

दुधनुह रामन अमो अस्त्रविद्या नहा सात्ता इं अहं मूढ हां रक्षा हू ।

विश्वामित्र—( हमकर ) वसिष्ठके तस्वावधानमें रामने ब्रह्मचर्य व्रतका पालन कर  
श्रिया है, अब हमके धनुर्वेद-सस्कारका भार कृशाश्वके प्रसादसे हमारे ऊपर रहना है ।

दशरथ —( विनय और अनुरोधके साथ ) भगवन्, रघुवशियोंका उच्छ्वस भी  
आप पर ही निभर है, फिर धनुर्वेदकी क्या बात ? मैं समझता हूँ सूत्रवश पर पक्षपात  
होनेके हा कारण आपने सहस्र सन्तर पर्यन्त कृशाश्व मुनिसे अस्त्रविद्या सीखी थी ।

१ 'क्षीरकण्ठश्च' इति । २ 'प्रमुग्धोऽस्मि' इति ।

३ 'किं पुन' इति । ४ 'परिवत्सरान्' इति ।



विश्वामित्रः—अल च ते रामभद्रेऽपि वालोऽयमित्यलीकम्भा  
वनया । दिनस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीं तरणिरणुतरोऽपि तेजसा  
तिरस्करोति ।

दशरथ —( सस्मितम् । ) भगवन्कुशिकप्रशकेतो, कस्य तलिनी  
तादृशी जिह्वा यस्त्यामपि त्रुणाणमधरोत्तरेणाभिसन्धत्ते । ( अथवार्थ । )  
वामदेव, स्वमन्त्रभ्रान् कौशिनो व्रयीति ।

वामदेव —राजर्षे, किमत्र प्रष्टव्या जयम् ।

काशिकाऽर्था भवान्दाता रक्षणीयो महाक्रतु ।

रक्षिता रामभद्रश्चेदनुमन्यामहे वयम् ॥ ४१ ॥

अलीकम्भावनया—मिथ्याकरणया । दिनस्पृथिव्योस्तिमिरतिरस्करिणीम्—  
घावाभूम्योरावरणकारिणीम् ( अधनारमन्ततिम् ) । अणुतर—स्वल्पाकार ।  
तरणि—सूर्य । तिरस्करोति—विनाशयति ।

कुशिकप्रशकेतो—कुशिकप्रशमदीप । तलिनी—स्वच्छा ( तलिन विरल स्नोक  
स्वच्छेऽपि वाच्यवत् ) अधरोत्तरेण—उत्तरोत्तरमुक्तिप्रयुक्तिकया ।

कौशिक इति । कौणिको विश्वामित्रोऽर्था याचक, महाक्रतु याग रक्षणाय  
पालनीय, भवान् दाता, रामभद्रश्च रक्षिता भवागपालर्ष चेत् वयम् तव  
शुभेकध्यानपरा अनुमन्यानह, रामस्य विश्वामित्रकृतृन्यागरक्षार्थं यमनमनु  
मोक्षामहे इत्यर्थ ॥ ४१ ॥

विश्वामित्र—भाषका यह समय का कि राम वालक है मर्वाया व्यथ है । पृथ्वा तथा  
आकाशमें मरेहुय अथकारकी छोटासा सूर्य हा अपने करोंसे दूर कर देता है ।

दशरथ—( हसकर ) हे कुशिक वशके केतुरूप महाराज विश्वामित्र, किमकी जिह्वामें  
इतना शक्ति है जो आपको उत्तर देसक ? ( दिपाकर ) वामदेव, कौशिकनी पसा  
करते हैं ।

वामदेव—राजर्षे, इममें मुझमे क्या पूछना है ?

कौशिक याचक है, आप दाता हैं, यशनी रक्षा करनी है, राम रक्षक हैं, इस बालनमें  
मैं अपनी सम्मति देता हू ॥ ४१ ॥

१ 'धावाशुधि-यो', 'दिनस्पृथिव्योरनराले' इति च । २ 'अधरोत्तरे' इति ।

अपि च—

जगतीभारखिन्नानां विध्रामो भवतामयम् ।

यद्यथाकामसपत्तिप्रीतार्थिमुखदर्शनम् ॥ ४२ ॥

किं च विशेषेण ।

पूरयितुमर्थिकामान्मैत्राचरणेन गोत्रगुरुणा ते ।

सन्दिशता सन्दिष्ट समाधिदृष्टोऽयमेवायं ॥ ४३ ॥

दशरथ — वामदेव, एवमेतत् ।

ध्यानमयदृष्टिपातप्रमुषितकालाध्वविप्ररूपेषु ।

जगताणि । जगत्या पालनीयाया पृथिव्या भारेण पालनार्हतादिः प्रमेग विन्नानाम् विलश्यमानानाम् भ्रष्टता महाराजानाम् अयम् विध्राम क्रियतासेन निर्बृति यत् यथाकामसपत्त्या यद्यद्यस्तुलाभेन प्रीताना सन्नुष्टानामर्थिना याचकाना मुखस्य दर्शनमप्रलोक्नम् पृथ्वीपालनविलुप्त भवाद्दशा महाराजा यथेष्टलाभसन्नुष्टयाचकमुखावलोकनेन—विध्रामसुखमनुभ्रष्टन्ति, तद् विश्वामित्र याचमान प्रमाद्य भ्रान्तपि तत्मुख प्राप्तु प्रयततामिति भाव ॥ ४२ ॥

पूरयितुमिति ते तव दशरथस्य गोत्रगुरुणा कुलगुरुणा वसिष्ठेन अधिगमान् पूरयितु याचकमनोरथान् सन्दिशता सन्मुष्टेन वाचिक प्रेषयता समाधिदृष्ट प्राणधानसाक्षात्कृत अयमेवायं सन्दिष्ट कथित । समाधिद्वारा विश्वामित्रेण करिष्यमाणा रामभद्रस्य याच्नामेव मनमिहिन्य भ्रष्ट कुलगुरुवसिष्ठो भवन्त याचकाना मनोरथान् पूरयितु सन्दिष्टवास्तत्रिथमत्र विश्वामित्रा नुरोधे पाल्यमाने फलतो गुरोरपि सन्दश पालितो भवतीत्यत्ररथपालनीयोऽयम नुरोध इत्याशय ॥ ४३ ॥

ध्यानमयेति । नेष्टिकानाम् निष्ठाशालिना मिद्धिमताम् सर्वपथीना सर्वमार्ग-

ओर—

समारके भारने धके हुए आप लोगोंके लिये यही विश्राम है कि यथाकाम याचना करने वाले याचकोंकी इच्छा पूरी करके उनको प्रसन्नमुखा दत्त करें ॥ ४२ ॥

याचकोंके मनोरथको पूरा करनेका सन्दिश दकर आपके हुए वसिष्ठन भा समाधिदृष्ट इसी अर्थकी ओर इशारा किया था ॥ ४३ ॥

दशरथ—वामदेव ठीक यही बात है,

ध्यानमय दृष्टिमें देस तथा कालका व्यवधान नहीं रहता है, अत सिद्ध पुरुषोंकी

१ 'शनमय' इति ।

विषयेषु नैष्ठिकाना सर्वपथीना मति क्रमते ॥ ४४ ॥

(विमृश्य ।)

क्रियाणा रक्षायै दशरथमुपस्थाय विमुखे

मुनौ विश्वामित्रे भगवति गते सप्रति गृहान् ।

तपोलेशश्लेशादुपशमितविघ्नप्रतिभये

प्रवृत्ते यष्टु वा रघुकुलकथैवास्तमयते ॥ ४५ ॥

( मुनिं प्रति । ) जगद्गुरो गाधिनन्दन,

त्व चेद्दीक्षिष्यमाणो मे रामभद्र प्रतीक्षसे ।

सद्धारिणी मति बुद्धि ध्यानमयन दृष्टिपातेन ज्ञानयोगेन प्रमुपिन अपसारित कालस्य भूतभ्रिष्यद्वर्त्तमानरूपस्य समयस्य अधगतो देशस्य च विप्रकर्षो दूरत्व येषु तथोक्तेषु निषयेषु क्रमते प्रवर्त्तते । निद्रिमन्तो भुनयो ज्ञानदृष्ट्या अतीतानाग तादिक दूरस्थ च विषयजात बुद्धौ प्रयत्नीकुर्वन्ति, तत्सम्भवति कुलगुरुर्मम विश्वामित्राभिप्राय मनसि निधायैव तथा सन्दिष्टवान् स्यादिति भाव ॥ ४४ ॥

क्रियाणामिति । क्रियाणा यागानुष्ठानानाम् रक्षायै रक्षाविधये दशरथम् उपस्थाय दशरथं प्रार्थ्यं तदीय पुत्र रक्षन् याचित्वा त्रिमुखे प्रार्थितार्थमलब्ध्वा सप्रति मुनौ विश्वामित्रे गृहान् स्वाश्रमान् गतवति सति तपोलेशस्य स्वतपस्यैक देशस्य श्लेशात् व्ययात् उपशमितम् शान्तीकृत विघ्नप्रतिभय प्रतिबन्धभय येन तस्मिन् स्वतपप्रभावेण विघ्न शमयित्वा यष्टु याग कर्त्तुं वा प्रवृत्ते सति रघुकुलकथा रघुवर्यानाम् दानजनिता कीर्त्तिकथा एव अस्तमयते समाप्नोति । यन्नरक्षार्थं विश्वामित्रो दशरथमुपेत, स हि प्रार्थितार्थमलब्ध्वा यदि परावर्त्तते, गत्वा च स्वतपोलेशस्य व्ययेन यज्ञप्रतिबन्धक शमयित्वा याग कर्त्तुमुपक्रमते तदा रघुकुलस्य दानशरता समाप्ति गच्छति, तदल मुनिं विमुखीकृत्येति भाव । शिख रिणीवृत्तम्, तत्कलक्षणमन्यत्र दर्शितम् ॥ ४५ ॥

व चेदिति । दीक्षिष्यमाण यागदीक्षा ग्रहीतुकाम त्व विश्वामित्रं चेत् यदि

दृष्टिर्षो अतीत, अनागत विषयोके भी साक्षात्कारमे समर्थ रहती हैं ॥ ४४ ॥

( विचारकर ) यज्ञकी रक्षाके लिये दशरथसे याचना करके विमुख होकर यदि विश्वामित्र अपने आश्रमको लौट जाते हैं और तपस्याके थोड़े अंशको खच करके यज्ञ करना प्रारम्भ कर देते हैं, तबतो रघुकुलकी कीर्त्तिकथा ही समाप्त हो जाती है ॥ ४५ ॥

( मुनिसे ) जगद्गुरो विश्वामित्र, आप यज्ञ करेंगे इसलिये रामकी याचना करते हैं

तत्र पतिव्रतावृत्तमिय चरतु मेदिनी ॥ ४६ ॥

( नेपथ्याभिमुख । ) क कोऽत्र भो ।

( पविश्य । )

दौवारिक — किमाज्ञापयति देव ।

दशरथ — आहूयता रामभद्र ।

वामदेव — लक्ष्मणश्च ।

दशरथ — ( सस्मितम् । ) ऋषे, पृथक्प्रयत्नापेक्षी नायमर्थ । न  
सलु प्रकाशमन्तरेण तुहिनभानुरजिहीते ।

( दौवारिको निष्क्रान्त । )

( तत प्रविशतो रामलक्ष्मणौ । )

राम प्रतीक्षसे न्वयागरक्षन्तया राम नेतुमिच्छसि, तदा न अस्मान्मिय मेदिनी धरा पतिव्रतावृत्तम् मालिन्यादिप्रोपितभक्तकवधूचिह्नम् चरतु करोतु । राम पुत्रास्या धराया पति, तस्मिन् त्वया नीर्यमाने धरेय प्रोपितभक्तकतया मालिन्य वह्नामिति । अतश्च रामस्याचिरप्रयावर्त्तनीयता द्योतिता ॥ ४६ ॥

पृथक्प्रयत्नापेक्षी—अतिरिक्तप्रयासकर । अयमर्थ—लक्ष्मणाह्वानम् । रामे आहूयमाने लक्ष्मण स्वयमागमिष्यति, तदाह्वान नापेक्ष्यत इत्यर्थः । प्रकाशमन्तरेण प्रभा विना । तुहिनभानु चन्द्र । उज्जिहीते—उदयते । यथा प्रभामतिरिच्य चन्द्रो न तिष्ठति तथैव लक्ष्मण विना रामोऽतो रामाह्वानेनेव लक्ष्मणोऽप्याहूतो भवतीति भाव ॥

तो यह हमारी पृथ्वी कुछ दिनों तक प्रोपिनपनिका पतिव्रताका स्थितिकी प्राप्त करे,  
( नेपथ्यकी ओर ) कोर है ? ॥ ४६ ॥

[ प्रवेश करके ]

दौवारिक—महाराजकी क्या आज्ञा है ?

दशरथ—रामभद्रको बुला लो ।

वामदेव—लक्ष्मणको भी बुलाते आना ।

दशरथ—( हसकर ) मुनिवर, इसके लिये अलग यत्नकी आवश्यकता नहीं है ।  
प्रकाशकी धोन्कर चन्द्रमा उदित नहीं होता है ।

[ दौवारिक जाता है ]

[ राम तथा लक्ष्मण का प्रवेश ]

राम — ( सहर्षम् । )

सुराधीशक्रोधाज्जगदपरथा कर्तुमपरे

पुराणब्रह्माणो भुवनपितर सप्त च कृता ।

धृतामृतुष्टेनामी बहिरपि च वैश्वानरपथा

त्कथा पौराणी यच्चरितमितिह म्म प्रथयति ॥ ४७ ॥

कथ सोऽपि भगवान्विश्वामित्र 'स्वयमस्माभिरुपचरिष्यते ।

सुराधीशेति । सुराणाम् अधीश इन्द्रस्तस्मिन् क्रोधं त्रिशङ्कोरिन्द्रेण स्तगाद्  
भ्रशननन्मा कोप तस्मात् हतो जगत् अपरथा भिन्नप्रकारकं कर्तुम् अपरे अग्नि  
प्वात्ताद्यपेक्षया भिन्ना सप्त भुवनपितर मरीच्यत्रिमृतय सप्तर्षय कृता ।  
ततो नानादेवप्रणिपातात्तुष्टेन प्रसीदता अमी स्वरचिता भुवनपितरो ब्रह्माण  
वैश्वानरपथात् वहि पृथग् धृता आकाशस्थस्थानविशेषे स्थापिता । यद्वा  
वैश्वानरपथाद्द्विर्दानात् बहिरपि धृता दानाहुतिभागिना न कृता, इति  
एतादृशी पौराणी पुरातनी कथा यच्चरित यस्य विश्वामित्रस्य चरित्रं प्रकाशयति  
स्म । यदा शत्रुस्त्रिशङ्को स्वर्गप्रवेशं नानुमन्यतेस्म तदा स्नापमानकुपितो विश्वा  
मित्रोऽपरसृष्टिनिमित्तसया सप्तापरान् ब्रह्मण कृतवान्, अथ ढवै पादपतनादिना  
प्रसादितोऽस्तो स्वकृतास्तान् ब्रह्मणोऽन्तरिक्षे मर्त्तिभावेनास्थापयदिति पौराणी वार्ता  
यस्य विश्वामित्रस्य चरितं प्रथयति स कथमस्माभि सेव्य इति वक्ष्यमाणेनान्वये  
वाक्यार्थविधान्ति । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४७ ॥

उपचरिष्यते सेविष्यते । सौभाग्येन तादृशपुण्यप्रकर्षशालिनो मुने सेवाया  
अवसरो लभ्यत इति स च लब्धोऽस्माभिरित्यहो भाग्यमस्माकमिति ध्वनिः ।

राम—( सहर्षं ) इन्द्रपर कुपित होकर जिस विश्वामित्र ने मान पुराण ब्रह्मा तथा  
भुवनपितरोंकी सृष्टि कर डाला थी, और देवोंका प्राथनासे प्रमत्त होकर जिस विश्वामित्रने  
उन स्वरचित ब्रह्मा आदिको वैश्वानरपथसे बाहर रख दिया, इन प्रकारसे निम्नकी कौटि  
कथा प्रथित है ॥ ४७ ॥

यही भगवान् विश्वामित्र हमें अपना सेवाका अवसर प्रदान करेंगे ?

१ 'स्वयमुपचरिष्यतेऽस्माभि' इति ।

( इति परिक्रामन्पुरोऽवलोक्य हर्षातिशय रूपयत् । ) नूनं विनयनम्रयो-  
स्तातवामदेवयोस्तृतीयं प्रशान्तपावनीयाकृतिं स भगवान्विश्वामित्रो  
भविष्यति ।

लक्ष्मण — ( साश्चर्यस्मितम् । ) आर्य,

अयमयमीदृशप्रशमविश्वसनीयतनु-

भुवनभयङ्करी कथमग्रेत्त रूपोऽपि मुनि ।

स्थितमिदमेव वा मृदुमनोज्ञतुपारतमा

स्तमसि सति ज्वलन्ति सहसैव महौषधय ॥ ४८ ॥

नूनम् निश्चयेन । विनयनम्रयो प्रगतयो प्रह्वयोश्च । प्रशान्ता सौम्या पावनीया  
। पवित्रतापननी चाकृतिर्यस्य तथोक्त ।

अयमयमिति । अयमयमिति सभ्रमे द्विरक्तिः, अयम् ईदृशेन दर्शनमात्रप्रत्ययेन  
प्रशमेन प्रकृष्टया शान्त्या विश्वमनीया अशङ्कनीया तनु शरीरं यस्यामौ अपि  
मुनिर्विश्वामित्र भुवनभयङ्करी विश्वत्रासपननी रूप कोपान् कथम् अद्यत्  
धृतवान् ( जगतो ध्वसनं नवा सृष्टिं च कर्तुं प्रवृत्तो भूत्वा कथं विश्वभयमजनयत् )  
वा अथवा इदमेव स्थितं स्थितिमर्थादा यत् मृदुद्वयं कोमला मनोज्ञा मनो-  
हरिण्य तुपारतमा अतिसौम्या महौषधय तमसि सति जाते अन्धकारे  
सहसैव एक पद एव ज्वलन्ति प्रकाशते । यथा कोमलानां शीतवीयाणां चीप-  
धीना सस्यधकारे दीपनं तथैव शान्तसौम्यस्यापि मुने परेण पराभवे दीपन  
स्वभाव इति अयमपि शान्तस्वभावो मुनिर्भुवनभयङ्करी त्रिधा कृतवान्स्यादिति  
तापर्यम् । कोकिलकं वृत्तम्, 'हयऋतुसागरैर्यतियुत यदि कोकिलकम्' इति  
तल्लक्षणम् ॥ ४८ ॥

( आनं हुए सामने विश्वामित्रको देखकर प्रमत्तनामे ) पितामा तथा वामदेव विनयसे  
नम्र हो रहे हैं उनके माथ बैठे हुए यह प्रशान्त पावन आकारधारी भगवान्  
विश्वामित्र होंगे ।

लक्ष्मण—( आश्चर्य तथा इमीके साथ ) इस तरहका शान्तिसे विनयी देह अति  
विश्वमनाय लग रहा है वहाँ यह विश्वामित्र उस तरहके कोपको किन्तु प्रकार धारण कर  
सके थे ? जन्म यही विश्वमर्थादा है जो ल्पार्थे अति कोमल सुन्दर तथा शीतल लगती है  
वेहा अधकार होनेपर महिमा तन् उठती है ॥ ४८ ॥

१ 'विलोक्य' 'अवलोक्य' इति च ।

२ 'तृतीया प्रशान्तपावनायमाकृति' इति ।

राम.—वत्स लक्ष्मण, एव दुरवगाहग<sup>१</sup>म्भीराश्चित्रीयन्ते महान्त ।

अपि च—

व्रतविहृतिऋरीभिरप्सरोभि सह जगदस्य निगृहृतो गृणन्ति ।  
नमदमरशिर किरीटरोचिर्मुकुलितरोपतमासि चेष्टितानि ॥ ४९ ॥

वामदेव —( १सहर्षं दृष्ट्वा । ) कथमागतो रामभद्र । ( मुनिं प्रति । )

भगवन्,

ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य चतुर्धा देवयोगिन ।

ऋष्यशृङ्गचरोरश प्रथमोऽयं महाभुज ॥ ५० ॥

दुरवगाहगम्भीरा दुर्घपा गम्भीरमतयश्च । चित्रीयन्ते—आश्चर्यं कर्म कृत्वा विश्व  
चमरुर्वते ।

व्रतविहृतीति । व्रतस्य तपसो विहृतिं विघ्न कुर्वन्ति यास्तास्ताभि अप्सरोभि  
सह जगत् भुवन निगृहृत भस्मीकर्तुंमुद्यच्छत अस्य विश्वामित्रस्य मुने  
चेष्टितानि चरितानि नमता पादयो पतता प्रसादनाथं पिनीतानाम् अमराणा  
शिर किरीटानि मौलिमुकुटानि तेषा रोचिर्भि प्रभाभि मुकुलितम् उपशमित  
रोप एव तमोऽन्धकारो ययु तथाभूताणि गृणन्ति पुराणविद् कथयन्ति । तपस्या  
विघ्नऋरीभिरप्सरोभि सहैव लोकान्दग्धु प्रवृत्तोऽय मुनि पादप्रणतै देवै  
प्रसादित स्व कोप निवारयामासेति पुराणविदोऽस्य चरितानि कथयन्तीति भाव ।  
पुष्पिताप्रावृत्त, 'अयुनि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजो जरगाश्च पुष्पिताप्रा'  
इति तद्ब्रह्मणात् ॥ ४९ ॥

ब्रह्मज्योतिरिति । ब्रह्मज्योतिर्विवर्तस्य ब्राह्मणेज परिणामस्य चतुर्धा प्रकार  
चतुष्टयेन देवयोगिन रामादिराजपुत्रचनुष्टयतया धृतदेहस्य ऋष्यशृङ्गचरो मुनि

राम—वत्स लक्ष्मण, दुरवगाह तथा गभीर आशयवाले महान् जन 'हमी तरह  
आश्चर्यजनक काय किया करत हैं । और—

तपस्या ब्रह्म करनेवाली अप्सराओंके साथ ही जब आपने सत्कारको समाप्तकर देनेकी  
तैयारी की था, तब इनके चरणोंपर देवगण गिरे उनके किरीटस्थमणि-प्रकरकी प्रभासे  
विश्वामित्रके कोपरूप तमकी शान्ति हुई, यहा इनके चेष्टित हैं ॥ ४९ ॥

वामदेव—( देखकर दृष्टसे ) क्यों रामभद्र आगये ? ( मुनिसे ) भगवन् , चार भागों  
में बंटे ब्रह्मणेज-परिणामस्वरूप ऋष्यशृङ्ग—चरुके प्रथम अंश यही महाभुज राम हैं ॥५०॥

१ 'गम्भीरचरिता' इति ।

२ 'राम इष्ट्वा सहर्षम्' इति ।

विश्वामित्र — ( सत्पुत्रमम्ब्रमम<sup>१</sup>वलोक्य । ) वामदेव, किमुच्यत आर  
ण्यकेषु किमपि<sup>२</sup> प्रकृष्टतम ब्राह्मण्यमृष्यशृङ्गस्य । न केवलममुना वत्सेन  
ब्रह्मर्षिर्बिभाण्डक पुत्रवता धुरमारोपित ,<sup>३</sup> दशरथोऽपि ।

<sup>४</sup>दशरथ — भगवन्, एरमेवैतन् ।

ये मेत्रा<sup>५</sup> वरुणि पुरोहितवतो वशे मनोज्ञिरे

तास्ता वैनयिकी क्रिया विदधिरे येषा च युष्मादश ।

विशेषहृदयान्नस्य प्रथमोऽंश आद्यो भाग अथ महाराहू राम, ऋष्यशृङ्गो नाम  
मुनिर्यद्—ब्राह्मतेज परिणामभूत चरनामक यद् हवर्नायद्रव्य चतुर्धा व्यभजन  
ततो ये बह्धारिणो नृपात्मजाश्चत्वारोऽऽनिपत ते वाद्योऽय महाभुजो राम इति ।  
‘अथ च पुमान् हृदयान्नभाण्डयो’ इति धरणि ॥ ५० ॥

आरण्यकेषु वनवासिमुनिषु । प्रकृष्टतमम् अत्युत्कृष्टम् । अमुना वत्सेन ऋष्य  
शृङ्गेण । पुत्रवता धुरमारोपित—पुत्रवत्सु मूर्धन्य कृत । दशरथोऽपि पुत्रवता  
धुरमारोपित इति योजना । अथमृष्यशृङ्गो निपेन ब्राह्मण्येन न केवल स्वतन्त्रक  
विभाण्डकमेव पुत्रवता धुरमारोपितवानपि तु स्वतपसा दशरथमपि पुत्रवता धुर  
मारोपितवान् । स्वय तपस्तप्त्वा स्वपितर धन्यतामनयत् स्वतप प्रभाषण दशरथ  
मपि प्रशमाशालिपुत्रभाजतमन्त्रार्पादिति धन्यत्वमृष्यशृङ्गस्येति भाव ॥

ये मेत्रावरुणिमिति । य राजान मैत्रावरुणि वसिष्ठ पुरोहितवत पुरोहितवन  
वृत्तवतो मनो वशे जज्ञिरे जनिमलभन्त, येषा राजा मध्ये युष्मात्सा खादशा  
पुण्यपरिपाकशालिन तास्ता प्रसिद्धा वैनयिकी विनयपूणा क्रिया व्यापार-

विश्वामित्र — ( सत्पुत्र, अकचकावर देखकर ) वामदेव, क्या कहा जाय, वनवासियोंमें  
ऋष्यशृङ्गका कुछ अद्भुत ब्राह्मण्य है, उसने केवल विभाण्डकको पुत्रवानोंका मूर्धन्य नहीं  
बनाया है, दशरथको भी पुत्रवानोंका मूर्धन्य बनाया है ।

दशरथ—हैं महाराज, ठाक है,

वसिष्ठ जिनके पुरोहित हैं जो मनुवशमें उत्पन्न हुए, जिन्होंने विनयपूण सारी  
क्रियायें की, जिनको आप सरीखे ऋषियोंने सम्पन्न कराया, उन रजुवशियोंमें दशरथ

१ ‘आलोक्य’ इति ।

२ ‘प्रकृष्टतम किमपि’ इति ।

३ ‘राजर्षिर्दशरथोऽपि’ इति ।

४ ‘वामदेव’ इति ।

५ ‘मैत्रावरुणम्’ इति ।



तेषाम'ञ्जलमेष ते दशरथ सप्रत्यमी ये पुन

जातास्ते ध्रुवमृष्यशृङ्गतपसामैश्वर्यमिदवाकव ॥ ५१ ॥

( रामलक्ष्मणादुपसर्पत । )

दशरथ—वत्सौ, भगवानेष नि शेषभुवनमहनीयो महामुनि  
कौशिक प्रणम्यताम् ।

रामलक्ष्मणौ—( उपसृत्य । ) भगवन्विश्वामित्र, सावित्रौ रामलक्ष्म-  
णात्रभिवाद्येते ।

विश्वामित्र—वत्सौ, आयुमन्तौ भूयास्ताम् । ( इति भुजाभ्या  
गृहीत्वा राम निर्वर्ण्य च सबहुमानम् । आत्मगतम् । )

वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रैर्दधति जगतामाभ्युदयिकीं

धुर सप्रत्येते दिनकरकुलीना क्षितिभुज ।

कलापान् विदधिरे कृतवत्, तेषाम् राज्ञाम् एष ते तव दशरथ अञ्जलम् प्रान्त-  
देश, अन्तिमो राजा, सम्प्रति ये अमी इदवाकव रामादयो जातास्ते ध्रुवम्  
ऋष्यशृङ्गतपसाम् ऐश्वर्यम् प्रभाव । वसिष्ठेन पुरोहितयोगिनो मनोवशो जाताना  
विनयपूर्णा क्रिया कृतवता राज्ञानहमन्तिमो राजा, अमी रामादयस्तु ऋष्यशृङ्-  
गतपसा प्रभावेण जाता इत्यर्थ ॥ ५१ ॥

नि शेषभुवनमहनीय समस्तलोकपूनीय ।

सावित्रो सवितु सूर्यस्य वशे लब्धनन्मार्तो । अभिवाद्येते भवन्त प्रणमत ।

वसिष्ठोक्तैरिति । एते दिनकरकुलीना सूर्यवशोऽवा क्षितिभुजो राजान  
वसिष्ठोक्तैर्मन्त्रे वसिष्ठव्याहृताभिर्मन्त्रणाभि जगताम् आभ्युदयिकीम् जगन्मङ्गल

अन्तिम हें, अब जो पैदा हुए हैं वह इक्ष्वाकुवशी ऋष्यशृङ्गके तपके प्रभावसे पैदा  
हुए हैं ॥ ५१ ॥

( राम-लक्ष्मण समीप आते हैं )

दशरथ—वेद, यह हैं अशेष भुवनगीतकीर्षि महामुनि विश्वामित्र, इहें प्रणाम करो,  
राम-लक्ष्मण—( समाप जाकर ) महाराज विश्वामित्र, सूर्यवशा राम-लक्ष्मण  
प्रणाम करते हैं ।

विश्वामित्र—बच्चे, आयुमान् हो । ( हाथोंसे रामको पकड़कर ) ( देखकर सादर स्वगत )  
इस समय यह भूवशो राजागण वसिष्ठोक्त मन्त्रों द्वारा सप्तारके अभ्युदयका भार

गृहे येषां रामादिभिरपि कलाभिश्चतसृभि

स्वय देवो लक्ष्मीस्तनकलशवारीगजपति ॥ ५२ ॥

अपि च—

त्वं तास्ता स्मृतवानृचो दशतयीस्त्वत्प्रीतये यज्वभि  
स्याहाकारमुपाहित हविरिह त्रेतागिराचामति ।

त्वां क्षीरोदजलेशय १ क्रतुलिह पृथ्वीमवातीतर—

सुद्वृत्ता दशकंधरप्रभृतयो निग्राहितारस्त्वया ॥ ५३ ॥

साधनीम् धुर रात्र्यभार दधति धारयन्ति । येषां सूर्यवश्याना राज्ञा गृहे सम्प्रति लक्ष्म्या स्तनकलश एव कुचकुम्भ एव वारी गजवधनयन्त्रविशेष ( तत्र बद्ध ) गजपतिर्गजन्द्रो भगवान् विष्णुदेवो नारायणः रामादिभिश्चतसृभि कलाभिः जात इति शेषः । अयमाशयः—सूर्यवश्या अमी राजानो वसिष्ठोक्तमन्त्रणामत्रा सन्तो जगन्मङ्गलसाधनी क्रिया कृतवन्तः, सम्प्रयेया गृहेषु लक्ष्मीकुचकलशरूपमधने बद्ध ( तत्रासक्त ) भगवान् विष्णु रामादिभिश्चतसृभि कलाभिरवतीर्ण इति भावः । ‘वारी तु गजवधनी’ इत्यमरः । लक्ष्म्या स्तनावेव कलशौ तावेव वारीति रूपकगर्भं रूपकम् । दण्डीद रूपकरूपकनाम्ना व्याजहार—भ्रूतानसंकीर्तित्वदिद् रूपकरूपकम् ॥ ५२ ॥

त्व तास्ता इति । त्व तास्ता प्रसिद्धा दशतयीनामधेया ऋग्वेदान्तर्वर्तिनी ऋच मन्त्रान् स्मृतवान् स्मृत्वा प्रकाशितवान् । त्वत्प्रीतये त्वदीयसन्तोषाय स्वाहाकारम् स्वाहादा दोषारणपूर्वकम् उपाहितम् दत्त हविर्घृतादिहवर्नीयद्रव्यम् त्रेताग्निः अग्नित्रयी आचामति आस्वादयति । क्रतुलिहो देवा क्षीरोदजलेशय चारसागरशायिन त्वाम् पृथ्वीम् अवातीतरन् पृथिव्यामवतारयामासुः, त्वया च उद्वृत्ता समुद्धता दशकंधरप्रभृतयो रावणादिका राक्षसा निग्राहितार निगृहीता भविष्यन्ति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५३ ॥

ठठाय हुए हैं, पितके बशमें स्वयं लक्ष्मीके स्तनरूप गजवधन स्थानके हाथारूप भगवान् विष्णु रामादिरूप चारों कलाओंके प्रकट हुए हैं ॥ ५२ ॥

आप स्वयं ब्रह्मरूप होनेके कारण दशतयी नामक ऋचाओंको स्मरण करके प्रकाशित किया, आपको प्रसन्न करनेके लिए ऋत्विगण स्वहाकारपूर्वक हवि आगमें डालने हे आप क्षार समुद्रमें थे, दर्वोंने आपको पृथ्वीपर अवतारित किया, अब आप दुराचारा रावणादिका निग्रह करेंगे ॥ ५३ ॥

१ ‘क्रतुमुन’ इति ।

४ अ० रा०

वामदेव—( 'सस्मितम् । ) वत्सो, अयमत्रभयान्भवन्तौ नेतुमागत ।  
रामलक्ष्मणौ—यद्भिरुचित भवते 'ताताय च ।

( दशरथस्तौ सस्नेहमादाय 'भगवन्कौशिक' इत्यर्धांके मन्यूपीडनिगृह्यमाण  
कण्ठो वामदेवस्य मुखमोक्षते । )

वामदेव.—इमौ तौ रामलक्ष्मणौ । ( इत्यर्पयति । )

( विधामित्र सादर गृह्णाति । )

( नेपथ्ये शङ्खध्वनि । )

( वामदेवो निमित्तमनुमोदमानो दशरथमुल्लासयति ।

( पुनर्नेपथ्ये । )

वैतालिक.—सुराय माध्यन्दिनी सन्ध्या भवतु देवस्य । सप्रति हि-  
किरति मिहिरे विष्वद्रीच करानतिघामनी

भवन्तौ युवा रामलक्ष्मणौ ।

मन्यूपीडनिगृह्यमाणकण्ठ शोकवेगावरद्धकण्ठ ॥

वैतालिक वन्द्री, 'वैतालिका बोधररा वन्दिन स्तुतिपाठका' इत्यमर ।  
माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकी । देवस्य भवतो दशरथस्य ॥

किरतीति । मिहिरे सूर्यं विष्वद्रीच सर्वत सञ्चरणशीलान् करान् मन्युखान्  
किरति क्षिपति सति जनस्य लोकस्य अतिघामनी अतिखर्वा द्वेहृद्वाया स्थल

वामदेव—( हसकर ) वत्सो, यह तुम लोगोको छेते आवे है ।

राम-लक्ष्मण—आपका तथा पिताजीका जो विचार हो ।

[ दशरथ राम-लक्ष्मणको स्नेहपूर्वक पकटकर—'भगवन् कौशिक' शब्दना करते ही  
शोकावेगसे रद्धकण्ठ होकर वामदेवका मुख देखते हैं ]

वामदेव—यहो है राम-लक्ष्मण । ( सौपते है )

( विश्वामित्र सादर स्वीकार करते हैं )

( नेपथ्यमें शङ्खध्वनि )

( वामदेव निमित्त देखकर दशरथको उल्लासित करते हैं, फिर नेपथ्यमें )

वैतालिक—यह माध्यन्दिनी सन्ध्या आपके मुखके लिये हो । इस समय—

सूर्य चारो तरफ अपनी क्षिरण फेंक रहे हैं, अतिशय छोटी यह जन-जनकी छाया

१ कश्चित् 'सस्मितम्' इति नास्ति ।

२ 'ताताय भवते च' इति ।

३. 'शङ्खध्वनिर्गच्छतीतिश्च' इति ।

स्थलकमठवद्देहच्छाया जनस्य विचेष्टते ।  
 गजपतिमुखोद्गोर्णैराप्यैरपि त्रसरेणुभि  
 शिशिरमधुरामेणा कच्छस्थलीमधिशेरते ॥ ५४ ॥  
 अपि चेदानीं पटीरतरकोटरकुटीर<sup>१</sup>मध्यासीना —  
 प्रत्यक्षरस्तुतसुधारसनिर्विषाभि-  
 राशीर्भिरभ्यधिकभूषितभोगभाज ।  
 गायन्ति कञ्चुकविनिह्रुतलोमहर्ष-  
 स्वेदोर्मयस्तव गुणानुरगेन्द्रकन्या ॥ ५५ ॥

कमठवद् भूमिस्थितकूर्मवत् विचेष्टते प्रतीयते । मध्याह्ने सूर्यकरेषु सर्वतः प्रथमरेपु  
 च्छायाऽनिच्छी सती स्थलकमठवत् प्रतिमास न इत्यर्थः । एषा हरिणा गजपति  
 मुखोद्गोर्णै करिशुग्डादग्दाभिवृष्टै आप्यै जलोप्यैरपि त्रसरेणुभि सूक्ष्मकणै  
 शिशिरा मधुरा मनोहारिणी च कच्छस्थली जलप्राया भूमिमधिशेरते आश्रित्य स्वप-  
 त्ति । हरिणीवृत्तम्—‘नसमरमलाग पड्वेदैर्हयेर्हरिणी मता’ इति तल्लक्षणात् ॥५४॥  
 पटीरतर चन्दनवृक्ष, तस्य कोटर गह्वरमेव कुटीर स्वल्पगृह तद् अयासीना  
 आश्रिता, चन्दनतरकोटरगृहे बसन्त्य उरगकन्या इति विशेष्यमध्याहर्त्तव्य  
 भवति । ‘पटीरश्चन्दनतरो’ इति मेदिनी ॥

प्रत्यक्षरेति । प्रत्यक्षर स्वद्गुणगानस्य अक्षरेऽक्षरे स्तुत करितो य सुधारस  
 अमृतद्रव तेन निर्विषाभि विषशूयाभि आशीर्भि दन्डाभि अभ्यधिकम् भूयसा  
 भूषितम् अलङ्कृतम् भोगम् फगादेश भजन्ति ता तथोक्ता प्रत्यक्षरस्तुतामृत  
 निर्विषीभूतद्वाराभूषितफगादेशशालिय इयाद्यपादद्वयलभ्य विशेषगम् । किञ्च  
 कञ्चुकै निर्मोके विनिह्रुता गोपिता लोमहर्षा गानरमास्वादनन्यरोमाञ्चा  
 स्वेदोर्मय गानश्रमजन्मान घर्मनिचया यासा तास्तथोक्ताश्च उरगेन्द्रकन्या

स्थलकमठको तरह लगती है, गजपतियोंके मुखमें निर्गत जलबिन्दुओंमें शीतल तथा  
 सुखद जलसमीपस्थ देशमें रहे हरिणगण सो रहे हैं ॥ ५४ ॥

और हम समय चन्दन तरके कोटरमें स्थित—

प्रत्यक्षरमें निकलनेवाले सुधारससे निर्विष स्वदृष्टाओंसे अपन भोग-मण्डलको भूषित  
 करनेवाली नागकन्यायें आपके गुणोंको गा रही हैं, उनको रोमाञ्च तथा स्वेद-प्रवृत्ति उनके  
 कञ्चुकमें गुप्त हैं ॥ ५५ ॥

१ ‘अभ्यमध्यासीना’ इति ।

विश्वामित्र —सखे दशरथ, प्रियमपि तथ्यमाह वैतालिक ।

मद्बोद्धतै शिरोभिर्मणिभरगुरुभि प्रौढरोमाञ्चदण्ड-  
स्फायत्रिमोकसधिप्रसरदविगलत्समदस्वेदपूर ।

जिह्वायुग्माभिपूर्णानविपमसमुद्रीर्णवर्णाभिराम

बेलाशैलाङ्कभाजो भुजगयुवतयस्त्वद्गुणानुद्गृणन्ति ॥ ५६ ॥

( 'सविनयविलक्षस्मित च । ) राजर्षे, प्रत्यासीदति दीक्षाप्रवेशसमय ।

भुजङ्गकुमार्यं तव दशरथस्य गुणान् शौर्यौदार्यादीन् धर्मान् गायन्ति 'आशीरुग  
दृष्ट्यायाम्' इत्यमर । 'भोग सुखे स्न्यादिभृतावहेश्च फणकाययो' इति च ।  
वसन्ततिलकवृत्तम् ॥ ५५ ॥

मनोद्भूतेरिति । बेला समुद्रतीरम् तत्र य शैल पर्वत तस्य अङ्कभाज उरसङ्ग-  
वर्त्तिन्य भुजगयुवतय नागललना मणिभरेण शिरोरत्नभारेण गुरभि दुर्वहै  
शिरोभि ( उपलक्षिता ) प्रौढ दीर्घ यो रोमाञ्च रोमहर्षं स एव दण्ड तेन  
स्फायन् स्फीततामाप्नुवन् य निमोक सर्पकञ्चुक तस्य ग्रन्थे बन्धनदेशात्  
प्रसरन् विस्तार गच्छन् अविगलन् अच्यवमानश्च सम्मद हर्षं स्वेदपूर गानध्रम  
जनितस्वेदभरश्च यासा तथाभूता, जिह्वायुग्मेन रसनाद्वितयेन अभिपूर्णं भृत  
यदानन मुख तेन विपम त्रिपर्यस्तवर्णं यथा स्यात्तथा उद्रीर्णं उच्चारितै वर्णै  
अभिराम मनोज्ञ यथा स्यात्तथा तव गुणान् उद्गृणन्ति गायन्ति । समुद्रतटस्थ  
पर्वताङ्कवर्त्तिन्यो मणिभरनमन्मूर्धानश्च नागयुवतय प्रकटरोमाञ्चदण्डव्यत्यस्त  
निमोकसन्धिवन्धनतया पुञ्जीभूतानन्दस्वेदा सत्यो मुखाना जिह्वाद्वयशालितया  
त्रिपमसमुच्चार्यमाणवर्णं यथा स्यात्तथा तत्र गुणान्गायन्तीति भाव । 'बेला तत्तीर  
नीरयो', 'प्रमोदामोदसम्भदा' इत्युभयत्रामर । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५६ ॥

प्रत्यामीदति समीपमुपैति । दीक्षाप्रवेशसमय यागसङ्कल्पसमय ।

विश्वामित्र—प्रिय मित्र दशरथ, प्रिय होनपर भा इस वैतालिककी वाक्यमें सत्य है ।

बेला शैलके अङ्गमें वत्तमान नागललनायें तुम्हारे गुण गाती हैं, उनके सिर मन्द मन्द  
डोल रहे हैं, जिनपर मणिगणका भार विद्यमान है, अधिक रोमाञ्च होनेसे उनके बँचुलमें  
छिद्र हो आये हैं और चन्दी मार्गों से उनके स्वेद प्रवाहित हो रहे हैं, दो जिह्वायें होनेके  
कारण पूरा मुखसे आवाज विपम भावसे निकल रही है जो बड़ी सुन्दर लगती है ॥ ५६ ॥

( नम्रता तथा लज्जाके साथ ) दशदीक्षा लेनेका समय निकट आ रहा है, अत इस

१ 'दशरथ —( सविनयविलक्षस्मितम् । ), विश्वामित्र —'राजर्षे' इति ।

तदेवनिधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणा प्रथमे 'तावद्वयमेव भवितुमिच्छाम ।

( दशरथो रामलक्ष्मणावलोक्य बाष्पमरोत्तरज्वितलोचनो मुनिं प्रति  
'भगवन्' इत्यर्थोक्ते वाच स्तम्भ नाटयति । )

वामदेव —( मसभ्रमम् । ) भगवन्कौशिक, साधय । शिवा मन्तु  
पन्थानो वत्सयो रामलक्ष्मणयो ।

( इत्युत्थाय सर्वे यथोचितमाचरन्ति । )

विश्वामित्र —एवमात्यता भवद्भिः । ( इति राजपुत्राभ्यामनुगम्य  
मानो निष्क्रान्त । )

दशरथ —( दीर्घमुष्ण च निश्चस्य । ) वामदेव, नूनमिदानीमस्मान्-  
निय भगवन्तमपि कौशिकमकारणत्सल वत्सो मे रामभद्र ।

तदेवनिधमधुरगोष्ठीभङ्गनिष्ठुराणाम् एतादृशरोचककथागोष्ठीविघटकानाम् । प्रथमे  
आद्या । यज्ञकालानिपातभयादिमा सभा प्रथममहमेव हातुमिच्छामीति चमन्ता मा  
भवन्त इति भाव ।

साधय गच्छ, 'साधयेति च गायर्थ' इति भरत । शिवा कल्याणपूणा ।

अकारणवत्सलम् निरपाधिप्रेमशालिनम् । दुःखाकरिष्यतीत्यादि वच्यमाण  
क्रियापेक्ष कर्मवम् ।

मधुर गोष्ठीको तोडकर कठोर बनने वालों में ही प्रथम बनना चाहता हू ।

( राम-लक्ष्मणको ओर देखकर दशरथको आँसू सजक हो आती हैं, मुनिके प्रति—  
'भगवन्' इतना कहते ही उनकी आवाज रुक जाती है )

वामदेव—(वहवाकर) भगवन् कौशिक, आप आइये, राम-लक्ष्मणके माग मङ्गलमय हों,  
( उठकर सभी यथोचित आचार करते हैं )

विश्वामित्र—आप विराजें । ( राजपुत्रोंके साथ जाते हैं )

दशरथ—( लम्बी तथा उष्ण सास लेकर ) निश्चय हमारी ही तरह सहजस्नेहा विश्व-  
ामित्रको भी रामभद्र—

१ तावद्ववितुम्' इति । २ 'उत्तम्वितलोचन' इति ।

कचिदस्मद्वियोगार्तिदुःखी दुःखाकरिष्यति ।

अपूर्वविषयालोकसुखी च सुखयिष्यति ॥ ५७ ॥

वामदेव—(विहस्य ।) राजर्षे, वयं वा कौशिको वेति क्व पुनरेष कक्षाविभागो रामभद्रमाधुर्यस्य । परस्य ।

यदिन्दोरन्वेति व्यसनमुदयं वा निधिरपा

मुपाधिस्तत्रायं जयति जनिकर्तुं प्रकृतिता ।

कचिदिति । अस्मद्वियोगार्तिदुःखी अस्मद्वियोगपीडया खिन्नः सन् वत्सो राम विश्वामित्रमपि दुःखाकरिष्यति खेदयिष्यति, अपूर्वस्य जट्टपूर्वस्य विषयस्य तपोवनादर्दशस्य आलोकेन दर्शनेन सुखी प्रसन्नश्च सुखयिष्यति आभन्दयिष्यति । यथा वयं रामस्य दुःखेन दुःखिनः तदीयसुखेन सुखिनश्च भवामस्तथैव सम्प्रति विश्वामित्रोऽपि भविष्यति तस्यापि रामेऽन्वयवत्सलत्वादिति भावः ॥ ५७ ॥

कक्षाविभाग आश्रयविवेकः, रामभद्रमाधुर्यस्य रामसौशील्यस्य । रामस्य स्वभावगतमाधुर्यं सर्वस्मिन् समानमिति भावः ।

यदिन्दोरिति । अपा निधिः समुद्रः यत् इन्द्रो शशिनः व्यसनम् विषदः कलाचयम् उदयः कलासमग्रत्वः वा अन्वेति अनुगच्छति, तत्र तदनुगमे अयम् उपाधिः कारणजनिकर्तुः जनकस्य प्रकृतिता स्वभावः । शशिनि क्षीणे सागरः क्षीयते वर्धमाने च वर्धते, तत्र सागरस्य जनकस्य स्वभावः एव पुत्रसुखदुःखानुगमने व्यवस्थापकत्वं भजत इति भावः । सम्भवति जन्ममिदं यज्जनकः सागरः स्वभावेन पुत्रस्य चन्द्रस्य व्यसनोदयावनुगच्छतीति, परन्तु अथ क्व सम्बन्धः अत्र कीदृशो जन्मजनकभावादिरूपः सम्बन्धो यत्तस्य चन्द्रस्य (व्यसनोदयौ) कुमुदम् अनुहरते अनुसरति ? समुद्रेण चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे जन्मजनकभावः उपाधिरास्ता नाम, परन्तु कुमुदेन चन्द्रव्यसनोदययोरनुहरणे कोऽपि

कथा इमारे वियोगके दुःखे दुःखी होकर दुःखी बनावेगा, और कमी नये स्थानों के देखनेसे प्रसन्न होकर सुखी बनावेगा ॥ ५७ ॥

वामदेव—(हसकर राजर्षे, हम या विश्वामित्र यह कौशिकी विभाग तो रामभद्रका मधुरतामें है ही नहीं । देखिये—

समुद्र जो चन्द्रमाके उदयमें उदय और व्यसनमें व्यसन प्राप्त करना है इसका तो कारण स्पष्ट है कि वह चन्द्रमाका जनक है और जनकका यही स्वभाव होता है, परन्तु

अयं क सम्बन्धो यदनुहरते तस्य कुमुद  
विशुद्धा शुद्धाना भ्रुवमनभिसन्धिप्रणयिन ॥ ५८ ॥

दशरथ—( विमृश्य । ) एवमेतत् ।

रत्नाकरो जनयिता सहजश्च वर्ग  
किं कथ्यताममृतकौस्तुभपारिजाता ।  
किं तैरचिन्त्यमिह तत्पुनरन्यदेव  
तत्त्वान्तर कुमुदवन्धुरसौ यदिन्दु ॥ ५९ ॥

नास्ति तादृश उपाधिरिति मन्वे—विशुद्धा निर्मलस्वभावा शुद्धाना निर्मलप्रकृती-  
ना जनानाम् अनभिसन्धिप्रणयिन अकारणस्नेहिनो भवन्तीति शेष । अतश्च  
रामस्य विश्वामित्रे स्नेहो नासमर्थाति भाव उच्चेत्ताऽलकार । शिखरिणी  
वृत्तम् ॥ ५८ ॥

रत्नाकर इति । जनयिता उत्पादको रत्नाकर सागर, सहजश्च सोदरश्च वर्ग  
समानोदरनातगगाश्च अमृतकौस्तुभपारिजाता किं कथ्यताम् तद्विषये किमुच्य  
ताम्, यिनरि सागरे सोदरेष्वमृतकौस्तुभपारिजातेषु वा चन्द्रस्य तादृशोऽनुरागो  
नास्ति यादृश कुमुदऽस्ति, तदाह—किन्तरिति । तत् प्रेमबीजमिह जगति अचिन्त्यम्  
अविभायकारणकमेव भवति तद्वि तत्त्वान्तर किमप्यन्यदेव जन्यजनकभावसमान  
गर्भनातत्वादिभ्य, अतएव इन्दुरसौ कुमुदवन्धुरिति कथ्यते, कुमुदस्य चन्द्रेण  
कोऽपि सम्बन्धो नास्ति, तथाप्यसौ तत्रानुरक्ततम इति प्रेमबीजमनिर्धार्यस्वरूप  
मिति भाव वसततितरक वृत्तम् ॥ ५९ ॥

चन्द्रमाका अनुमरण कुमुद करता है इसमें कौनसा सम्बन्ध है । अन स्पष्ट है कि विशुद्ध  
विशुद्धके साथ बिना कारण ही प्रेम करते हैं ॥ ५८ ॥

दशरथ—( विचारकर ) यह ठीक है—

सागर पिता है और अमृत, कौस्तुभ और पारिजात सोदर हैं इनके सम्बन्धमें क्या  
कहना है । उनके सम्बन्धमें कुछ भी अचिन्त्य है परन्तु चन्द्रमाके लिये कुमुद इन्द्र  
अदनुन तत्त्व है, जिससे वह कुमुद वन्धुरी पुकारा जाता है अमृतवन्धु या कौस्तुभ  
बन्धु नहीं ॥ ५९ ॥

१ ‘विमृश्य’ इति कचिन्नास्ति ।



(<sup>१</sup>पुरोऽवलोक्य १) कथं लोचनपथमतिक्रान्तं सरामलक्ष्मणो भगवान् ।  
तद्वयमपि वत्सप्रवासदुर्मनायमाना दक्षिणक्रोमलेश्वरसुता देवीमुपेत्य  
सान्त्वयाम ।

( इति निष्क्रान्ता सर्वे । )

इति मुनान्द्रसवादो नाम प्रथमोऽङ्कः ।



लोचनपथमतिक्रान्तं दृष्ट्वर्मबद्धिर्गतं । वत्सप्रवासदुर्मनायमानाम् रामल-  
क्ष्मणयोः प्रवासेन खिद्यमानाम् । दक्षिणक्रोमलेश्वरसुताम् क्रीसल्लयाम् ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते

अनर्घराघवप्रकाशे

प्रथमाङ्क 'प्रकाश' ॥



( निर देखकर ) राम-लक्ष्मणके सार विश्वामित्र आँखोंसे ओझल हो गये । अतः हम  
भी बच्चेके प्रवाससे खिद्यमानहृदया क्रीमल्याके पास जाकर उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं ।

[ सबका प्रस्थान ]

प्रथम अङ्क समाप्त ॥



## द्वितीयोऽङ्कः

( तत प्रविशति यजमानशिष्य । )

शिष्य — अये, प्रभातप्रायैत्र रजनी । तथा हि ।

तमोभि पीयन्ते गतवयसि पीयूषवपुषि  
ज्वलिष्यन्मार्त्तण्डोपलपटलधूमैरिव दिश ।  
सरोजाना कर्षन्नलिमथमयस्कान्तमणिवत्  
क्षणादन्त शल्य तपति पतिरद्यापि न रुचाम् ॥ १ ॥

यजमानशिष्य सोमयागदीहितस्य गुरोर्विश्वामित्रस्य शिष्य शुनशेष । प्रभात-  
प्राया प्रभातकल्पा, तत्र हेतुमाह—

तमोभिरिति । पीयूषवपुषि अमृतमयपिण्डे चन्द्रे गतवयसि क्षीणायुषि अस्तगते  
सति ज्वलिष्यत सूर्यकिरणमयोगेन तेज प्रकटयिष्यत मार्त्तण्डोपलपटलस्य  
सूर्यकान्तमगिसमुदयस्य धूमै इव तमोभि अघकारै दिश पीयन्ते आच्छादिता  
त्रियन्ते, अद्यापि सग्रत्यपि रचापति सूर्य अयस्कान्तमगिवत् अलिमय भ्रमर-  
रूपम् सरोजानाम् कमलानाम् अन्तःशल्य हृदयगत लौहनिर्मिताश्विशेषम्  
कर्षन् वह्निर्नयन् न तपति न दीप्यते । अयमाशय — चन्द्रेऽस्तगते धूमपटली  
दिश आगृणोति मन्ये सूर्यकान्तमणीनामनतिचिरकालेन सूर्यतन्ना प्रज्व  
लिष्यता धूमस्तोम इव प्रकटति, कस्यापि बह्वैर्ज्वलिष्यत पूर्वं धूमस्तोम उद्गच्छति  
किञ्चास्तद्गतेऽपि त्रिधौ सूर्यो नोदितो, यस्मिन्नुदिते सति विक्रमसु कमलेषु  
तदन्तर्गता बद्धा अल्यो धारिजान्तःशल्यानीव रमिरूपायस्कान्तेनागृह्यमाणानि  
प्रतीयन्ते, अयस्कान्तमगिसद्विधाने सत्यन्तर्गतमप्ययःशल्य गृह्णति, तत एवेय-  
मुप्रेक्षा । अत्र धूमेषु ज्वलिष्यन्मार्त्तण्डोपलपटलधूमवम्, सूर्यं चायस्कान्तमगि-

[ यजमान विश्वामित्र के शिष्यका प्रवेश ]

शिष्य — अरे, रात्रि समाप्त प्राय हो गद । क्योंकि

चन्द्रमाके क्षाण हो जानेके कारण ज्वलित होनेवाले सूर्यकान्त मणिके धूमकी तरह  
प्रतीत होनेवाले अघकारोंसे दिशाएँ विरती जा रही हैं, अयस्कान्तमगिवत् कमलों  
अन्दर द्विपे भ्रमररूप अन्तःशल्यको बाहर खींचनेवाले प्रमानाशयका अमा उदय नहीं  
हो रहा है ॥ १ ॥

अपि च—

जाता पङ्कपलाण्डुपाण्डुमधुरच्छायाकिरस्नारका  
 प्राचीमङ्कुरयन्ति किञ्चन रचो राजीवजीवातष ।  
 लृतातन्तुवितानवर्तुलमितो विम्ब दधच्चुम्बति  
 प्रात प्रोषितरोचिरम्बरतलादस्ताचल चन्द्रमा ॥ १ ॥

( सर्वतोऽवलोक्य च । )

दिङ्मण्डलीमुकुटमण्डनपद्मराग  
 रत्नाङ्कुरे किरणमालिनि गर्भितेऽपि ।

त्वोत्प्रेक्षया च कमलान्तर्गतभ्रमरराशावयवशाल्यत्वम्, तद्वह्निर्गमे च तत्कृत कर्पण-  
 मुत्प्रेक्ष्यमाण श्लोयम् । शिखरिणीवृत्तम्—‘रसेरीशेरिद्धन्ता यमनसमलाग शिख-  
 रिणी’ इति च तल्लक्षणम् ॥ १ ॥

जाता इति । पङ्क परितो यः पलाण्डुः ‘पियाज’ पदलयातो मूलविशेषस्त-  
 द्दन्मधुरा पाण्डुश्च छाया यासा तास्तथोक्ता जाता पलाण्डुपाण्डुमधुराकृतयो  
 जातास्तारका नक्षत्राणि प्राचीम् पूर्वदिशम् अङ्कुरयन्ति ईषत् प्रकाशयन्ति, किञ्च  
 राजीवजीवानव कमलजीवनौपधिभूता रच अरुणकिरणा प्राचीम् न अङ्कुरयन्ति  
 प्रकाशयन्ति, चन्द्रेऽस्तगते क्षीणप्रभतया पलाण्डुवद् भासमानानि नक्षत्राणि पूर्वस्या  
 दिशि स्वल्प प्रकाश विस्तारयन्ति, मन्मति कमलविकासकारणीभूता अरुणरचयो  
 न प्राचामुद्योतयन्तीति प्रथमपादद्वयस्यार्थः । इतश्च पश्चिमदिग्बिभागे लृतातन्तु-  
 वितानवर्तुलम् कर्णभेदसम्बन्धिसूत्रविस्तारसमानाकारम् विम्ब मण्डलं दधत्  
 धारयन् प्रातः प्रोषितरोचि प्रातः काले गतप्रभश्चन्द्र अम्बरतलात् आकाशमण्डलात्  
 अस्ताचलम् चुम्बति स्पृशति । प्रभाते कलुपीभूतकान्तिरयं चन्द्रमा लृतातन्तु-  
 वितानवत् प्रतीयमानोऽस्ताचलमुपमर्षतीति भावः । तार्दूलविमोडित वृत्तम् ॥ २ ॥

दिङ्मण्डलीनि । दिङ्मण्डली दिक्समुदायस्तस्य मुकुटप्रधानम् प्राचीं दिशा  
 तस्य मण्डनम् भूषणं यत् पद्मरागरत्नम् सूर्यविम्बरूपम् तदङ्कुरे प्राचीदिगलङ्काररूपे

तारे पके इह प्याजकी तरह पीताम मधुर कान्तिबाल हो गये और कमलोंको जाविन  
 करनेवाली कान्तियाँ प्राचीं दिशामें अङ्कुरित हो रही हैं । मक्केकी जालके समान गोल  
 विम्बको धारण करनेवाला चन्द्रनिस्तेज होकर प्रातः कालमें अस्ताचलको छू रहा है ॥ २ ॥

( चारों ओर देखकर ) दिशाओंके मुकुटमें शोभा पानेवाले पद्मरागके सङ्घस्य भगवान्

सौख्यप्रसुतिक्रमधुव्रतचक्रवाल-

वाचालपङ्कजवनीसरसा सरस्य ॥ ३ ॥

अपि च—

प्राचीविभ्रमकर्णिकाकमलिनीसवर्तिका सम्प्रति

द्वे तिस्रो रमणीयमम्बरमणेशामुच्चरन्ते रुच ।

सूक्ष्मोच्छ्वासमपीदमुत्सुकतया सभूय कोषाद्बहि-

निष्कामद्भ्रमरौघसभ्रमभरादम्भोजमुज्जृम्भते ॥ ४ ॥

किरणमालिनि सूर्ये गर्भिते आकाशगभस्थिते अनुदिते अपि सौख्यप्रसुतिका सुख-  
शयनप्रश्नकर्तारं ये मनुजता भ्रमरा तेषां चक्रवालेन मण्डलेन वाचाला सशब्दा  
या पङ्कजवनी कमलाकरस्तया सरसा रमणीया सरस्य सरासि जाता इत्यव-  
गन्तव्यम् । प्राचीदिगलङ्काररूपे सूर्येऽनुदितेऽपि कमलानां सुखशयनप्रश्नपरायणै  
शब्दायमानैर्भ्रमरैर्वाचालाभिः पङ्कजवनीभिः सरासि मनोहरतां प्रपद्यन्त इत्यर्थः ।  
रूपकमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३ ॥

प्राचीनि । सम्प्रति प्राच्या पूर्वदिशानायिकाया विभ्रमकर्णिका विलासार्थं  
कर्णाभरणभूता कमलिनीसवर्तिका पद्मिनीनवदलानि ( तत्स्वरूपा ) अम्बर-  
मणेः सूर्यस्य द्वे तिस्रो रुचः प्रभा घामुच्चरन्ते आकाशे उद्गच्छन्ति सूर्यस्य द्विजा  
प्रभा विपतिं प्रकाशन्ते या प्राचीदिग्नायिकाया कर्णाभरणीभूतकमलिनीपत्राणीव  
प्रतीयन्ते इत्यर्थः । सूक्ष्मोच्छ्वासम् अल्पकिरणसंप्रकाशं स्वल्पप्रकाशमपि इदम्  
अम्भोजम् पद्मम् उत्सुकतया उत्कण्ठया सभूय मिलित्वा कोषात् कुड्मलाद् बहि-  
र्निष्कामतं निर्यतं भ्रमरौघस्य सभ्रमभरात् आवेगातिशयात् उज्जृम्भते साति-  
शयं विकसति । सूर्यप्रकाशस्याल्पतया स्वल्पप्रकाशमपि कमलं त्वरया बहिर्गच्छन्ता  
भ्रमराणां सभ्रमेण सातिशयं विकसतीत्यर्थः । 'कर्णिका कर्णभूषणे' इत्यमरः ।  
'सवर्तिका नवदलम्' इति च । 'सभ्रम साध्वसेऽपि स्यात्सवेगाद्भ्रमरयोरेपि' इति  
हारावली । शादूलविर्झितं वृत्तम् ॥ ४ ॥

सूर्यके गर्भित हो जानेपर भा सुखशयनकी जिज्ञासा करनेवाले भ्रमरसे सरोवरके पङ्कजवनी  
वाचाल ही रहे हैं ॥ ३ ॥

प्राची दिशाके विलासाथ कर्णाभरणके नवदलतुल्य सूर्यकी दो-तीन किरणें आकाशमें  
विबर रही हैं, थोड़ा-थोड़ा झिलनेवाले यह कमल उत्सुकतावश कोषसे बाहर निकलने  
वाले भ्रमरोंके सभ्रमसे खिल रहे हैं ॥ ४ ॥

अपि च—

एकद्विप्रभृतिव्रमेण गणनामेषामिवावन्तं यता

कुर्वाणा समकोचयद्दशशतान्यम्भोजसंवर्तिका ।

भूयोऽपि क्रमश प्रसारयति ता संप्रत्यमृदुयत

सरयातुं सकृत्सहस्रेण नलिनी भानो सहस्रं करान् ॥ ५ ॥

अपि च—

प्रत्यासन्नसुरेन्द्रसिन्धुरशिरसिन्दूरसान्द्रारणा

यत्तेजस्वसरणवो विपद्यितं प्रार्चनं भातन्वते ।

एकद्विप्रभृतीति । अन्तयताम् अस्ताच्छनाम् एषा भानुकिरणानाम् एकद्वि-  
प्रभृतिव्रमेण एकोऽप्यनस्तातो द्वितीयोऽप्यमप नृतीय इति क्रमेण गणना नस्तथा-  
नमिव कुर्वाणा इय कमलिनी दशशतानि तावन्कराणां अम्भोजसंवर्तिका पद्मनव-  
दशानि समकोचयत् सकोचितवती, भूय पुनरपि ता दशशतानि संवर्तिका  
उच्यते उद्गच्छन् भानो सहस्रं करान् कौतुकेनैव सरयातुं गणयितुं क्रमश प्रसार-  
यति । सायकाले कमलस्य पत्राणि निर्मूलानि मन्दे-कमलिनी सहस्रं स्वदलानि  
एकैकशोऽस्नगच्छता रविकराणां गणनामिव कुर्वती समकोचयत्, प्रातःकाले  
च तानि विकसितानि तन्मन्थं पुनश्चतस्तत्सख्यकान् नानुकरान् गणयतीति  
सकोचविकासकाले पत्रमरयया रविकरगणनोपेक्ष्यते । यतानिति इत्थं शतरि-  
रूपम् । यद्यपि दशशतशब्दं नपुमकलिद्वस्तयापि संवर्तिकाशब्देन कालिद्वेनान्वयो  
विशेषात्तथा ज्ञायते ष्व, 'विशत्याद्या भद्रैरुचैर्भवां मरयेयमख्ययो' इत्युक्ते,  
विशेष्यविशेषाभावश्चायं योरिति लिङ्गविशेषोपस्थाप्यताया अन्वयवाच्य । सहस्र-  
करानित्यत्र करगत बहुत्व सहस्रगत चैकत्व विवक्षितमिति भिन्नवचनत्वेऽपि  
सामानाधिकरण्यम् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् । उज्ज्वलाऽह्णार स्फुट ॥ ५ ॥

प्रत्यामन्नेति । प्रत्यासन्नं पूर्वदिग्धीशतया मर्मापस्थितो यः सुरेन्द्रो देवराज  
न्तस्य सिन्धुरो गत्र ऐरावतस्तस्य शिरसिन्दूरेण मस्तकलिमिन्दूरेण सान्द्रा-  
रणा भातिशपरत्ता यत्तेजस्वसरणवो यस्य तेजस अशुपरमाशुविशेषा इत

नलिनीने एक-शे करके अस्त शोनेवाली सूर्य किरणोंको गिनना हुंरु अने नहस  
मरयक पत्रोंको मनेउ लिखा था, अब फिर क्रमश उदित शोनेवाली सूर्यकिरणोंको गिनती  
॥ ५ ॥ नष्टिनी अपने हलोंको प्रसारित करता जा रही है ॥ ५ ॥

सर्वापास्तद शब्दगण ऐरावतके शिरसिन्दूरने नाह रत्नवर्ष लो तेजस्य प्राची

१ 'आचिन्वते' इति ।

शङ्के सप्रति यावद्भ्युदयते तत्तर्कुटङ्कोन्मृजा

रज्यद्विम्बरजश्छटावल्यितो देवस्त्विषामीश्वर ॥ ६ ॥

( पुरोऽवलोक्य । ) कथमिदमुदयाचलमौलिमाणिक्यमर्कमण्डलमद्यापि न विहायस्तलमलकरोति । तदस्मद्गुरोर्विंतायमानयज्ञस्य कुलपते कौशिकस्यादेशात्समिदाहरणाय प्रस्थितोऽस्मि । तत्परित गच्छामि । ( इति परिक्रामति । )

( प्रविश्य सभ्रान्तो बटु । )

बटु —अज्ञ सुणस्मेह, किं वि अचचरिश्च भीषण च वट्टदि । [ ग्रार्थं शुन शेष, किमप्याश्चर्यं भीषण च वर्तते । ]

शुन शेष —( सचमत्कार परितुल्य । ) सखे पशुमेडू, किमाश्चर्यं भीषण च वर्तते ।

प्राचीन नियत् पूर्वाकाशम् आतन्वते व्याप्नुवन्ति, यस्य सूर्यस्य तेन परमाण्वो निकटस्थैरावतसिन्दूररक्षा इव प्राच्या प्रसरन्तीत्याद्यपाद्व्यर्थं, तत् शङ्के सभावयामि, तर्कु विश्वकर्मणो गोलाकारो यन्त्रभेदस्तत्र यष्टङ्क पापाणदारणसाधनाख-विशेषस्तेन या उन्मृजा शुद्धिः सस्कार ततो रज्यत् रक्षीभवत् यत् विम्बमण्डल तस्य रजसाम् रेणूनाम् छटाभि, समूहेर्वलयितो वेष्टित देवस्त्विषामीश्वर प्रभानाय सूर्यं सम्प्रति यावद्भ्युदयते त्वरितमुदयमवाप्स्यति । आकाशस्य रक्ता भतया सूर्योदय सन्निहिततपोऽप्येक्ष्यते । ‘यावत्पुरानिपातयोर्लट्’ इति भविष्यति लट् । ‘टङ्को नीलकपिये च खनित्रे दङ्कणे स्त्रियाम्’ इति मेदिनी । उपेक्षालङ्कार ॥६॥ उदयाचलमौलिमाणिक्यम् उदयाचलशिरोभूषणम् । अर्कमण्डलम् सूर्य-

दिशाके आकाशमें फैलते जा रहे हैं वह ऐसा लगता है—विश्वकर्माका सरादपर चढाकर सरादे गये—अतएव तेज पुञ्जे वेष्टिन भगवान् सूर्य उदय प्राप्त कर रहे हों ॥ ६ ॥

( आगेकी ओर देखकर ) क्यों उदयाचलके मस्तकके अलङ्कारस्वरूप सूर्यमण्डल अभी भी नहीं आकाशमें आ रहा है ? यज्ञमें सलग्न स्वगुरु नौशिकके आदेशानुसार मैं ममिषा खाने चला हूँ, इसलिये शीघ्र जाना हूँ । ( जाना है )

( घबड़ाये हुए बटुका प्रवेश )

बटु—आय शुन शेष, कुत्र अदमुन तथा भीषण वात हुर है ।

शुन शेष—( अकचकाया हुआ लौटकर ) सखे पशुमेडू, क्या अदमुन तथा भीषण हुआ है ?

१ नमस्थलम् इति । २ त्वरितम् इति ।

पशुमेढू—अञ्ज रामो त्ति को वि रत्तिअकुमारो आअदो त्ति सुणिअ कोदूहलेन धावन्तस्स तपोरणपेरन्तपरिद्धिदा पत्थरपुत्तलिआ सच्चमाणुसीभपिअ मम ज्जेव्व समुह् परावडिदा । त पेक्खिअ उत्तरासङ्गवक्कल पि उज्झिअ पलायिदो म्हि । [ 'अथ राम इति कोऽपि क्षत्रिय कुमार आगत इति श्रुत्वा कुदूहलेन धावतस्तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता प्रस्तरपुत्रिका सत्यमानुषीभूय ममैव समुख परापतिता । ता प्रेक्ष्य उत्तरासङ्गवक्कलमप्युज्झित्वा पलायितोऽस्मि' । ]

शुन शेषः—( विहस्य । ) सखे, माधु कृतम् । डिष्ट्या हि जीवत पुनरावृत्ति ।

पशुमेढू—ता रक्खदु म अज्जो इमाए दुद्धरक्खसीए मुहादो । ( इति वेपमान पादयो पतति । ) [ 'तद्रक्षतु मामार्य एतस्या दुष्टराक्षस्या मुखात्' । ]

शुन शेष—( सस्मितमुन्याप्यालिङ्ग्य च । ) 'वयस्य, शृणोषि भगवतो गौतमस्य महर्षेरहत्या नाम धर्मदारान् ।

विश्वम् । त्रिहायस्तलम् आकाशम् वितायमानयत्तस्य प्रारब्धयागक्रियस्य । कौशिकस्य विश्वामित्रस्य । ममिद्राहरणाय काष्ठान्याहर्तुम्, त्वरितम् शीघ्रम् ।

तपोवनपर्यन्तपरिस्थिता तपोवनोपर्यन्तवर्तिनी । प्रस्तरपुत्रिका प्रस्तरमयी स्त्रीमूर्ति । सत्यमानुषीभूय—वास्तवमनुष्यरूप प्रपद्य । उत्तरामङ्गवक्कलम् उत्तरीयरूप वक्कलम् । उज्झित्वा त्रिहाय ।

पशुमेढू—आज रामनामक कोइ क्षत्रियकुमार आया है—ऐसा सुनकर मैं उत्सुकता वश दौड़ा हुआ उसे देखने गया, जाते ही तपोवनकी सीमापर बत्तमान पत्थरकी शिला सचमुच औरत बनकर मेरे सामने आ खड़ी हुई । उसे देखकर मैं उत्तरीय-वक्कल खोब कर माग खड़ा हुआ ।

शुन शेष—( हसकर ) अरे मित्र, तुमने बहुत मजा किया । भाग्यवश तुम जीते लौट आये ।

पशुमेढू—अब आप मुझे उस दुष्टराक्षसीके मुखसे बचावें । ( डरसे काँपता हुआ चरणोंपर गिरता है )

शुन शेष—( हसते हुए उठाकर गले लगाकर ) मित्र, गौतमकी स्त्री अहत्याके विषयमें तुमने झुना होगा ।

१ 'गौदमतपोवन' इति । २ 'वत्स, शृणोषि', वयस्य, न भेत्तव्यम् । शृणोषि' इति ।

पशुमेढ —जा जणअसपुरोहिदस्स तत्थभवदो सदाणन्दस्स जणणी । 'तदो तदो । [ 'या जनकवशपुरोहितस्य तत्रभवत शतानन्दस्य जननी । 'ततस्तत' । ]

शुन शेष —सेय पुरा पुरुहूतखण्डितचरित्रा तस्य दीर्घतपसो मुनेर्मन्युना निजमेव तदिन्द्रियदौर्बल्यमेव विवर्तमानमनुभवन्ती सप्रत्यस्य रघुराजपुत्रस्य तेजसा तस्मादन्धकारात्रिस्मुच्यत । तद्वल्लुमात्रेण ।

पशुमेढ —( उन्मील्य चक्षुषी सर्वतोऽवलोक्य । ) अहो-अचरिअ । अज्जस्य पसादेण पुणोपि जीअलोए परिट्ठो अहि । तह रि सङ्कजरो अज्ज वि ण म परिचअदि । ता अज्ज सुणुस्सेह, मुहुत्तअ विसमीअदु । [ 'अहो आश्चर्यम् । आर्यस्य प्रसादेन पुत्ररपि जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि । तथापि शङ्काज्वरोऽपि न मा परित्यजति । तदार्यं शुन-शेष, मुहुर्तं विश्रम्यताम्' । ]

शुन शेष —सत्ते, भयमिति किमेतद् ब्राह्मणस्य । तत्पर्यवस्थापयात्मानम् ।

पुरुहूतखण्डितचरित्रा इन्द्रभ्रशितमतीत्या । दीर्घतपस महानपस्विन । मन्युना कोपेन । इन्द्रियदौर्बल्यम् मनोविकारम् । विवर्तमानम्—चरित्रद्वेषरूपतया परिणममानम् । तस्मादन्धकारात् शिलाभावापत्तिरूपात् । अल्पावेगेन वृथा तवाय सभ्रम इति भावः ।

पर्यवस्थापय स्थिरीकुरु ।

पशुमेढ —जो जनकवशके पुरोहित पूज्य शतानन्दकी माना थी । तब ।

शुन-शेष—इन्द्रने उसका पातित्रत्य खण्डित कर दिया, महानपस मुनिके कोपसे अपने इन्द्रिय-दौर्बल्यका वह फल भोग रही थी, आज रघुराजपुत्रके प्रतापसे उस प्रस्तरभावरूप अन्धकारसे मुक्त हुई है । पवडानेकी जरूरत नहीं है ।

पशुमेढ —( आँखें खोलकर चारों ओर देखकर ) अहो, आश्चर्य ! आपके अनुग्रहसे मैं फिर जिवलोकमें लौट आया । फिर भी शङ्काज्वर मुझे नहीं छोड़ रहा है, अत आर्य शुन-शेष, थोड़ी देर विश्राम कर लें ।

शुन-शेष—ब्राह्मणको भय किस वानका ? अपनेको धीरज बधाओ ।

१ 'शुन-शेष—अथ किन् । पशुमेढ—'तदो' इति ।

२ 'पशुपरवस्थापय', 'पर्यवष्टम्यय' इति ।



( इत्युपविशत । )

पशुमेढू —( चिर विमृश्य<sup>१</sup> नि श्वस्य च सविस्मयम् । ) कथं विसय  
मिअतिण्हासलज्जलाए भअउदो हरिणो त्रि हरिणदा विटप्पीअदि । [ कथं  
विषयमृगतृष्णामलज्जलाया भगवतो हरेरपि हरिणता विटप्यते । ]

शुन शेष —( विटस्य । ) साधु<sup>२</sup> ब्रवीषि । अल्पीयान्प्रलवय लोक ।  
<sup>३</sup>कथमैहिकं सुखाध्यवसायाद्वै अमूर्भूयस्यो रात्रय पराहण्यन्ते । किं  
तु मनोहारिभिराहा<sup>४</sup> यैराहियमाणलोचनद्वि<sup>५</sup> तयस्यापि न जनो विवेक  
मद्दुशयितुं मधीष्टे । किं पुनर्नयनसदृशतयस्य तादृशि विभवे मरुता  
पति । चक्षु प्रीतिमुद्गन्तीमन्द्भवन्ति चापराणि कुसुमचापचापलानि ।

विषयमृगतृष्णासलज्जलाया वैषयिकसुखोपभोगरूपतृष्णाया आस्फालनेन ।  
हरिणता पशुभाव । विटप्यते अर्ज्यते, कथमयं देवेन्द्रोऽपि विषयाकृष्ट सन् तादृश  
कुर्म करोतीति भाव । 'स्यादास्फाले सलज्जला' इति हाराबली ।

अल्पीयान् शुद्रो मन्दमति । ऐहिकसुखाध्यवसायात् ऐहिकसुखप्राप्तिप्रया-  
सात्, अमू एता । भूयस्यो रात्रय पारलौकिकसुखसमया, रात्रे सुख  
कालतयैरथमुत्तमम् । पराहण्यन्ते विनाश्यन्ते । शुद्रो हि लोको यदैहिकसुख  
लिप्सापारवश्येन पारलौकिकानि सुखानि विनाशयितुमुद्यच्छतीति तात्पर्यम् ॥  
मनोहारिभि हृदयावर्जकै । आहार्यं बाध्यमानंतायामपि सुखसाधनत्वेनाभि  
मन्यमानै स्त्रीधनादिभि । आहियमाणलोचनद्वितयस्य आकृष्यमाणस्य नयन

[ दोनों बैठते हैं ]

पशुमेढू—( देर तक सोचकर दीघश्वाम लेकर आध्वयसे ) क्यों, विषय-मृगतृष्णाने  
बदर भी हरिणकी तरह वज्रिन हो जाते हैं ?

शुन शेष—( इसकर ) ठीक कहत हो । यह समार बहुत छोटा है, ऐहिक सुखकी  
प्रत्याशाम दीघकालिक सुखका नाश क्यों किया जाय ? किन्तु हृदयको हरण करनेवाले  
मिथ्या सुखोंसे लोगोंकी आँवें इस तरह बन्द होनी हैं कि लोग विवेकसे काम लेना  
छोड देत हैं । फिर इन्द्रकी क्या बात ? जिनके इचार नयन वैसे हों । आँखके लटने  
ही कामदेव के और हथकण्डे शुरू हो जात हैं ।

१ 'विभ्रम्य विमृश्य च' इति । २ 'ब्रवीति मवान्' इति ।

३ 'अन्यथा कथम्' इति ।

४ 'सुखाध्यवसायलुम्बै', 'सुखाध्यवसायान्' इति ।

५ 'आहियमाणस्य' इति ।

६ 'द्वयस्य' इति । ७ 'ईष्टे' इति ।

पशुमेढू — ( विहस्य । ) मण्णे एदाए एट्ट मुणिघरणीए पुण्णपरिणामो एत्थ रामभइस्स पयासे कारणम् । [ ‘मन्ये एतस्या एव मुनिगृहिण्या पुण्यपरिणामोऽत्र रामभद्रस्य प्रवामे कारणम्’ । ]

शुन शेष — इदं तत्रप्रथमम् ।

पशुमेढू — ( साभ्यर्थनम् । ) अज्ज, दुदीअ पि मुणिदु इमिणा दे वअणोण पज्जुस्सुओ म्हि । [ ‘आर्थ, द्वितीयमपि श्रोतुमनेन तव वचनेन पर्यत्सुकोऽस्मि’ । ]

शुन शेष — सखे, त्वयि किमकथनीयं नाम । अस्ति रिक्किन्धाया पुरदरस्य नन्दनो वालिर्नाम प्लगराज त च रजनीचरचक्र

द्वयस्य । विवेकम् ज्ञानम् । अहुशयितुम् अहुशीरुत्तुम् । न अर्थाष्टे न पारयति । विषयाणामय महिमा यत्तेराहार्यैरपि आट्टस्य स्वस्य नयनद्वयस्य निरोधाय जन स्व विवेक प्रयोक्तु न शक्नोति, यदि लोको विषयाट्टस्य स्वनयनद्वयस्य विवेक द्वारके निरोधे न क्षमो भवति, तदा तावत्या सम्पत्तिं विद्यमानाया यदिन्द्रो निज नयनसहस्र विषयप्रसक्तं न प्राभजद्वारयितुं न तदाश्चर्यमिति भावः ।

मत्तापति देवेन्द्र । चञ्चुप्रीतिम् चन्द्ररागम् । उद्भवन्तीम् जायमानाम् । अनुद्भवन्ति पश्चाज्जायन्ते । कुसुमचापचापलानि कन्दर्पविकारा । चन्द्ररागे जाते तदनन्तरमपरे कामविकारा समुद्भवन्ति, दुर्निरोधश्च चञ्चुर्गणो, नहि लोको नेत्रद्वयमपि निरोद्धुं शक्नोति, कथं शक्यता स्व नेत्राणां सहस्र निरोद्धुं ‘यौवनं धनसम्पत्तिं प्रभुत्वमिति सर्वस्यानर्थवीजताया प्रसिद्धेरिति भावः ॥

मुनिगृहिण्या गौतमस्त्रियोऽहल्याया । पुण्यपरिणामं सुकृतपरिपाकं । अत्र वने । रामप्रवासे रामस्यागमने । अत्र वने यद्गाम आगतस्तत्राहल्यासुकृतपरिपाक एव हेतुरिति तत्तर्कः ।

प्रथमम् रामप्रवासकारणम् । द्वितीयम् अन्यदपि कारणम् ।

अकथनीयम् गोपनीयम् । पुरन्दरस्य इन्द्रस्य । नन्दन पुत्र । प्लगराज

पशुमेढू — ( इसकर ) मालूम होता है इस मुनि-पत्नीका पुण्य-परिपाक ही रामव इम प्रवासमें प्रधान कारण बना है ।

शुन शेष — यह पहली बात है ।

पशुमेढू — ( प्राथनाके स्वरमें ) आपने इस वचनने दूसरी बात सुननेकी उत्कण्ठा आगृत कर दी है ।

शुन शेष — मित्र, तुझे कौन बात नहीं बता दी जा सकती है ? किष्किधामें इन्द्रका

वर्तिना दशरुधरेण सह प्रवृत्तमैत्रीकमवलोक्य तु वानराच्छ्रमल्लगो  
लाङ्गूलप्रभृतीनामाचार्य सर्वाभ्यानुमतो जाम्बवान् प्रादीत् ।

पशुमेढू — ( सकौतुकम्<sup>३</sup> । ) तदो तदो । [ ततस्तत ]

शुन शेष — (विहस्य) ततश्च राजन्मायापिनी खल्विय राक्षसजाति ।  
प्रिशेषेण महेन्द्रावस्फन्दकन्दलितत्रिक्रम पितृवैरी तवाय रावण ।  
अपि च त्वदीयदोर्मूलसपीडनगलितपौरुषो न प्रिश्वत्रिजयीति स्वयमा-  
शङ्कनीय । नापि सामन्तान्तरजिघृक्षायामन्तरावर्तिनि समुद्रे लघु

वानरराज । रजनीचरचक्रवर्तिना राक्षसराजेन । दशरुधरेण रावणेन प्रवृत्तमैत्रीक  
प्राप्तसौहृदम् । वानरा जातिभेदा, अच्छमल्ला भल्लुका, गोलाङ्गूला वृष्ण  
मुत्ता मर्मटा । स्वामात्यानुमत सर्वैरमायै सम्प्रार्थित । जाम्बवान् नाम  
वालिमन्त्री ।

मायापिनी छलनापरा । महेन्द्रावस्फन्देन शत्रुपराभवेण कन्दलित नवीभ्रतो  
विक्रमो यस्य तथाभूत, इन्द्रदमनप्रवृद्धोत्साह इत्यर्थ । पितृवैरी पितृवालि ननकस्य  
शत्रु । त्वदीयेन त्वमम्बधिना दोर्मूलेन बाहुना यत् मग्पीडनम् आस्फन्दनम् तेन  
गलितपौरुष खण्डितपराक्रम । पितृस्त्वय शत्रुस्त्वया चापि दान्तो रावण इति म  
त्वया शङ्कनीय इति भाव । सामन्तान्तरनिघृक्षायाम् राजान्तरस्वीकारे करणीये ।  
अन्तरावर्तिनि मध्यस्थिते । समुद्रे सागरे । लघुमसुत्थ शीघ्रमुत्थातु शक्त । विराड्-  
मण्डलेन सर्ववैरिणा । मत्रम् समयम् अनथानुवन्धि अहितकरम् । अनुपकारिणी

बेटा बालि नामक वानरराज रहता है । राक्षसराज रावणके साथ उसकी मैत्री बढ़ती देख  
वानर, अच्छमल्ल, गोलाङ्गूल वगैरह पशुओंके गुरु जाम्बवान्ने सभी अमात्योंकी अनु  
मतिसे कहा ।

पशुमेढू—( उत्सुकतासे ) तव !

शुन शेष—तव जाम्बवानेने कहा कि—महाराज, राक्षसजाति बड़ी मायाविनी  
होती है । विशेषत यह रावण आपका पितृवैरी है क्योंकि इसके विक्रमका उदय इन्द्रके  
अपमानसे ही अकुरित हुआ है । फिर यह रावण विश्वविजयी है ऐसी शङ्का मत करना,  
क्योंकि वह तुम्हारी कौशलमें अपनी शक्तियों को चुका है । समुद्रके बाचमें होनेके कारण  
यह दूसरे मामन्तपर चढाईके समय शीघ्र सहायताय आ भी नहीं सकता है ।

१ 'प्रवृद्ध' इति । २ 'अनुगत' इति । ३ 'विहस्य' इति ।

ममुत्थ । तदनेन विरा'द्धमण्डलेन सहासु'रत्रिजयिना मैत्र'मनर्थानु-  
बन्धि । किं च सर्त्रयेयमनुपकारिणी पुलस्त्यापयेषु प्रीतिरिति भगवानि-  
होदाहरण हरिणाङ्क'शेखर ।

नया हि—

उक्षा रथो भूषणमग्निमाला भस्माङ्गरागो गजचर्म चास ।

एकालयस्थेऽपि धनाधिनाथे सरयो दशेय त्रिपुरान्तकस्य ॥ ७ ॥

पशुमेढ् —( सहासम् । ) अहो ठेरभल्लुअस्स मन्तोवण्णासो परिहा

सकुसलदा अ । तदो तदो । [ 'अहो स्थविरभल्लूअस्य मन्त्रोपण्याम परिहास  
कुशलता च । ततस्तत ' । ]

शुन शेष —ततश्च तद्वचन जराप्रलपितमित्युपहसति हरीश्वर

अहिताधायिना । पुलस्त्यापयेषु रावगादिषु । उदाहरण निदर्शनम् । हरिणाङ्क  
शेखर शशिशेखर शिव ।

उक्षा रथ इति । उक्षा वृष रथ यानम् , अग्निमाला भूषणम् अलङ्कार , भस्म  
विभूति अङ्गराग अनुलेनम् , गजचर्म हस्तिवृत्ति वाम वपनम् , धनाधिनाथे  
कुपेरे एकालयस्थे केलामरूपेकपर्वनजासिति सरया मित्रे वर्त्तमानेऽपि त्रिपुरान्त  
कस्य शिवस्य इयम् पूजेऽस्मिन्पा दणा स्थिति अतश्च पुलस्त्यापयमेतरी न युक्ता,  
जुवरस्यापि पुलस्त्यापयतयेत्यमुक्ति ॥ ७ ॥

स्त्रविरभल्लूअस्य वृद्धश्वरस्य । मन्त्रोपण्याम मन्त्रचिन्ता । परिहासकुशलता  
विनोदप्रियता च ।

जराप्रलपितम् वार्धक्यमनर्थक वदोपयुक्तम् । हरीश्वरे वानरराजे वालिनि ।

अत समस्त भूमण्डलके अपकारो उक्त रावणके माध मित्रता करना अनर्थप्रद होगा । और  
सकने बड़ी बात तो यह है कि पुलस्त्यापयोंक साथ प्रीति करनेमें अपकार ही होना है  
जिसके उदाहरण रूपमें शिव प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

वैष्णवी सवारी है, अग्निमाला भूषण ह, भस्म चन्दन है, वक्त्रा उपर हस्तिचर्म है  
मित्र कुपेरेके माध केनासरूप एक घरमें रहनेपर भी शिवकी यह दरिद्र दशा है ॥ ७ ॥

पशुमेढ् —(हमकर) अ तो, यह बूडा रोड ला मात्रगा तथा परिहास दोनोंमें दक्ष है ।

शुन शेष —नाम्नवान्की बातकी वालिने वृद्ध प्रणव क्कर टाल दिया । अनन्तर

१ 'विराद्धमुवनमण्डलेन' इति । २ 'त्रिसुरासुरविजयिना' इति ।

३ 'अनयानुबन्धि भविता' इति । ४ 'शेखरोऽपि' इति ।

उपाशु तदनुमत्या महामात्यस्य केसरिण पुत्रो हनुमान्कुमार सुग्रीव  
मादाय ऋष्यमूक नाम पर्वतदुर्गमनुप्रविष्ट ।

पशुमेढ — ( साकूतम् । ) अज्ज, जो सो मास्दी तेवामल्लो ति  
सुणीअदि । [ 'आर्य योऽसौ मादतिखेतामल्ल इति ध्रूयते' । ]

शुन शेष — अथ किम् ।

पशुमेढ — ( सविचिकित्सम् । ) अज्ज, जधा तथा भोदु । सामी  
सामी जेव्व । त परिच्चइअ तत्सरिसो तारिसस्स महाणुभाअस्स पडि  
उलपरिगाहो । [ 'आर्य, यथा तथा भवतु । स्वामी स्वाम्येव । त परित्यज्य  
तत्तद्दशस्तादशस्य महानुभावस्य प्रतिकूलपरिग्रह' । ]

उपाशु एकांते 'उपाशु तूपभेदे स्यादुपाशु विजनेऽव्ययम्' इति विश्व । तदनु  
मत्या जाम्भवसमत्या । केसरिण पुत्र अक्षनाया वायोर्जायमान क्षेत्र  
केसरिपुत्र । सुग्रीवम् वालिनोऽनुज तन्नामानम् । आदाय सह नीत्वा, भारति  
वायुसुत हनुमान् । त्रतामल्ल द्वितीप्रयुगे प्रख्यातो वीर ।

अयन्निम् स्वीकारार्थकमययम् 'अयकिं स्वीक्रियार्थकम्' इति भरत ।  
सविचिकित्सम् सहायेन सह यथा तथा भवतु यादशस्तादशो जायताम् स्वामिना  
मन्त्रिकयनोरुलङ्घनेऽपि कृते मन्त्रिणस्तत्परित्यागो नोचित इति कथयति—

स्वामी स्वाम्येवेति । त वालिनम् । तादशस्य त्रेतामल्लतया रयातस्य । प्रतिकूल-  
परिग्रह वैरिणा सधानम्, वालिन परित्यज्य तद्विपुणा सुग्रीवण सह तादशस्य  
हनूमव सन्धान किमुचितमिति तदाशय ।

जाम्बवान्का अनुमतिसे महामात्य केसरीक पुत्र हनुमान् कुमार सुग्रीवो लेवर ऋष्यमूक  
नामक दुर्गमें चले गये ।

पशुमेढ — ( सामिप्राय ) बहा भारति, जो त्रेतामल्लके रूपमें हुने जाते हैं ।

शुन शेष—और क्या ?

पशुमेढ — ( सन्देहके साथ ) भाय, जो हो । स्वामी आखिर स्वामी ही हैं । उसे  
घोटकर दूसरेका आश्रयण करना क्या उनके योग्य कार्य हुआ ?

शुन शेष —( विहस्य । ) ‘पुरैव क्लिप्तायमाञ्जनेयो भगवत सहस्र  
किरणाद् व्याकरणविद्यामधीयानस्तदात्मजन्मनो वानरयोने सुग्रीवस्य  
साहायकमभिप्रायज्ञो गुरुदक्षिणीचकार ।

पशुमेढू —( ‘सानन्दम् । ) हु । ता उचित जेव्य गुरुपुत्रो सञ्चक्ष-  
चारी वा अणुनट्टीअदि । तदो तदो । [ ‘हु । तदुचितमेव गुरुपुत्र सन्नञ्चारी  
वानुवर्त्यते । ततस्तत ’ । ]

शुन शेष —ततश्चाहिभयोपजापजर्जर ‘सुहृद्गृहमुपश्रुत्य राक्षसराज’

पुरैव वालिनोऽमन्मार्गग्रहणात् पूर्वत एव । आञ्जनेय हनूमान् । सहस्र  
किरणात् सूयात् व्याकरणविद्याम् व्याकरणम् शास्त्र तदात्मजन्मन सूर्यपुत्रस्य ।  
वानरयोने वानरजातो गृहीतजन्मन साहायकम् साहायभावम् मस्य मेत्रीञ्च ।  
अभिप्रायज्ञ सूर्याशयवेदी । गुरुदक्षिणीचकार गुरुदक्षिणारूपेण दातु मनसि निश्चित-  
वान् । यदाय हनूमान् सूर्याद् व्याकरणमधीनेस्म तदैव गुरोरभिप्रायमवेत्य तत्पुत्रस्य  
मन्त्रिव्रकत्तु गुरो समीपे तद्विच्छ्रया प्रतिज्ञातवान्, अतश्च न वालिनोऽमन्मार्ग  
प्रयत्नत्वापरित्याग, किन्तु गुरोरिच्छया सुग्रीवानुवृत्तिरिति भाव ॥

सन्नञ्चारी सहाध्यायी । अनुवर्त्यते सेयते ।

अहिभयम् स्वपक्षप्रभव भयम्, उपजाप प्रवृत्तिप्रकोप, ताभ्या जर्जर जीर्णम्,  
दुरवस्थमित्यर्थ । ‘महींसुजातमहिभय स्वपक्षप्रभव भयम्’, ‘समौ भेदोपजापौ च’  
इत्युभयत्राभर । सुहृद्गृहम् वालिभवनम् । रावणो वालिमित्रमसौ वालिनो  
भ्राता विरुद्धस्तत्सहचराश्च कतिपये तथेति मित्रस्य दुरवस्थता विभाव्येत्यर्थ ।

शुन शेष—(इमकर) पूर्वकालमें ही जब मारुति भगवान् सूर्यके पाम व्याकरण विद्या  
पढ रह थे तमा सूर्यने वानरयोनिमें उत्पन्न अपने पुत्र सुग्रीवकी सहायता हनुमान्से  
गुरुदक्षिणामें स्वीकृत करा ली थी ।

पशुमेढू—( सानन्द ) हाँ, तब तो ठीक ही है कि गुरुपुत्र तथा सहपाठीका आश्रय  
किया । फिर क्या हुआ ?

शुन शेष—इसके बाद रावणने दिखा कि मेरे मित्र वालिके गृहमें स्वपक्ष-सम्भव

१ सख, पुरैवाञ्जनेयो’ इति । २ ‘व्याकरणम्’ इति ।

३ ‘सानन्दम्’ इति क्वचिन्नास्ति । ४ ‘सुहृद्वुलम्’ इति ।

स्वरदूषणत्रिशिरोभिर्महागत्स्यैरधिष्ठितमात्मवलैकदेश सिन्धोऽदीचि वृत्ते  
नालिप्रतिग्रहाय प्राहिणोत् ।

पशुमेढू — कथ अपरिहीणमित्तधम्मो वि सो रक्खसो । [ 'कथम-  
परिहीणमित्तधर्मोऽपि स राक्षस । ]

शुन शेष — सरये, किमुच्यते । रावण खल्वसौ ।

प्रियाकर्तुं त्वम्मै नवनिजशिर कर्तनरस-

प्रहृष्यद्रोमा य स परमिह लङ्कापरिवृढ ।

विलक्षव्यापार किमपि ददृशुर्यम्य दशम

शिरस्ते मूर्धान क्षण वृत्तपुनर्जन्मसुभगा ॥ ८ ॥

महामात्ये प्रधाने स्वसचिवे । अधिष्ठितम् नियन्त्रितम्, आमत्रलैकदेशम्  
स्वसेन्यावयवम् उदीचि कूले उत्तरतट । वाल्मिप्रतिग्रहाय बालिरन्नायै । प्राहिणोत्  
प्रहितवान् ।

अपरिहीनमित्तधर्म — अयत्तमित्तधर्महायत ।

किमुच्यते राक्षसराजोऽसौ अपरिहीनमित्तधर्म इति विमुच्यते, अथात् रावणो  
मित्तकार्यं न विस्मरतीति किं वक्तव्यम्, असौ राक्षस मन्त्रपि सर्वमपि व्यवहार  
मानबोधित ततोऽपि ना विलक्षण विभर्त्सति तात्पर्यम्, स्पृष्टीभविष्यति च  
तदप्रेतनरलोचन ।

प्रियाकर्तुं इति । नवनिजशिर कर्तने नवभरयकस्त्रशिरश्छेदने यो रसो राग  
स्तेन प्रहृष्यद्रोमा रोमाञ्जितममग्रदेह स लङ्कापरिवृढ रावणस्तु अस्मै वालिने  
प्रियाकर्तुं हित सम्पादयितु परम् प्रधानम्, अस्मै वालिने रावण एव सर्वा-  
धिकप्रियकर्तृतयोपकारक्षम इति । यस्यास्य रावणस्य क्षणघृतपुनर्जन्मसुभगा क्षणेन  
कर्तनक्षणमात्रेण घृत पुनर्जन्म तेन सुभगा कर्तनमात्र एव पुन तन्मान इत्यर्थ ।  
ते शिवायोपहता मृधान शिरासि किमपि विलक्षव्यापार सलज्जव्यापार दशम

भयनी स्थिति है तब हमने खरदूषण और त्रिशिरा नामक अपने महात्माओंका देल रेलमें  
अपनी सेनाकी एक टुकड़ा समुद्रके उत्तर तटपर बालिकी सहायताके लिये भेजी ।

पशुमेढू—क्यों, राक्षस होकर उसने धमका त्याग नहीं किया ।

शुन शेष—मित्र, क्या कहना है, वह रावण है ।

वह रावण ही बालिकी प्रसन्नताके लिये पर्याप्त हो सकता है जिसने अपने नव  
मस्तकोंको काटकर भक्तिप्रसूत रोमाञ्ज धारण किया था तथा जिसके सब प्रसूत नव  
मस्तकोंने उसके दशम सिरकी अराण्डित रह जाने के कारण लज्जित होते देखा था ॥८॥

पशुमेढू — ( सकौतुक्म् । ) तदो तदो । [ तनस्तत । ]

शुन शेष — तत सुकेनुमुता नागसहस्रजलधारिणी ताडका नाम राक्षसी तस्मादनीकादागत्य मनुष्यमण्डलविहारकौतुकादिमामस्मदीया भूमिमधिवसति ।

पशुमेढू — ( सकौतुक्म् । ) गाअसअस्मथला इत्यी अत्ति त्ति अस्सु ढपुव्य क्खु एद । तदो तदो । [ 'नागसहस्रजलया खा अस्तान्यश्रुतपूर्वं खन्वेतत् । ततस्तत ' । ]

शुन शेष — ततश्च श्रौतस्य विधे प्रत्यूहमस्या शङ्कमान कुलपतिरिमौ ढाशरथी रामलक्ष्मणाजानीतान् ।

पशुमेढू — जाणे रामभद्रो त्ति को वि रक्खत्ताण उपरि अपडण्णो क्खु एत्तो । [ 'जाने रामभद्र इति कोऽपि राक्षसानामुपयंबतीर्णं खन्वमो' । ]

शिरो दृष्ट्य दृष्टवन्त । नवसु शिरस्सु द्धिहमानपु पुन प्ररोहत्सु च दशम शिरो लज्जितमिव स्थितमिति भाव , एतादृशाद्भुतप्रभावो राज्ञो वालिन सर्वाधिक-प्रिय इयाशय ॥ ८ ॥

नागसहस्रजलधारिणी सहस्रमरयस्त्रयजलसम्मितपला । तस्मात् वातिरक्षाधं राजणेन प्रहितात् । अनीकात् स्नेन्यात् । मनुष्यमण्डलविहारकौतुकात् मनुजसमाजमध्यविहारकौतूहलात् । अस्मदीयाम् अस्मदुपिताम् । अधिवसति अधितिष्ठति । अश्रुतपूर्वम् अन्यस्या कस्याचन स्त्रियामनार्कणितम् , अपूर्वमित्यर्थ ।

श्रौतस्य विधे यज्ञकर्मण । प्रत्यूहम् विनम् । कुलपति पिधामित्र । जानीतवान् तपोयते नीतवान् ।

राक्षसानाम् उपरि अवतीर्णं सकलराजमत्रिनयितया भुवमागत ।

पशुमेढू — ( कौतुक्म् ) फिर क्या हुआ ?

शुन शेष — अनन्तर सुकेतुकी पुत्रा हजार हाथियोंक तुल्यबलवाला ताडका राक्षसो उस मनुष्यसमूहसे निकलकर मनुष्य मण्डलमें विहारकी उत्पण्डामे हमारा भूमिमें जा गद ।

पशुमेढू — ( कौतुक्म् ) हजार हाथियोंक तुल्य बलवाला रखा होनी है, यह वन पण्ड मेने नडा सुना थी । फिर क्या हुआ ?

शुन शेष — अनन्तर हमसे यज्ञका विधे समझकर हमारे कुलपतिने रामलक्ष्मणको यहा ला रखा है ।

पशुमेढू — मे समझता हू रामभद्र मानों राक्षसोंके ऊपर ( लिये ) अवतीर्ण हुए हैं ।



शुन शेष —सखे, एवमेतत् । रामभद्र इति क्रोऽप्यय चतुरश्रो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र । विशेषेण पुनरिदानीं भगवता कौशिकेन ब्रह्मज्योतिपस्तादृश त्रिवर्तमाश्रयं दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित ।

पशुमेढ —मण्यो मन्तमईहिं अत्थदेवदाहिं सम बलादिवलाओ सत्तीओ वि रामे सकमिस्सन्ति । [ 'मन्ये मन्त्रमयीभिरब्रह्मदेवताभि सम बलातिबले शक्ती अपि रामे सकमिष्यत ' । ]

शुन शेष —अथ किम् । तदपि 'वृत्तमेव ।

पशुमेढ —अज्ज, ण भणामि जइ णिआओ जेव्व मत्तीओ णिआओ जेव्व अत्थविज्जाओ, ता कि त्ति अत्तणो त्रिग्घोरसमे राहवस्स गोरअमुप्पादेदि तत्थमत्र कोसिओ । 'अहवा पाहुणहत्थेण सप्पमारण

राक्षसरक्षासिद्धमन्त्र रामभद्रम्य नाममात्र गृह्णाते राक्षसापादानक भय निवर्त्त एवेति रामनाम्नो राक्षसरक्षासिद्धमन्त्ररूपत्वमुक्तम् । ब्रह्मज्योतिप वेदरूपस्थ तेजस । विवर्त्तम् स्वरूपभेदम् । वेदस्याशभूतमित्यर्थ । दिव्यास्त्रपारायणम् दिव्यास्त्रोपस्थितिकारणीभूतम् । रामो हि स्वत एव राक्षसेभ्यस्त्राता विशेषत सम्प्रति विश्वामित्रेण दिव्यास्त्रमन्त्रपारायणमध्यापित इति तन्नाममात्र गृह्यमाणे राक्षसभय निवर्त्तत एवेति भावः ॥

मन्त्रमयीभि मन्त्रोच्चारणमात्रसमुपस्थायिनोभि । बलातिबले शक्ती तदारय विद्याभेदौ । सत्रमित्यत समुपस्थास्यत । बलातिबलाविद्याया लब्धाया पुमान्ना समेक तृप्तस्तिष्ठतीति तद्विद्याप्रभावः ।

वृत्तमेव बलातिबलयोर्विद्ययो रामे सक्रमो जात एवेति भावः ।

शुन शेष—मखे, यही बात है । रामभद्र यह चार अक्षरोंका राक्षससे रक्षार्थ सिद्ध मन्त्र है, खास करके अब जबकि हमारे कुत्रपतिने रामभद्रको ब्रह्मज्योतिके परिणामरूप दिव्यारत्र मन्त्रकी शिक्षा उर्हें दे दी है ।

पशुमेढ—मालूम पड़ता है मन्त्रमयी देवताओंके साथ बलातिबला नामक शक्तियों को रामभद्रको प्राप्त हो गइ है ।

शुन शेष—और क्या ? वह भी हो चुका है ।

पशुमेढ—मैं कहता हूँ यदि अपनी ही शक्तियों हैं और अपना ही अस्त्रविद्यार्थ हैं

क्वु एदम् । [ ‘आर्य, ननु भणामि यदि निजा एव शक्तो निजा एवाहविद्या’, तत्किमिन्यात्मनो विनोपशमे रापवस्य गौरवमुपादयति तत्रभवान्कौशिक’ । अथवा प्राधुणकहस्तेन सर्पमारण खन्वेतत् । ]

शुन शेष—सखे, अनभिज्ञोऽसि । स्वय प्रयोगादन्तेऽसिभिर्विहित प्रयोगो महिमानभाचार्याणामुपचिनोति । पश्य

स्थानेषु शिष्यनिवहैर्विनियुज्यमाना

विद्या गुरु हि गुणवत्तरमातनोति ।

आदाय शुक्तिषु घलाहकविप्रकीर्णै

रत्नाकरो भवति चारिभिरम्बुराशि ॥ ९ ॥

किं च दीक्षित्यमाणा न कुध्यन्तीति रक्षितार क्षत्रियमुपाददते ।

निजा एव शक्तो निजा एव—यदि विश्वामित्रस्य हृदि तास्ता शक्त्योऽहविद्याश्च सन्ति तदा रामानयन किमर्थमिति प्रघट्टकार्थं ।

स्वयप्रयोगात् आनना कृतात् अस्वप्रयोगात् । यद्याचार्य स्वय प्रयुक्ते ततो यात्रद्यश तदपेक्षया विद्याधिविहिते प्रयोगे आचार्यस्याधिक यशो जायत इत्यर्थं ।

रत्नाश्वान । स्थानेषु उपयुक्तकालपात्रादिषु शिष्यनिवह छात्रम्मुदये विनि युज्यमाना प्रयुज्यमाना विद्या गुरुम् आचार्यम् गुणवत्तरम् सातिशयगुणशालिनम् आतनोति प्रत्यापयति । आदाय सागरात् गृहीत्वा गलाहकविप्रकीर्णं मेघगणविज्ञप्तै चारिभि जलै अम्बुराशि सागर शुक्तिषु रत्नाकरो भवति । सागरादव पानीयमा दाय स्वातीनक्षत्रयोगाद् मेघे शुक्तिषु क्षिप्तैरम्बुभि मुक्ताभाव गते सागरो रत्ना करपद् प्राप्नोति, तथैव स्थाने शिष्यैर्विनियुज्यमानया शिक्षयाऽऽचार्यो गुणवत्तरतास्थितिं लभत इति । प्रतिवस्तूपमाऽहङ्कार ॥ ९ ॥

दीक्षित्यमाणा यज्ञ करिव्यन्त । उपाददते आश्रयति ॥

तव भगवान् विश्वामित्र अपन [वधनाका] आन्तम रामको क्या गौरव प्रदान कर रहे हैं ? अथवा, यह अतिथिके हाथसे मायका मरवाना हा है ।

शुन शेष—मित्र इहाँ जानते हो । अपने द्वारा किये प्रयोगकी अपेक्षा विद्यार्थियों द्वारा किया गया प्रयोग आचार्योंको महिमाको अधिक बढ़ाना है । देखो—स्थानपर शिष्यों द्वारा प्रयुक्त विद्या गुरुका गुणवत्तरताको चोतित करती है मेघों द्वारा शुक्तियोंमें डाले गये जलोंसे ही सागर रत्नाकर कहलाता है ॥ ९ ॥

और यह भी बात है कि यज्ञमें दीक्षितोंको कोप नहीं करना होता है रत्निये रक्षाय क्षत्रियको नियोजित करते हैं ।

पशुमेढ — अञ्ज, सोहण मन्तेसि । अण्ण वि किं वि पुच्छि-  
दुका मो ह्नि । [ अन्यदपि निमपि प्राट्टकामोऽस्मि । ]

शुन शेष — किं तत् ।

पशुमेढ — सर्वथा णिगूढ वि वाणराण छग्गुणञ्च कध अञ्जेण  
पटिवण्णम् । [ सर्वथा निगूढमपि वानराणा पाहुण्य कथमार्येण प्रतिपन्नम् । ]

शुन शेष — ससे, सर्पमेतदयोध्यायात्राया समाधिमध्येन चक्षुषा  
साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य तात्प्रिश्चामित्रस्य सुरादश्रीपम् । ( सर्वतोऽ-  
वलोक्य । ) 'अये, प्राभातिकी भुवनस्य लक्ष्मी । तथा हि ।

प्रत्यग्रज्वलिते पतङ्गमणिभिर्नीराजिता भानव

सावित्रा कुरुविन्दकन्दलश्च प्राचीमलकुर्वते ।

निगूढम् गुप्तम् । पाङ्गुण्यम् सन्ध्यादिपङ्गुण्यप्रयोगचिन्तारूपमन्त्रणा । आर्येण  
त्वया शुन शेषेन । प्रतिपन्नम् ज्ञातम् ॥

अयोध्यायात्रायाम् यज्ञरक्षार्थं राममानेतुमयोध्यागमनसमये । समाधिमध्येन  
ध्यातरूपेण । चक्षुषा नेत्रेण । साक्षात्कृतत्रिभुवनवृत्तान्तस्य लक्ष्यत्रयवृत्त ज्ञानत,  
ज्ञानदृष्ट्या सर्पमपि वृत्त प्रत्यक्षमीक्षमाणस्य । प्राभातिकी प्रातः कालिकी ।

प्रत्यगेति । प्रत्यग्रज्वलिते सूर्यकरस्पशन तत्कालप्रदीप्ते पतङ्गमणिभिः सूर्य-  
कान्तोपले नीराजिता समुत्तेजिता अतएव कुरुविन्दकन्दलश्च पद्मरागनवा  
कुरसन्माननात्तय सावित्रा सूर्यसम्बन्धिनो भानव प्राचीम् पूर्वदिशम् जलह्व-  
र्वते भूपरिनि । सपदि जायमाने सूर्यप्रकाशे सद्यः प्रज्वलन्ति सूर्यकान्तकिरणे संसु-  
त्तेजिता सूर्यकरा प्राचीं दिशमलङ्कृत, ये पद्मरागनवाङ्कुरवत् प्रतीयन्ते । इत्याद्य

पशुमेढ — आय ठीक कहत है, और ना कुछ सुन पूछना है ।

शुन शेष — वह क्या है ?

पशुमेढ — स्वथा क्षिपे दस वानरोंके रहस्यकी आपने कैसे समझा ?

शुन शेष — ससे ! अयोध्यायात्रामें आचार विश्वामित्रके मुखसे ही यह सारी बात  
मैंने सुनी थी, उ होनेसे समाधिदृष्टिसे त्रिभुवनवृत्तातका ज्ञान किया था ( चारों ओर  
देखकर ) अहा ! प्रभातकालकी कैसा शोभा है ?

तत्काल प्रज्वलित सूर्यकातमणियोंसे नीराजित स्वकिरणे विदुनरण्डकी तरह

प्रौढध्वान्तकरालितस्य वपुषश्छायाच्छलेन क्षणा-  
दप्रक्षालितनिर्मलं जगदहो निर्मोकमुन्मुञ्चति ॥ १० ॥

अपि च—

पीत्वा भृश कमलकुड्मलशुक्तिकोषा  
दोषातनीं तिमिरवृष्टिम् अम्फुटन्त ।  
निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिपाद्मन्ति  
विभ्रन्ति कारणगुणानि च मौक्तिकानि ॥ ११ ॥

अपि च—

विकसितमकुचितपुनर्विकस्यरेष्वम्बुजेषु दुर्लक्ष्या ।

पादद्वयस्यार्थ । अहो आश्चर्यम् जगत् ससार छायाच्छलेन अनातपव्याप्तेन प्राट-  
ध्वान्तेन गाटान्धकारेण करालितस्य आच्छादितस्य वपुष स्वशरीरस्य अप्रक्षालित-  
निर्मलम् अक्षालितमपि स्वच्छम् निर्मोकम् कञ्चुकम् उन्मुञ्चति त्यञ्जति । छाया-  
रूपतमोऽतृप्तमिदं जगत् प्रकाशमासादयत् निर्मोकमिव जहातीत्यर्थ । अपहृतिरत्रा-  
लङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १० ॥

पीत्वेति । कमलानां पद्मानां कुड्मलानि क्लिका एव शुक्तिः कोषा मुक्तास्फोटा  
ते दोषातनीं रात्रिममयसङ्गाताम् तिमिरवृष्टिम् अन्धकारम् भृशम् अत्यथम्  
पीत्वा निर्गौर्यं अथ प्रभाते निर्यन्मधुव्रतकदम्बमिपाद्म निर्यद्भ्रमरसमूहव्यानात्  
कारणगुणान् विभ्रन्ति धारयन्ति एव मौक्तिकानि वमन्ति जाग्रिर्भावयन्ति । निशि  
कमलानि यात्र तमन्धकार पीतवन्ति, तान्येव तत्र कोष मुक्ताभाजमापद्य कारण  
गुणानुबन्धित्वास्कायाणां श्यामानि मौक्तिकानीव भ्रमराप्रातर्वमन्तीवेत्युपेक्षा ।  
अत्र कमलकोषा एव मुक्ताशुक्तयः, निशि पीतोऽन्धकार एव जलभरो यो मुक्ता  
भाव प्राप्तः, कारणस्य श्यामतया मौक्तिकानामपि श्यामता, भ्रमरा एव मौक्तिका-  
नीति च यथायथमवसेयम् ॥ ११ ॥

विकसितेति । मधुलिहा भ्रमराणाम् अर्थं आवृत्तिशय विकसितानि पूर्वदिने

रक्तमदीर्घां तत्र प्राचीं शिवाकीं अलङ्कृत करती इ, प्रौढ अन्धकारसे आवृत अपन  
शरीरकी छायाके रूप में यह जगत् अन्धकाररूप अपना निर्मोक त्याग कर रहा है ॥ १० ॥

कमलकोषरूप शुक्तियोंने रात्रिके अन्धकाररूप जगत्को पी लिया और विकसित हुए  
भ्रमरभ्रमुदायरूप मुक्ताको निकाल रहे हैं अन्धकाररूप जलमे वननेवाले भ्रमररूप मुक्ता-  
गण कारणगुणसमान काय हाते हैं—इसलिये काले हैं ॥ ११ ॥

कमल शीघ्रशान्त विकसित सकुचित तथा पुनर्विकसित हो रहे हैं इनमें रौन

कलिका कथयति नूतनविकासिनीर्मधुलिहामर्घ्यं ॥ १२ ॥

( आदित्य<sup>१</sup>मण्डल निर्वर्ण्य । )

कटुभिरपि कठोरचक्रवाकोत्करविरहज्वरशान्तिशीतवीर्यै ।

तिमिरहृतमयं महोभिरञ्जयति जगन्नयनौघमुष्णभानु ॥ १३ ॥

प्रफुल्लानि महुचितानि पुनर्निशि निर्मीलितानि पुनर्वर्त्तमानदिने विकस्वराणि विकासशीलानि यानि कमलानि तेषु दुर्लभ्या परिचेतुमशक्या नूतनविकासिनी अद्यैव प्रथमवार प्रस्फुटिता कलिका कथयति बोधयति । विकसितेषु बहुषु कमलेषु कतिचित् कमलानि दिनत्रयादिकमन्ति कानिचिद्दिनद्वयात् कानि चिच्चाद्य प्रथममेव विकसितानि, तेषु का कलिका नूतनविकासिनी का च प्राचीनेति विवेकस्यान्यथाकर्त्तुमशक्यतया अमरादरातिशयदर्शनमेव विवेकहेतु, यत्र अमराणामाद्राधिक्य भा कलिका प्रथमविकसिता, या च प्राचीनविकाम्या तस्या मन्दमधुगात्, प्रथमविकसितायाश्चाक्षतमधुतया ममधिकादरभावनव मिनि बोध्यम् । 'पूजाया मकरन्देऽपि भवेदर्घ्यस्तथाऽऽदरे' इति विश्व ॥ आर्यावृत्तम् ॥ १२ ॥

कटुभिरपीति । अयम् उष्णभानु मूर्य कटुभि ईपत्तीवर्गै अपि कठोरो दारुण य चक्रवाकोत्कराणां चक्रवाकवृन्दानां विरह तेन जो ज्वर सन्ताप तस्य शान्ती शमने शीतवीर्यै शीतलस्वभावाै महोभि स्फुरिणै तिमिरहृतम् अधकार-त्तपितम् आन्ध्यरूपरोगनष्टञ्च जगताम् नयनौघम् नेत्रच्यम् अञ्जन् अञ्जित कुर्वन् जयति । यथा कटुशीतल पिप्पल्यादिद्रव्य निमिरहृतदृष्टीना जनानाम-वनकर्मणि उपकारक भवति तथैव कटवोऽपीमे भानुभानवो विरहपरामृतचक्रवाकतापशमने दृष्टशीतवीर्यताभाचो लोकलोचनानि तम पराहतानि स्पर्शस्पर्कात् रूपग्रहण-समयांनि कृत्वाऽऽजनवन्तीव कुर्वन् इति भाव । पुष्पिताम्रावृत्तम्—'अयुनि नयुगारेफतो यकारो युनि च नर्चा जरगाश्च पुष्पिताम्रा' इति तद्भक्षणम् ॥ १३ ॥

कलिकायै इं और कीन कमल ? इस बातका निणय अमरो द्वारा किये गये, आदरस हा होत है ॥ १० ॥

( मूयमण्डलको देखकर )

कटु होनेपर भी चक्रवाक ममुदायके कठोर विरह-ज्वरको शान्त करनेमें शीतवीर्य प्रमाणित होनेवाले अपने तेजसे सत्कारवा अस्त्रोंको अक्षित करनेवाले भगवान् मूर्यको चम हो ॥ १३ ॥

तदनुजानीहि मा समिदाहरणाय ।

पशुमेढू —अहं पि रसत्तिअकुमाराण दसणे उक्कण्ठिदोह्मि । ता कद्घेहि कहिं पेक्खामि । [ अहमपि क्षत्रियकुमारयोर्दर्शनं उक्कण्ठितोऽस्मि । तत्कथय कुत्र प्रेक्षे । ]

शुन शेष —( विहस्य । ) नन्वेतावेव यज्ञपाटमुत्तरेण विहारभूमिपु क्रीडत । तदुपेत्य नि शङ्कमपलोक्य ।

( इति निष्क्रान्तौ । )

विष्कम्भक ।

( ततः प्रविशन्तो रामलक्ष्मणौ । )

राम —अहो विचित्रमिदमायतनं सिद्धाश्रमपदं नाम भगवतो गाधिनन्दनस्य ।

अनुजानीहि अनुमन्यस्व । समिदाहरणाय काष्ठान्याहर्तुम् ॥

यज्ञपाटम् यज्ञभूमेत्तरस्यां दिशि । 'पुनपा द्वितीया' इति यज्ञपाटस्य कर्मता । विहारभूमिपु विचरणप्रदेशपु ।

विष्कम्भक 'वृत्तवत्स्वियमागानां कथाशानां निदर्शक' । सङ्घितार्थस्तु विष्कम्भ आदायङ्कस्य दर्शित । मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोनित ॥

स चायं मिश्रविष्कम्भकः, मध्यमोत्तमपात्रप्रयोनितत्वात् ॥

आयतनम् स्थानम् । सिद्धाश्रमपदम् वामनमूर्त्तर्भगवतो हरे स्थानम् । गाधिनन्दनस्य विश्वामित्रस्य ।

अच्छा तो अब मुझे एकड़ी लानेके लिये जानेकी अनुशा दो ।

पशुमेढू—मैं भी क्षत्रिय कुमारोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहा हूँ, अतः यह तो बनाओ कि वे हैं कहाँ ?

शुन शेष—( हसकर ) यही तो यज्ञस्थलकी उत्तर ओर विहारभूमिमें खेल रहे हैं, जाओ निःशङ्क होकर देखो । ( दोनोंका प्रस्थान )

( विष्कम्भक )

( राम और लक्ष्मणका प्रवेश )

राम—अह ! गाधिनन्दनका यह सिद्धाश्रम नामक आश्रम बड़ा विचित्र है ।

१ 'सिद्धाश्रम नाम' इति ।

तत्तादृक्त्वृणपूलकोपनयनञ्जलशाच्चिरद्वेषिभि-

र्मध्या वत्सतरी विहस्य वटुभि सोल्लुण्ठमालभ्यते ।

अप्येव प्रतनूभवत्यतिथिभि सोच्छ्वासनासापुटै

रापीतो मधुपर्कपाकसुरभि प्राग्बशजन्मानिल ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, किलात्रैव

देव कौस्तुभकिञ्जल्कनीलोत्पलमसौ हरि ।

स्थयं किमपि तत्तेपे तप कपटवामन ॥ १५ ॥

नचादृषेति । तत्तादृक् दुःखजनक यत्तृणपूलकोपनयनम् तृणमुष्ट्युपहरणम् तत्रलेशात् चिरद्वेषिभि वटुदिवसधनशत्रुभात्रे ( सर्वदा तामा गवा कृते तैवटुभि तृणपूलकानामानयन क्रियते, तत्र कर्मणि क्लेशेन वदन्तो वटवो गवा द्वेषिण मन्ति ) वटुभि विहस्य प्रसन्नहमिते मेध्या सर्वलक्षणपवित्रा वत्सतरी द्विवर्ष-वयस्का गौ सोल्लुण्ठम् शोषहासम् आलभ्यते मार्यते । 'महोच्छ वा वत्सतरी वद्यात्तितथेय गृहीति स्मृतेगाराधस्य शास्त्रोक्ततया वटवो गवा वध कुर्वन्तीति भाव । अपि एव मधुपर्कपाकसुरभि हूयमानमधुपर्कस्य पारेण सुगन्धित अत एव अतिथिभि सोच्छ्वासनासापुटै अपीत सादर विक्रान्तघ्राणेन्द्रियमाघ्रात प्राग्बशजन्मानिल हविर्गह्वरात् प्रतनूभवति नीयते ॥ आट्पूर्वा लभिमार्णार्थं, 'श्वेत छागमालभेत' इत्यत्र यथा । 'आलम्भपिङ्गविशरघातोन्माधेवधा अपि' इत्य मर । 'प्राग्बश प्राग्घविर्गोहात्' इति च ॥ १४ ॥

देव इति । कौस्तुभो नारायणवत् स्थितो मगिर्विशेष स एव किञ्चनक वसरो यस्य तादृशम् नीलोत्पलम् नीलकमलम् असौ देवो हरि कपटवामन स्पृच्छा गृहीतवामनरूप स्वयं किमपि अनिर्वचनीयरूपमविभाष्यफलं च तप (अन्) तेष अनुष्ठितवान् । अतोऽस्य स्थानस्य महत्त्वम् । इह भगवतोऽतिशयामवालीलोत्पलत्वेन रूपणम्, कौस्तुभस्य च भगवतो हृन्मध्यस्थितत्वादीसिमावाच्च किञ्जल्कत्वेन रूपणं शोध्यम् । हरिणा विविन्नमेण किञ्च वलिच्छदलनार्थं वामनरूपं कृत्वा तत्र

वटुओंको घास गिजाना पटना या इमी द्वेषसे वे उलाहना देकर मेधवत्सतरीका वध करने ह, मधुपर्क राकमे सुगन्धित प्राग्बश वेदीका यह आग अतिथियों द्वारा विस्तारित नासापुटमे पीयमान होनेके कारण क्षीण होती जाती है ॥ १४ ॥

लक्ष्मण—आर्य, यही पर—

कौस्तुभरूप तिनका किञ्जल्क है ऐसे नीलकमलस्वरूप मगवान् विष्णुने कपट वामना वनारमें कुछ अदभुत तप किया था ॥ १५ ॥

इत्थमेतन्महातीर्थमध्यासीना द्विजातय ।

अकुतोभयसचारा षट्कर्माणि प्रयुञ्जते ॥ १६ ॥

( 'अन्यत्र दृष्ट्वा । ) आर्य,

पश्येते पशुबन्धवेदिवलयैरौदुम्बरीदन्तुरै

नित्यव्यञ्जितगृह्यतन्त्रविधयो रम्या गृहस्थाश्रमा ।

यत्रामी गृहमेधिन प्रचलितस्वाराज्यासिंहासना

वैतानेषु कृपीटयोनिषु पुरोडाश षपट्कुर्वते ॥ १७ ॥

सिद्धाश्रमे नपस्तसमिति कथात्रानुसन्धेया । 'किञ्जल्क केसरोऽस्तियाम्', 'खर्वो ह्रस्वश्च वामन' इत्युभयत्रामर ॥ १५ ॥

इत्थमेतदिनि । इत्थम् वामनकृततपस्याधिकरणतया एतत् सिद्धाश्रमनाम महातीर्थम् अतिपावन स्थानमध्यासीना जाश्रिता द्विजातयो ब्राह्मणा अकुतोभय सञ्चारा सर्वतो निर्भयसञ्चारा सत् षट्कर्माणि दानादिषट्शास्त्रोक्तकर्माणि प्रयुञ्जते अनुतिष्ठन्ति । 'दानमध्यापन पितृतर्पणातिथिपूजनम् । होमो बलिश्च विप्राणा षट् कर्माणि दिने दिने' इति । यद्वा यन्नयाननाययनायापनदानप्रति ग्रहा षट् कर्माणि ॥ १६ ॥

पश्यत इति । पश्येत्यस्य वाच्यार्थं कर्म । पशुबन्धो यागभेदस्तस्य वेद्य परिष्कृता भ्रमयस्तासा उल्लेखे समूहे औदुम्बरीदन्तुरै उदुम्बरकाष्ठकृतस्यूणायुक्तैः नित्यव्यञ्जित सततप्रकाशितो गृह्यतन्त्रविधि गृह्योक्तव्रमनाताति येषु तादृशा रम्या गृहस्थाश्रमा सतीति शेषः । यत्र गृहस्थाश्रमेषु अमी गृहमेधिन सद्गारा गृहिण प्रचलितस्वाराज्यासिंहासना प्रचलितम् 'मामयमधिकरिष्यतीति हेतो कर्मिपत स्वर्गराज्यासन वेभ्यस्तादृशा वैतानेषु यज्ञमन्त्रिषु कृपीटयोनिषु अग्निषु षपट्कुर्वते जुह्वति । पशुबन्धयोगे हि पशुबन्धते औदुम्बरीस्पर्शश्च क्रियते, 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इति स्मरणात् । यद्वा औदुम्बरी सर्पिणाकार काष्ठभद्रो य सल्लु

इस प्रकार इस महातीर्थमें रहनेवाले ब्राह्मणगण निर्भय होकर अपने वत्त य यजन याजनादि षट्कर्मका प्रयोग किया करते हैं ॥ १६ ॥

आप देखें—यह है यहाँके रमणीय गृहस्थाश्रम, जिनमें पशुबन्धन बेशक वेष्टन स्वरूप औदुम्बरकाष्ठ उच्च नाचना उपज कर रहे हैं, और जहाँपर स्वयं रात्रिके सिंहासनको प्रचलित कर देनेवाले गृहमेधीण यज्ञिय बह्निमें पुरोडाशका होम किया करते हैं ॥ १७ ॥



राम—( 'सहर्षस्मितम् । ) 'वत्स, इतोऽपि<sup>३</sup> तावत्कृतार्थयावद्वक्षुषी ।  
प्रसन्नपात्रनोऽयमृषीणा समवाय । इदममीषाम्

पूरयित्वेव सर्वाङ्गमतिरिक्ता शिरातती ।

जटारूपेण बिभ्राणै शिरोभिर्गहनं सद ॥ १८ ॥

किं च—

तप कृशतरैरङ्गैः स्रष्टुमाकारितैरिव ।

साय प्रातरमी पुण्यमग्निहोत्रं प्रयुञ्जते ॥ १९ ॥

( इति परिक्रमत । )

पशुबन्धार्थं निस्स्राव्य ध्रियते । 'दन्तुरस्तूत्रते दन्ते तथोक्ततनतेऽपि च' इति मेदिनी  
कार । 'कृपीटयोनिर्ज्वलन' इत्यमर ॥ ३७ ॥

कृतार्थयाव सार्थकीर्तुर्ब । चक्षुषी नयने । प्रसन्नपात्रन सुन्दर पवित्रश्च ।  
समवाय समुदाय ।

पूरयित्विति । अमीषाम् ऋषीणाम् सद सभा गोष्ठीत्यर्थं, सर्वाङ्गम् पूरयित्वा  
व्याप्य इव अतिरिक्ता उर्वरिता शिरातती शिरासमुदयान् जटारूपेण जटास्वरूपेण  
बिभ्राण शिरोभि गहनम् व्याप्तम् अस्तीति शप । एषा मुनीना शिरस्सु वर्त  
माना जटा सर्वाङ्गव्याप्तानु शिरासु अवशिष्टाभि शिराभिरिव घटिता प्रतीयन्त  
इत्यर्थं ॥ १८ ॥

तप कृशनि । स्रष्टुम् निर्मातुम् आकारितै कल्पिताकारै अपूरितैरिव तप कृश  
तरै तपस्यात्तामै अङ्गैः करचरणादिभि उपलब्धिता अमी ऋषयः पुण्यम् पवित्रता  
करम् अग्निहोत्रम् यागविशेषम् प्रयुञ्जते कुर्वते । अन्यत्रापि चित्रलिखितादौ प्रथम  
रेखा निच्यते ततो वणं पूर्यते, तथैवैषा तपकृशानामृषीणामङ्गानि रेखाभिरिव  
रचितानि प्रतिभासन्ति । अस्थिपुञ्जनिभा इमेऽग्निहोत्रमाचरन्तीति भाव ॥ १९ ॥

राम—( हर्षसे हसकर ) वत्स, इधर भी अपनी आखें कृताथ करें, प्रसन्न तथा पावन  
बह है ऋषियों का समुदाय । यह है इनकी गोष्ठा,

सिरा ममुशार्थसे ही इनके सर्वाङ्ग बनाये गये हैं और जो सिरार्थे बचकर हैं उन्हें वे  
जटा रूपमें शिरोदेशमें रखे हुए हैं ॥ १८ ॥

तपस्यासे कृश इनके अङ्ग ऐसे दीखते हैं मानो बनानेके लिये खाके तैयार किये गये  
हों । यह मुनिगण साय-प्रातः पवित्र अग्निहोत्र किया करते हैं ॥ १९ ॥

१ 'सहर्षम्' इति ।

२ 'वत्स, लक्ष्मण' इति ।

३ 'तावत्कृताथय' इति ।

४ 'उपासते' इति ।

लक्ष्मण—( सहासम् । ) आर्य, रमणायमितो वर्तते ।

बालेयतण्डुलविलो<sup>१</sup>पकदर्थिताभि-

रेताभिरग्निशरणेषु सधर्मिणीभि ।

<sup>२</sup>तत्रासहेतुमपि दण्डमुदन्यमान

माघ्रातुमिच्छति मृगे मुनयो हसन्ति ॥ २० ॥

राम—( परिक्रामन्तकौतुकानुरागम् । ) घत्स, <sup>३</sup>इतस्तावत् ।

आर्द्रप्रसूतिरियमङ्गनयज्ञवेदि-

नेदिष्ठमेव हरिणी तृणुते <sup>४</sup>तृण च ।

वत्सीयतापसकुमारकरोपनीत

नीवारनिवृत्तमपत्य<sup>५</sup>मवेक्षते च ॥ २१ ॥

बालेयेति । बलि पूजोपहार तस्मै हित बालेयम् तादृशस्य तण्डुलस्य विलो  
म भक्षणद्वाराऽपहरणेन । कदर्थिताभि क्लेशिताभि सधर्मिणीभि स्त्रीभि अग्नि  
शरणेषु होमगृहेषु तत्रासहेतुम् तण्डुलद्वारापहारिमृगभयजनकतयोदस्यमानम्  
उत्थाप्यमानम् दण्डम् मृगे आघ्रातुमिच्छति सति मुनयो हसन्ति । अग्न्यगारे बलि  
कमगे) तण्डुलयास कृत, आश्चर्यमृगास्तामक्षयन्ति, तेषामनया चेष्टया मुनि  
रक्षणा कदर्थिता सयो मृगास्तान् भीषयितुं दण्डमुदस्यति, मृगाश्च भयापरि  
चिततया तमपि दण्डमाघ्रातुमिच्छन्ति, तदिदं सर्वमालोकमाना मुनयो हसन्तीति  
भाव । स्वभावोक्तिरलंकार ॥ २० ॥

आर्द्रप्रसूतिरिति । आर्द्रप्रसूति अभिनवप्रसूता इयम् हरिणी अङ्गनयज्ञवेदिनेदिष्ठम्  
अजिरस्थितयज्ञवेदिसन्निहितम् पत्र तृणम् तृणुते कल्पयति, वत्सीया वत्सहिता

लक्ष्मण—( हसकर ) इधर बडा रमणाय हे ।

अग्निगृहमें बलिके लिये रक्षे गये तण्डुलको इरिग खाना है इमपर मुनिलियों  
आक्षर उनको डरानेके लिये दण्ड उठाती है, परन्तु हरिण इतने हिलेमिले हैं कि व  
उम दण्डको सूधने की इच्छा करने लगते हैं, जिते देवकर मुनिगा उन मृगोंका डिठार  
पर हस देते हैं ॥ २० ॥

राम—( चलते हुए कौतुक तथा प्रेमसे ) अङ्गनमें बसमान यज्ञवेदीके समीप  
गा नर व्याज हुए हरिणी चर रही है, उसके बच्चे जिते तपस्वी कुमार अपने बाधों  
नोवार खिन्नाते हैं उन्हें बह स्वस्थ मावमें देग भी रही है ॥ २१ ॥

१ 'विलेप' इति ।

२ 'उत्सास' इति ।

३ 'इदं तावत्' इति ।

४ 'तृणानि' इति ।

५ 'अपेक्षते' इति ।

अपि च—

विश्वक्तपोधनकुमारसमर्प्यमाण

श्यामाकतण्डुलहृता च पिपीलिकानाम् ।

श्रेणीभिराश्रमपथा प्रथमानचित्र-

पत्रावलीवलयिनो मुदमुद्रहन्ति ॥ २० ॥

<sup>१</sup>लक्ष्मण—अहो पञ्जानामप्यपत्यजात्सत्यम् । अहो शिशूनामपि सत्कर्मतान्छीलयम् ।

<sup>२</sup>राम—( अन्यतोऽवलोक्य । )

मुनिविनियोगविलूनप्ररूढमृदुशाद्वलानि बर्होषि ।

ये तापमकुमाग तपस्विजनशाला तेषां कस्य हस्ते उपनीते समर्पिते नीवारे धान्यप्रिशेषे निर्वृतम् तृप्तम् अपयम् शालकम् हरिणम् अवेक्षते पश्यति च । सद्यः प्रसूता हरिणी दूरगमनाच्छमतया समीपस्थाद्गनत्रेदिप्ररूढ नृणमभ्यवहरति, तथा कुर्वत्येव च वामप्रियतापसकुमाराहृतनीगरलाभचृप्त स्तमपय प्रेक्षते चेति भावः ॥

विश्वगिति । आश्रमपथा तपोवनमार्गा तपोधना ऋषयस्तेषां कुमारैः बालैः समर्प्यमाणान् दीयमानान् श्यामान्तण्डुलकणान् तदारभतण्डुलाशान् हरन्ति तासाम् पिपीलिकानाम् श्रेणीभिः विश्वक् समन्तात् प्रथमानां विस्तार गच्छन्त्य पत्रावत्य रचनाविशेषास्तासां बल्यां सत्येषु ते तथोक्ता मुदम् दर्शका नामानन्दम् उद्रहन्ति प्रादुभासयन्ति । आश्रममार्गेण मुनिकुमारोपहतश्यामाकतण्डुलकणहारिपिपीलिकातति पत्रावलीरिव विरचयन्ती दर्शकानानन्दयति । वसन्ततिलकमेव वृत्तम् । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इत्यमरः ॥२२॥

अपत्यजात्सत्यम्—सन्ततिस्नेहः । सत्कर्मताच्छील्यम् शुभकर्मप्रवृत्तिः ॥

मुनिविनियोगेति । अयं गोरुर्णतर्णक मृगशावक उपकण्ठकच्छेषु समीपस्थित-

चारोन्तर ऋषि कुमार श्यामाकतण्डुल दरह ई और चीटियाँ उन्हें ल जा रही हैं उतना पक्षियों विलीण पत्रावलीका बलयमा दाखनी हैं जो आनन्द प्रदान कर रही हैं ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—अहा ! पशुओंमें भी बड़ी अपत्यप्रोति हुआ करता है, और शिशुओंमें भी मन्वर्ग प्रवृत्ति होती है ।

राम—( दमरी और देवकर ) मुनिकी आगासे तिनके नये कोमलपत्र खण्डित कर

१ 'लक्ष्मण'—( इत्या ) इति । २ 'प्रसव' इति । ३ 'राम' इति वचनित्तरित ।

गोकर्णतर्णकोऽय तर्णोत्युपकण्ठकच्छेपु ॥ २३ ॥

( १ इति परिक्रामत । )

लक्ष्मण —आर्य,

इयमेभिरालवालै पदे पदे ग्रन्थिलासु कुल्यासु ।

तीव्रतमा जलवेणि प्रवहति विध्रम्य विध्रम्य ॥ २४ ॥

राम —वत्स, साधु दृष्टम् ।

आलवालबलयेषु भूरुहा मासलस्तिमितमन्तरान्तरा ।

नदीतीरेषु सुनीना विनियोगार्थं यत्कर्मणि व्यग्रहाराथं, त्रिलुनानि उत्पादितानि पुन प्ररुटानि च मृदुशाद्वलानि कोमलहरितानि वर्हापि कुशान् तर्णोति स्यादिति । ‘गोर्णोऽश्वत्तरेऽपि म्यान्मृगमर्पविशेषो’, ‘तर्णको बालक समौ’ इत्युभय-  
त्रामर ॥ २३ ॥

‘इयमेभिरिति । इयम् तीव्रतमा अतिवगप्रती जलनि’ वेगीरूप जलम् जल-  
प्रवाह आलवाले पयोदानाय वृक्षाधोदेश निर्मिते स्पल पद पद स्थाने स्थाने  
ग्रन्थिलासु स्रोतोविघ्नकरीषु पार्वतीषु कुल्यासु वृत्रिममरिषु विध्रम्य विध्रम्य  
प्रवहति सञ्चरति । प्रवाहस्य वगवत्त्वोऽपि म य म य स्थितैरालवाले प्रतिरुद्ध  
सञ्चारतया मदसञ्चारिता उर्ण्यत । जलस्य सूक्ष्मप्रवाहतया स्रोतोविनाशायक  
कुटिलवेगतया च उर्ण्यरूपवत् । ‘कुल्याऽख्या त्रिषया सरित्’ इत्यमर ॥  
आयावृत्तम् ॥ २४ ॥

आलवालेति । भूरुहाम् वृक्षागाम् आलवालबलयेषु वृक्षमूलस्थनलाधारेषु  
अन्तरा अन्तरा मध्ये मये मामलस्तिमितम् प्रचुर निश्चलत्, पुन पवम्

लिय गवे इ ऐसे कुशों को जलप्राय देगके पाम बइ हरिण विशेषज्ञ बालक सानन्द  
चर रहा है । २३ ॥

[ शीतो चञ्चल इ ]

लक्ष्मण—आर्य, पग पगपर आलवालैसे ग्रन्थियुक्त कुल्यावर्षोंमें पात्रागामिना चोकर मा  
यह जलधारा एक रककर प्रवाहित होनी है ॥ २४ ॥

राम—वत्स, तुमने ठीक देखा है,

कुशोंके आलवालैमें पानी गम्भार तथा मन्दप्रवाह दीखता है परन्तु वहा पानी

१ ‘इत्युभौ’ इति । २ तीव्रतरा जलवेणा’ इति । ३ ‘दृष्टम् । अहो’ इति ।

केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुर सारणीपु पुनरम्बु दृश्यते ॥ २५ ॥

तदेहि । 'भगवती कौशिकीमालोकयन्तौ मुहूर्त्तमात्रमात्मान पुनी-  
वहे । ( परिक्रम्यावलोक्य च । ) क्वचित्साक्रामिकोऽपि विशेषो नैसर्गिक-  
मतिशेते । 'तथा हि ।

जडस्वच्छस्वादुप्रकृतिरुपहृतेन्द्रियगणो

गुणो यद्यप्यासामयमयुतसिद्धो विजयते ।

तथाप्युत्कर्षाय 'स्फुरति सरितामाश्रमसदा-

मिदानीं वानीरद्रुमकुसुमजन्मा परिमल ॥ २६ ॥

मारणीपु जलप्रवाहिकासु केरलीचिकुरभङ्गिभङ्गुरम् केरलदेशस्थवनिताकेशपाश  
कुटिलम् अम्बु दृश्यते । 'जलबाल स्थितो मूले घृष्टस्य जलधारके' इत्यमर ॥२५॥

भगवती कौशिकीम्, तदारया पुण्या नदीम् । मुहूर्त्तम् क्षणम् । पुनीवहे  
पवित्रीशुर्व । साङ्क्रामिक ससर्गजन्य । विशेष गुणोदय । नैसर्गिकम् स्वा  
भाविकम् । अतिशेते अतिश्रामति । स्वाभाविकगुणापेक्षयापि ससर्गजन्यो गुणो  
मुष्यता भजत इत्यर्थ ।

जडेति । जडा शीता स्वच्छा निर्मला स्वादु सुस्वादा प्रकृति स्वभावो यस्य  
तथाभूत उपहृतेन्द्रियगण आरुष्टकरणवर्ग, अयम् अयुतसिद्ध गुणान्तरा  
मिश्रणजन्मा स्वाभाविक आसाम् सरिता गुण यद्यपि विजयते सर्वोत्कर्षेण  
वर्तते तथापि इदानीम् आश्रमसदाम् आश्रमवासिनाम् उत्कर्षाय परितोपाय  
वानीरद्रुमाणा नदीतीरवर्तिना वेतसतरूणा कुसुमेभ्य पुष्पेभ्यो जन्म यस्य  
तादृश परिमल सुगन्ध स्फुरति प्रसरति । यद्यप्यासा नदीना स्वाभाविकी  
स्वच्छशीतलस्वादुजलता प्रसिद्धा, तथापि सम्प्रति तटस्थवानीरकुसुमप्रभव परि

नालिवोर्मे पङ्चकर केरला स्त्रियोके केशपाशो तरह दडा मेडा दीख पडता हे ॥ २५ ॥

चलो थोडी देर भगवती कौशिकीके दर्शनोसे अपनेको पवित्र करलें । ( चलकर तथा  
देवकर ) कहीं कहीं सक्रमण करके होनेवाली विशेषतायें स्वाभाविक गुणको जात लेती हैं ।

यद्यपि जलका स्वाभाविक शीत स्वच्छ सुरवाद्गुण इन्द्रियोंको आरुष्ट करनेवाला है  
तथापि आश्रमवाहिनी सरिताओंका यह वानीरकुसुमजन्मा परिमल उनके उत्कर्षको बढ़ा  
रहा है ॥ २६ ॥

१ 'कौशिकीमालोकयन्तौ मुहूर्त्तम्' इति । २ 'पुनीवहे' इति ।

३ 'नैसर्गिकमधिकम्' इति । ४ 'पद्य' इति । ५ 'श्रवति' इति ।

लक्ष्मण—आर्य, पुरस्तादनुकौशिकीतीरमालोक्य ।

तैर्मेघाजननप्रतप्रणयिभिव्यूहेर्वट्टनामिर्यं ,

सिका नित्यवसन्तविभ्रमवती रम्या पलाशावली ।

पतस्या हरिणारिपाणिजसृग्निश्रेणिश्रिय कोरका

गोपायन्ति तपोवन वनकरिक्रीडाकराकर्षणात् ॥ २७ ॥

( नेपथ्ये । )

मल समीपस्थाश्रमवासिना विशेषवृक्षये जायत इत्याशयः । ‘शीतवानीरवञ्जुला’ इत्यमरः । ‘विमर्दोऽथे परिमलो गन्धमात्रेऽपि दृश्यते’ इति विश्वः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

पुरस्तात् अप्रत । अनुकौशिकीतीरम् कौशिकीनद्यास्तीरदेशसमीपे ।

नेर्नेपथि । मेघा धारणप्रती बुद्धिस्तस्या जननाय उत्पादनाय यत् व्रतम् नियम पलाशमूले जलदानरूपस्तत्प्रगथिभिस्तदासक्तै वट्टना मुनिवालकाना व्यूहे समुदये मिका जलैराद्रीकृता नित्यवसन्तविभ्रमप्रती सदावासितिक विलामधारिणी इय रम्या सुदरतमा पलाशावली दृश्यतामिति शेषः, पतस्या पलाशावल्या हरिणारे सिंहस्य पाणिजा नसा एव सृग्निश्रेण्य बहुशावलय तामा श्रीरिव श्रीर्येपा ते तथोक्ता कोरका कटिका वनकरिभि वनगजै क्रीडया अनायासचेष्टया करै शुण्डादण्डै आकर्षणात् नमनात् लयनाच्च तपोवन रचन्ति । मेघाजननाय छन्दोगत्रयधारिण पलाशमूल सिद्धन्तीति वैदिक प्रसिद्ध्या तस्य व्रतस्य पूर्ये मुनिवालकै सिक्तमूला पलाशप्रती सततानुभूय मानवसन्तविलामा नित्यकुसुमिता च दृश्यते, किञ्चास्या पलाशवन्या सिंहनखा कुशाकाराणि फुल्लानि कुसुमानि वनकरिणा हृदयेषु सिंहनखभ्रममुत्पादयन्ति तद्भयजननद्वारा वनकरिकराकर्षणापदस्तपोवन रचन्तीति भावः । ‘व्यूहस्तु बल-विम्यासे निर्मले वृन्दतर्कयो’, ‘अङ्कुशोऽस्त्री सृगि स्त्रियाम्’, ‘कलिका कोरक पुमान्’ इति सर्वत्र विश्वामरौ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २७ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आगेकी ओर कौशिकीके तटमें देखो—

बुद्धिबर्धन निमित्तक व्रतमें सज्जन बट्टओंका समुदाय सींच-सींचकर इस पलाशवनको नित्य वसन्त विभ्रमशाली बनाये रहता है, इस पलाशवनमें सिंहक नखकी तरह दोखने वाली पलाशकलिकार्ये वनगजोंके आकर्षणमें इस वनकी रक्षा किया करती हैं ॥ २७ ॥

( नेपथ्यमें )

रामभद्र, त्रियच्चिरमजलोकनेन कृतार्थाक्रियन्ते तपोवनविहारभूमय । सप्रति हि

परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजूषि रुचा पति

किमपि शमिन सावित्राख्य रहस्यमुपासते ।

गुरुरयमनुष्ठास्यन्माध्यन्दिनीं सवनक्रिया-

मिह मखविधौ नेदीयास भयन्तमपेक्षते ॥ २८ ॥

राम — ( ३ अश्रुतमभिनीय मानुरागम् । )

धारास्त्रीनभिपुण्वते विदधते वन्यै शरीरस्थिता

त्रियच्चिरम् क्रियन्त काल यावत् । अवलोकनेन दर्शनेन । कृतार्थाक्रियन्ते सनाध्यन्ते । तपोवनविहारभूमय तपोवनचत्वरणि ।

परिणमवनीनि । रुचापति प्रभाकर ज्योतिर्वृत्त्या तेजोरूपेण यजूषि यजुर्वेदान् परिणमयति परिणतानि करोति, यजूरूप धारयति, मध्याह्ने सूर्यस्य यजूरूप तथेत्थमुक्तम्, तथाच पुराण उक्तम्—‘ऋद्धमय प्रातरादित्यो मध्याह्ने च यजुर्मय । साय साममयश्चेति त्रयीमय उदाहृत’ । शमिन शमनिष्ठा मुनय किमपि अनिर्वचनीय सावित्रारय सावित्रनामधेय रहस्य तत्त्वम् उपासते । अयं गुरु आचार्यो विश्वामित्र माध्यन्दिनी मध्याह्नकालिकीं सवनक्रियाम् स्नान विधिम् अनुष्ठास्यन् करिष्यन् इह मखविधौ यन्नानुष्ठाने भयन्त नेदीयामम् निकटवर्त्तिनम् अपेक्षते इच्छति । स्नानाय प्रस्थितो गुरुर्मग्नराघवे भयन्त यदि समीपे स्थापयितुमिच्छतीत्यर्थ, अतश्च विहारभूमिविलोकने निलम्ब मा कृथा इत्याशय ॥ ‘सप्तन त्वचरे स्नाने’ ‘रहस्तत्त्वेऽस्मै गुह्ये’ इत्युभयत्र विश्व ॥ हरिणी-वृत्त, तल्लक्षणं यथा ‘नसमरसलाग पङ्क्वेदहैर्हैर्हरिणी मता’ इति ॥ २८ ॥

वारांशानि ( धन्या इमे मुनय ) त्रीन् वारान् त्रिधा अभिपुण्वते

रामभद्र, तपोवनका विहारभूमियोंका कितना दूर तक आप देखन रहेंगे ? अब सूर्य अपनी किरणोंको यजुवृत्तिमें परिणत कर रहे हैं—अर्थात् मध्याह्न हो रहा है, शमीजन सावित्री मात्रका जप कर रहे हैं, हमारे गुरुदेव माध्यन्दिन यज्ञको करनेके लिये यज्ञ भूमिमें आपको उपस्थित देखना चाहते हैं ॥ २८ ॥

१ ‘यमिन’ इति । २ ‘अधिष्ठास्यन्’ इति ।

३ ‘अश्रुतिम्’ इति । ४ ‘त्री वारान्’ इति ।

ऐणेय्या त्वचि मविशन्ति प्रसते चापि त्वचस्तारवी ।  
 तत्पश्यन्ति च धाम नाभिपततो यच्चर्मणे चक्षुपी  
 धन्याना विरजस्तमा<sup>२</sup> भगवती चर्येयमाह्लादते ॥ २९ ॥  
 ( नेपथ्ये पुनस्तदेव<sup>३</sup> पठ्यते । )

राम—( श्रुत्वा मयध्रममूष्वमवलोक्य च । ) कथं गगनमध्यमध्यारूढो  
 निदाघदीधिति । वत्स, तदेहि । यज्ञवाटमभिष्टाय क्रमेण कृताहि-  
 कस्य भगवत कांशिकस्य प्रत्यनन्तरीभवाय ।  
 ( इति परिक्रामत । )

स्नान्ति, प्रये वनजाते फलमूलादिभिः शरीरस्थितौ प्राणयात्रा विदधते  
 कुर्वत, ऐणेय्या त्वचि मृगचर्मणि मविशन्ति स्वपन्ति, अपिच तारवी त्वच  
 तरवत्कलानि वसते परिदधत । यत् धाम ब्रह्ममय तेन चर्मणे चर्मरचिते  
 लाम्बिक चक्षुपी नाभिपतत नालोक्यत, तत् धाम पश्यन्ति साक्षात्पुंसति,  
 अत धन्याना पुण्यामनामेपामृपीणाम् भगवती सर्वनामार्थ्यशालिनी विरजस्तमा  
 रनस्तमोभ्यामस्पृष्टा सात्त्विकी चया अनुष्ठानत्रिभिः आह्लादते दर्शकजनमनासि  
 सुखयतीत्यर्थ ॥ २९ ॥

गगनमध्यमध्यारूढ—आकाशमध्यमागत । निदाघदीधिति—उष्णकर ।  
 यज्ञवाटम् यागाग्निम् यज्ञमार्गं वा, अधिष्टाय—आश्रित्य । कृताहिकस्य—कृतनि  
 कृत्यस्य । प्रत्यनन्तरीभवाव—सन्निहितौ भवाव ॥

राम ( अनशुनांकः अभिनय करके ) तान वार स्नान करत इ वनक वन्दमूलास  
 शरीरयात्रा चलाते इ, मृगचर्मपर मोत तथा वृक्षता त्वचा पहनते इ, चर्मचक्षुमाते नहीं  
 दीपनेवाले ब्रह्मपत्रा प्रत्यक्ष करत इ, इम तरहका दिनचर्या कि हा रजोगुणभद्रमागुणम  
 हान धय पुरुषोका हा हुआ करती है ॥ २९ ॥

( नेपथ्यमें फिर वहा वान दुःख हो जाता है )

राम—( सुनकर धरदाहृदने साथ ऊपर देखकर ) क्यों, भगवान् सुय आकाशके  
 मध्यमें आ गये \* बाद चने, यज्ञरथमें आहिकृत्य मग्न्य करके बैठे हुए भगवान्  
 की आँक्रे ममीर चले ।

( नेनों आते हैं )

१ 'त्वच तारवाम्' इति । २ 'विरजस्तमा' इति । ३ 'तथैव' इति ।

४ 'गगनमध्यारूढ', 'गगनमध्यमारूढ' इति । ५ 'वत्स' इति कचिन्नास्ति ।



लक्ष्मण — ( सर्वतो दृष्ट्वा । ) आर्य,

उद्दामद्युमणिद्युतिव्यतिकरप्रक्रीडदकौपल-

ज्वालाजालजटालजाङ्गलतटीनिष्कूजकोयष्टय ।

भौमोष्मप्लवमान<sup>१</sup>सूर्यकिरणरूपप्रकाशा दृशो-

राविष्कर्म समापयन्ति धिगमूर्मध्याह्नशून्या दिश ॥३०॥

अन्तिकतमा चेय यज्ञवाटभूमि । तदेतदेव न्यग्रोधच्छायामण्डप-

उत्तमद्युमणि । उद्दामा प्रपला या द्युमणिद्युति सूर्यप्रभा तस्मा व्यतिकरेण सम्प्रन्धेन प्रक्रीडन् ज्वलन् य अकौपल सूर्यकान्तमगिस्तस्य ज्वालाजालेन तेज समूहेन जटालासु व्यासासु जाङ्गलतटीषु निर्जलभूमिषु निष्कूजा भ्रशब्दा कोयष्टय टिट्टिभा यासु तास्तथोक्ता, उद्दण्डसूर्यकरसम्बन्धप्रज्वलदकौपलज्वालाव्याप्तनिर्जलदेशमूकीभूतटिट्टिभा इत्यर्थ । किञ्च भौमे पार्थिवे प्लवमाना सन्तरन्तो ये सूर्य किरणास्तै क्रूरप्रकाशा पार्थिवोष्मसमेधितसूर्यकरसम्बन्धादतिक्रूरप्रकाशा अमूर्दिश दृशो मम नयनयो आविष्कर्म आविष्कार समापयन्ति, दृग्गच्छि प्रति व्रजन्ति, अमू मयाह्नशून्या दिशो धिक् ? मध्याह्ने क्रूरप्रकाशशालिनीषु दिशा स्वानपभयाज्जनसञ्चाराभावेन तासा शून्यतयाऽत्र धिक्कार उक्त । सर्वास्वपि दिशासु सूर्यकरातिशयप्रकाशसमिद्धाकौपलप्रभासु सतीषु जाङ्गलभूमिषु टिट्टिभा मूकीभूय समय थापयन्ति, दृग्सांमर्ध्यमपेत, लोकसञ्चारश्चातपभयादवसितप्राय स्तदमूर्मध्याह्नसूर्यकरातपेन शून्यता गमिता दिशो धिगिति भाव । 'द्युमणिस्तरणिमित्र' इत्यमर । 'जाङ्गल निर्जलस्थानम्' इति धरणि ॥ ३० ॥

अन्तिकतमा अतिसमीपस्था । यज्ञवाटभूमि—यज्ञाग्निवेदि । न्यग्रोधच्छाया

लक्ष्मण—( चारों ओर दत्तकर ) आर्य,

उद्दाम सूर्यकर सम्पक्के चमकनेवाले सूर्यकान्त उपलोकौ ज्वालाजालसे व्याप्त निर्जल प्रदेशोंमें टिट्टिम पक्षिगण नि शब्द बैठे हुए हैं और पृथ्वीकी गर्मीसे बड़े हुए सूर्यकरोंसे क्रूर प्रकाशवाली दिशाओं मयाह्नमें शून्यता प्रतीत होकर दृष्टिशक्तिका लोप सी कर रही है ॥ ३० ॥

समीपमें ही तो यह जाला है । अन इसी न्यग्रोधवृक्षकी छायावाले मण्डपमें बैठकर

१ 'निरूप्य' इति । २ 'सूरकिरण' इति ।

३ 'यज्ञभूमि । तदेतन्न्यग्रोध' इति ।

'मध्यासीना ऋत्विज' प्रत्यवेक्षामहे । गलितयौवने पुनरहनि भगन्त  
द्रव्याय ।

राम — एवमस्तु ।

( इति परिक्रम्य नाट्येनोपविशत । )

लक्ष्मण — ( पार्वतोऽवलोक्य । ) आर्य,

मध्येऽयोम कीडयित्वा मयूखान्भानोर्विम्वे लम्पमाने क्रमेण ।

स्वैर स्वैरं मूलत पादपाना पश्य च्छाया कश्चिदाकर्षतीव ॥ ३१ ॥

राम — ( समन्तादवलोक्य । ) वत्स, मध्यन्दिनमतिशान्तमिति दिन-  
मप्यतिक्रान्तमेव । पश्य ।

गगनशिखरमुदयाद्रेरधिरूढा कष्टमर्करथहरय ।

मण्डपम् न्यग्रोधतस्तलम् । अध्यासीना अत्रिता । ऋविज — यज्ञाधिकृतान् ।  
प्रत्यवेक्षावहे — परयाव ।

मध्येऽयोमेति । मध्येऽयोम आकाशमध्ये मयूखान् स्वकरान् कीडयित्वा संद्वार्य  
भानो सूर्यस्य विम्बे मण्डले क्रमेण लम्पमाने पश्चिमाचलगामिनि सति ( कश्चि  
जन ) पादपाना वृक्षागा छाया मूलत मूलदशात् स्वैरम् स्वैरम् यथेच्छम् मन्द  
मन्द आकर्षतीव आहृत्य नयतीव । इति पश्य अवलोकय । 'मातौ गौ चेच्छा  
लिनी वेद्लोकं' इति लक्षिता मालिन्यत्र वृत्तम् ॥ ३१ ॥

मध्यदिनम् मध्याह्न । अतिक्रान्तम् व्यतीतम् ।

गगननि । उदयाद्रे उदयाचलात् गगनशिखरम् अन्तरिक्षस्योर्ध्वदेशम् कष्टम्  
क्लेशपूर्वकम् अधिरूढा आरूढवन्तोऽर्करथहरय सूर्यरथाश्वा अधुना ( ततो

ऋत्विजोंकी रखवाला करते हैं, दिनके डलनेपर कौशिकके दशन करेंगे ॥

राम—ऐसा ही होवे ।

( चलकर दोनों बैठते हैं )

लक्ष्मण—( पार्वतदश देखकर ) आर्य, आकाशके मध्यमें किरणोंसे खेलकर क्रमश  
सूर्य-विम्बके लम्बिन होनेपर वृक्षोंके नीचेसे कोई छायाको धारे-धारे खींच सा रहा है ॥३१॥

राम—( चारों ओर देखकर ) मध्याह्न बीत गया तो दिन भी बान ही गया । देखो—  
जो सूर्य-बिम्बके अक्ष तन्व्याचलने गगन शिखरपर बड़ी कठिनान्धमे चढ सके थे, वही

अस्तमहीवरमधुना झटिति सुखेनावरोहन्ति ॥ ३० ॥

लक्ष्मण—आर्य, नूनमद्य रक्षासि परापति यन्ति । यद्यमस्वर-  
वेदिकासनिधान ते शुन शेषमुखेन भगवानुपाध्याय प्रशास्ति ।

राम—( सरोपाहकारम् । ) वत्स, यद्येव स्यात्

कल्पान्तरुर्गशकृतान्तभयकरामे

निष्प्रघ्नत क्रतुविघातकृताममीषाम् ।

नीराक्षसा वसुमतीमपि कर्तुमद्य

पुण्याहमङ्गलमिदं धनुरादधातु ॥ ३३ ॥

व्योमशिखरात्) झटिति सुखेन अवलक्षण अस्तमहीरहम् अस्ताचलम् अवरो  
हन्ति । उपरोहणस्य वलेशसाध्यत्वेऽपि अधोऽरोहणस्य सुखसाध्यतया ये  
मूर्याश्च उदयाचलाद् गगनशिखरारोहणे वलेशमापुस्त एवाधुनागगनशिखरात्ततोऽ-  
स्ताचलावरोहणमनायासेनावरन्तीति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

परापतिष्वार्यं यज्ञरिपुमुपादयितुमागमिष्यन्ति । यत् वस्मात् । अश्वरवदि-  
कासनिधानम् अधरवेदिपार्श्वेऽनस्थानम् । शुन शेषमुखेन तदद्वारा । प्रशास्ति  
आदिशन्ति, यतो यन्वेदिपार्श्वे विश्वामित्रस्वदीयामुपस्थिति कामयते तन्मन्ये  
तेन राक्षसानामागमा सम्भाव्यते, न च तदनुमानममद्गत सम्भवति, तदवश्यमद्य  
ते राक्षसा समागमिष्यन्तीति मम विश्वास इति भावः ॥

यद्येव स्यात् यदि राक्षसा आगच्छेद्यु ।

कथा त्वि । कल्पान्ते प्रलयकाले कर्गशोऽतिभीषणो य कृतान्तो यमस्तद्बृह  
भयङ्करम् भीषणम्, क्रतुविघातकृतान् यज्ञरिपुसम्पानाम् निष्प्रघ्नत विनाशयत  
मे मम रामस्यद् धनु अद्य वसुमतीं पृथ्वीं नीराक्षसाम् समाप्तमकल्याणुधाना  
वत्तु पुण्याहमङ्गले पवित्रे दिने स्वकर्त्तव्यप्रारम्भम् आदधातु करोतु । यदि राक्षसा  
आगमिष्यन्ति, मनाहमपि राक्षसानाशप्रारम्भ करिष्यामीति भावः ॥ ३३ ॥

सूर्यरथाश्च इतः समव आनिनासि अस्ताचलपर उत्तर रहे ई ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, निश्चय आज राक्षस आवेग क्यों कि शुन शेषके द्वारा भगवान्  
कौशिक आज आपको अश्ववेदीके पास रहनेका आदेश दिया है ।

राम—( काप तवा अहङ्कारसे ) वत्स, यदि ऐसा हुआ, तब,

कल्पान्तकालमें कृपित यमराजकी तरह भयङ्कर तथा यज्ञ विघ्नकारा राक्षसोंको पीस  
देनेवाला यह मेरा धनुष हम पृथ्वीको नीराक्षम करनेका पुण्याह मङ्गल प्रारम्भ करे ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण — ( विहस्य । ) कथं रजनीचरचक्र<sup>१</sup> विनाशोत्कण्ठाप्रसस्थु-  
लमार्यहृदयमदीर्घदर्शिन<sup>२</sup> भगवन्तं कौशिकमपि सभाप्रयति ।

अविद्यावीजविध्वंससाध्यमार्गेण चक्षुषा ।

कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमर्वाविशत् ॥ ३४ ॥

राम — किमुच्यते<sup>३</sup> तत्रभवान्विश्वामित्र ।

प्रज्ञातप्रहृतस्वोऽपि स्वर्गायैरेष खेलति ।

गृहस्थसमयाचारप्रज्ञान्तैः सप्ततन्तुभिः ॥ ३५ ॥

रजनीचरागाम् राक्षसानाम्, चक्रस्य समूहस्य, विनाशाय या उत्कण्ठा  
प्रयत्ना, तथा विमस्थुलम् विवशम्, आर्यहृदयम् तत्र चेत, अदीर्घदर्शिनम् अपुर-  
शोचिनम् । अयम् भाव — यदि भवान् राक्षसविनाशार्थमुत्कण्ठते तदा मन्ये भवान्  
विश्वामित्रमदीर्घदर्शिनमाह, यत् स हि राक्षसनाश भवता आर्यं निश्चयेन मनुते, तत्  
स्तत्रोत्कण्ठाप्रनाशनं तद्दीर्घदर्शिताप्रयायकम्, तद्दीर्घदर्शितानिश्वासे राक्षसवधस्य  
तद्विरवामानुसारेणासिद्धकल्पतया तद्विषय उत्कण्ठाया अनौचित्यादिति भावः ॥

अविद्येति । अयं विश्वामित्र अविद्यावर्जविषयात् अविद्यारूपानानकारणस्य  
ज्ञानं विनादानान् आर्पणं चक्षुषा ध्यानदृष्ट्या भूतभविष्यन्तौ नाम कालौ वर्त-  
मानं नाम कालम् अर्वाविशत् प्रवेशितवान् । तावपि कालभेदा वर्तमानकालमिव  
प्रयत्नमीक्षमाणं प्रत्यक्षविषयत्राविदोपात्तयोरपि घत्तमानकाल एव प्रवशं कारित-  
वानिति भावः ॥ ३४ ॥

प्रज्ञातेति । प्रज्ञातप्रहृतस्य आम्नादितनज्ञानत्वावबोधोऽपि एव विश्वामित्र  
स्वर्गायै स्वर्गमाधनीभूते गृहस्थसमयाचारप्रज्ञान्तं गृहस्थजनोचिताचारभासै  
गृहस्थजनसाध्यै सप्ततन्तुभिः यज्ञैः खेलति ऋडति । आमतत्त्वविदा मुक्त्तया

लक्ष्मण — ( हसकर ) राक्षसोंका मारनका उत्कण्ठाम तरल आपका यं हृदय भगवान्  
कौशिकने अदूरदर्शं समझ रहा है ।

अविद्या-वीजको विनष्ट करके आपचक्षुक मनारे भगवान् कौशिकने भूत भविष्यकालको  
वर्तमानमें ही समाविष्ट कर दिया है ॥ ३४ ॥

राम — पूज्य विश्वामित्रके विषयमें क्या कहना है ?

मज्ञानरत्नका ज्ञान प्राप्त करके भा यह कौशिक स्वयंसाधक तथा गृहस्थोचिताचार प्राप्त  
यज्ञोंसे खेल कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

१ 'चक्र' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'भगवन्तम्' इति क्वचिन्नास्ति ।

३ 'वत्स, किमुच्यते तत्रभवान्कौशिक । तथा हि' इति ।

अपि च—

आर्द्राकृतौ विनयनम्रमहेन्द्रमौलि-

मन्दारदाममकरन्दरसैरिवायम् ।

प्रक्रान्तकुण्डलितनूतनभूतसर्ग

खंडव चरितमद्भुतमातवान् ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण — ( पुरोऽवलोक्य । 'महर्षम् । )

'आभिरध्वरचर्याभि' श्रौतमर्थं कृतार्थयन् ।

अथे कुलपति सोऽयमित एवाभिवर्तते ॥ ३७ ॥

स्वर्गसाधकयज्ञप्रवृत्तिवृथा, तत्र हि अनामविदो गृहस्थाः प्रवर्तेरन्, तेषामेव स्वर्गो  
माभिलाषर्षचियात्, नहि मुक्त्यधिकारिणः स्वर्गं प्रवृत्तिरचिता, आमज्ञानितया  
मोक्षाधिभूतस्यापि विरवामिदस्येय यागप्रवृत्तिः क्रीडा एव, तत्ताभ्यस्वर्गरूपफलनि-  
राकाङ्क्षत्वादिनि भावः ॥ ३५ ॥

आर्द्राकृत इति । विनयेन पादप्रगिपातेन नम्रस्य विनयस्य महेन्द्रस्य मौलि  
मन्दारदाम्ना शिरस्थितमन्दारलघुसुममालाया रसा मकरन्दा तै आर्द्राकृत  
शेय प्रापित इव अयम् विश्वामित्रः प्रक्रान्तकुण्डलितः पूर्वं प्रक्रान्तः प्रारब्धः पश्चात्  
कुण्डलितः प्रतिबद्धः समाह्वनः नूतनभूतसर्गः नवीनसृष्टियेन तथामूतः सन् अद्भुत  
विस्मयावहम् त्रैलोक्यम् त्रिरहस्यम्बद्धम् चरितम् आतवान् कृतवान् । महेन्द्र  
प्रगिपातेन तच्छिरस्थितमन्दारमकरन्देरिवार्द्राकृतोऽयं विश्वामित्रः प्रशान्तकोपो  
भूत्वा सद्यः प्रारब्धा त्रिजा भूतसृष्टिं निरुद्धवानित्थमभ्यद्भुतमिदमीय त्रैलोक्य  
चरितमिति बोध्यम् । आर्द्राकृत इवति हेतुः प्रेक्षा । वसन्तनिलक वृत्तम् ॥ ३६ ॥

आभिरिति । सोऽयं कुलपति आचार्यो विश्वामित्रः आभिः प्रत्यक्षमीक्षणीयानि  
अध्वरचर्याभि यज्ञकर्मभि श्रौतम् अर्थम् वेदस्य रहस्यं तत्रान् कृतार्थयन् चरितार्थं

पादप्रगत इन्द्रके शिरोमन्दार पुष्परन्मै विनया चरण त्रिगाया वा चुच्य है ऐसे  
भावान् विश्वामित्रने त्रिशङ्कुके चरितसुम्बन्धने नवीनविद्वको सृष्टिका प्रारम्भ तथा  
परित्यारूप आश्रयं काय कर दिराया ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण—( आगे देखकर ) ( महष ) इन यज्ञकियाओं द्वारा श्रौत अर्थको कृतार्थ  
करनेवाले यह विश्वामित्र इधर ही आ रहे हैं ॥ ३७ ॥

( तत् प्रविशति दीक्षितवेधो विश्वामित्र । )

राम—( निर्बर्ण्य । सवहुमानम् । ) वत्स लक्ष्मण, पश्य—

कर्मण श्रूयमाणस्य ध्यञ्जनैरधिकोऽञ्जलाम् ।

तपस्तेजोमयीं लक्ष्मीमद्य पुष्पाति मे गुर ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र —( परिक्रामन्सहर्षम् । ) हन्त । कृतकृत्यप्रायमात्मान  
पश्याम । यत —

निर्वृत्तो बहु तावदध्वरभुजामातर्पणोऽयं विधि

र्दायादेन सम सुकेतुदुहिता चाद्यैव धानिष्यते ।

यन् इत् एवाभिवर्त्तते इत् एवायाति । एतदनुष्ठितयज्ञादित्रियाभिर्बेदार्यं सत्यापितो  
भवति शिष्टाचारप्रमाणकत्वाद् इदस्येति भावः ॥ ३७ ॥

कर्मण इति । अद्य मे मम गुर विश्वामित्र श्रूयमाणस्य वेदप्रतिपाद्यस्य कर्मण  
क्रियाकलापस्य व्यञ्जनैः प्रकाशकैः ( तत्तद्यज्ञीयपरिच्छदं ) अधिकोऽञ्जलाम्  
समधिकदीप्तिमतीम् तपस्तेजोमयीं तपस्यातेन सम्पत्सम्पन्नाम् लक्ष्मीम् श्रियम्  
पुष्पाति । यज्ञपरिच्छदेरस्य शोभाऽधिकीक्रियत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

कृतकृत्यप्रायम् सफलीभूतम् । स्वर्त्तय मिद्धमिव प्रतीम इत्यर्थः ।

निवृत्त इति । अत्र भुजाम् देवानाम् आतर्पणं मम तात् तृप्तिनकं अयं विधि-  
यज्ञ तावत् साकल्येन निर्वृत्तं सम्पूर्णं, अद्य सुकेतुतनया ताडनादायादेन पुत्रा  
दिना सम सह धानिष्यते मारयिष्यते । पुन अग्रे च वृषभध्वनस्य शिवस्य धनुषो  
भङ्गो भञ्जनमेव एकं पणो निवर्धनं शुल्कं यस्यास्ता तथोक्ता वधू मीता नाम

( दीक्षितवेधो विश्वामित्रका प्रवेश )

राम—( देखकर मादर ) वत्स लक्ष्मण देखो—

छल्युक्त उपवामादि कर्मोंक आचरणसे अधिक दीप्तिशाला तपस्या तथा तेजस पूरा  
शोभाकी आज हमारे आचार विशेषरूपसे धारण कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र—( चलन हुए महय ) म अब जपनकी कृत्यकृत्य सा ममज्ञा हू ।

क्योंकि—यज्ञभागभोक्ता देवोंको सन्तुष्ट करनेवाला यह यज्ञ पूरा हो गया है, बांधकों  
के साथ ताटका आज मारी जायेगी । शिवधनुष भङ्ग ही जिसे पानेका बाधा है ऐसी

पाणौष्ट्य पुनर्वृषध्वजधनुर्भङ्गेकशुल्कां वधू-  
मैक्ष्वाके सुरकार्यदिशु चलति स्वास्थ्यविधातास्महे ॥३९॥

( रामलक्ष्मणावत्यायोपमर्षत । )

विश्वामित्र—( <sup>१</sup>राममतिचिर निर्वर्ष्य मस्नेहकौतुकम् । )

एष वैहारिक वेपमादयानो धनुर्धर ।

तत्रमान्तरमस्माकममृतैरिव लिम्पति ॥ ४० ॥

उभौ—( उपसृत्य । ) भगवन्, दशरथी रामलक्ष्मणाभिवाद्येते ।

विश्वामित्र—( <sup>२</sup>आरिङ्ग्य । ) वत्सौ, किमन्यदाशास्महे ।

पाणौष्ट्य विवाह ऐश्वराके रामे सुरकार्यदिशु देवकार्यसम्पादिकामु दक्षिणदिशामु  
चलति प्रतिष्ठमाने सति श्वास्थ्यम् निर्वृतिं विधातास्महे कलयिष्याम । देवतानृसि  
जनको यानो ज्ञानकल्प, अथ रामेण समुत्ता ताडका हनिष्यत एव, इत पर रामो  
हरधनुर्भङ्गशुल्का सीता परिणाय यदा दनिगागास्थितानि तत्तद्राक्षसवधामकानि  
देवकार्याणि सम्पादयितु तस्या गिशि प्रचरिष्यति, नदाह निर्वृतिं कलयितास्मी  
ति तापर्यम् । शार्तूलविर्माडित वृत्तम् ॥ ३९ ॥

एष इति । एष धनुधरो राम वैहारिक त्रीटाकालोपयुक्त वपम् रूपम् आद  
धान धोर्यमाणोऽस्माक दर्शनकृपायानाम् अन्तर तत्रम् अन्त करणम् अमृतै  
सुधाभि मिञ्जनीव । वैहारिक वेपमाधाय श्रमतो धनुर्धरस्य रामस्य दर्शनेनास्माक  
भन्त भरणानि सुधाया भजनमिवाधरन्तीति भावः ॥ ४० ॥

दशरथी दशरथपुत्रौ । रामलक्ष्मणौ नाम । अभिवाद्येते भवन्त प्रणमत ।

साताकी व्याहकर रामचन्द्र जब देवकार्याधि प्रत्यान कर देग तब म स्वस्थ हा आऊगा ॥३९॥

( राम लक्ष्मण उठवर समाप आन है )

विश्वामित्र—( रामको दरतक दयकर ) यह विहारवेपधारी धनुधर राम हमारे  
हृदनको अमृतस लिप्त कर दे रहा है ॥ ४० ॥

दोनों—( समाप जाकर ) महाराज, दशरथके पुत्र राम, लक्ष्मण आपको प्रणाम  
करते हैं ।

विश्वामित्र—( गले लगाकर ) बच्चों, और क्या आशावाद दें ।

युवाभ्यामभिनिर्वृत्तयोगक्षेमस्य वज्रिण ।

एश्वर्यप्रक्रियामात्रकृतार्था सन्तु हेतय ॥ ४१ ॥

( उभौ तूणीमघोमुखौ स्त । )

विश्वामित्र — ( विश्वस्य । ) उत्तमौ समन्ताद्गुणशीलितोऽय सन्निवेशः । 'कश्चिदस्मदीयास्तपोवनभूमयो रमयन्ति रामुपस्नेहयति वा गार्हस्थ्यमृषीणाम् ।

उभौ—( सप्रथमम् । ) भगवन्,

रम्यमेतदरम्यं वा क परिच्छेत्तुमर्हति ।

किं तु द्वयातिग चित्तमद्य नौ पश्यतोऽभूत् ॥ ४२ ॥

युवाभ्यामिति । युवाभ्या भवद्भ्या रामलक्ष्मणाभ्याम् अभिनिर्वृत्त सम्पादिते योगक्षेमे यस्य तद्योक्तस्य, अलक्ष्मणाभो योग, लक्ष्मणस्य परिपालन क्षेमम्, ते प्राप्तवन्त सम्पादितसकलाभीष्टस्यति यावत् वज्रिण इन्द्रस्य हेतय अस्माग्नि एश्वर्य-प्रक्रिया सम्पन्ननिष्ठा तन्मात्रकृतार्था सम्पत्तिप्लामात्राधायिना सन्तु जायन्तम् । भवद्भ्यामेव सर्वप्रभीष्टार्थेषु साधमानेषु शत्रु प्रतिष्ठामात्रप्रयोजनफलमन्त्रचय धारयन्वित्यर्थ ॥ ४१ ॥

समन्तात् सवत् । उपशालित दृष्ट । सन्निवेश ऋष्यावासभूमि । राम रमयन्ति प्रसन्नता प्रापयति । इमा भुव दृष्ट्वा वा हृदय प्रमीदति ? अत्रत्याना गार्हस्थ्य वा दृष्ट्वा मन सिन्धुतात्यर्थ ॥

रम्यमिति । एतत्तपोवन रम्यम् हृदयवर्षकम् अरम्यम् अतथाभूत वा इति क परिच्छेत्तु ज्ञातुम् अर्हति ? न कोऽपि वनेमिदं रम्यतयाऽरम्यतया वा ज्ञातु

तुम दोनों इन्द्रके योगक्षेमकी चिन्ता करने लगे और इन्द्रके अन्तर्जने ऐश्वर्यके प्रतीक मर बने रहें ॥ ४१ ॥

( दोनों चुप रहते हैं )

विश्वामित्र—(हमकर) वत्स, तुम दोनोंने तो स प्रदेशकी अच्छी तरह देख लिया है । क्या हमारा यह तपोवन तुम्हें अच्छा लगता है और क्या हमारा यह गार्हस्थ्य तुम्हें अच्छा लगता है ?

दोनों—(नम्ररामे) भगवन् यह रमणीय है या अरमणीय, रसका निर्णय नौन कर सक्ता है, किन्तु इसे देखकर हमारे हृदय रजनमने रहित हो गये हैं ॥ ४२ ॥



मदकलकलविड्डीकाकुनान्दीकरेभ्य

क्षितिर्हृदिसखरेभ्यो भानुमानुचिनोति ॥ ४५ ॥

अपि च—

मन्त्रसस्कारसम्पन्नास्तन्वदौदन्वतीरप ।

एतत्त्रयीमय ज्योतिरादित्यार्यं निमज्जति ॥ ४६ ॥

राम —( सर्वतो निहृप्य । ) वत्स लक्ष्मण,

तापनैरेव तेजोभि प्लुष्टनिर्वाणमेचका ।

दिशो जाता प्रतीची तु समुदाचरति क्रमात् ॥ ४७ ॥

जर्जरम् अस्तम् उपात्त यस्य तत् अचि तेन उच्चिनोति आकर्षति । अयमस्त  
मनमानु खरयोपिरुर्णवर्णम् ईपत्प्रकाशप्रसाराधिकारस्युरयमानञ्च निचमचि  
मत्तवट्फ्रीकुलकाकुध्वनिरूपस्तुतिवाग्धान्युद्घोषयद्भ्यो वृद्धाग्रभागेभ्य ममा  
कर्षतीत्यर्थ । 'भवन्मदकलो मत्ते', 'चटक कलनिङ्क स्यात्तस्य स्त्री कलनिङ्कि',  
'काकु खिया विकारो य शोश्हृपादिभिर्ध्वने', 'उर्णा मेपादिलोम स्यात्' इति सर्व  
शामर । मालिनीवृत्तम् 'ननममययुतेय मालिनी भोगिलोके' इतितल्लक्षणम् ॥४५॥

मत्सस्कारेति । औदन्वती उदन्वत सागरस्येमा औदन्वती अप जलानि  
मन्त्रसस्कारसम्पन्ना अप जलानि मन्त्रसस्कारसम्पन्ना मन्त्रजनितसस्कार  
शुद्धा तन्वत् कुर्वत् आदित्यार्यम् सूर्यनामकम् एतत्त्रयीमयम् वेदत्रयस्वरूपम्  
ज्योतिरस्तेजो निमज्जति जले मज्जति । । सूर्योऽय वेदत्रयमूर्तिरात्मसम्बन्धेन सागर  
गतानि जलानि पावयन्मभस्वि निमज्जति, सूर्योऽस्तगत इति ॥ ४६ ॥

तापनैरिति । दिश प्रतीच्यतिरिक्ता पूर्वोत्तरदक्षिणा दिश तापनै सूर्यसम्ब  
धिभि तेजोभि प्लुष्टा दग्धा निर्वाणा शान्ताश्च अत एव मेचका श्यामा जाता,  
प्रतीची तु क्रमात् समुदाचरति पूर्वरूपमाप्नोति । प्रतीच्यतिरिक्ता दिश प्रागेव

ऊर्णासे जजर अपने तेजो भगवान् स्य मदमत्त चट्कलीको सशब्द करनेवाले वृक्ष  
शिखरोसे समेट रहा है ॥ ४५ ॥

समुद्रके जलको मन्त्रसस्कार सम्पन्न करनेवाला यह वेदत्रयमूर्ति आदित्य नामक  
ज्योति सागरमें डूब रहा है ॥ ४६ ॥

राम—(बारी भोर दखकर) वत्स लक्ष्मण, अन्य दिशाओं सूर्य तेजसे जल बुतकर वाली  
पट गइ हैं, केवल प्रतीचीमें अभी कुछ तेज विद्यमान है, वह क्रमसे शान्त हो रहा है ॥४७॥

किं च—

काचिद्विभ्रति भूतिमाश्रमभुवो चैतान्नैश्वानर

ज्जालोपप्लवमानधूम<sup>१</sup>वलभीविभ्रान्तदिग्भित्तय ।

ध्रूयन्ते वटवस्तृतीयसवनम्वाध्यायदीर्घानपि

स्पर्जायन्धमनोहर प्रति मुहु स्वान्द्राघयन्त म्वरान् ॥४८॥

विश्वामित्र —वत्स<sup>२</sup> राघव,

सौरतेनोहीना इति सूर्यदग्धश्यामलतया सभा<sup>३</sup>यन्ते, प्रनीची त्वस्तमनकालेऽपि यकित्रित्तेनोयुक्तनया क्रमात्समुदाचरतीत्युच्यते । ‘समुदाचरस्तु शोभाया पूर्व रूपे भयेऽपि च’ इति विश्व । ‘निर्वाणमस्तगमने’, ‘कालश्यामलमेचका’ ‘प्रुष्टुष्टु शोपिता दग्धे’ इति सर्वत्रामर ॥ ४७ ॥

शक्तिविधिः । वितानो यज्ञस्तत्सम्बन्धी यो वश्वानरो वह्निस्तस्य ज्वालया उपप्लवमान अधिकता गच्छन् यो धूम स एव वलभी सोधोपरिगृह्य तत्र विभ्रान्ता विशेषतः भ्रम प्राप्ता दिग्भित्तयो दिग्प्रदेशा यत्र तादृश्य जाश्रमभुव काञ्चित् अनिर्वचनीयाम् भूति शोभा विभ्रति धारयन्ति स्पर्धा परस्परनिर्गापा तस्या च धेन अनुबन्धेन मनोहर यथा स्यात्तथा मुहु वारवार तृतीयसवने सायकालिक स्नाने स्वाध्याये जप दीघान् अपि स्वान् स्वरान् द्राययन्त दीर्घता प्रापयन्त वटव ध्रूयन्ते । यज्ञवह्निवालादीर्घाङ्कितो धूमस्तोमो वलभीवत् प्रतीयमानो दिग्भ्रम जनयति, तेनाश्रमभूमयो नितान्तमनोहरा प्रतीयन्ते, किञ्च वटव सायस्नान समाप्य स्वाध्यायमारभमाणा परस्परस्पर्धया स्वान् स्वरान् प्लुतान् कुर्वन् इत्यर्थः । ‘वितानो यज्ञविस्तार’ इति विश्व । ‘वटव ध्रूयन्ते’ इत्यत्राधाराधेययोरभेदोपचाराद् ध्वनिश्रवणमेव त्रिवक्षितम्, यथा प्रयुक्त कविभिः—‘अध्रूयत पाञ्चतन्य’ ‘विलपत ऋषिजलमध्रौषम्’ इतिमाधकादग्नयो । ‘सविज्ञापणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपमङ्गामत’ इति न्यायाद् विशेषणलाभः ॥ ४८ ॥

आश्रम भूमिकी जुद्ध अद्भुत शोभा हो रही है, क्योंकि वहाँ पर यज्ञाग्नि धूमरूप बलभियो दिशाभोका भ्रम उत्पन्न कर रही है, बड्डलोक साय सवा स्नानसे स्वतो दोषस्वरको और भा दोष इसलिये कर रहे हैं कि उनमें चोरलै पढनेमें होइसा लग गर है ॥ ४८ ॥

विश्वामित्र—वत्स राघव,

१ ‘वलभीविभ्रान्त-’ इति ।

२ ‘रामभद्र’ इति ।

उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना सर्वतस्ताभिरेव  
 स्वच्छायाभिर्निचुलितमिव प्रेक्ष्यते विश्वमेतत् ।  
 पर्यन्तेषु ज्वलति जलधौ रत्नसानौ च मध्ये  
 चित्राङ्गीर्यं रमयति तम म्नोमनीला धरित्री ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण — ( सनिर्वंदम् । )

तेजोमयं तमोमयमन्यतरस्या तदेव दिक्चक्रम् ।  
 किमपि विचित्रा धात्रा सृष्टिरियं भुवनकोपस्य ॥ ५० ॥

उन्मुक्ताभिरिति । एतत् विश्व जगन्मण्डलम् दिवसम् अपिलमपि दिनम्  
 उन्मुक्ताभि परित्यक्ताभि सूर्यतेज सान्निध्यात् तिरोहिताभि ताभि प्राचीनाभि  
 एव स्वच्छायाभि अजुना अस्तमनकाले सर्वत समन्तात् निचुलितम् आवृतम् इव  
 प्रेक्ष्यते दृश्यते । अन्य दिक्चक्रं या च्छाया सूर्यतेज सान्निध्यात् तिरोहितेवासी सा  
 धुना तदस्तमने मति पुररपि सान्निधाय जगदाट्टगोतीर्वेनि पूवाद्दार्थं । तमसा  
 स्तोमस्य समुद्रस्य लीला विलासो यस्या सेय तम स्तोमसमाकुला धरित्री धरणी  
 पर्यन्तेषु प्रान्तेषु जलधौ मनुजै रत्नसानौ सुमेरुपर्वते च ज्वलति कीप्यमाने मनि  
 चित्राङ्गी विविधधर्णरचिता सर्ता रमयति त्रिलोककाना मन प्रमोदयति । क्वचित्  
 तम म्नोमनीला, क्वचिदुच्चनमस्थानेषु मद्य सूर्यरूपैर्यक्तेषु च प्रदेशेषु मावरोप  
 सूर्यकरद्योतिता चैव नानावर्णता भवन्ती पृथिवी प्रमोदयति मानमानि दर्शकाना  
 मित्यर्थं । तम स्तोमसुमेरुत्नमसुद्रसलिलमम्य धवशाच्छ्यामरक्तम्बततया भुवश्चि  
 त्राङ्गीभाव उक्तं । 'रत्नसानु सुरालय' इत्यमर ॥ सन्दाक्रान्ताट्टत्तम् ॥ ४९ ॥

तेजोमयमिति । तत्र दिक्चक्रम् दिङ्मण्डलम् पश्चिमाया तेजोमयम् सूर्यकर  
 युक्तम्, अन्यतरस्था प्राच्यादी दिगन्तकाशे तमोमयम् अन्यकारपूर्णञ्च इति विधात्रा  
 ब्रह्मणा कर्ता इय भुवनकोपस्य ब्रह्माण्डस्य विचित्रा सृष्टि, एतत् प्रकाशपूर्णं

जो छाया दिन भर सूर्यकरोमे अस्मिभूत होकर परित्यक्त सा बनो रही, उमा छायाने  
 हम समय विश्वको यात्र कर रत्न है । प्रान्तदेश, सागर, सुमेरु और मध्यदेशके चमकते  
 रहनेके कारण चित्राङ्गी यह पृथिवी बहुत आनन्द दे रही है ॥ ४९ ॥

लक्ष्मण—( वराह भावसे ) यही दिङ्मण्डल एक भागमें तेजोमय तथा अपर  
 भागमें तमोमय है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्माने इस ससारको विचित्र बनाया है ॥ ५० ॥

( सर्वतोऽवलोक्य । )

चूडारत्नै स्फुरद्भिर्विषरविवराण्युज्ज्वलान्युज्ज्वलानि

प्रेक्ष्यन्ते चक्रवाकीमनसि निविशते सूर्यकान्तात्कृशानु ।

किं चामी शल्ययन्तस्तिमिरमुभयतो निर्भराहस्तमिस्रा

सद्यष्टोत्पिष्टसध्याकणनिकरपरिस्पर्धिनो भान्ति दीपा ॥५१॥

राम —( विलोक्य । )

विश्व चाक्षुषमस्तमन्ति हि तम कैवल्यमौपाधिक

मयतश्च साधकारमिदमद्भुत विश्व ब्रह्मणा कृतमिति भाव । 'वात्रा भुज्ज  
कोपस्य सृष्टि' अत्र 'उभयप्राप्तो कर्मगी'ति सूत्रेण कर्मणि षष्ठी नियम्यतेऽन  
कर्त्तरि तृतीया ॥ ५० ॥

चूडारत्नैरिति । विषधराणा भुज्जाना विवराणि विलानि भुपुरद्भि तिमिरध्याप  
नात् प्रकाश विस्तारयद्भि चूडारत्नै शिरोमणिभि उज्ज्वलानि उज्ज्वलानि  
प्रेक्ष्यन्ते, प्रतिविवर सर्पफणामणय प्रकाश विस्तारयतीति तानि प्रकामोज्ज्वलानि  
प्रेक्ष्यन्त इत्यर्थ । कृशानु सन्तापरूपो वह्नि सूर्यकान्तात् सूर्यकान्तमणि विहाय  
चक्रवाकीमनसि तदारयपश्चिन्तातिभेदहृदये निविशते प्रवेश करोति, सूर्यऽन्तमिते  
सूर्यकान्तमण्य शांता अचनिपत, मये तत्रत्यस्तापो भानुरिरणेऽन्त गतेषु  
रात्रिविभोगिनीना चक्रवाकीणामन्तर्निविशते, तत्र सन्तापो वर्द्धत इत्याशय ।  
किञ्च अमी प्रत्यग्रज्वालिता दीपा तिमिरम् अन्धकार शल्ययन्त रण्डयन्त  
उभयत उभयो पार्श्वयो निर्भरम् अत्यर्थम् योऽहस्तमिच्छयोर्दिनरायो सद्यष्टो  
मिलन तेनोत्पिष्टाया चूर्णिताया सध्याया ये कणममूहास्तपा परिस्पर्धिन  
तुल्या भानि शोभन्ते, उभयतो मिलयोर्दिनरायोर्मये चूर्णिताया सध्याया  
कणा इव प्रतीयमाना ध्वातमपन्नन्तोऽमी दीपा प्रतिभातीति भाव । 'तन्मिस्रा  
तामसी रात्रि', 'आशीत्रियो विषधर' इत्युभयत्रामर ॥ ५१ ॥

विश्वनिति । चाक्षुष चक्षुप्राद्य प्रत्यक्षम् विश्वम् जगत् अस्तम् तिरोहितम्,

( चारो और देगकर ) प्रकाशित होनेवाले मस्तकस्थ रत्नोंका कान्तिसे सर्वाके विल  
चमक रह है, सूर्यकान्तमणिकी ज्वाला चक्रवाकियोंके हृदयमें प्रवेश कर रहा है, दिन  
और रात्रिने समर्थसे मिली गई सध्याके कणसे समता रखनेवाले यह दाप अधकारको  
उभय भागमें छेद रहे हैं ॥ ५१ ॥

राम—( देखकर )

सत्तारकी दृक्-शक्ति समाप्त हो गई है, सबत्र अधकार ही अधकार है औपाधिक

प्राच्यादिव्यवहारवीजविरहाद्दिङ्मात्रमेव स्थितम् ।

गृह्यन्ते भयहेतवः पटुभिरप्यक्षान्तरैर्माति च

ध्वान्तेनातिघनेन वस्तु वक्षसा ज्ञात स्वरेणामुक ॥ ५२ ॥

किं च—

घनतरतिमिरघुणोत्करजग्धानामिव पतन्ति काष्ठानाम् ।

छिद्रैरमीभिरुडुभिः किरणव्याजेन चूर्णानि ॥ ५३ ॥

चक्षुरिन्द्रियग्राह्य समन्तमपि वस्तुज्ञातमदृश्यमचायततमोऽभिमन्त्रात्, तम केवल्यम् केवलोऽन्धकार अस्ति, सर्वतः केवल तमो व्याप्तमस्तीति शेष । उपाधिर्विदोषात् तत्त्वबन्धी औपाधिक य प्राच्यादिव्यवहार, तस्य धीन सूर्यं, तत्त्वबन्धाद्बहिः प्राच्यादिव्यवहार प्रथते, सूर्योदयमम्बन्धवती प्राचीत्यादिव्यवहारो हि सूर्यनित इति तेषां व्यवहाराणां धीजः सूर्यस्तस्य विरहात् अस्तगमनात् दिङ्मात्रम् निष्पाधिका केवला द्विक एव स्थितम् वर्तमानमस्ति । पटुभिः दृश्यप्रहणसमये अरि अक्षान्तरैः अक्षिभिर्निरवगादीन्द्रियैः भयहेतवः भीतिकारणानि गृह्यन्ते रज्ज्वस्पृष्टा मत्स्य सर्पतया ज्ञायन्ते इत्येव प्रकारेणान्येऽपि पदार्थाः प्रतिभाममासाद् यन्तीत्यर्थः । अतिघनेन साग्नेण ध्वान्तेन तमसा वस्तु घटपटादिकम् वक्षसा आह वाक्येन भानि प्रकाशते, स्वरेण परिविनशन्द्वाचारणध्वनिना च अमुक अयमसा विति विदितो भवतीत्यर्थः । अतिगाढे तमसि मन्तते चक्षुग्राह्य जगदस्तमेति, तम केवल्यं प्रिभूभते, सूर्यरूपोपाधिविगमे प्राच्यादिव्यवहारस्य तदायतस्यानुदयादिक्रमामान्यमात्रं प्रतीयते, वस्तुग्रहणमन्यमान्योपाधियागि भीतिकारणानि वस्तूनि गृह्यन्ति, वस्तूनां च प्रत्यय केवलमाप्तवाक्यायत्त व्यक्तिपरिचयश्च स्वराधीन इति सर्वत्र प्रसूतं गाढं तम इति भावः । नादूर्लबिक्रीडित वृत्तम् ॥ ५२ ॥

घनतरति । घनतर सातिशयमान्द्र यत् तिमिरम् अन्धकार स एव घुणोत्कर काष्ठकीटसमूहस्तेन जग्धानाम् कबलीकृतानाम् काष्ठानाम् दिशा दारुणाञ्च चूर्णानि च अमीभिः उडुभिः नक्षत्र छिद्रैः नक्षत्ररूपकीटनिष्कासितनाष्टविवरैः इव

प्राच्यादि व्यवहारके ज्ञान मूलके नहीं रह जानेसे एक मात्र दिशा सामान्यतः रह गई । समग्र इन्द्रियगण भी तमोमाहात्म्यमे भयजनक वस्तुओंका ज्ञान कर दे रहे हैं किमी वस्तुका ज्ञान शब्दसे होता है प्रत्यक्षसे नहीं एव व्यक्ति का भी ज्ञान उनके स्वरसे हा होता है रूपसे नहीं ॥ ५२ ॥

अति घने अन्धकार रूप धुनों द्वारा भक्षित काष्ठों ( दिशाओं ) का चूर्ण उडुगण रूप छिद्रोंसे उनकी किरणोंके व्याजसे गिर रहा है ॥ ५३ ॥

( नेपथ्ये कलकल । )

( सर्वे ससध्रममा<sup>१</sup>कर्णयन्ति । )( पुनस्तत्रैव<sup>२</sup> । )

निर्मज्जच्चक्षुरन्तर्भ्रमदतिकपिशक्रूरतारा नरास्थि

ग्रन्थि दन्तान्तरालग्रथितमविरत जिह्वया घट्टयन्ती ।

ध्वान्तेऽपि व्यात्तवक्रज्वलदनलशिखाजर्जरे व्यक्तकर्मा

निर्मान्ती गृध्ररौद्रीं दिवमुपरि परिक्रीडते ताडकेयम् ॥५४॥

किरणयात्रेण मयूषमिषेण पतन्ति । अन्येषां घुणभक्तिकाष्ठानां चूर्णानि पतन्ति, तथैव दिशामपि काष्ठापदाभिलष्यानां निमित्तरैरिव घुणैर्भक्षितानां सतीनां किरणानीव चूर्णानि पतन्तीति भावः । ‘काष्ठं दार्विन्धनं समम्’, ‘दिशस्तु ककुभं काष्ठा’, ‘तारकोऽप्युद्धुं वा स्त्रियाम्’ इति सर्वत्रामर ॥ ५३ ॥

निमज्जन्ति । निर्मज्जत् निर्मगनीभवत् कोटररूपं यच्चतु तस्य अन्त मध्ये भ्रमन्ती अतिकपिशा पिङ्गलाभा क्रूरा भयनकतया दुर्दर्शा च तारा कनीनिका यस्यां मा ताडशी तथोक्ता, दन्तान्तराले दशनपङ्क्तिमध्ये ग्रथितं लग्नं नरास्थिग्रन्थिं मनुष्यास्त्रो ग्रन्थिम् अविरतम् सततम् जिह्वया घट्टयन्ती चालयन्ती, व्यात्तं विकृतं यमुपरं वक्रं तत्र ज्वलन्ती प्रकाशमाना या अनलशिवा बहिर्दीधिति तया जर्जरे ध्वान्तेऽपि व्यक्तकर्मा दृश्यमानव्यापारा दिवम् आकाशम्, गृध्ररौद्रीम् गृध्रस्यैव राद्र तीव्रज्वलत्वं यस्यास्तां तथोक्ता निर्मान्ती कुर्वती सती इयं ताडका उपरि ऊर्ध्वदेशे परिक्रीडते । कोटरनिमग्ननयना पिङ्गलतारा नरास्थिमाला दन्तलग्ना चालयन्ती मुखस्थिताग्निज्वालायां तमसि भिद्यमाने सति व्यक्तरूपा दिव्य भीषणा कुर्वतीय ताडकोपरि भ्रमतीत्यर्थः । स्रग्धरावृत्तम् ॥ ५४ ॥

( नेपथ्ये कलकल )

( सभी घवडाहट्से सुनते हे )

( फिर वहीं पर )

आखें भीतर पैठो है, जिनके भीतर अतिकपिशवर्णां मयङ्कर कनीनिका घूम रही है, दन्तान्तराल-ग्रथित नरास्थि-ग्रन्थिको बराबर आगमें चला रही है, फैलाये हुए मुखके भीतर चलने वाली आगमें आषकारके जजर होनेके कारण उसका कतव्य स्पष्ट हील रहा है एमी आकाशमें गृध्रकी तरह मडरानेवाली ताडका काडा कर रही है ॥ ५४ ॥

१ आकलयन्ति' इति ।

२ 'तत्रैव भा' 'भो भो' इति च ।

अपि च—

त्रेताग्निकुण्डपूर च वर्षन्तो-रुधिरच्छटा ।

हिंसा सुग्राहुमारीचमिथा न परिवृण्वते ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र —( 'साकृतम् । ) कथ ताडना । वत्स राममद्र,  
विधानमानुश्रविक गृहेषु न प्रतिस्किरन्तो किमिय प्रतीक्ष्यते ।

सुग्राहुमुख्यै सममाततायिभिर्गृहाण चाप निगृहाण ताडकाम् ॥५६॥

राम —( नष्टणातिरेकम् । ) भगवन्, 'स्त्रियमिमाम् ।

( पुनर्नपथ्ये । )

त्रेतेति । हिंसा क्रूरकर्माग सुग्राहुमारीचमिथा सुग्राहुमारीचमिथास्त  
व्यधाना वा राक्षसा त्रेताग्नि अग्नित्रय तस्य कुण्ड पूरयित्वा इति त्रेताग्नि  
कुण्डपूर रुधिरच्छटा वर्षन्त न अस्मान् यज्ञव्यापृतान् परिवृण्वते अवर्धन्ति ।  
दक्षिणाग्निर्गार्हपत्यो हृत्नीयत्रयोऽग्नयः । 'अग्नित्रयनिद्र त्रेता' । 'त्रेतात्तिकुण्ड  
पूरम्' इत्यत्र चमोदरयो पूरे' इत्यनुवर्त्तमानो 'वर्षप्रमाणे उलोपश्चास्यान्यतरस्याम्'  
इति णमुल् ॥ ५ ॥

विधानमिति । न अस्मान् तपस्विनाम् गृहेषु आनुश्रविक वैदिकम् विधानम्  
यज्ञानुष्ठानविधिम् प्रतिस्किरन्ती नाशयन्ती इय ताडना किं कुन प्रतीक्ष्यते ?  
अस्या पिनाशे नमयप्रनाचा व्यथेति भाव । तस् अरया त्रिनाशस्य सद्य सम्पाद्य  
तया चाप वनुर्गृहाण धारय, 'आततायी वधोद्यत' इति लक्षिते आततायिभि  
सुग्राहुमारीचमुख्यै समम् ताडका निगृहाण घातय । 'अग्निदो गरदश्व शस्त्र  
पाणिघनापह' । 'क्षेत्रदारापहारी च पठेते आततायिन' ॥ ५६ ॥

स्त्रियमिमाम् स्त्रिय ताडका हन्तु कथमाज्ञापयति भवन्त इति भाव ॥

अग्निहात्रके कुण्डोको भर दनेवाला रुधिरवृष्टि करत हुए सुग्राहु मारीच आदि हिंस्र-  
राक्षस हमें घेर रहे ह ॥ ५५ ॥

विश्वामित्र—क्यों ताडका है ? वत्स राममद्र,

हमारे घरमें प्रस्तुत वैदिक विधानोंको नष्ट भ्रष्ट करता हुई हम ताडकाका प्रताप्ता  
क्या करते हो ? अब तुम वनुष धारण करो और उपद्रवकारा सुग्राहु आदिकोंके साथ  
इस ताडकाको मारो ॥ ५६ ॥

राम—( दयापूर्वक ) महाराज, हम खाको ?

१ 'साकृतमिव', 'समभ्रममिव' इति ।

२ 'स्त्रियमिमा कथ हनिष्ये', 'स्त्रियमिमा कथ निगृहामि' इति च ।

‘अत्रह्यण्यमत्रह्यण्यम् । भोस्तान विश्वामित्र, परिभूयामहे । प्रहीयता-  
मधिज्यधन्वा दाशरथि ।

राम — ( विहस्य । नैपध्यावलोक्तिनेन । ) बालर्षे शुन श्रेप, मुहूर्ते  
वीरो भव ।

अल क्लिशित्वा गुरुमल्पकोऽय विधिस्त्वदासैव गरीयसी न ।

न कौशिकस्य त्वयि धर्मपुत्रे पुत्रे मधुच्छन्दसि वा विशेषे ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र — उत्स, कृतमुत्तरोत्तरेण । नन्वय नेदीयानाश्रमो  
पघात ।

लक्ष्मण — ( सव्यथमिव । स्वगतम् । )

अत्रह्यण्यम् ‘अत्रह्यण्यमग्र्योक्तौ’ महद्भयमुपरिधत्तमित्यर्थ । परिभूयामहे  
वयं शुन शपाडयोऽस्मीभिर्यातुधानरनादता भवाम । प्रहीयताम् प्रैष्ययाम् । अधिज्य  
धन्वा घन्वा घन्वाप । दाशरथि राम ॥

अलमिति । गुरु विश्वामित्र क्लिशित्वा अलम् वृथा गुरुर्न क्लेशनीय इत्यर्थ ।  
अयं तादृक्कावधरूपो विधि व्यापारोऽल्पक नत्पर, न अस्माकं तत्रवाशा  
गरीयसी, तत्रवाज्ञया मया तादृकानधो निषेध इति भाव । धर्मपुत्रे धर्मत  
पुत्रवपाल्यमाने त्वयि शुन शपे पुत्र औरसे तनये मधुच्छन्दसि वा तन्नामके  
कौशिकस्य विश्वामित्रस्य वा विशेषे तारतम्यमस्ति ॥ ५७ ॥

कृतमुत्तरोत्तरेण वाको वानय कृत्वाऽलम् । नेदीयान् समीपस्थित । आश्रमोप  
घात आश्रमवाधा ।

( अत्रह्यण्य—अन्तर्द्वारे रक्षा द, इ तान विश्वामित्र, इमं सत्वाये आरहे हं,  
धनुषासारी रामभद्रो भेजिये )

राम—( हसकर ) अत्र बाल ऋषि शुन शपे धोडी देर ठहरो ।

इमं सवधर्मं गुरुरो क्लेश दत्ता न्यथ है, यह बहुत छोटा काय है, इमके लिये  
आपकी ही आज्ञा पराप्त है, विश्वामित्रके लिये धर्मयुक्त शुन शपे तथा पुत्र मधुच्छन्दस्य  
कोइ अन्तर नहीं है ॥ ५७ ॥

विश्वामित्र—उत्तर प्रत्युत्तर व्यर्थ है, आश्रमका उत्पीडन समीप आना जारहा ह ।

लक्ष्मण—( न्यथामे स्वगत ) नव कौशिक आज्ञा दे ही रहे है नव आय रामचन्द्र

१ ‘अत्रह्यण्य भो’ इति ।

२ ‘कृत कृतमुत्तरेण’, ‘कृत कृतमुत्तरोत्तरेण’ इति ।



मीमांसते किमायोंऽय कौशिकेऽप्यनुशासति ।  
वाचमेवामृषीणां हि शास्त्रमेवानुवर्तते ॥ ५८ ॥

राम—( स्वात्म । )

गुर्वादेशादेव निर्मायमाणो नाधर्माय स्त्रीवधोऽपि स्थितोऽयम् ।  
अथ स्थित्वा श्वो गमिष्यद्विरल्पैर्लज्जाम्नाभिर्मीलिताक्षैर्जिनेव ॥ ५९ ॥

किं तु—

दीर्घं प्रजाभिरतिकौतुकिनीभिरामि-  
रस्मिन्नकीर्तिपटहे मम ताडयमाने ।

मामात्मन इति । अयम् आर्यं पूनरीयो राम कौशिके विश्वामित्रेऽपि अनुगाम्नि  
आत्ना ददति सति किं नीमायते विचारयति ( कथमहं द्वियं हनार्त्नानि विभाव  
यति ? ) हि यत शास्त्रं कर्तुं ष्या भुर्नानाम् इव वाचमनुवर्तते अनुधावति ।  
मुनिवचनमेव शास्त्ररूपं एतदीयस्त्रीवधानाया अपि शास्त्ररूपतया तत्र विचारा  
वमरस्याभाव इति भावः ॥ ५८ ॥

पुत्रांशादिनि । गुरो विश्वामित्रस्य आदेशात् आपया एव निर्मायमाणं क्रिय  
माणं अयम् स्त्रीवधे अधर्माय पापाय न स्थितः समर्थः, गुर्वाज्ञयाऽनुष्ठीयमानोऽय  
स्त्रीवधो नम पापमुपादयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । ननु मास्तु पापमथापि लज्जा त्व-  
वरय भाविनी, तत्राह—रघोति । अथ अस्मिन् दिने अत्र स्थित्वाश्च परदिने द्रुतो  
गमिष्यद्वि- प्रस्थास्यमाने अरण्ये बाल अस्माभिर्मीलिताक्षैर्मुद्रितलोचने  
लज्जा चिता एव, नयननिर्मूलननेतव्याया लज्जाया किं भेदव्यमि यथ । निर्मीलित  
नयनेनास्माद्रकायस्थानात् मत्वरप्रस्थाने केनापि दुष्कृतस्याज्ञानानास्ति लज्जा  
प्रसर इत्यादाय ॥ शास्त्रिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

राघमिति । अतिकौतुकिनीमि कथं रघुवशीर्षेणापि सन्तानेन स्त्रीवधे कृत  
इत्याश्चर्यचक्रितामि आमि प्रनामि जने अस्मिन् मन अकीर्तिपटहे स्त्रीवधरूपा-

कदा विचार करत है, इन अधियोंके वचन शास्त्रका ही अनुसरण करत है ॥ ५८ ॥

राम—( स्वगत ) गुणद्वकी आहामे किये गये इस भो-वपने भा अधम नो होग  
नहीं, रहा लज्जी वान, आन हम हैं वर चने जायेंगे, तब तक आसैं वर करके लज्जाओ  
भी परास्त कर दे सकें हैं ॥ ५९ ॥

किन्तु यहाँकी वह लक्ष्मिठन प्रजा नेरी इस स्त्रीवध रूप दुर्गमका जब कीर्तन करेगी

१ 'निर्मायमाण' राउ ।

ज्योतिर्मयेन वपुषा जगदन्तसाक्षी

लज्जिष्यते कुलगुरुर्भगवान्वसिष्ठ ॥ ६० ॥

( नेपथ्ये । )

अलमिच्छा मत्नान्मूर्खा स्वङ्गधारस्यमस्ति नैः । तद्धान म  
अद्वीयानय पन्था स्वर्गलोकमुपतिष्ठते ॥ ६१ ॥

राम — ( श्रुत्वा 'सरोष सप्तभ्रम चोत्थाय सर्विनयमञ्जलिं बद्ध्वा । ) 'भगवन् जगत्त्रयगुरो गाधि नन्दन,

यशोऽङ्गिष्ठमे ताडयमाने वाचमाने सति ज्योतिर्मयेन चानात्मकेन वपुषा जगदन्तसाक्षी मत्सारविनाशप्रत्यक्षकर्ता सर्वद्रष्टा कुलगुर मदीयवशगुर भगवान् वमिष्ठ दीर्घं चिराय लज्जिष्यते त्रपामनुभविष्यति, मदगुरुकेऽपि रघुकुले कथमेतादृशं कल्हकी जातो यो वधूमवधीत् इति त्रपामनुभवियतीत्यर्थ । साक्षीशब्दे 'साक्षाद्-द्रष्टरि सज्ञायाम्' इतीति ॥ ६० ॥

अलमिति । हे मूर्खा अज्ञानवत्तो यागपरायणा, मत्नान् तास्तान्यागानिष्ट्वा सम्पाद्य अलम्, इयमस्माकम्, स्वङ्गधारा अस्ति विद्यते, यागसम्पाद्यस्वर्गस्यानया स्वङ्गधारयैव लभ्यत्वे अनेकविधप्रयामसम्पाद्ययागप्रवृत्तिर्भवेति भाव । ननु स्वर्गफलस्य यागस्वङ्गधारोभयमागमाध्यत्वे किमिति स्वर्गसाधनाय याग एव नोपादीयता तत्राह—अद्वीयानिति । अयं स्वङ्गधारारूप पन्था अद्वीयान् सतिहिततम, स्वर्गलोकमुपतिष्ठते याति । नानाविधवीहिप्रोत्सृजावघातफलीकरणपुरोडाशहोमप्रभृतिभिः क्रियाकलापेयाग सम्पाद्यते तेनापूर्वं जन्यते, तेन च स्वर्गलाभ इत्येव यागात्मक पन्था वक्रो विप्रकृष्टश्च, मम तु स्वङ्गधारपातेन युद्धहतस्य सद्य स्वर्गलाभनियमेन सपदि स्वर्गलाभ इत्ययं नैदीयान्मागस्तदल याग कृत्वाऽऽयात युद्धे मृत्वा शीघ्रं स्वर्गं लभन्विति भाव ॥ ६१ ॥

तव शानदृष्टिसे समस्त विश्वको घटनाओंको देखनेवाले मेरे कुलगुरु भगवान् वमिष्ठ लज्जित हो उठेंगे ॥ ६० ॥

मूर्खों, यह करना व्यर्थ है हमारी तलवारको धार तो है ही यह तलवाररूपी सीधा रास्ता स्वर्गको चला गया है ॥ ६१ ॥

राम—( सुनकर तेजीसे उठकर हाथ जोड़कर ) हे जगत्त्रय गुरो विद्वकामिन्

१ 'सप्तभ्रममुत्थाय', 'सरोषसप्तभ्रममुत्थाय' इति च । २ 'भगव-गुरो' इति ।

दशरथगृहे संभूतं मामवाप्य धनुर्वरं

दिनकरकुलास्कन्दी कोऽय कलङ्कनाङ्कुर ।

इति 'न धनितामेता' हन्तुं मनो विचिकित्सते

यदधिकरणं धर्मस्थायं तवैव वचासि न ॥ ६२ ॥

( प्रणिपत्य 'नेपथ्याभिमुखम् । ) 'भोस्तपोधना, मा भैष्ट ।

रजनिचरचमूरमूरपास्यन्वयमहमागत एव रामचन्द्र ।

दशरथेति । दशरथगृहे दशरथभवने दशरथस्य धर्मभायाया वा संभूतं जान मा राम धनुर्वरम् चापपाणिम् अवाप्य प्राप्य दिनकरकुलास्कन्दी सूर्यकुलापमान जनक कलङ्कस्य अय नवाङ्कुर नवप्ररोह क इति एता वनिता त्रिय ताडका हन्तु मारयितु मम मनो न विचिकित्सते न सन्नेधि, यद् यस्मात् अस्माक नवानुशिष्याणा तवैव वचामि धर्मस्थायम् धर्मप्रवृत्तिजनक धर्माधर्मव्यवस्थापकम् अधिकरणम् निर्णयवचनम् । यतस्तवैव वचामि वयं क्षत्रिया धर्मनिश्चायकतया ऽऽद्रियामहऽनोऽस्या स्त्रियो वध कथ प्रवर्त्यतामिति मम मनो न सदिग्धे, त्वदाज्ञा मादाय प्रवृत्तेरित्यर्थ ॥ हरिणीवृत्तम्, 'नसमरसला ग पड्वेदेहयेहरिणी मता' इति च तल्लक्षणम् ॥ ६२ ॥

रजनिचरेति । अम् सम्मुखस्थिता रजनिचरचमू राक्षसेना अपास्यन् ममुक् क्षिपन् नाशयिष्यन् अयमह रामचन्द्र आगत एव आयात इव । पुरंधाया राक्षसेनाया अवश्यविनाशकोऽह रामचन्द्र समायात इति तपोधनेर्भवद्भिर्भय न करणीयमित्यर्थ, ननु त्वागममात्रेण कथं न भय करणीयमेवा राक्षसानामिति दुदान्तरादिति चेत्तत्राह—

दशरथके कुलमें अण्ज तथा धनुषधाग मुझको प्राप्त करके सूयके बशी खीचरूपा यह नया कलङ्क लग रहा है, इसलिये मुझे 'विचिकित्सा' नहीं हो रही है क्योंकि धर्मविकारमें हमारे लिये आपके ही वचन प्रमाण हैं ॥ ६२ ॥

( प्रणाम करके नेपथ्यकी ओर देवदर ) तपस्वियो, वरिधे मन,

इन राक्षस सेनाओंको दूर मगानेवाला यह रामचन्द्र आगया है, विश्वाभिन्न करस्थ

१ 'दि' इति । २ 'दनाम्' इति । ३ 'धर्मस्थानम्' इति ।

४ 'नेपथ्याभिमुखमवलोक्य' इति ।

५ 'मा भैष्ट तपोधना, मा भैष्ट, 'मा भैष्ट

भोस्तपोधना, मा भैष्ट' इति च । ६ 'राममद्र' इति ।

कुशिकसुतकुशाग्रतोयविन्दोरिदमनुकल्पमत्रेत कार्मुकं मे ॥ ६३ ॥

( इति धनुरारोपप्रतिघ्नान्त । )

लक्ष्मण — ( 'साशङ्कमात्मगतम् । ) द्विष्ट्या क्षात्रेण धर्मेण कौमार-  
मप्यशून्यमार्यस्यासीत् । ( नेपथ्याभिमुखमवलोक्य हर्षं नाटयन्प्रकाशम्<sup>१</sup> । )  
भगवन्कौशिक, पश्य पुरस्तादार्ये धृतधनुषि

वायव्यास्त्रव्यतिरुरनिरालम्बनस्ताडनेय

प्राप्तौ जीवन्मरणमसुभिर्विप्रमुक्त सुबाहु ।

अक्षिप्तुनेति । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य यजुदाग्रतोयम् तस्य विदो-  
पृथक् अनुकल्प गाण रूप मे कार्मुकं धनु अवेत् जानीत यथा विश्वामित्रकुशा-  
ग्रतोयविदो प्रभावेण तच्छुभा सवेऽपि इत्रव सद्यो विपद्यते तथैव मम धनु-  
पाऽपि सवेऽपि राक्षसा सद्यो विपादनीया, तदल् भयेनेति भाव । 'सुर्य स्यात्प्र-  
थमे कल्पेऽनुकल्पस्तु ततोऽग्रमे' इत्यमर ॥ ६३ ॥

द्विष्ट्या आनन्दप्रकाशकम् । क्षात्रेण धर्मेण वीरतया । कौमारम् बाल्यम् ।  
अशून्यम् युक्तम् । यथाऽय रामो यौवने विक्रमधरो भावी तथैव बाल्येऽपि विक्रम  
धर सट्टत् इत्यानन्दविषय इत्यर्थ । आर्ये रामचन्द्रे । धृतधनुषि सञ्जीवित्वापे  
जाते सति, परय तत्काल पर्येत्यर्थ ।

वायव्यास्त्रेति । ताडकाया अपत्य पुमान् ताडकेय सुबाहुनाम वायव्यास्त्रस्य  
व्यतिकरेण सम्बन्धेन निरालम्बन आश्रयरहित सन् जीवन्मरण प्राप्त सन् असुभि

कुशाग्र जल विन्दुके तुल्य हा आप मेरे धनुषको समझ लें ॥ ६३ ॥

( धनुष लेकर चलत हैं )

लक्ष्मण—( साशङ्क स्वगत ) सौभाग्यवश आर्य रामका बाल्य भी क्षात्रधर्मसे पूरा  
रहा । ( नेपथ्यका ओर देखकर हर्ष प्रकाशित करते हुए, प्रकट ) भगवन् कौशिक, देखिये,  
रामके धनुष धारण करते हो—

वायव्यास्त्रके सप्रभसे निराश्रय होकर मारीच जीने हा मरा हुआ है, सुकृद्गुणे प्राण  
त्याग कर लिया यह ताटका भी सण्डित होकर बरणा, आश्रय, ग्राम तथा क्रोधसे  
क्रावियों द्वारा जख्मी जागही है ॥ ६४ ॥

१ सोस्ताडशङ्कमात्मगतम्' इति । २ 'सप्रकाशन' इति ।

३ पश्य पश्य' इति । ४ 'धनुषि धृते' इति । ५ 'विप्रमुक्त' इति ।

कृत्तोन्मुक्ता भुवि च करुणाश्चर्यधीभत्सहास

त्रासप्तोद्योत्तरलमृषिभिर्दृश्यते ताडकेयम् ॥ ६४ ॥

विश्वामित्र — ( विलोक्य । ) वत्स लक्ष्मण, विस्मयेन प्रमोदेन च परन्तो वयं न वाचामधीग्महे । वक्तव्यमेव वा किमस्ति । न सख्यमद्यतनी न प्रतिष्ठा ।

दिङ्कूलकपर्कतिघौतवियतो निर्व्याजवीर्योद्धता-

स्ते यूयं रघव प्रसिद्धमहसो यै सोऽपि देवाधिप ।

प्राणैर्विमुक्त परित्यक्त । इयञ्च ताडका कृत्ता दिङ्ना भुवि पृथिव्याम् उन्मुक्ता त्यक्ता सती करुणा स्त्रीवदृतया दयया आश्चर्येण कथं महाराजस्या अस्या वालिन परानय इति विस्मयेन कीभत्येन घृणया हासेन प्रसादजन्मना हमितेन त्रासेन कदाचिदिय पुनर्जीविता चेत्सानिशापमुपद्रवेदिति भयेन क्रोधेन तदुपद्रवस्मरण जन्मना कोपेन च उत्तरल यथा स्यात्तथा ऋषिभिर्दृश्यते ॥ ६४ ॥

विस्मयेन आश्चर्येण, कथमय वालो रामस्तथा भयङ्करीमिमा राज्ञसीमहन् इति जायमानेनाश्चर्येण । प्रमोदनं विन्नापगमजन्मना हर्षेण । परवन्तं परार्थिना हतचित्ता इत्यर्थः । न वाचामधीग्महे न किमपि वक्तुं पारयाम । अद्यतनी नवीना । प्राक्तनी एव युष्माकमिय प्रतिष्ठाऽनो नात्र किमपि विशिष्य वक्तव्यमद्य शिष्यत इत्यर्थः ॥

दिङ्कूलकूपेति । दिशा कूलरूपा दिगन्तव्यापिनी या कीर्तिस्तया घौतं ज्वालितं वियत् आकाशयैस्तथाभूता यूयं ते प्रसिद्धा रघव रघुवरया निर्व्याजवीर्योद्धता अकपटपराक्रमहता तथा प्रसिद्धमहसो प्रख्याततेजस्काश्च, स्थ इति शेषः । अमुरा

विश्वामित्र — ( देखकर ) वत्स लक्ष्मण, विस्मय तथा आनन्दसे इस पराधीन हो रहे हैं, हममें बोलनेकी शक्ति नहीं रह गई है । अथवा कहना ही क्या है, यह प्रतिष्ठा तुम्हारे कुलके लिये कुछ नष्ट नहीं है ।

दिगन्तव्यापी यशसे आकाशको धवल बना देने वाले तथा अकपट पराक्रमशाली तुम रघुवशियोंका तेज प्रसिद्ध ही है, तुम रघुवशियोंने तो इन्द्रका जयके निदान अपने धनुष धारणसे इन्द्रको पौलोमीक कुबमण्डल पर पत्रमङ्गरचना निर्माणकी कला सिखाना दी है,

विभ्राणैरसुराधिराजविजयक्रीडानिदानं धनु

पौलोमीकुच<sup>१</sup>पत्रभङ्गरचनाचातुर्यमध्यापित ॥ ६५ ॥

लक्ष्मण — भगवन्, परय ।

अद्य नैशाचरीं सेनामेनामुन्मूलयन्नयम्<sup>२</sup> ।

<sup>३</sup>आधान वीरधर्मस्य <sup>४</sup>निर्माय त्वामुपस्थित ॥ ६६ ॥

( प्रविश्य । )

राम — ( <sup>५</sup>सवैलक्ष्यस्मितम् । )

पूषा वसिष्ठ कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम् ।

धिराजरिनयक्रीडानिदानम् असुरमुत्तरपराजयसाधन धनुर्विभ्राणैर्य रघुवश्ये स देवाधिप इन्द्रोऽपि पौलोमीकुचपत्रभङ्गरचनाचातुर्यम् शचीस्तनवेशाधिकरण पत्रावलीविरचनशैलम् अध्यापित शिञ्चित । दिगन्तविरयातकीर्तयोऽकृपट शौर्यशालिनश्च राघवा प्रथिता एव, येषा राक्षसैरधनुर्धराणा प्रभाषण त्रितेषु राज्ञेयु विजेतव्याभावन शक्र पुलोमात्मजाकुचपत्रभङ्गरचनायामेव समय गमयती त्यगशय । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६५ ॥

अयति । अय राम अद्य एता नैशाचरीं राक्षसीं सेनाम् उन्मूलयन् विनाशयन् वीरधर्मस्य वीरचयाया आधान स्वस्मिन् सस्थितिं निर्माय कृत्वा त्वामुपस्थित प्राप्त । राक्षसबलमुन्मूलयन्नय रामोऽद्य स्वस्मिन्वीरधर्ममाधाय भवदन्तिकमुप-पन्नस्तस्सत्य त्वदुक्तमित्यर्थं ॥ ६६ ॥

सवैलक्ष्यस्मितम् सटञ्जमन्दहासम् ।

पूषेति । पूषा सूर्य, वसिष्ठ, अय कुशिकात्मजश्च एते त्रय ते प्रसिद्धा रघूणा

अर्थात् उ हैं शुद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि उनका ओरस जुम रघुवशी ही लडा करते हो और वह अपनी ओरके स्तनीपर क्रीडापत्रभङ्ग बनानेमें लगे रहते हैं ॥ ६५ ॥

लक्ष्मण—भगवन् देखिये, आज यह रामचन्द्र राक्षससेनाका नाश करते हुए वीर धमका आरम्भ करके आपके पास उपस्थित हो रहे हैं ॥ ६६ ॥

( प्रवेश करके )

राम—( लज्जाके साथ हसकर ) सूर्य, वसिष्ठ, तथा विश्वामित्र यही तीन रघुवशीके

१ ‘पत्रमङ्गि’ इति । २ ‘इव’ इति । ३ ‘आधारम्’ इति ।

४ ‘विधाय’ इति । ५ ‘सवैलक्ष्यम्’ इति ।

महामुनेरस्य<sup>१</sup> गिरा कृतोऽपि स्त्रेणो वधो<sup>२</sup> मां न सुप्ताकरोति ॥६७॥

( आश्रमभवलोम्य । )

प्रत्यासन्नतुपारदीधितिकरन्निश्वस्यत्तमोवहरी

<sup>३</sup>वल्याभिर्मखधूमघट्टिभिरमी सम्मलितव्यञ्जना ।

श्च सञ्जीवरयिष्यमाणवटुकव्याधूतशुष्यस्त्वचो

निद्राणातिथयस्त<sup>४</sup>पौवनगृहा कुर्वन्ति न कौतुकम् ॥६८॥

( "पुरतोऽवलोक्य । )

गुरव कुलपूज्या, तथापि अस्य महामुनेर्विश्वामिनस्य गिरा वचसा कृतोऽनुष्ठितो  
ऽपि स्त्रेणो वध स्त्रीहत्या ताडकादिनिपातरूपा मा न सुप्ताकरोति प्रीणयति ।  
गुरोरपि विश्वामित्रस्थाज्ञामनुरूप्य यदह पिय ताडका हतयास्तन्मे हृदये दुःख  
मुत्पादयतीत्यर्थ ॥ ६७ ॥

प्रयामनेति । प्रत्यासन्नस्य उदयोन्मुखस्य तुपारदीधितेश्चन्द्रस्य वरं किरणे  
विलस्यन्त्य नश्यन्त्यो यास्तमोवहल्यं अन्धकारश्रेणयस्तःकल्पाभि तत्तल्याभि  
मत्तधूमघट्टिभि यशोदूतधूमलताभि सम्मलितानि तिरोहितानि व्यञ्जनानि  
द्वारकुड्यादिचिह्नानि येषु तादृशा, तथा श्व भाविदिने सञ्जीवरयिष्यमाणा  
परिधास्यमाना वटुकै ब्रह्मचारिभि व्याधूता कम्पिता शुष्यन्त्यश्च त्वचो वल्क-  
लानि येषु तादृशा, निद्राणा शयिता अतिथय अभ्यागता येषु तथोक्ताश्च तपो  
वनगृहा न जस्माक कौतुकम् आनन्दानिरेक कुर्वन्ति जनयन्ति । आसन्नोदयस्य  
चन्द्रस्य प्रकाशेन नश्यन्त्या तमोलोम्या समानाकाराभिर्धूममालाभिस्तिरोहितानि

गुरु इ, आज महामुनि विश्वामित्रके वडनेसे क्रिया गया यह स्त्रीवध मुझ आनन्दित नहीं  
कर रहा है ॥ ६७ ॥

( आश्रमका ओर देखकर )

अभी अभी उदित होनेवाले चन्द्रमाकी किरणों से नष्ट होने अन्धकारकी तरह दीपने  
वाले मत्तधूमोंमें आच्छादित तथा कलह पड़ने जानेवाले सुखोंको ढाले गये वल्कलोंमें  
विरे तथा जिनमें अतिथि गण सो रहे हैं वेसे यह तपोवनोंके घर में कुतूहलकी सृष्टि  
कर रह हैं ॥ ६८ ॥

( आगेकी ओर देखकर )

१ 'तस्य' इति । २ 'अयम्' इति । ३ 'कल्पाभि' इति ।

४ 'तपोवने' इति । ५ 'पुरोऽवलोक्य' इति ।

स्फुरति पुरतो माद्यन्माद्यच्च कोरविलोचन  
 प्रकरकिरणश्रेणीदत्स्वहन्तघन मह ।  
 हृदय लघु मा भू प्रेयोदर्शनप्रतिभूरय  
 कुवलयदशामिन्दुर्नेत्रे सुधाभिरनक्ति न ॥ ६९ ॥

अपि च—

उन्मीलन्ति मृणालकोमलरचो राजीवसघर्तिका-

वाह्यचिह्नानि तपोवनगृहाणाम्, वटवश्च श्व परिधेयानि बल्कलानि चालयित्वा  
 शोषयन्ति, यत्र तत्रातिथय सुख शेरने, तद्दीदशास्तपावनगृहा अस्माकमन्तरान  
 न्दातिशय सजन्तीनि तात्पर्यम् । शार्दूलविनीडित वृत्तम् ॥ ६८ ॥

स्फुरन्ति । माद्यता माद्यता नितरा हृष्यता चकोराणा ये विलोचनप्रन्तरास्तेषा  
 किरणश्रेणीभि मयूखनिचये दत्तेन स्वहस्तेन हस्तावल्ग्वनेन घन सान्द्र मह  
 चान्द्र तेज स्फुरति रागते । चन्द्रोदये प्रसन्नता प्रकाशयन्तश्चकोरा यच्च द्रोपरि  
 दृष्टिपात कुर्वन्ति नन्नयनमयूरोस्समेधित चाद्र तेजो रागते इयाशय । हे कुव  
 लयदशा हृदय, लघु मा भू कातर भास्म भव, अयमिन्दुश्चन्द्र प्रेयसोऽत्यन्त  
 प्रियजनस्य दर्शने प्रतिभूर्लङ्क न अस्माक नेत्र चक्षुषी सुधाभिरमुत्तरनक्ति  
 मिञ्चति । चन्द्रोदयस्य विरहिणा कृते कदपचरदायितया चन्द्रमुदितमवलोक्य  
 स्वयमेव कुसुमवागवशाग प्रिय समागमिष्यताति हृदयमारवास्यते । कुवलय  
 दशामप्रक्रान्ततयाऽमग्रद्वाभिधानमिदमिति मत्वा केचित्—नगवतो हि चेतस्यध  
 कारे महद्दु खमुत्पन्नमत आह हे मदीयहृदय, मा लघु उपनस भू, अय कुवलय  
 दशा प्रतिभू प्रियदर्शने इन्दु सुधाभिर्नेत्रे अनक्ति, अतोऽधकारापनेद सन्निहित  
 इत्यर्थमाहु । इतरे तु—प्राच्या दिशि तेन पटलमालोक्य किमयमन्य एव कश्चन  
 मायावी राक्षस क्षमुपागत इति बुद्धिरस्या, ततो निपुण निरूप्याह—हे मदीय  
 हृदय, मा लघु भू मा त्वरिष्ठा नामो राक्षस कश्चित्, किन्तु कुवलयदशा प्रेयो  
 दर्शनप्रतिभूरिन्दुरयमिति वर्णयन्ति । न चातीतानागतज्ञतया रामस्य नेदृशी शक्नो  
 चित्तेनि वाच्यम्, सर्वदा तस्य तथात्वानभ्युपगमात् । अन्यथा राक्षसमायादर्शने  
 तस्य मोहाप्राप्तिप्रसङ्गेन तथावर्णनस्यामग्वद्भस्वप्रमङ्गात् । 'प्रतिभूर्लङ्क पुमान्'  
 इत्यमर । हरिणीवृत्तम्, लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ ६९ ॥

उन्मीलन्तीनि । मृणालकोमलरुच मृणालधवलकान्तय राजीवाना या सव

मतवाल चकोर नयनादी भान बहुमूल्य आनन्द प्रदान करनेवाला यह तेज भागभी  
 ओर फैल रहा है, हृदय, घबडाओ मत कियोंके हृदयोंमें प्रियपत्नोंके आनेका विश्वास  
 दिलानेवाला यह चन्द्रमा अपनी किरणोंम हमारी आँखोंको शीतला प्रदान कर रहा है ॥

मृणालकी तरह स्वच्छ एवं कमलदर्पोंको सज्जुचित करनेवाले यह चन्द्रमके किर



सर्वतंत्रतवृत्तय कतिपये पीयूषभानो करा ।

१अप्युस्रैर्धवलीभरत्सु गिरिषु क्षुब्धो यमुन्मज्जता  
धिश्वेनेव तमोमयो निधिरपामहाय फेनायते ॥ ७० ॥

( ननिर्वेदम् । )

इन्दुर्यद्युदयाद्रिमूर्ध्नि न भवत्यद्यापि तन्मा स्म भू-  
शासीरेऽपि तम समुच्चयममूर्स्मूलयन्ति त्विष ।

त्तिका नवदलानि तामा मवर्त्तं प्रलये यत् व्रत सङ्कल्प तत्र वृत्तिव्यापारो यासा तास्तथोक्ता कमलदलमङ्कोचनप्रवृत्ता इत्यर्थ । पीयूषभानोः चन्द्रमम कतिपये असमस्ता करा उन्मीलन्ति स्फुटीभवन्ति, उस्रै चन्द्रकिरणै गिरिषु पर्वतेषु धवलीभरत्सु श्वेततामज्जत्सु उन्मज्जता उन्मज्जन दुर्बता ( प्रकटपृथग्भावमाप्नु वता ) त्रिशन जगता शुब्धो मथित इवायम् तमोमय अन्धकारस्वरूप अपा तिषि समुद्र अहाय भ्रष्टिति फेनायते फेनमुद्गमति । कमलदलमङ्कोचके शशि करनिकरे किञ्चिदुन्मीलति सति प्रकाशीभवत्सु गिरिषु उन्मज्जता त्रिश्वेन मथित इवाय तमोराशिरूप सागर प्रभाशरूप फेनमुद्गमति, अन्योऽपि सागर गिरिणा मन्द्रेण मथ्यमान फेन त्यजतिस्मेति मनमिक्त्येत्यमुच्यम् । 'उत्प्रेक्षालङ्कार स्पष्ट । 'मत्रर्त्तिका नवदलम्', 'द्रागस्तियञ्जमाऽहाय', 'विश्व जगति स्थान्तपुसकम्' इति सर्वत्रामर । शार्दूलपित्रीद्विते वृत्तम् ॥ ७० ॥

इन्दुरिति अद्यापि सम्प्रत्यपि यदि इन्दु चन्द्र उदयाचले उदयाचलस्य मूर्ध्नि शिरोदेशे न भवति नोदयते तत् मा स्म भूत् नोदयताम्, अमू त्विष अमी चन्द्रकरा नासीरे उदयाचलेऽपि तमसाम्भकाराणाम् समुच्चयम् समुदायम् उन्मू लयन्ति निरवशेषमवसाययन्ति, चन्द्रसम्पाद्यस्य तमोनाशरूपकार्यस्य तदीयत्वि द्भिरेव सम्पाद्यतया चन्द्रोदयापेक्ष नास्तीत्यर्थ । न केवल तमोनाशरूपकार्यमेव त्विष सम्पाद्यन्ति, किन्त्वन्यान्यपि नेत्रानन्दजननकुमुदविकासनादिकार्याणि ता

प्रकटित हो रहे हैं, किरणोंसे पर्वत धवल हो रहे है, रससे सागर क्षुब्ध हो रहा है, यह समार मानो सागरमे निकल रहा है और इमीलिये यह सागर फेनायमान हो रहा है ॥ ७० ॥

चन्द्रमा अमी मी उदयाचलकी चोटीपर मले ही न आया हो, परन्तु उसको किरणें आगे आगे ही अन्धकारराशिका नाश कर रही हैं, आँसुओंको आहादित तथा

अप्यदणोर्मुद'मुद्गिरन्ति कुमुदैरामोदयन्ते दिश  
संप्रत्यूर्ध्वमसौ तु लाञ्छनमभिव्यङ्क्तु प्रकाशिष्यते ॥७१॥

( ३सहस्रम् । )

काश्मीरेण दिहानमम्बरतल वामभ्रुवामानन  
द्वैराज्य विदधानमिन्दुदृषदा भिन्दानमम्भ शिरा ।  
प्रत्युद्यत्युरुहृतपत्तनवधूदत्तार्धद'र्भाङ्कुर-  
क्षीवोत्सङ्गकुरङ्गमैन्दवमिद विम्ब समुज्जृम्भते ॥ ७२ ॥

कुर्वन्ते, तदाह—अप्यदणोरिति । अच्यो दृशो अपि मुदमान'दमुद्गिरन्ति ददति, कुमुदै विकसिते कुमुदकुले दिश आमोदयन्ते मुरभीकुर्वन्ति, अमौ इन्दुस्तु सम्प्रति तमोनाशनेत्रान दनकुमुदद्वारकदिकसुरभीकरणरूपकार्याणां विद्भिरेव कृत स्ये तु लाञ्छनं स्व कलङ्कमभि-यङ्क्तु स्फुटावभासता नेतु प्रकाशिष्यते उदयिष्यते, सम्प्रति चन्द्रोदयस्य तत्कलङ्कमभियन्तिमतिरिच्य प्रयोजनान्तर नात्रयाम इति भाव । स्वकीयै सन्ति कार्याणि सम्पाद्यन्ते स्वयं तु कलङ्कमात्रं प्रकाशयत इत्यहो शोच्यता शशिन इति ध्वनि । शार्दूलविक्रीटितमेव वृत्तम् ॥ ७१ ॥

कारभारेणेत । कारभारेण कुङ्कुमेन अम्बरतलम् आकाशदेशम् दिहानम् लिम्पत्, वामभ्रुवाम सुन्दरीणां स्त्रीणाम् आननद्वैराज्यम् मुखप्रतिपद्यताम् ( सादृश्यम् ) विदधानम्, इन्दुदृषदाम् चन्द्रकान्तोपलानाम् अम्भ शिरा जला धारभूतनाडी भिन्दानम् सण्डयत्, ( स्वेदयत् ) प्रत्युद्यतीभि प्रत्युद्गच्छन्तीभि पुरहृतपत्तनवधुभि पुरन्दरपुरीललनाभि दत्तो योऽर्धस्तस्य दर्भाङ्कुरेण ( अतिभ वितेन ) क्षीय मत्त उत्पङ्गकुरङ्ग क्रोडस्थहरिणो यस्य तथाभूतम् इदमैन्दव चन्द्रसम्बन्धि विम्ब मण्डल समुज्जृम्भते उदयते । प्रथमोदितकिरणानामतिरक्तवा-

दिशाओंको कुमुदोंसे आमोदिन कर रही हैं, फिर पीछे चन्द्रमा भी अपने कलङ्क से उक्त करनेके लिये उदित होंगे हा ॥ ७१ ॥

आकाशको केसरक रंगमें रानेवाला, स्त्रियोंके मुखकी समता करनेवाला, चन्द्रकान्त मणियोंको अलवादिनी सिराको प्रवाहित करनेवाला यह चन्द्रमावा विम्ब उदित हो रहा है, इसके उदय होते ही स्वर्गकी स्त्रियों द्वारा दिये गये अर्धमें वत्तमान कुम्भाङ्कुरोंकी खाकर इसका अङ्गुल्य हरिण अलमा गया है ॥ ७२ ॥

१ उदयन्ति' इति ।

२ 'अभिव्यक्तुम्' इति ।

३ 'सहस्रं च' इति ।

४ 'दूर्वाङ्कुर-' इति ।

एताञ्च—

पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरज स्वाजन्यजन्मोद्धता  
 शीताशोर्धुतय पुरन्दरपुरीसीम्नानुपस्कुर्वते ।  
 एताभिलिह्वतीभिरन्वतमसान्युद्गृह्णतीभिर्दिश  
 क्षोणीमास्तृणनीभिरन्तरतम व्योमेद्मोजायते ॥ ७३ ॥

अपि च—

नैवाय भगवानुदञ्चति शशी गन्धूतिमात्रीमपि  
 धामद्यापि तमस्तु कैरवकुलध्रीचाटुकारा करा ।  
 मध्नन्ति म्थलसीक्षि शैलगहनांन्मद्गेषु संदन्त्रते

कुङ्कुमसादरयम्, 'काश्मीर उद्गृहेऽपि स्यात्', 'नाडी तु धमनि शिरा' इति मदिन्यमरी ॥ ७२ ॥

पौलोमीति । पौलोमीकुचकुम्भकुङ्कुमरजसाम् इन्द्राणीस्तनकलशकुङ्कुमरजमा स्वान्ये समानकुले जन्मना उत्पन्ना उद्धता ह्मा, शीताशोर्धुतय चन्द्रकरा पुरन्दरपुरीसीम्नाम् स्वर्गसोमाद्दशानाम् वियताम् उपस्कुर्वते गुणान्तराधान कुर्वते । इन्द्राणीकुचकुम्भकुङ्कुमरजमानायमगर्वा अमी चन्द्रकरा व्योम्नि स्वानुमाद् घन इत्यर्थः । अधतममनि गाढाधकारान् लिह्वतीभि आस्वादयन्तीभि नाशयन्तीभिरित्यर्थः, दिश प्राच्याग्निदिग्दिनागानुद्गृह्णतीभि प्रकटयन्तीभि क्षोणी पृथ्वीमास्तृणतीभि आच्छादयन्तीभिरैताभिर्द्युतिभि चन्द्रकान्तिभि अन्तरतमम् मध्यगतम् इदं व्योम ओजयते उज्ज्वलीभयति । शान्तूलविकीटित वृत्तम् ॥ ७३ ॥

नैवायमिति । अयं भगवान् शशी अद्यापि समग्रयपि गन्धूतिमात्रीम् क्रोशद्वय परिमाणाम् अपि धाम आशानम् नैव उदञ्चति नोत्तिष्ठते, तु पुन कैरवकुलध्री-चाटुकारा कुसुदवृन्दशोभाऽऽलोकवर्त्तार करा चन्द्रकिरणे स्थलसीम्नि स्थल देशे तम मध्नन्ति विष्वन्मयन्ति, शैलानाम् पर्वतानाम् गहनानाम् वनानाञ्चोन्मद्गेषु

पौलोमी कुचकुम्भ पर वचमान कुङ्कुमरजका तुलना प्राप्त होनेसे गर्वित यह चन्द्रयुनिवाँ प्राचीदिशाको प्रकाशित कर रही है, यह चन्द्रयुनिवाँ अन्यकारको चाटना जा रही है, दिशाओंको व्यक्त करना चाहता है, पृथ्वीको विलीन करता जा रही है, इनमे आकाश दीपित हो रहा है ॥ ७३ ॥

अभी भगवान् चन्द्रमा दो बोझ कम भी नहीं उठ सके हैं, उसी कैरवकुलवा श्रीवृद्धि करनेव ल यह चन्द्र किरणे स्थलस्थल पर अन्यकारोंको मथित कर रहे हैं, पत्त

जीवप्राहमिन्न क्वचित्क्वचिदपि छायासु गृह्णन्ति च ॥७४॥

( ज्योत्स्नातिशय विभाव्य । )

किं नु ध्वान्तपयोधिरेष कतकक्षोदैरिवेन्दो करै

रत्यच्छोऽयमधश्च पङ्कमखिल छायापदेशाद्भूत् ।

किं वा तत्करकर्नरीभिरभितो निस्तक्षणादुज्ज्वल

व्योमैवेदमितस्ततश्च पतिताश्छायाच्छलेन त्वच ॥ ७५ ॥

( परिक्रम्य पार्श्वतोऽवलोक्य । )

अभ्यन्तरेषु सरन्तते भग्नद्ध उर्वन्ति, तथा क्वचित् क्वचित् छायासु जीवप्राह गृह्णन्ति च । यथा राजमटा शत्रून् स्वस्वामिनि दूरस्थेऽपि स्थलेषु विध्वमयन्ति, पर्वतकाननमध्ये निरुध्य वनायति, क्वचिन्जीवप्राह गृह्णन्ति च, तद्दमी चन्द्रकरा गायूनिमात्रीमपि दिव समाक्रामन्ति च द्रे स्थल तमासि नाशयन्ति, पर्वतवन गनानि तु तानि निरुन्धन्ति, क्वचिच्छायासु जीवप्राह गृह्णन्ति चेन्मर्थ । ‘नृपादेर्वर्णने चादुरालोक चादुरिष्यते, ‘गायूति स्त्रीक्रोशयुगम्’ इति धरण्यामरा ॥ ७४ ॥

‘कण्यु ध्वान्तपयः । अय ध्वान्तपयोधि अन्धकारसागर कतकक्षोदै जलस्वच्छ ताकारकौषधिविशेषचूर्णैरिव इन्दोश्चन्द्रस्य करै किरणै अत्यच्छ अविनिर्मल किन्नु ? अदिल पङ्क छायापदेशात् अध च अभूत् । किंवा तस्य इन्दो करा एव कर्तय छेदनसाधनास्त्राणि ताभिरभित समन्ततस्तक्षणात् खण्डनात् इद व्योम आकाशम् उज्ज्वलम् भवति, छायाच्छलेन इतस्ततस्तस्य व्योम एव त्वच पतिता, अन्यस्यापि निवृत्तस्य वृत्तादेश्च इतस्तत पतन्ति तद्वदियर्थ, उपरि प्रका शोऽधश्छाया, तन्मध्ये ध्वातपयोधि कतकक्षोदोपमैरेभिश्चन्द्रकरैरत्यच्छो जातोऽ धश्च छायाच्छलात्पङ्कमवतिष्ठतेऽथवा चन्द्रकररूपरुत्तरिकया व्योमवृत्तरिद्वस्तत्त स्योज्ज्वलता, छायाच्छलेन च तत्तरवचा पात इति विवक्षितोऽर्थ । अत्र सदे हालङ्कार स्पष्ट । शाल्विक्रीडित वृत्तम् ॥ ७५ ॥

तथा वनामै घट रहे ह, कर्णिक- छायासु जाविन, वदा वना रहे ह ॥ ७४ ॥

( अधिक ज्योत्स्ना देखकर ) क्या यह अन्धकार मार हा चन्द्रकिरण रूप ‘भिनला’ चूणके सपकमे ऊपरमें स्वच्छ तथा छायाके छलते नीचे मलिन हो रहा है अथवा चन्द्रकिरण रूप ताह्य अखसे यह आकाश रूप पल छीन लिया गया है जिससे स्वच्छ आकाश निकल जाता है और छायाक रूपमें उसका छिलका बिलर गया है ॥ ७५ ॥

( चलते हुए आगे देखकर )

१ ‘विभाव्य च’ इति । २ पङ्कमखिलम् इति

३ ‘परिक्रम्यावलोक्य च’ परिक्रम्य मवनोज्ज्वलौक्य’ इति च ।

दलविततिभृता तले तरुणामिह तिलतण्डुलितं मृगाङ्करोचि ।  
मदचपलचकोरचञ्चुकोटीरुवल्लनतुच्छमिद्यान्तरान्तगऽभूत् ॥७६॥  
( विभाव्य च । )

त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनामहो मिहिरत्विषा-  
मभिविधिरसौ कोरुश्रेणीमनस्यचक्षिप्यते<sup>१</sup> ।  
क्षुधमपि तम, कोपादन्त प्रविश्य विनिघ्नत<sup>२</sup>  
शशधरकरानच्छिन्नाग्राश्चरन्ति चकोरका ॥ ७७ ॥

दलेति । दलविततिभृताम् विस्तृतपत्राणाम् तरुणाम् वृक्षाणाम् इह तले  
अथ प्रदेशे मृगाङ्करोचि चन्द्रवृत्ति निलतण्डुलितम् निलसङ्कीर्णतण्डुलवदाचरितम्  
अतएव अन्तराऽन्तरा मदचपलानाम् प्रमोदचदुलाना चकोराणा चञ्चुकोटिनि  
कवलनेन आम्बादनेन नुच्छ शून्यमिवाभूत्, विस्तृतपत्रवृक्षाधोभागे सङ्कीर्णतिल  
तण्डुलसमान द्यामिलितमिन्दुरोचि प्रमोदचपलचकोरचञ्चुपुटभक्षितरिक्त  
मिवावभासत इत्यानाय । उत्प्रेक्षाद्वार । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ७६ ॥

त्रिभुवनति । अहो आश्चर्यम्, त्रिभुवनतमोलुण्टाकीनाम् लोकत्रयव्याप्ततमो  
विनाशिकानाम् मिहिरत्विषाम् सूर्यकान्तीनाम् असौ अभिविधि अभियासि कोरु  
श्रेणीमनसि चक्रवाङ्मुलचतसि अशिशयते, य सूर्यतापो लोकत्रय व्यापम्  
सम्प्रति सन्तापरूपेण चक्रवाङ्चित्तमात्रेऽवशिशयते, चक्रवाङ्चयो हि सूर्येऽस्त गते  
सति वियोगव्यथया सन्तप्यते । चकोरका तन्नामान पक्षिण अन्तःप्रविश्य क्षुध  
बुभुक्षा तमश्च विनिघ्नत निवारयत अच्छिन्नाग्रां दूरप्रमारिण शशधरकरान्  
चन्द्रकिरणान् चरन्ति भक्षयन्ति । चन्द्रोदये चक्रवाका सन्तप्यन्ते, चकोराश्च  
तत्करानाचामन्तीति प्रनिद्धिमनुरूप्येदमुक्तम् ॥ ७७ ॥

पत्र मसुदाय पूण इन वृक्षोंके नीचे निलतण्डुलकी तरह मिलित तम तथा चन्द्रकर  
( किरण ) ऐस्य प्रतीत होना है मानो मदचपलचकोरोंने अपनी चञ्चुओं द्वारा बीच  
बीचमें चन्द्रकरोंको निगल लिया है जिससे उसका रगन रिक्त पड़ गया है ॥ ७६ ॥

( विचार करके )

त्रिभुवनके तमकी नष्ट करनेवाले सूर्य करोंके द्वारा भी कोरुश्रेणीके हृदयमें बसमान  
वियोग-सन्तापरूप तमका लोप नहीं हो पाया था, इसीशिवे इस समय यह चकोरका  
भूखके साथ-साथ अन्तर्गत तमकी भी दूर करनेवाले इन चन्द्रकरोंको समस्त रूपमें खा  
रहे हैं ॥ ७७ ॥

१ 'अवतिष्ठते' इति । २ साक्षादन्त' इति । ३ 'निगृह्यत' इति ।

अपि चेदानीं—

तथा पौरस्त्याया दिशि कुमुदकेदारकलिका  
कपाटघ्नीमिन्दु किरणलहरीमुल्लयति ।  
समन्तादुन्मीलद्ब्रह्मजलत्रिन्दुस्तत्रकिनो

यथा पुञ्जायन्ते प्रतिगुडकमेणाङ्गमणय ॥ ७८ ॥

( परिक्रामन्नुर्ध्वमवलोक्य : )

तरुणतमालकोमलमलोमसमेतद्य

कलयति चन्द्रमा किल कलङ्कमिति ब्रुवते ।

तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपद

व्रणधिवरुपद्दशिनमिद् हि विभाति नभ ॥ ७९ ॥

येति । इदु चन्द्र पौरस्त्याया प्राच्या दिशि कुमुदाना कैरवागा केदार  
चेत्रम् तत्र या कलिका मुकुलानि तासा कपाटनीम् सङ्कोचविनाशिनीं विकास  
करीम् किरणलहरीम् स्वकातिप्रवाहम् तथा उल्लयति प्रसारयति, यथा  
समन्तात् सर्वत उन्मीलद्भि प्रसरद्भि ब्रह्म प्रभतै जलत्रिन्दुभि स्तत्रकिन  
सगुच्छा जलत्रिन्दुवर्षिण एणाङ्गमणय चन्द्रज्ञाना प्रतिगुडकम् मर्वासु गुटिकासु  
पुञ्जायन्ते राशीभजति । केरवकुलविकासकारिचन्द्ररान्तिमग्नर्कबशात् द्रवता  
चन्द्रज्ञानानाम् प्रतिगुटिक पुञ्जीभागे जायते इत्यथ । शिवरिणीवृत्तम् ॥ ७८ ॥

तरुणेति । अय चन्द्रमा तरुण प्रौढो यस्तमालस्तापिच्छस्तद्वत् कोमल भली  
मस श्यामल च ( किञ्चन ) कलयति धारयति, तद् लोका कलङ्कमिति अनृतमेव  
मिथ्यैव ब्रुवते कथयन्ति । इद् हि चन्द्रे दृश्यमान श्यामल वस्तु निर्दयस्य  
अङ्गपस्य विधुन्तुदस्य राहो दन्तपदे यद् व्रणधिवरु तत्र दन्तचतस्थाने उपदर्शित  
दृश्य नभ विभाति । नेद् दृश्यमान श्यामल वस्तु कलङ्कात्मकमपि विद् राहु-  
दन्तउतविवरुदृश्य नभ एवेति तापर्यम् । अपह्नितिरलङ्कार, प्रकृत प्रतिविधायक-

कुमुद वनवा कलिकाभोको विरमित करनेवाला अग्नी कान्तिशोको चन्द्रमा  
प्राची दिशामें इस रूपमें फैलाता जा रहा है कि समन्तत जलत्रिन्दुपुण होनेके कारण  
प्रति स्थानमें चन्द्रकान्त मणियोंके पुञ्ज बनते जा रहे हैं ॥ ७८ ॥

( घूमते हुए ऊपरकी ओर देखकर )

यद् चन्द्रमा तरुण तमाल पल्लवकी तरह श्याम वणका कलङ्क धारण करता है—यद्  
कहना गलत है वह तो अशुभकार है, राहुने जो निर्दयतापूर्वक दाँत गड़ा दिये थे, उन्मीसे  
उत्पन्न छिद्रोंमें अशुभकार व्याप्त हो रहा है ॥ ७९ ॥

किं च—

रविमिरमितष्टुत्कीर्णरिव ब्रह्मरेणुभि-

र्यदुडुभिरपि ऋडे स्थूलैरिव ध्रियते नभ ।

प्रकृतिमलिनो भाम्बद्धिम्बोन्मृजाकृतकर्मण-

स्तदपमपि हि त्वष्ट कुन्दे भविष्यति चन्द्रमा ॥ ८० ॥

लक्ष्मण — ( सर्वतोऽवलोम्य । )

भूयस्तराणि यदमूनि तमस्विनीषु

ज्योत्स्नाषु च प्रविरलानि तत प्रतीम ।

सध्यानलेन भृशमम्बरमूषिकाया

स्थापनात् । कोकिलः वृत्तम्, तल्लक्षण यथा—हयऋतुमागैर्यनियुत यदि कोकिल-  
कम् इति ॥ ७९ ॥

रात्रिरिति । यत् अमित समतात् टङ्कोत्कीर्ण पापाणदारुणाञ्जविरोपोन्निष्ठं  
ब्रह्मरेणुभिरिव अत्यशुपरिमात्यस्तुप्रिदापेरिव रविभि मयूखै तथा उडुभि  
नक्षत्रे ऋडे सण्डेरिव नभ आकाश ध्रियते पृथते, तत् अथ प्रकृतिमलिन स्व  
भावकल्प चन्द्रमा भास्वरद्विम्बस्य सूर्यद्विम्बस्य उन्मृजायाम् तल्लणे कृतकर्मण  
कृतव्यापारस्य त्वष्ट विश्वकर्मण कुन्दे यत्रविशेषे भविष्यति हि अवश्यमेव  
भविष्यति । नैताश्चन्द्ररचय किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णाब्रह्मरेणव एते, नैतानि  
नक्षत्राणि किन्तु विश्वकर्मणष्टङ्कोत्कीर्णाश्चन्द्रविशेषा एते, तस्मादवश्यमेव चन्द्र  
प्रकृतिमलिनो विश्वकर्मण कुन्दे तिष्ठनीत्युत्प्रेक्षा । पूर्वकाले सूर्यतेवास्यसहमानया  
सूर्यपण्या मन्त्रया प्रार्थित पिता विश्वकमा सूर्यं यन्त्राकूट कृत्वा हानतेजममकरो  
दिति पुराणवाचां मनपिहृययमुत्प्रेक्षा । हरिणीवृत्तम् ॥ ८० ॥

भूयस्तराणीति । यत् यत अमूनि नक्षत्राणि तमस्विनीषु कृष्णानिदानु भूयस्त  
रात्रि अतिप्रचुरात्रि, ज्योत्स्नीषु चन्द्रधवलानु च रात्रिषु च प्रविरलानि स्वल्पानि  
दृश्यन्ते, तत तस्मात् प्रतीम मन्यामहे यत् सन्धानलेन सायङ्कालरूपेणाग्निना  
अम्बरमूषिकायाम् आकाशरूपमुवर्णादिद्रवीकरणपात्रभेदे आवर्तितै द्रवीकृतै

छेनीमे वाक्का निकाले गये च प्रकृतौके समान दोस्तनदाल इन गाय-दाध प्रतीन  
होनेवाल नागोंम आकाश मरा हुआ है, क्या सूर्यको सरादपर चढाकर स्वच्छ बना  
देनेवाल विश्वकर्माजी सरादपर हम च द्रमाको मा चढना होगा ? ॥ ८० ॥

लक्ष्मण — यह तारे कृष्ण पक्षी रात्रियोंमें अधिक तथा शुक्ल पक्षी रात्रियोंमें  
कम होते हैं इससे सयक्षमें आता है कि सन्धानकके द्वारा आकाश रूप मूषाव्य नवें

मावतितै हडुभिरेव भृतोऽयमिन्दु ॥ ८१ ॥

(<sup>१</sup>विहस्य च ।) हन्त, यथाधर्ममेतत् ।

यत्पीयूषमयूषमालिनि तम स्तोमावलीढायुषा  
नेत्राणामपमृत्युहारिणि पुर सूर्योढ एवातिथो ।  
अम्भोजानि पराञ्चि तद्विजमघं दत्त्वेव तेभ्यस्ततो  
गौराङ्गीवदनोपमासुकृतमादत्ते पतिर्यञ्जनाम् ॥ ८२ ॥

उडुभि नचत्रे ण्य अयम् इन्दु भृत पूरित । अतएव हि चन्द्रोदये नचत्राणा  
स्वल्पता, तेषा नचत्राणामेव द्रवीभावमापताना पिण्डीभारेनाथ चन्द्रो जान इति  
भाव । उभ्रेचालङ्कार स्फुट ॥ वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ८१ ॥

यथाधर्मम् धर्मानुकूलम् ।

पौषधेनि तम स्तोमेन अधरारनिररेण अवलीढ समापितमायुषंषा तेषा  
तमोहताना नेत्राणाम् लोफनयनानाम् अपमृत्युहारिणि अकालमृत्युनिवारके  
नेत्राणा दर्शनक्षमताया समाधायके पीयूषमयूषमालिनि अमृतदीधिवौ एव  
सूर्योढे अस्तमितसूर्यकालागते अनिथो अभ्यागते समुपस्थिते सति यत् अम्भो  
जानि कमलानि पराञ्चि विमुग्धताभाञ्चि सङ्कुचितानि जायन्ते, तत् तत् तेभ्यो-  
ऽम्भोजेभ्य एवनापति द्विजराज ( अतिथि ) निजमघ पाप तेभ्य कमलेभ्यो  
दत्त्वा इव तेभ्य कमलेभ्य सकाशात् गौराङ्गीवदनोपमासुकृतम् सुन्दरीवदन  
सादृश्यपुण्यम् आदत्ते गृह्णाति । अयमाशय—सूर्यास्तकाले समागतोऽतिथिर्य-  
दि न सकृतो निवृत्तश्च तदाऽसौ गृहिणे स्व पाप दत्त्वा तदीय पुण्यमादाय च  
गच्छति, अय चन्द्रमास्तादृश एवानिथि कमलकुलायुषागन सङ्कुचद्भि कमलै-  
र्मन्ये निराकृत इव तेभ्यो मालिन्यरूप स्वमघ प्रदाय तेषा पुण्य रमणीवदन  
सादृश्यप्रयोनकमादत्त इति । उक्त चात्र धर्मशास्त्रे—'अतिथिर्यस्य भगनाशो

नवाकर नारो द्वारा ही यह चन्द्रमा प्ररतुत किया जाता है ॥ ८१ ॥

(हमकर) अहा ! यह ठीक ही है ।

अन्धकार द्वारा निनरी आयु समाप्त कर दी गई थी ऐसा आर्खेको पुनरुज्जाविउ  
करनेवाल सुधाकिरणशाली चन्द्रमा जब सूर्यास्तके बाद अनिथिके रूपमें उपस्थित हुए  
तभी कमलोंने मुँह फेर लिया, अत चन्द्रमाने अपना पाप कमलोंको दे दिया और  
कमलोंके पुण्य ले लिये जिनसे चन्द्रमाको सुन्दरा स्त्रियोंके सुचकी ममता प्राप्त हो  
रही है ॥ ८२ ॥

१ कृत शनि । २ विहस्य यथाधर्ममेतत् शनि ।



विश्वामित्र — ( सर्वतोऽवलोक्य । सस्मितम् । ) अह् १ नामधेयमात्र  
माधुर्यादपगमार्थदृश्वानो विप्रलभ्यन्ते । तथा हि ।

स्मेरा दिश कुमुदमुद्गिदुर पिवन्ति  
ज्योत्स्नाकरम्भमुदरम्भरयश्चकोरा ।

ना कीदृगत्रिमुनिलोचनदूपिकायां  
पीयूषदीधितिरिति १ प्रथितोऽनुराग ॥ ८३ ॥

( राम च दृढा । सहर्षस्थितम् । ) कथमय ३ कुमाराङ्कविजयप्रत्यागतोऽपि

गृहात् प्रतिनिवर्तते । स तस्मै दुष्कृत दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति । अनिर्घो  
विमुखं प्रोक्त गन् यत् पातकं नृणाम् । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूयाडे विमुखं गते ॥ इति ॥

नामधेयमाधुर्यात् नाममात्रस्य रमणीयत्वात् । अपरमार्थदृश्वान अतस्त्वदर्शिन ।  
विप्रलभ्यन्ते प्रतर्प्यन्ते । नाममनोहरत्वे लोका प्रतारिता भवन्तीत्यर्थः ।

स्मेरा इति । दिश स्मेरा त्रिकामशीला, ( नात्र चन्द्रापेक्षा, तासा स्वतो-  
विकासशीलत्वात् ) कुमुदमुद्गिदुरम् विक्रमितम् ( अत्रापि न चन्द्रापेक्षा, तद्वि-  
कामस्य स्त्रतं सिद्धे ) उदरम्भरय उदरपूर्त्तिलालसाशालिन चकोरा ज्योत्स्ना-  
करम्भम् शक्तिरम्भय दधिभग्नृकं मन्तुम पिवन्ति लिहन्ति, ना, अत्रिमुनि-  
लोचनदूपिकायाम् अत्रिमुनेर्नरविकाररूपे चन्द्रे पीयूषदीधिति अमृतकर इति  
प्रथितोऽनुराग ईदृक् ? कथमय मुनिनेत्रोत्पन्नतया तन्मलरूपो त्रिभु सुधादी-  
धितिपदनोच्यते, कोपि नादृशोऽत्र विशेषो नालोक्यत इति भावः ॥ वसन्त-  
तिलकं वसम् ॥ ८३ ॥

कुमाराङ्क प्रथम युद्धे तत्र यो विजयः शत्रुपराजयः ततः प्रत्यागतः शत्रुं

विश्वामित्र—( चारो ओर देखकर मस्मित ) अहा ! नाममात्रका समताते  
वास्तविक वस्तुको नहीं जाननेवाले बखिन होते हैं ।

दिगर्थे प्रकाशित हो गई, कुमुद स्थिर रहे हैं, चकोरगा पेट भरकर चंद्रकर रूप  
दधिसत्तु खा रहे हैं, ना ! अत्रि मुनिकी आँसूके मलरूप रम चंद्रनाम लोकोको  
पीयूषदाधिति समझकर प्रेम क्यों है ? ॥ ८३ ॥

( रामको देखकर—हृषते इत्तर ) प्रथम युद्धमें हा विजय प्राप्त करके भी नाटकके

१ 'नामधेयमाधुर्यात्' इति । २ 'प्रथित' इति ।

३ 'कुमारोऽङ्कविजय', 'कुमारो विजय-' इति च ।

ताडकानिग्रहेण 'द्विणीयमान सहसा नोपतिष्ठते' वत्सः । (लक्ष्मण प्रति ।)  
वत्स सौमित्रे, अस्माकमनेन वृत्तान्तेन प्रदोषलक्ष्मीरियमनूद्यते । पश्य ।

निशाचराणा तमसां निहन्ता पुरोऽयमुद्रच्छति 'रामचन्द्र' ।

अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामय कुमुदानजनि प्रदेश ॥ ८४ ॥

राम — ( 'विभाव्य । )

मद्यति यदुत्पन्नो दुग्धाभ्युद्येयमभ्युधी

नयति नयनादत्रेर्जातो मुद् नयनानि च ।

विनाश्य समायात, द्विणीयमान लज्जमान (स्त्रीवधस्याकार्यतया तथा) महसा  
हठात् । नोपतिष्ठते न समीपमागच्छति । अनेन ताडकावधात्मना । वृत्तान्तेन  
समाचारेण । प्रदोषलक्ष्मी रज रीमुग्नस्य शोभा । अनूद्यते पुनरुच्यते, यादृशी रचनी  
मुखस्य शोभा तादृश्यवास्मद्वृत्तान्तदशेति भाव ॥

निशाचराणामिति । निशाचराणाम् तमसाम् रात्रौ प्रसरतामधकाराणा रक्षसाञ्च  
निहन्ता मारयिता अथ राम एव चन्द्र पुर उद्गच्छति, प्रदोषस्य पुरतो यथा  
रात्रिप्रसारिणा तमसा निहन्ता चन्द्र उदयते तथा निशाचराणा निहन्ताऽय  
रामोऽस्माक पुर उदयत इत्यर्थ । अथ जाते रामचन्द्रोदये उल्लसद्भिर्विकास  
लभमानै मुनीना नयनैरय प्रदेश कुमुदान् अजनि सञ्जात, चन्द्रोदये कुमुदानि  
विक्रमन्ति, रामस्य चास्मिन् उदये प्रमत्तानि मुनीना नयनानि कुमुदानीय जायन्ते  
इत्यर्थ । रूपम् लङ्कार ॥ ८४ ॥

मद्यतीति । अथ सोमो विधु यत् यस्मात् दुग्धाभ्युद्ये क्षीरसागरात् उत्पन्न  
सञ्जात (अत) अभ्युधीन् सागरान् मद्यति हर्षयति, अत्रे मुनिविशेषस्य  
नयनात् जात इति नयनानि विलोक्य नलोचनानि मुद् नयति हर्षं प्रापयति,  
अयमस्य विधोर्जन्यजनकभावसम्बन्धमूल प्रमोदकत्वायवहार सङ्घुचिन, सम्प्रधा

मारे जानेसे यह राम लज्जित हो रहा है, अत शीघ्र हमारे पास नहीं आरहा है ।  
( लक्ष्मणके प्रति ) वत्स लक्ष्मण, हम लोगोंकी इस घटनासे प्रदोष कार्यको दुहरा दिया है ।

निशाचर तमको दूर करनेवाले यह रामचन्द्र उदित हो रहे हैं वहाँ देखकर विक्रमिन  
होनेवाले मुनिजननयनोंसे यह देश कुमुदयुत हो रहा है ॥ ८४ ॥

राम—(सौचवर) क्षीरसागरसे उत्पन्न यह चन्द्रमा सागरको प्रसन्न करता है  
और अत्रिनेत्रसे उत्पन्न होनेके कारण लोगोंके नयनोंको आनन्दित करता है समस्त

१ 'द्विणीयमान' इति । २ वत्स' इति कश्चिन्नास्ति ।

३ 'रामचन्द्र' इति । ४ 'विभाव्य च' इति ।

तदखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया शची

सहचरचरुस्थाली सोम समञ्जसमीहते ॥ ८५ ॥

(<sup>१</sup>सलज्जनुपस्थ । ) भगवन् , अभिवात्ये ।

विश्वामित्र —(<sup>२</sup>सस्नेहवहमानमालिङ्गय । ) वत्स रघुनन्दन, इत्थमेव  
प्रकृष्टकर्त्रभिप्रायक्रियाफलवतो विधीन् ।

प्रयुक्तानाम्त्वया वीर परिपाल्यामहे वयम् ॥ ८६ ॥

राम —(<sup>३</sup>स्वगतम् । ) शिरना गृहीतमाचार्यवचनम् ।

विश्वामित्र —( समरभूक्षिभूसर रामस्य <sup>४</sup>कपोलमुन्मार्जयन् । ) <sup>५</sup>यत्सत्य-

पेक्षिणादिति भाव , यदिय शचीसहचरस्य इन्द्रस्य चरुस्थाली हवनीयद्रव्य  
भाण्डभूता सोमलता अखिलसुरश्रेणीसाधारणप्रणया सकलदेवतापूतप्रणया तत्  
समञ्जसम् युक्तम् ईहते चेष्टते । एतामकस्य सोमस्य सकलदेवप्रीणनपरायणतया  
युक्तव्यवहारिता, सम्बन्धनिरपेक्षयादिति सम्बन्धापेक्षोपकारिताया अपेक्षया  
सम्बन्धनिरपेक्षोपकारिता श्रेष्ठेति चन्द्ररूपसोमापेक्षया वर एतामक सोम इत्यभि  
प्राय । व्यतिरेकालङ्कार ॥ ८५ ॥

प्रष्टति । प्रकृष्ट कर्तारमभिप्रेतीति प्रकृष्टकर्त्रभिप्राय तादृश यत् क्रियाफल  
तद्गतो विधीन् यागादीन् उत्तमकोटिकर्तुमभ्यासयागादीन् प्रयुक्ताना अनुति  
ष्ठन्त वयं मुनय त्वया परिपाल्यामहे रक्षेमहि माधीयसो यागाननुतिष्ठतोऽ-  
स्मानेऽमत्र रक्षितुयतेथा इत्यर्थ ॥ ८६ ॥

—व्यगणके समान प्रमपात्र तथा इन्द्रके चरुस्थाली ( मह्यनिमाणपात्र ) रूप इत चन्द्रमाके  
त्रिये उचित हा है ॥ ८५ ॥

( लज्जाके साथ समीप जाकर ) भगवन् , अभिवादन करता हूँ ।

विश्वामित्र —( सादर गले लगाकर ) उत्तम कोटिक क्रिया फलोंके देनेवाले यशोको  
करनेके समय आप इसी तरह हमारी रक्षा किया करें ॥ ८६ ॥

राम —( स्वगत ) आचार्यके वचन सिरपर ।

विश्वामित्र —( समरभूक्षिभूसर रामके कपोलको पोंछने हुए )

१ 'राम सलज्ज-' इति ।

२ 'सस्नेहमालिङ्गय' इति ।

३ 'परिपाल्यामहे' इति ।

४ 'स्वगतम्' इति कश्चिन्नास्ति ।

५ 'चुबुककपोल-' इति ।

६ 'वत्स यत्सत्य-', 'सत्य-' इति च ।

ममुना 'नक्तचरव्यतिकरेण प्रियसुहृदा सीरध्वजेन वितन्यमाने वैताने कर्मणि कम्पितमिव मे हृदयम् ।

राम —( गौरवम् । ) भगवन्, क एष सीरध्वजो नाम 'यमद्य ते त्रिभुवनदुर्लभोऽय प्रियसुहृच्छब्दप्रयोग कमपि महिमानमारोपयति ।

विश्वामित्र —अस्य, शृणोषि विदेहेषु मिथिला नाम नगरीम् ।

राम —यत्र पवित्रमाश्रयं ह्यय जना कथयन्ति । सकलराजदुरा कर्षमैन्दुशेखर धनु, लाङ्गलमुखोल्लिखित<sup>१</sup> विश्वभराप्रसृतिरगर्भसम्भवा<sup>२</sup> मानुषी ।

विश्वामित्र —( विहस्य । ) अथ किम् ।

नक्तचरव्यतिकरेण निशाचरसम्पर्केण । वितन्यमाने त्रियमाणे वैताने कर्मणि यज्ञविधौ । यदि राक्षसा जनकस्य धनुयंजं दूषयेदुस्तदा क प्रतिक्रियादिति चितया कम्पितमिव मम हृदयमित्यर्थ ।

कमपि महिमानमारोपयति कामपि प्रतिष्ठा प्रापयति ।

सकलराजदुराधपम् सकलैरपि राजपुंगवैर्दुर्गमनीयम् ।

लाङ्गलमुखोल्लिखितविश्वभराप्रसृति हलक्षुण्णपृथ्वीप्रभवा । अगर्भसम्भवा अनुदरजाता ।

इत राक्षसों द्वारा किये गये उपद्रवको देखकर सचमुच मेरा हृदय मेरे प्रियमित्र सीरध्वज द्वारा प्रकान्त दशकी चिन्तासे काँप उठा है ।

राम —( गौरवसे ) महाराज यह सीरध्वज कौन है, जिहें आपके द्वारा प्रयुक्त प्रिय सुहृत् शब्द गौरव प्रदान कर रहा है ॥

विश्वामित्र—वस, तुमने विदेहदेशकी मिथिलाका नाम सुना होगा ।

राम—जहाँके विषयमें तो वस्तुमें पवित्र तथा आश्वयजनक प्रभिद्ध हं एक सभा राजों द्वारा दुर्गमनीय शिवधनु दूसरी हलके अग्रभागसे सुखी पृथ्वीमें उत्पन्ना पृथ्वा समुद्रवा अयोनिजा कन्या ।

विश्वामित्र—और क्या ?

१ 'नक्तचरचक्र-' इति । २ 'विनाय' इति । ३ 'दुराधपम्' इति ।

४ 'उत्पन्नविद्वम्भराया' इति । ५ 'मानुषी च' इति ।

राम —( कौतुकम् । ) तत कि तस्याम् ।

विश्यामित्र —

‘असौ सीरध्वजो राजा यो देवाद्दधुमणेरपि ।

अध्यैष्ट याज्ञवल्क्यस्य मुखेन ब्रह्मसहिताम् ॥ ८७ ॥

‘तस्य सन्यस्तशस्त्रस्य पुराणराजर्षेर्जनकवशजन्मनो वीद्वाविलोप  
शङ्कापर्याकुलयति माम् । ‘तदेतमायुष्मन्तो, त्रिधिगेप<sup>१</sup>मस्मदीय समाप्य  
सहैव मिथिलामुपतिष्ठामहे ।

राम —( सहर्षमपवार्य । ) वत्स लक्ष्मण, ‘ममापि तस्मिन्नतरुणरो  
हिणीरमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि<sup>२</sup> शरासने चिरस्य कौतुकमस्ति ।

अभाविति । असौ राजा सीरध्वज य याज्ञवल्क्यस्य मुनेर्मुखेन याज्ञवल्क्य  
परम्परया देवाद् दधुमणे सूयात् ब्रह्मसहिताम् वदम् अध्यैष्ट अधिगतवान्, याज्ञ  
वल्क्य सूयाद् वेदमधीत्य जनकमध्यापितवानिति मन्ये जनक सूयादेव याज्ञ  
वल्क्यमुखेन वेदमध्यैष्टेति भाव ॥ ८७ ॥

सन्यस्तशस्त्रस्य त्यक्तचापस्य । जनकवशजन्मन जज्ञोगोत्रतस्य सीरध्वज  
नाम्न । दाक्षत्रितोपशङ्काचक्षुनादाभयम् ।

पर्याकुलयति-चित्ता जनयति । त्रिदिशेषम् दत्तव्यदिष्टम् । तरुणरोहिणी  
रमणचूडामणिपाणिप्रणयिनि तरुणो बालो यो रोहिणीरमणश्चन्द्रमा स चूडामणि

राम—( कौतुकम् ) वहाँ क्या हुआ है ।

वही सीरध्वज राजा है जिन्होंने याज्ञवल्क्यके मुखको माध्यम बनाकर भगवान् सूयसे  
ब्रह्मसहिताम् अध्ययन किया था ॥ ८७ ॥

जनकवशज उम सीरध्वजने शस्त्रत्याग कर दिया है, अब उनके घरके लोपका  
सम्भावना मुझे आकुल बनाये दे रही है । मत है चिरजावियों, बलो, यहाँका वचन्य  
मन्पन्न करके मिथिला चले ।

राम—( हर्षके माध-लक्ष्मण मात्रमे ) वत्स, मैं भी उस बालचन्द्रशेखरके हाथमें  
रहनेवाले धनुषको देखनेके लिए बहुत तिनोसे उत्सुक हूँ ।

१ ‘एष’ इति । २ ‘तस्य च न्यस्त-’, ‘तस्य विन्यस्त-’ इति च ।

३ ‘तदेतस्मादादायायुष्मन्तो’, ‘तदनमायु-’ इति च ।

४, ‘मन्त्रमस्मदीय परिसमाप्य’ इति । ५ ‘ममाप्यतरुण-’, ‘ममापि तरुण’ इति च ।

६ ‘शरासने’ इति ।

लक्ष्मण.—( सपरिहासम् । ) आर्यायामयोनि<sup>१</sup>जन्मनि राजकन्य-  
कायामपि ।

राम —( <sup>२</sup>सरोपस्मितम् । ) <sup>३</sup>कथमन्यदेन किमपि प्रहसन सूत्रयति  
भवान् । ( मुनिं प्रति । ) भगवन् इच्छाकुश<sup>४</sup>गुरो, "यदभिरुचित भवते ।

( इति परिक्रम्य निष्क्रान्ता सर्वे । )

इति कौमारविक्रमो नाम द्वितीयोऽङ्क ।



शिरोभूषण यस्य स शिवस्तस्य पाणिप्रणयिनि महादेवकरलारिते क्षरासने चापे ।  
अयोनिजन्मनि अगर्भनात्तायाम् ।

प्रहसनम् हामसाधन रमान्तरम् । सूत्रयति अन्तारयति ।

इति मेथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रप्रणीते अनर्घराघवप्रकाशे  
द्वितीयाङ्क प्रभात ॥



लक्ष्मण—( परिहासके साथ ) अयोनिजा राजकन्याके विषयमें भी ?

राम—( रोषस हसकर ) क्यों तुम कुछ दुस्मरी ही दिखोगी पारम्भ करते हो ।  
( मुनिके प्रति ) महाराज इच्छाकुशगुरो आपसी जैमी इच्छा ।

[ चलकर सर्मी जाते हैं ]

द्वितीय अङ्क समाप्त ॥



१ जन्मनि च राजकन्यायाम् इति । २ 'सासूयस्मितम्' इति ।

३ 'अन्यदेव प्रहसन सूत्रयति', 'सूत्रयति भगवान्' इति च ।

४ 'कुल्युतो' 'गोयुतो' इति च ।

५ 'यदभिरुचित ते', 'यदभिरुचिन भवते तत्क्रियन्तम्' इति च ।

## अथ तृतीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति कञ्चुकी । )

कञ्चुकी—( जरावैकल्यप्रियस्थूलानि वार्द्धक्यकृताशक्तिस्फुलितानि । कतिञ्चित् पदानि दद्यात् प्रियन्ति पदानि गत्वा । सन्वेदोपालम्भम् सेवेनारमान निदन् । वृद्धं कञ्चुकी वार्द्धक्यकृतेन दोर्वर्त्येन स्य निन्दन् वक्ष्यमाणप्रकारेणाहेत्याशयः । )

गात्रैर्गिरा च विकलश्चटुमीश्वराणा

कुर्वन्वयं प्रहसनस्य नटः कृतोऽस्मि ।

तस्या पुनः पलितवर्णकभाजमेन

नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ॥ ३ ॥

जरावैकल्यप्रियस्थूलानि वार्द्धक्यकृताशक्तिस्फुलितानि । कतिञ्चित् पदानि दद्यात् प्रियन्ति पदानि गत्वा । सन्वेदोपालम्भम् सेवेनारमान निदन् । वृद्धं कञ्चुकी वार्द्धक्यकृतेन दोर्वर्त्येन स्य निन्दन् वक्ष्यमाणप्रकारेणाहेत्याशयः ।

गात्रैर्गिरा । गात्रं शरीरावयवैः गिरा स्पष्टभाषया च विकलं अयुक्तं रहितं ईश्वराणां प्रभूणां चटुम् प्रियभाषितं कुर्वन् अयम् मल्लक्षणो जनोऽहम् प्रहसनस्य हास्यसाधनस्य नटः भर्त्सकः कृतोऽस्मि । विश्रानि मद्दानि स्वल्गती मम वाचं च श्रुत्वा मम प्रभवो हसन्तीति मन्ये जरावस्थयाऽहं प्रभूणां प्रहामायं प्रहसननटः कृतोऽस्मीति भावः । एनम् पलितवर्णकभाजम् तस्यां जराशौक्यवन्तं त्वाम् पृत्तुं दीर्घम् आयुः जीवितम् पुनः केन नाट्येन नटयिष्यति, चिरजीवन्नहं केन केन प्रकारेण प्रभूणां मुद्दं जनयितुं चेष्टिताहं इति नावगच्छामीत्यर्थः । अन्योऽपि प्रहसनप्रणेता नटः वर्णकेन हरितालादिना चपुरालिप्यं धवलीकृतकेन प्रभूणां प्रमोदाय नृत्यति, तद्ददहमपि दीर्घायुषा प्रवर्तितो वदूनि तानि तानि कार्याणि कर्तुं वाध्यं प्रभवो मुद्दमनुभवन्तीति मदायुर्मां प्रहसनपात्रमिव नटयतीति तात्पर्यम् । रूपं

( कञ्चुकीका प्रवेशः )

कञ्चुकी—( वाथकदवे कारणे लट् १ चालने कुञ्च पणं चल्कर अपने प्रति उलाहन के स्वरे )

शरीर तथा वचनके द्वारा मालिकोंका मनोविनोद करता हुआ मैं प्रहसनवा नट बन गया हूँ । इस पक्षे शर्भोव ले मुझ बूढ़ो यह दाव आयु न जाने कौन नाच और नचायेगा ॥ ३ ॥

१ 'विसृष्टानि' इति । २ 'गत्वा' इति । ३ 'न त्वाम्', 'कृत्वा' इति ।

( पुरो विलोक्य' । ) अये 'सीतापादमूलोपजीविनी कलहसिका ।

( प्रविश्य । )

कलहसिका—अञ्ज, पणमामि । [ आर्ज्यं प्रणमामि । ]

कञ्चुकी—वत्से, कयाणिनी भूया ।

कलहसिका—अञ्ज, चिरेण कुद्रो तुझे । [ आर्ज्यं, चिरेण कुद्रो यूयम् । ]

कञ्चुकी—( 'विमृश्य । ) तत्किं न कथ्यते । वत्से, विदितमेव

भयत्य, 'यथा तत्तादृग्दभुत' 'दारुद्वयमादाय भगवान्कौशिको यजमान  
महाराज सीरध्वजमुपस्थित ।

कलहसिका—अथ इ । अञ्ज, पह्न णामधेअ च ताण सुणिट्ठु  
अत्थि मे कोट्टहलम् । [ अथ किम् । आर्ज्यं, प्रभव नामधेय च तयो श्रोतुमस्ति  
मे कौतूहलम् । ]

केपु नद्वङ्गी स्या जरा निद्वङ्गीति प्रसिद्धम् । कञ्चुकीलक्षणमुक्तं यथा—'अन्त पुर  
चरो वृद्धो विप्रो गुणगगान्वित । सर्वनायार्थजुशल कञ्चुकीत्यभिधीयते । जरा  
यकलध्वजुक्तेन विशेषं गात्रेण कञ्चुकी' इति ॥ १ ॥

सीतापादमूलोपजीविनी सातामसीपञ्चिनी ।

कल्याणिनी कुशलिनी ।

तादृग्दभुतम् तादृशमभुतप्रभावरूपम् । दारुद्वयम् कुमारयुगलम् । आदाय  
सहृद्वा काशिक विश्वामित्र । महाराज सीरध्वजम् जनकम् । उपस्थित प्राप्त ।  
प्रभवम् उपपत्तिस्थानं वक्षामि यथ । नामधेयम् नाम, कौतूहलम् उत्कण्ठा ।

( आगता ओर दस्तर ) अर, यह तो सीताके पास रहनेवाली कलहसिका है ।

( प्रवेश करके )

कलहसिका—आय, प्रणाम ।

कञ्चुकी—वत्से तुम्हारा क्याण हो ।

कलहसिका—आय, बहुत दिनोंके बाद फिरसे भटक पड़े हो ?

कञ्चुकी—( विचारकर ) क्यों न कह दूँ ? वत्स, तुम्हें मालूम ही होगा कि अद्भुत  
रूप गुणवाले दो बालकोंको साथ लेकर भगवान् कौशिक यजमान सीरध्वजके पास आये हैं ।

कलहसिका—और क्या ? आय मे उन दोनोंका बरत तथा नाम मनना चाहती हूँ ।

१ 'विमाय च' इति । २ 'सीतापादोपजीविनी', 'सीतापादोपमेविनी', 'सीतापाद  
पञ्चोपजीविनी' च । ३ '( विमृश्य । ) तत्' इति कश्चिन्नास्ति ।

४ 'यत्तादृग्दभुतम्' ।

५ 'कुमारद्वयमादाय कौशिक' ।



कञ्चुकी—वत्से, कथयामि ।

त्रयस्त्रिंशत्कोटित्रिंशदशमयमूर्तेर्भगवत

सहस्राशोर्वशे जयति 'जगतीशो दशरथ ।

यदस्त्रैरस्निग्धैरसुरयुधतिश्वासपवन

प्रकोपे सिद्धे न स्पृशति शतकोटिं शतमस्र ॥ २ ॥

इमौ तस्य विशापत्युरात्मजौ रामलक्ष्मणौ ।

ययोर्भरतशत्रुघ्नाऽनुजौ द्वन्द्वचारिणौ ॥ ३ ॥

त्रयस्त्रिंशति । त्रयस्त्रिंशत्कोटयो ये त्रिंशदा देवा तन्मयी मूर्तिं शरीर यस्य तस्य सर्वदेवमयस्य भगवत सर्वमामर्ष्यशालिन सहस्राशो सूर्यस्य वशे जग तोदा समग्रभुवनशासनं दशरथो नाम राजा जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । त्रयस्त्रिं शत्कोटिमिमित्तदेवगणस्वरूपमूर्त्तं सूर्यस्य वशे दशरथो नाम चक्रवर्ती राजाऽस्तीति भाव । तमेव स्तौति—यदस्त्ररिति । अस्निग्धं 'कठोरं यदस्त्रं यस्य दशरथस्य अस्त्रं असुरयुवतीना देवान्नाना श्वासपवनस्य प्रकोपे वृद्धौ मिद्धे ज्ञाने मति शन मय इन्द्र शतकोटिं वज्र न स्पृशति । देवशत्रुषु राक्षसेषु हन्यमानेषु असुरयुव तय श्वास त्यजन्ति, तेनेव स्वप्नाद्यसुरयुगतिवन्दीभावमोक्षणे शत्रो निव यत्र न परामृशतीति भाव । दशरथस्य इन्द्रकार्यमम्पादयतया देवोपकारकताऽति मामर्ष्यशालिता च व्यक्ता देवमयशरीरस्य सूर्यस्य वशे जायमानतया च महाकुल प्रसूनता व्यञ्जिता । अस्त्राणामस्त्रिगत्रविशोपणेन वायुप्रकोपकारणत्व समर्थितम्, स्निग्धवस्तुभिर्वायुशमन तद्धिन्नैश्च वायुवृद्धिरिति वैद्यविद्याप्रसिद्धम् ॥ २ ॥

इमाविति । रामलक्ष्मणयोः प्रभव नामधेय च श्रोतुमिच्छन्त्या कलहमिकाया कौतूहलमपनोदयितु पूर्वश्लोकन प्रभव उक्तं, सम्प्रति नामनी जाह—इमाविति । तस्य विशापत्युः श्लोकपालस्थ दशरथस्य आत्मजौ पुत्रौ रामलक्ष्मणौ नाम इमौ विद्येते इति सम्बन्ध । ययोः रामलक्ष्मणयोः द्वन्द्वचारिणौ नित्यसहचरौ अनुजौ

कञ्चुकी—वत्से, बताया है । त्रयस्त्रिंशत्(३३)कोटि देवमूर्तिधारी भगवान् सूर्यके वशमें दशरथ नामक एक राजा है, जिनके खरे अस्रोस असुर युवतियोंके दाघनिश्चाम पवनके प्रवर्त्तिन हो जानेपर इन्द्र अपन वज्रा १०० तक नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उन्हीं राजप्रवरके यह दोनों राम लक्ष्मण नामक पुत्र हैं, इनके छोटे भाइयोंका नाम भरत और शत्रुघ्न है जो सदा साथ रहते हैं ॥ ३ ॥

कलहसिका—जथा अद्वाघरे भट्टदारिका सोदा उन्मिला अ मण्डवी सुदकिन्ती अ । [ यथास्नद्गृहे भर्तृदारिका सीता ऊर्मिला च माण्डवी श्रुतकार्तिथ । ] ( विचिन्त्य । <sup>१</sup> हर्षं निरूपयन्ती । ) कथ महाकुलप्पसूदा एदे नि कुमारआ । [ कथ महाकुलप्रसूता एतेऽपि कुमारका । ] ( मुहूर्तमिव स्थित्वा । दीर्घोष्ण च नि शस्य । ) कुदो अद्वाण ईरिसो भाअधेओ । [ चृतीऽस्माकमाश भागधेयम् । ]

कञ्चुकी—भरति, मा विपीद । सर्वं भविष्यति देवब्राह्मणा<sup>२</sup>नु प्रहात् ।

कलहसिका—तदो तदो । [ ततस्तत । ]

कञ्चुकी—ततश्च वृद्धान्त पुराणामभ्यर्थनया तौ<sup>३</sup> विकर्तनकुल

भरतशत्रुघ्नो नाम । दशरथपुत्रौ रामलक्ष्मणावेतौ, तयोश्चानुचौ भरतशत्रुघ्नो त्रिघेते इति सम्बन्ध । ‘विशौ वरयमनुप्ययो’ इति विश्व ॥ ३ ॥

भट्टदारिका राजपुत्री, ‘राजा भट्टारको देवस्तरमुता भट्टदारिका’ इत्यमर ।

कर्मिणि । इमे पूर्व श्रुतनामानो रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाश्च चारोऽपीमे राजकुमारा महाकुलप्रसूता सन्ति, तद्यदि ते सह सीतोमिलामाण्डवाश्रुतकार्तिना मदीयरजकुमारिकाणा परिणय सङ्घटन, नदाऽन्तीव प्रमोद स्यादिति तद्दृष्टयम् । मा विपीद खेद मा कुरु । देवब्राह्मणानुप्रहात् देवताना विप्राणा च प्रस्तात् । वृद्धान्त पुराणाम वयोवृद्धाना महादेवीनाम् । अभ्यर्थनया प्रेरणया । ता राम लक्ष्मणौ । विकर्तनकुलकुमारो सूर्यवशीया राजपुत्रौ । निवर्तनान परावर्तमान ।

कलहसिका—जैने हमारे यहाँ राजकुमारी साना, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतकार्ति ह ( विचार करके-दृषके साथ ) यह राजकुमार भी महाकुल प्रमूढ है । ( थोटा देर सोचकर और लम्बी सी गरम सौम लेकर ) हमारे ऐसे भाग्य यहाँ ?

कञ्चुकी—भरती, विषाद मतकर, देवों और ब्राह्मणोंकी कृपासे सब हो जायगा ।

कलहसिका—उमके बाद क्या हुआ ?

कञ्चुकी—उमके बाद में अन्न पुरकी बूडा औरतोंके आदेशानुसार उन राजकुमारोंको

१ ‘सहयन्’ । २ ‘अनुशासनात्’ ।

३ ‘समागतौ तौ विकर्तनकुलकुमारी । तौ विल’ ।

कुमारकौ ऋषि निर्वर्तमान पुरोधसा गौतमेनाहमाहूय राजपुत्रीणा  
सौभाग्यदेवताराधनाय भविहि नोऽस्मि ।

कलहसिका—( ३सहर्षम् । ) अञ्ज, सब्रजणमणीसिद्धाणुऊल विअ  
तत्वभद्रो मद्राणन्दस्स वअणम् । [ आर्य, सर्वजनमनीपितानुकूलमि  
त्रभवत् शतानन्दस्य वचनम् । ]

कञ्चुकी—वत्से, एवमेतत् । ३न सत्त्वतव्यमान्भीरमाङ्गिरसो  
व्रवीति ।

कलहसिका—ता किं मण्येव सकरसरासणारोपणव्यवसाएण  
राणमिणो जणअस्स पडिण्णाहस णिब्बाहेस्सदि राह्वो । [ तत्किं मन्वध्वे  
शक्रगरासनारोपणव्यवसायेन राणमिणो नक्तस्य प्रतिज्ञासाहसं निर्वाहयिष्यति  
राधव । ]

पुरोधसा पुरोहितेन । गौतमेन शतानन्देन । आहूय आचार्य । सौभाग्यदेवता  
राधनाय गार्गीशच्यादिमौभाग्यप्रददेवताप्रसादनाय । सविहित आज्ञापित । सर्व  
जनमनीपितानुकूलम् सर्वलोकामिलापानुवक्ति । यथा सवे कामयन्ते तथैव शता  
नन्दो मन्त्रयत् इत्यर्थः ।

अतथ्यगम्भीरम् अस्थमगम्भीरम् च । आङ्गिरस शतानन्द । अङ्गिरोवशोऽत्र  
शतानन्दो नास्ति नापि चागम्भीरमिति भावः ।

मन्वध्वे विश्वासं कुरुथ । शक्रदारासनारोपणव्यवसायेन हरधनुरारोपणवेष्टया ।  
प्रतिज्ञासाहसम् प्रतिज्ञाप्रवृत्तिम् । निर्वाहयिष्यति सफलमिष्यति । देन साहमेन

देवकर लीला आ रहा था कि पुरोहित शतानन्दने बुलाकर राजपुत्रियोंकी गौरापूर्णाके  
लिये आज्ञा दे गे ।

कलहसिका—( सद्यः ) आर्य, सभी लोगोंके मनोरथके अनुकूल ही शतानन्दके  
वचन हैं ।

कञ्चुकी—वत्से, वान एमी हा है कि अङ्गिरा गोत्रोत्तर शतानन्दना झूठी तथा  
गम्भीरतासे रचित बातें नहीं कहते हैं ।

कलहसिका—तो क्या समझते हो कि राम शिवधनुषकी आरोपित करनेको चेताने  
राजपुत्र जनकका प्रतिज्ञा पूरी करेंगे ।

१ 'सप्रहितोऽस्मि' 'सप्रति प्रहितोऽस्मि' । २ 'हर्षं नाटयति' ।

३ 'न सत्त्वव्यमत्थ्य वदति', 'नसत्त्वव्यमत्थ्यमाङ्गिरस' ।

कञ्चुकी—वत्से, जस्मानपि तर्जोऽय तरलीकरोति । तथाहि ।

पूर्णऽपि कर्मणि हृतेऽपि राक्षसेषु

विनाय मैथिलसुतामपि वीर्यशुल्काम् ।

बाल पितु प्रियममु रघुराजपुत्र-

मेतावती भुवमृषि कथमानिनाय ॥ ४ ॥

कलहस्तिका—( स्मरणमभिनीय । मविपादम् । ) अञ्ज, पउत्तिपिसे-

जनक शिवशरासनारोपण एगनयाऽस्थापयत्तत्माहम् राम शिवधनुरारोप्य  
सपत्नीजरिप्यतीनि भवन्तो मन्यन्त इत्याशय ।

तर्जोऽय तरलीकरोति चिन्तेय व्याकुलयति । राम शिवधनुरारोपयिष्यति न  
वति विषय वयमपि सन्दिहाना पथ उत्तमम् इत्याशय ॥

पूर्वोऽपीति । कर्मणि यत्र पूणे सम्पन्ने अपि, राक्षसेषु यज्ञपरिण्येषु हृतेषु  
हृतेषु मारितेषु अपि मैथिलसुताम् सीताम् अपि वीर्यशुल्काम् शिवशरासनारोपण  
रूपपरारम्भप्राप्त्याम् विज्ञाय ज्ञात्वा अपि ऋषि विश्वामित्र बालम् अल्पवयसम्  
पितु प्रियम् पित्रा सविशेष लाल्यमानम् अनुम् रघुराजपुत्रम् दशरथतनयम्  
रामम् एतावतीम् इयद्दूरवर्तिनीम् भुवम् मिथिलाभिधाना मर्त्याम् कथम्  
नानिनाय प्रापयामास । यज्ञे सम्पादिते राक्षसेषु हृतेषु अपि सीताविवाहस्य  
पराक्रमसम्पाद्यताया विश्वाम धारयन्पि मुनिर्विश्वामित्रो दशरथस्य प्रागेभ्योऽपि  
प्रिय तनय राम यदियति दूरे स्थिता जनकराजधानीं प्रापितवानस्ति, तदत्र केनापि  
गूढेनाभिमन्थिना भवितव्य, तेनाह सीतापरिणयविषये रामस्य साफल्य प्रति  
जनिताशतया न नितात निराश कष्टमाध्यतया शिवधनुरारोपणस्य न निश्चिन  
विश्वाम इति सन्दिहानमना एवास्मीति भाव ॥ ४ ॥

स्मरणमभिनीय स्मरतीति सूचक चेष्टाविशेष कृत्वा । मविपादम् मखेदम्,  
खेदश्च स्वस्वामिन्या खेदस्य स्मरणेन । प्रवृत्तिविशेषलम्बेन कस्यचित्समाचार

कञ्चुकी—वत्से हम लोगोंकी भी यह तक चक्र वना रहा है—क्योंकि यज्ञके  
पूण हो जानपर, राक्षसोंके मारे जानेपर, मैथिलीकी प्राप्ति पराक्रमाधीन है इस बातकी  
जानकर भा बाजक तथा अपने पिताके परमप्रिय इस राक्षसकी विश्वामित्र होने दूर तक  
क्यों ले आवे है ? ॥ ४ ॥

कलहस्तिका—( स्मरणका अभिनय करने—सखेद ) कुछ खाम समाचारने सीता

सलम्भेण दुर्मनायमानमत्ताण पञ्चालिअनेलिवानारेण विणोदयन्ती भट्टदारिअ पेरिअउ उद्विण्णाए कारण परिवज्जिदु आदाए अउ स्म उमणेन नए पिसुमरिद उमिणा उण दे रक्खसणामगहणेन सुमराविदहि । [ आर्य, प्रवृत्तिविशेषलम्भेन दुर्मनायमानतासान पाञ्चालिकाके लिब्धाधारण विनोदयन्ती भर्तृदारिका प्रेक्ष्य उद्विग्नया कारण प्रतिपत्तुमागतया आर्यस्य दर्शनन मया विस्मृनमेतेन पुनस्ते राक्षसनामग्रहणेन स्मारितास्मि । ]

कञ्चुकी—( भविष्यद् । ) वत्से, मीट्टी सा प्रवृत्ति, या तत्र भर्तृदारिकामपि दुर्मनाययति ।

कलहसिका—सुणादु अज्जो । जया किल सीतादेवी पत्थिदुं दमगीअपुरोहिदो आअत्ति । [ यथा किल सीतादेवीं प्रार्थयितुं दशम्राव पुरोहित आगत वति । ]

कञ्चुकी—( तत्रावप्य नाटयन्महर्षम् । ) कथमेतत्तदपि कार्यं वत्सा

स्यावाप्तया । दुर्मनायमानम् श्वेतमनुभवन्तम् । पाञ्चालिकाकेलिब्धाधारण पाञ्चालिका-पुत्रादिनिष्पन्ना तत्कलि तथा श्रीडा तेन व्यापारेण 'पाञ्चालिका पुत्रिका-स्याद्वन्द्वान्तिनि कृता' इत्यमर । विनोदयन्तीम् प्रयन्तता लम्भयन्तीम् । भर्तृदारिकाम् रावकुमारीम् स्मिताम् उद्विग्नया विचित्रा । कारणम् भर्तृदारिका-कान्तुर्मनायमानताहतम् । प्रतिपत्तुम् ज्ञातुम् । आर्यस्य पूज्यस्य तत्र कञ्चुकिन । राक्षसनामग्रहणेन 'हतप्वपि राक्षसेषु' इत्युक्ते राक्षसपदप्रयोगेण ।

प्रवृत्तिं वार्ता । 'वाक्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त' इत्यमर । दुर्मनाययति श्वेदयति । प्रार्थयितुम् दशम्रीव सीता वरीनुमिच्छतीति बोधयितुम् ।

तत्र दशम्रीवपुरोहितागमनवृत्तान्ते । अवज्ञा नाटयन् निरस्कारबुद्धिमिष

उदास होकर कठपुतलीके ख-सु दिल बहला रही थी, उसे देखकर मैं कारण जानने चली या आपकी देखकर मैं यह बात मूल गई थी, आपने राक्षसका नाम दिया तो फिर चार हो आई है ।

कञ्चुकी—( सखेद ) वत्से, वह कौन सी खबर है ? विष्णुने तुम्हारी रावकुमारी को उदास हो गए हैं

कलहसिका—आर्यं मुनिये, मोना देवीकी मगनीके टिख रावका पुरोहित जाया था ।

कञ्चुकी—( उपर ध्यान न देकर ) इन बातोंकी मैं सीता जानने लगी है कि इन

जानकी जानाति, यदनेनोदन्तेन दुर्मनीभूयते । नूनमिदानीमस्या  
कृताप्रतरणमङ्गलान्यङ्गयानि योऽनस्य पन्थानमीक्षन्ते ।

कलहसिका—अञ्ज, एष ण्येद्दम् । अञ्जओसिति सिडिलीन्दिदलञ्जा  
नपति ङ्जेञ्च अणुह्ण किंपि णिरेदेमि । [ आर्य, एवमेतत् । अर्जओऽसीति  
शिविलाङ्कतलञ्जा सप्रयवानुभूत विमपि निवेदयामि । ] ( सस्कृतमाश्रित्य । )

अनाकूतैरेव प्रियसहचरीणां शिशुतया

वचोभिः पाञ्चालीमिथुनमधुना सगमयितुम् ।

उपादत्ते नो वा विरमति न वा केवलमिय

कपोलां कल्याणां पुलकमुकुलेर्दन्तुरयति ॥ ५ ॥

प्रकाशयन् । सहर्षम् हर्षश्चात्र सीताया अतिवालाया अपि ताश्चज्ञानावगमकृतो  
बोधः । उदन्तेन वृत्तेन । दुर्मनीभूयते विपद्यते । कृताप्रतरणमङ्गलानि यावनागम  
कालकर्तव्यमङ्गलत्रियामनाधानि । यानस्य पन्थानमीक्षन्ते यावनाभिमुखानि  
जायन्त इत्यर्थः ।

अत्र पितामह ( पितामहतुल्य ) शिथिलाङ्कतलना अपगतत्रया ।  
सम्प्रयेवानुभूतम् अनिचिरदृष्टम् । मङ्कृतमाश्रित्य विदग्धताबोधनाय सस्कृत  
भाषाध्रुयणम्, तदुक्तम्—'सस्कृतभाषाचारा प्रायो नाटयेषु न स्त्रिय श्लाघ्या ।  
इच्छिपि तेषु प्रभावाद्भिदग्धताबोधनाच्च शस्यन्ते' ॥

अनाकूतैरेव । इयम् कल्याणी मवावयवानपद्या सीता प्रियसहचरीणा  
सखीना शिशुतया अप्रसयोनतया हतुना अनाकूते भावशून्ये एव वचोभि  
अधुना पाञ्चालीमिथुनम् कृत्रिमपुत्रिनायुगलम् सङ्गमयितुम् सह स्थापयितुम् नो  
वा उपादत्ते गृह्णाति नवा विरमति तद्विषयाद् व्यापारात् निवर्त्तते, केवलम् कपोली  
गण्डदेशां पुलकमुकुले रोमाञ्चकलिकाभि दन्तुरयति उन्नतानतौ करोति ।

ममाचारसं वह उदासीन हो रही है । निद्रय अब इसके अङ्गोंमें यौवनका अवतार हो  
गया है, वह राह देख रही है यौवनके आनेकी ।

कलहसिका—आर्ये यदा वान है । तुम पितामहकी तरह हो इसीलिए लज्जाका  
त्याग करके अभी अभी अनुभूत कुछ रसों बना रहा हूँ ॥ ( सस्कृतके माध्यमसे )

बिना किसी रास अभिप्रायसे प्रिय सखी द्वारा कहे जानेपर यह सीता कठपुतलीके  
जोड़ेको मिलानेके लिये न उठानी है न उम व्यापारसे विरत होनी है, केवल उसके  
कपोलपर रोमाञ्च डग आते हैं ॥ ५ ॥

कञ्चुकी—( महर्षम् । ) शिष्ट्या चिरस्य जीरन्निर्म्माभिर्वात्तनती  
‘वत्सा जानश्री दृष्टा । ( नस्मिन्म् । ) ततस्तत ।

कलहसिका—तदो अ पुणो पुणो नि तार्हि उञ्जुआर्हि जिघ्र-  
न्विज्जमाणा लज्जिदु नि लज्जेदि । [ ततश्च पुन पुनरपि तामि दृष्ट्वा  
भिर्निर्वर्धमाना लज्जितुमपि लज्जते । ]

कञ्चुकी—( विद्वत् । ) वत्से, सरीर्णे वयमि गार्त्विज्य वत्ते ।  
अत्र हि

‘मनोऽपि शङ्कमानाभिर्वाताभिरपजीन्यते ।

अयमाश्रय—संता मग्नति न्तानर्थावना चिद्यते, मर्त्याना मरतेनानुरोधेनापि  
मा कृत्रिमपुत्रिसायुगल मन्मन्यन्ती स्त्रीपुयोग जनमि विभाव्य भाग्नि न्व  
विशदम्य ध्यायन्ती कपोलयो मन्वारोमाद्वत्वा भवन इति । शिखरिणीवृक्षम्,  
‘रमेरोगैरिदृशो यमनचमलाग दिग्गरीणी तिलद्वयम् ॥ ७ ॥

शिष्ट्या नाम्येत् । शिरस्य जीरन्नि चिरजीविमि । यौवनवती युवती । यन्  
मया चिर न च विन म्यामना पुनर्ते राजपुत्रीं द्रष्टुमवमरो न लज्ज म्या  
दिति भाव ॥

कञ्चुकामि मरत्यामि, बालभावादनुरूपानकौशलामि, पुन पुन निघ्न-  
नाना नृयो भूय जागृढमाग । लज्जितुमपि लज्जते लज्जामपि प्रकटयितु  
मनुमपति ।

सर्द्धीं वय मर्धा वयमि, वार्यर्थावतयो मन्मने । इय संता ।

अत्र हाति । अत्र अस्मिन् वय मर्ध्यावतये मन स्वाय चित्तम् अपि शङ्कमानामि  
मना मनीय भाव जानानि चैदनुचित स्यान्ति हृदयविषयंऽपि मतकामि बालामि

कञ्चुकी—( महर्ष ) मायवश दृष्ट दिनों दक जावित रहनेके कारण मैं इस  
अवस्थाने माताको देख सका । ( हम्कर ) हमके दाद !

कलहसिका—उदन्तर मरला मलिसौं शरा बार-बार पूछी अनपरा मीठा लज्जा  
वगनेमें भी लज्जाका अनुभव करती है ।

कञ्चुकी—( हम्कर ) वत्से, वह मांग वद-नशिकी स्थितिमें है । इस अवस्थाने

१ ‘वत्सा वैदेहा’, ‘वत्तापि’ । २ ‘शखिवय वशात् वरते’, वरते बाला’ ।

३ ‘मनो विदङ्कमानामि’ ।

अपङ्क्षीणपाङ्गुण्यमन्त्री मकरकेतन ॥ ६ ॥

कलहसिका—( मलजम् । ) अज्ज, रमणीय मन्त्रेणि । मन्त्रम्भ  
पि अणुत्तमप्राविणी वे जाआ । [ आर्य, रमणीय मन्त्रयत्ते । नवस्त्राप्यनुभव  
सवादिना ते वाक् । ]

कञ्चुकी—किं च<sup>१</sup> रत्से,

तदात्प्रोन्मीलन्म्रदिमरमणीयात्कठिनता

निचित्य<sup>२</sup> प्रत्यङ्गादिव तरुणभावेन घटितौ ।

स्तनौ संविभ्राणा क्षणविनयधैयात्यमसृण

नयोरताभि—अपङ्क्षीणपाङ्गुण्यमन्त्री न मन्त्रि पट् अक्षीणि यत्र तत्तत्रकम्  
अपङ्क्षीणम्, पट्गुणा स्यात्प्रत्यङ्ग पाङ्गुण्यम् अपङ्क्षीणञ्च तत् पाङ्गुण्य  
ञ्चेति कमपारय, अपङ्क्षीणपाङ्गुण्यम् तत्रव मन्त्री सचिव नाम उपपद्यते  
सेयते । अथमाशय—मनसोऽपि भावप्रकाशभयाद् विनययो जाला काममपि  
गापायधिया स्वन्ते, कामविषयऽपि अपङ्क्षीण पाङ्गुण्य मन्त्रिण बुध्नि,  
अपङ्क्षीण तृतीयावतनत्राविषय, ‘अपङ्क्षीणो वस्तुर्तात्यावगोचर’ इति अमर ।  
संविभ्राणा प्रहयानामनष्टेराभाजनमाश्रया पट्गुणा । काम मयन पर तन्कनापि  
न लक्ष्यते इति तदर्थ ॥ ६ ॥

मन्त्रम्भ न यमि । अनुभवम्प्रादिनी अनुभवानुसारिणी । वाक् रचनम् ।

नयावेति । तदात्प्रोन्मीलन्म्रदिमरमणीयात् कठिनता कोमलता  
तेन रमणीयात् मन्त्रोक्तत् प्रत्यङ्गात् अद्वात् अद्वात् कठिनताम् कठोरभाव निचित्य  
समाहृत्य तरुणभावेन यौवनन कत्रा घटितौ निमित्ता स्तना कुचा मन्त्रिभ्राणा  
धारयन्त्य सृण अल्पमा एव वियाय शान्तभाव वैयाय चापल्यञ्च ताभ्यां कृषे

वाक्वनिदावे मनम भा शक्ति रहा करता है—तथा शन्द्रियोके मन्त्रकमे रक्षित पाङ्गुण्य  
मन्त्रा कामदेवकी मद्दद निवा करता है ॥ ६ ॥

कलहसिका—( मलज्जमावसे ) भाय, आप ठीक कहत है आपकी बात समाके  
अनुभवोंस मिलता है ।

कञ्चुकी—रत्से, दीवामे उपरनेवाली रमणीयतामे मरे सारे अहोंकी कठोरता  
प्वत्रित करके यौवनद्वारा बनावे गये स्तनोंकी धारण करनेवाली युवतियों नम्रता तथा



स्मरोन्मेषा केषामुपरि न रसाना युवनय ॥ ७ ॥

कलहसिका—( विहस्य । ) भोदु । ता ण किं पि तुझेहिं सुदम् ।  
[ भवतु । तत्र किमपि युष्माभि श्रुतम् । ]

कञ्चुकी—वत्से, न 'तावदर्थोऽयमगापि राजगोचरीभवति । त्रि  
च म्यात्किमेतावता ।

कलहसिका—तदा हृदामो रागणो देवीं परिण्येदि । [ तदा हतागो  
रावणो देवीं परिणयते । ]

कञ्चुकी—( विहस्य । )

हस्ते करिष्यति जगत्त्रयजित्वरोऽपि

कस्तादृशो दुहितर जनकेऽवरम्य ।

नम्रान चणे चापञ्चेति भावमाङ्गुणेऽर्थ, ममूरा मधुर स्मरोन्मेष कामवि  
कारो यामा तादृश्यो युवतय केषाम् रसानाम् आस्वादविशेषागाम् उपरि न-  
वर्त्तत ? मर्षेणामेनास्त्रादानामुपरि युवतयो वर्त्तन्ते यामा शरीराग्रयवगत काठिन्य  
माहृदय रचितो स्तनी कठोरता भवन, सर्वाणि चेताराण्यद्वादि काठिन्यापग  
मेनर कोमलता भवतीत्यर्थ । प्रयद्वात्कठिनता निचित्यवेत्युपेक्षा । 'तकालस्तु  
तदाय स्यात्' इत्यमर । शिचरिणीवृत्तम् ॥ ७ ॥

तत्र किमपि युष्माभि श्रुतम् ? अत्र 'दशप्रावपुरोहित जागन' प्रागुक्तेनवृत्त  
विषय तदीयाग्रगमजिज्ञामा ।

अर्थोऽयम् दशप्रावपुरोहितागमवृत्तान्त । राजगोचरीभवति राजा ज्ञायते ।  
किमेतावता ज्ञात्वापि राजा किं करिष्यति इति तदाशय ।

हताश निन्दिताभिलाष । देवीम् मीताम् । परिणयते विशाहयति ।

हन्ने इति । जगत्त्रयजित्वर लोकत्रयजयशाल क जनश्वरस्य विदेहराजस्य  
दुहितर कन्या हस्ते करिष्यति परिणीय स्ववश नेष्यति ? न कोपि लोकत्रितय

भूटानामे मिले कदपसे युक्त होकर किन किन रसोंकी सृष्टि नहीं करती हैं ॥ ७ ॥

कलहसिका—( हमकर ) अच्छी बात है । तो क्या आपने कुछ नहीं सुना है ?

कञ्चुकी—वत्से, यह बात अभी राजा तक नहीं पहुँची है, यदि राजा सुन मा लें  
तो इससे क्या ?

कलहसिका—तो अभागा रावण सीताको ब्याह लेगा ।

कञ्चुकी—( इसकर ) तीनों लोकको जीतकर वीर बननेवाला ऐसा वीर है जो

१ 'तावदयमथ' । २ 'कस्तादृश', 'कस्तादृशीम्' ।

प्राणाधिकं विपुलराहुभृतामपीद

त्रैयम्भक किमपि कार्मुकमन्तराय ॥ ८ ॥

नापि दशरुप्ररानुरोधेन स्वय प्रतिज्ञातमन्यथा करिष्यति महाशत्रियो  
त्रिवेहाराज । तन्न किंचिदेतत् ।

कलहसिका—( 'विहस्य । ) एष भोदु । अञ्च, सपदि कहिं ते  
रामलक्षणा । [ एव भवतु । आर्य, मप्रति कुत्र तौ रामलक्ष्मणौ । ]

कञ्चुकी—नन्वेतावैव देवतागारवेदिकाया

मुनीन्कौशिकपैदेहगौतमानभिराध्यत ।

विषयगर्विनोऽपि विद्वदनुपपुत्री मीता वशीकृत समर्थ इत्यर्थ । सीतापरिणयस्या  
सायना प्रकाशयति—प्राणात्रिमिति० । विपुलराहुभृताम् महाभुक्तानाम् अपि  
प्राणात्रिम्भ समत्रिम्भसारम् इदं त्रयम्भकम्भिवसम्भ्रन्निधनु कामुम्भ्रन्निमपि अन  
पनेयम् अन्तराय विन जस्तीति शप, महाभुक्तस्यापि रान् प्रलापेह्यात्रिम्भ्रल  
मिन् शप धनुष्यावत् । विनभावेनावस्थित तदा कोऽपि लोकविन्धयी सीता परिणेतु  
न ह्यमते, ततश्च दशम्रीय सीता परिणेत्यतीति चिन्तयाऽलमिति नाव । धमान  
निलक वृत्तम् ॥ ८ ॥

दशरुप्ररानुरोधेन रावणानुरोध मत्वा । स्वय प्रतिज्ञातम् आम्ना नियतम् ।  
अन्यथा करिष्यति स्वय शिथिलीकरिष्यति । स्वप्रतिज्ञाताथान्यथाकरणस्या  
शक्यत्वं कारणमाह—महाशत्रिय इति । तन्न किञ्चित्तत् दशम्रीवपुरोहितागमन न  
चिन्ताविषय इत्यर्थ ॥

एतौ रामलक्ष्मणो देवतागारवेदिकायाम् वज्रमदनामन्नपरिष्कृतभूमौ ।

मुनानिति । ज्ञानकर्मभ्या तत्त्वज्ञानयज्ञानिकर्मभ्याम् ढौकितौ प्रापितौ स्वयम्

जनकदुःखिताका पाणिग्रहण कर ल क्योकि राहुवल्शाली वारोके द्वारा दुनमनाय यह  
अनिदुवह शिवधनु जो बीचमें विधन बनकर उडा है ॥ ८ ॥

और यह भी बात है कि महाशत्रिय जनक रावणके अनुरोधमे स्वय को गद प्रणिकाको  
भी नहीं बदलेंगे । इसलिए यह कोई चिंताकी बात नहीं है ।

कलहसिका—( इसकर ) ऐसा ही होवे । आथ, इस समय यह राम लक्ष्मण नहीं हैं ?

कञ्चुकी—यहा तो देवमण्डपवा पर ज्ञान-कर्ममे आवृत मोक्ष-स्वगकी तरह प्रतीत

दौकितौ ज्ञानकर्मभ्या मोक्षस्वर्गाविव स्वयम् ॥ ९ ॥

तदेहि । महश्चिर<sup>१</sup>भागतानामस्माकम् । कन्याऽन्त<sup>२</sup>पुरमेव गच्छाम ।

( इति निश्चान्तौ । )

विष्कम्भक ।

( ततः प्रविशति जनको विश्वामित्रशतानन्दौ रामलक्ष्मणौ च । )

जनक — ( सहर्षम् । ) भगवन्विश्वामित्र,

तुम्पन्नदृष्टजामातृसपदा शुचमद्य न ।

त्वदागमनजन्माऽयमानन्द सुदिनायते ॥ १० ॥

मूर्त्तिमन्तौ मोक्षस्वर्गाविव वर्त्तमानौ ण्मौ रामलक्ष्मणौ कौशिकवेणुहृगौनमान् विश्वामित्रजनकशतानन्दनामकान् सुनीन् तत्रचिन्तकान् ऋषीन् अभिराध्यत निरे वृते । इमौ विश्वामित्रादिमुनिगणसेवाममासक्तवृत्तौ राजचन्द्रौ विश्वामित्रादिमुनि गगान्तज्ञानरसोपनतमो<sup>१</sup>स्वर्गाविव प्रतीयते इत्यर्थः । उपमात्कारः ॥ नन्वत्र 'सुनीनभिराध्यत' इत्यनुपपन्नम्, राधोऽकर्मभाद् ब्रूद्वावेति नियतस्य श्यनोऽत्रा प्रसक्ते' इति चेन्नोच्यते 'अभिराधो' इति कर्मप्रवचनीयसक्तकोऽभिराध्यम्, तयोरा ण्य चात्र द्वितीया, कौशिकार्दीनभिलक्षीकृत्येति नदर्थः, यद्वा सुनीन् 'दौकितौ वाराध्यत' दौकितौवियस्याभिवादनपराशिव्यर्थः ॥ ९ ॥

महत् चिरम् अतिरिन्ध ।

विष्कम्भक बृत्तवर्त्तिष्यमाणकथाशनिदेशम् ।

तुम्प्रति । अद्य अष्टौ नावलोकिता जामातृमम्पर् जामाता एव धन वै तेषाम् अष्टजामातृमम्पर्दाम् अमातृनामातृधनानाम् न<sup>१</sup> अस्माकम् शुचम् शोकम् तुम्पन् विनाशयन् अयम् अनुभूयमान त्वदागमनजन्मा त्वदागमनजनक शतानन्द

ज्ञानबाल यद् राम-लक्ष्मण कौशिक, जनक तथा गौतम प्रभृति मुनियुक्ता सत्वा कर रहे हैं ॥

चलो, हमको आये बहुत दर हो गई, क्योंकि पुर की ओर चले ।

( जाते हैं )

( विष्कम्भक )

( अनन्तर जनक, विश्वामित्र, शतानन्द तथा राम-लक्ष्मणका प्रवेश )

जनक—( सहर्ष ) भगवन् विश्वामित्र, जामातोंके नहीं मिलनेसे दुःखी रहनेवाले हमारे दुःखको दूर करता हुआ यह आपके आगमनसे आश्चर्यमान आनन्द प्रदित बन रहा है ॥ १० ॥

१ 'भागतयोरारव्यौ' । २ 'पुर एव गच्छाम' ।

अपि च—

अद्य प्रदक्षिणशिखावलय कृशानु-  
रञ्जाति मे जनपदेषु वषट्कृतानि ।

त्वत्तेजसि स्फुरति शान्तिकपोष्टिकेषु

स्वा च म्रुच शिथिलमाद्भिरसो विभर्ति ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, चिरस्य शान्त पुष्टश्च तवाय  
जनपद ।

यत्र त्व ब्रह्ममीमासात्त्वशो दण्डधारक ।

प्रहप सुदिनायते सुदिन करोति । त्वद्वागमनेन जलज्जपामातृकतयाऽन्तर्दुःखशालि-  
नोऽपि वय सम्प्रति मानदा मजाता इत्याशय । ‘सुदिनायते’ इत्यत्र ‘सुदिन  
दुद्दिननीहारेभ्यश्च’ इति वयङ् ॥ १० ॥

अथेति । अद्य त्वद्वागमनशुभदिने प्रदक्षिणशिखावलय प्रदक्षिणां चि कृशानु  
अग्नि मे मम जनपदेषु अधिहृतदेशेषु वषट्कृतानि ह्यमानद्रव्यजातानि भरनानि  
भुङ्क्ते । यत्र गृहि शुभसूचक दक्षिणमपरिवत्तनमाचरन् सान्द हुतमास्वाद  
यतीत्यर्थ । त्वत्तेजसि त्वदीये तेजसि शान्तिकपोष्टिकेषु शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु  
च स्फुरति मति आद्भिरसो गातम स्वा म्रुच म्रुवभेद शिथिल निवृत्तयापार  
विभर्ति धारयति, त्वदीयेन तेजसेव शान्तिकर्मसु पुष्टिकर्मसु च सम्पाद्यमानेषु  
गातम शान्तय पुष्टये च न जुहोतीत्यर्थ । शान्ति प्रयोजनमस्येति शान्तिकम्,  
पुष्टि प्रयोजनमस्येति पौष्टिकम्, तेषु शान्तिकपोष्टिकेषु कर्मस्त्विति विशेष्यमध्या  
हार्यम् । ‘अशौ तु हुत त्रिषु वषट्कृतम्’, ‘म्रुवो भेदा म्रुच त्रियाम्’ इत्यु  
भयत्रामर ॥ ११ ॥

‘चिरस्य शान्त’ बहो कालात्तवाय दश शाया पुष्ट्या शोपपन्नस्तन्न तत्र  
मदागमन प्रशासनीयमित्यर्थ । त्वदीयस्य देशस्य शातपुष्टत्वे हेतु वदति—

यत्र त्वमिति । यत्र यस्मिन्देशे ब्रह्ममीमासात्त्वशो वेदान्तविद्यामारवित् त्व  
जनक दण्डधारक शासन, यस्य च देशस्य त्वादशो वीतराग शासक स्यात्तस्य

आज अग्निदेव हनारे दशमे प्रदक्षिणक्रममे लपटे बडाकर ह्यव्य प्रहण करने हैं,  
शान्ति पुष्टिकर्मने आपके प्रतापके व्यापृत रहनेपर शान्तनन्दका यह सुक् मन्द पङ्  
रदा है ॥ ११ ॥

विश्वामित्र—आपके इन देशमें शान्ति तथा पुष्टि चिरकालसे विद्यमान है ।

जहाँपर आपके समान वेदान्तशास्त्रतत्त्वज्ञ दण्डधारी हैं, जिनके पुरोहित अग्निराजि

पुरोधश्चैव यस्यासावङ्गिर प्रपितामह ॥ १० ॥

( स्मित वृत्वा । ) जामातुर<sup>१</sup>दर्शनजन्मा शोक पुनरस्माकमुपशमयि  
तुमप्रशान्तये । किं शोकहर्षो नाम लोकयात्रेय भवन । तथाहि ।

यजूषि तैत्तिरीयाणि मूर्तानि वमति स्म य ।

स योगी याज्ञवल्क्यस्त्या वेदान्तानध्यजीगपत् ॥ १३ ॥

देशस्य शान्तिपुष्टयो का कथेतिभाव, नतावदेव यत्त्व वेदान्तविद् भूत्वा नामक,  
अपितु विदुषा पुरोहितेन नियतोऽपीत्याह—पुरोधाश्चैवेति । यस्य तव अङ्गिर प्रपि  
तामह अङ्गिरस पोत्र गौतम पुरोधा पुरोहित, एतेन स्वतो विज्ञस्य तादृश-  
पुरोहितानुजावर्त्तिनश्च तव शासने स्थितस्य देशस्य शान्तिपुष्टयोश्चिन्तयाऽह-  
मिति भाव ॥ १२ ॥

जामातुरदर्शनजन्मा जामातृप्राप्तभावकृत । शोक खेद । उपशमयितुम दूरी  
कर्तुम् । शोकहर्षो दुःखानन्दौ । भवन जनकस्य । लोकयात्रा व्यवहारप्राप्तौ ।  
अर्थात् वस्तुतो ज्ञानिनस्तव शोकाद्यसंगृह्यत्वेऽपि लोकव्यवहारेण शोकाद्यनिभा  
नित्वमिति भाव ।

यजूषोनि । तित्तिरिणा तदाकारधारिणा शाकल्यमुनिना धृतानि तैत्तिरीयाणि  
मूर्तानि शरीरधारीणि यजूषि य याज्ञवल्क्य वमतिस्म उद्गीर्णवान्, स योगी  
याज्ञवल्क्य एवा जनक वेदान्तान् उपनिषद् अध्यनीगपत् अध्यापितवान् ।  
शाकल्यमुनेर्याज्ञवल्क्य वेदमधीतवान्, अध्ययनान्ते शिष्येण गुरुदक्षिणार्थमनु  
युक्त, स हि गुरुस्तदीयसेवादिना नुप्यन्यपेधत् पर शिष्येण ब्रह्मगृहीत स स्वा  
विद्यामेव दातुमनुमेने, तदाज्ञाधानवल्क्येनाधीतो यजुर्वेद एवोद्गीर्णं दत्त, गुरु  
रपि तित्तिरिपञ्चिरूपमादाय तमुद्गीर्णं वद पीतवान्, तदवधि तस्य वेदभागस्य  
तित्तिरिपञ्चिगृहीततया तत्तिरीयसाम्यानाम्ना व्यवहार प्रवृत्त । पश्चाच्च याज्ञवल्क्य  
सूयाद्यनुरध्यमीष्टेति कथाऽत्रानुसन्धया ॥ १३ ॥

पोत्र शतानन्द हो ॥ १२ ॥

( हसकर ) जामातृके नदशनम होनवात् अथका शोक हमें दहाना है । शोक और  
हृष तो समारका धम है ।

तैत्तिरीय यजुर्वेदको मूलरूप देकर जिन्होंने वात वर दिया था, वही योगी याज्ञ  
वल्क्य आपके वेदान्त विद्यागुरु रह हैं ॥ १३ ॥

लक्ष्मण —( जनान्तिकम् । ) आर्य, अयमय स राजा वैदेह ।

‘पवित्रमपरिमेयाश्चर्यं यस्यावदानमु’पाध्यायादनुश्रूयते ।

राम —( सप्रमोदानुरागम् । ) वत्स, स एवाय शतपथकयाधिकारी पुरुष प्रणाट्यायान्तेवासिने ‘यस्मै वाजसनेयो याज्ञवल्क्य सत्तानि यजुषि प्रोवाच ।

विश्वामित्र —( मुहूर्तं “निर्वर्ण्यं च । )

निजाय तस्मै गुरवे यतीना जैत्राय विश्राणितगोसहस्रम् ।

त गोसहस्राधिपते प्रशिष्यमुपास्महे मैथिलमातिथेयम् ॥ १४ ॥

जनान्तिकम् ‘अन्योन्यामन्त्रण यस्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्’ इति लक्ष्मणम्, यस्य जनकस्य । पवित्रम् पावनम् । अपरिमेयाश्चर्यम् अतिविस्मयकरम् अवदानम् पूर्ववृत्त कर्म । उपाध्यायात् गुरो विश्वामित्रात् । अनुश्रूयते आकर्ण्यते ।

सप्रमोदानुरागम् हर्षेण स्नेहेन च सहितम् । शतपथकयाधिकारी शतपथाव्य वेदभागोक्तकथापुरुष, प्रणाट्यायान्तेवासिने वीतरागाय मुमुक्षवे शिष्याय । वाजसनेय यजुर्वेदशास्त्रीय । ‘प्रणाट्योऽभिलापशून्य स्यात्’ इति हारावली ।

निजावेति । यतीना योगिना जैत्राय विजयिने यतिश्रेष्ठाय तस्मै प्रमिद्धाय निजाय गुरवे स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय विश्राणितगोसहस्रम् दत्तदशशतसङ्ख्यक धेनुकम् गोसहस्राधिपते दशशतस्तरधारिण सूर्यस्य प्रशिष्यम् शिष्यशिष्यम् तम् स्वतपर्यायतम् आतिथेयम् अतिथिसेवाप्रमिद्धम् मैथिलम् मिथिलेशम् जनकम् उपास्महे उपगच्छाम । सोऽय जनकोऽस्माभिरातिथेयतथा समासाद्यते यो योगिप्रवराय निपगुरवे याज्ञवल्क्याय गता सहस्रमदात्, यो हि गुरुर्याज्ञवल्क्य

लक्ष्मण—( शिष्याय ) भाय, यही है वह राजा वैदेह, जिनका पवित्र तथा आश्चर्य जनकवृत्त प्रसिद्ध है ।

राम—( आनन्दके साथ ) यही है वह शतपथ कथाओंके अधिकारी पुरुष, जिहें वाजसनेय याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदका उपदेश किया था ।

विश्वामित्र—( थोड़ी देर देखकर ) जिन्होंने अपने गुरु यतिराज याज्ञवल्क्यको महसूस गाये दक्षिणार्धे दा भी उसी सप्त किरण सूर्यके प्रशिष्य मैथिलराज जनकको मे आतिथेयके रूपमें प्राप्त कर रहा हू ॥ १४ ॥

१ ‘पवित्रमाश्चर्यं च’ ‘पावि’पमपरिमेयमाश्चर्यम्’ । २ ‘उपाध्यायमुखात्’ ।

३ ‘स एवाय शतपथाधिकारी’ । ४ ‘यस्मै वाजसनेयाय वाजसनेय’ ।

५ ‘च निर्वर्ण्यं’ ।

जनक —( मप्रप्रथम् । ) भगवन्, यदन्यत्किञ्चिदभिदधाति<sup>१</sup> तत्र प्रभविष्णुर्भवान् । तत्रभरत सहस्रमयूरान्तेवामिनो<sup>२</sup> योगीश्वराद्ध्य यनमिति<sup>३</sup> महीयसीयमस्माक यश पताका ।

विश्वामित्र —( विहस्य । ) भो महायोगिन्,  
किं याज्ञवल्क्यो जनक किमेत न घ स्वरूप करयोऽपि विद्यु ।  
प्रवाहनित्यानधिकृत्य युष्मान्सहस्रशाखा श्रुतय प्रथन्ते ॥ १५ ॥

सूयात् शाखाप्यध्यष्टेति भाव । 'स्वगुपुपशुवाग्प्रदिद्वेनेत्रष्टिभूतले । लक्ष्य दृष्ट्या स्त्रिया पुमि' इत्यमर । उपजातिर्दृक्तम् ॥ १४ ॥

मप्रप्रथम् सविनयम् ।

यदन्यत् किञ्चित् यानवलक्यशिष्यत्वातिरिक्तम् मद्रिपय प्रशमात्राक्यम् । प्रभ विष्णु समर्थ । यथास्ति भवान् मा प्रशसितु स्तनन्त्र इत्यर्थ । तत्र भवत पूजनीयात् । सहस्रमयूरान्तेवामिन सूर्यशिष्यात् यानवलक्यात् ।

महीयसी महत्तरा । यश पताका कीर्तिध्वज । भवं भवान्यष्ट वस्तु चम, तत्तद्भरतोच्यमान प्रशसात्राक्य मयि नापि सय स्यात्, अतिशयोक्तिरूपत्वात्, परमेरुमिद मयान् हीयते यदह याज्ञवल्क्यादर्धातविद्य इति प्रसङ्गात् ।

किं याज्ञवल्क्य इति । यानवलक्य किं ( किमभिधान वस्तु विद्यते ) जनक किं किनस्तु एव त्र युष्माकम् स्वरूपम् तत्त्वम् क्वय विद्वामोऽपि न विद्यु जानीयु, यानवलक्यस्य भवतश्च तत्र ज्ञातु विद्वामोऽप्यशक्ता वा कथा मादृशमित्याद्य पादद्वयार्थं, प्रवाहनित्यान गुहशिष्यपरम्परयाऽग्निनाशिन युष्मान् अत्रिद्वय अथ लभ्य सहस्रशाखा दशशतशाखाभेन्भिन्ना श्रुतय वेदा प्रथन्ते प्रसिद्धयन्ति । गुहशिष्यपरम्परया वद बृहयता भवता तत्र वस्तुनो विद्वद्भिर्प्यनवधार्यमिति स्तुनिरपि भवता भूताध्याहतिरेव नातिशयोक्तिरिति भाव ॥ १५ ॥

जनक—( मप्रनाके साथ ) भगवन् आप और जो कुछ चाहे वह मकने है, परन्तु वह जो हमारा बड़ा यश पताका है कि हमने सूर्यशिष्य वोगिरान याज्ञवल्क्यसे शिक्षा प्राप्त की है ।

विश्वामित्र—( हनकर ) हे महायोगिन्, क्या हैं याज्ञवल्क्य और जनक क्या हैं ? हम वस्तुके स्वरूपको कवि भी नहीं जान पायके हैं, प्रवाह-नित्य आप लोगोंके सबधसे अनेक शाखाओंमें मुनिगणों प्रथित हौनी रहती है ॥ १५ ॥

१ 'अभिदधाति' । २ 'योगीश्वराद्भगवतो याज्ञवल्क्यात्' ।

३ 'महीयसीयमस्माकम्', 'यशपताका' महती ।

शतानन्द — भगवन्कौशिक, एवमीदृशा खल्यमी त्रिभुवनम-  
हनीयमहिमानो मनीषिण ।

जनक — ( सर्वैलक्ष्यस्मितम् । )

निर्माय कर्मणमृचामघमर्पणीना

मुन्मार्जनीर्जगद्धानि तयाद्य वाच ।

श्रोतु चिरप्रणयिकौतुकमस्ति चेतो

दु स्याकरोति पुनरेष ममार्थवाद ॥ १६ ॥

तद्विरम । ( इति शिरस्यञ्जलि घटयति । )

एवमीदृशा — भवता यथोक्तास्तादृशा, अमी याज्ञवल्क्यजनकादय, त्रिभुवनमह-  
नीयमहिमान — ससारप्रशंसितप्रभावा । मनीषिण विद्वांस, सन्तीति शेष ।

सर्वैलक्ष्यस्मितम् सलज्जम दहासम् ।

निर्मायेति । अघमर्पिणीनाम् पापनाशिकानाम् ऋचाम् ऋग्वेदीयमन्त्राणाम्  
कर्मणम् कर्मकलापानुष्ठानजनित सस्कारविशेषम् निर्माय कृत्वा जगद्धानि लोक  
प्रहितपापानि उन्माजनी शौचिका समारपापशमनीरित्यर्थ । तव विश्वामित्रस्य  
वाच वचनानि श्रोतुम् आकर्णयितुम् अद्य अधुना मम चेत हृदयम् चिरप्रणयि  
कांतुकम् बहो कालादुत्कण्ठितम् अस्ति, पुन किन्तु मम एव अर्थवाद ( मम )  
दु स्याकरोति । मदीया त्वया क्रियमाणा स्तुतिर्मम मनो व्यथयति, यद्यपि लोक-  
प्रसूतपापापहारक्षमास्तव वाच श्रोतु मम चित्त चिरकालात् एतौत्कण्ठमस्ति, तथापि  
कथाप्रसङ्गे त्वया क्रियमाणया स्वस्तुया कष्ट प्रपद्ये तदल मम स्तुयेति भाव ।  
‘जगद्धानि उन्माजनी’ इत्यत्र कृद्योगे कर्मणि पष्ठीप्रयोग उचित । ‘उन्माजनी  
र्जगदस्ये’ति पाठस्तु निर्दोष । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १६ ॥

तद् विरम मम स्तुत्या विरमेति भाव, मम त्वया कृताया स्तुतेरवास्तवतया  
मम व्यथकत्वेन तथाऽऽचरण तवानावश्यकमतो विरतो भव तस्मादिति । सस्मि

शतानन्द — भगवन् कौशिक, त्रिभुवनके द्वारा काचित् महत्प्रशंसा ऐम ई यह ।

जनक — मे आज आपकी वह बातें सुनना चाहता हूँ जिन बातोंने जादू सा करके  
मन्त्रों द्वारा ससारका पाप धो बहाया है, उन बातोंको सुनने के लिये मेरा हृदय  
चिरकालसे उत्कण्ठित हो रहा है, आप जो हमारी स्तुति कर रहे हैं हमसे मुझे दुःख  
होना है ॥ १६ ॥

इसलिये छोड़िये इसे । ( शिरपर हाथ जोरते हैं )

१ मविलक्ष-१ ।

१० अ० रा०



विश्वामित्र — ( सस्मितमस्याञ्जलिमुद्धाटयन् । ) सखे सीरध्वज, सहि  
यतामञ्जलि । अमी तूर्णीभूता स्म । कात्यायनीकामुककार्मुकारोप  
णपणप्रणयप्रवीणेन तु दुहितु पत्या सप्रत्यपर्युपितप्रतिज्ञो भूया ।

लक्ष्मण — ( अर्घ्यं । ) आर्य, परस्परेषा पौरपोत्कर्षप्रशसारम  
णीय पावनोऽयममीषा ममत्राय ।

राम — वत्स, यदात्थ ।

स्मरन्ति लोकार्थममी किल श्रुतीरिति प्रतिष्ठामधिगन्तुमीशमहे ।

तम् जनकस्य नम्रतादर्शनेन स्मितोदय । अञ्जलिमुद्धाटयन् तथाकरण च  
तदीयाग्रहस्यानावश्यकताद्योतनाय ॥

सस्मितम् सहासम्, हासश्चात्र तन्नम्रतादर्शनवन्मा बोध्य । उद्धाटयन् मोच  
यन् सहियताम् अपनीयताम् । तूर्णीभूता मौन श्रिता । कात्यायन्या पार्वत्या  
कामुक पनि शिव नस्य यत् कार्मुकम् धनुस्तस्यारोपणम् सञ्जीकरणम् णव  
पण तत्र य प्रणय स्नेह तत्र प्रवीणेन निपुणेन दुहितु पत्या जामात्रा सम्प्रति  
अचिरेण अपर्युपितप्रतिज्ञ पूर्णप्रतिज्ञ भूया जायेथा । अनतिचिरेण हरकार्मुक  
मारोपितप्रता जामात्रा सत्यप्रतिज्ञो भवेति भाव ।

परस्परेषाम्—अन्योन्यम् । पौरपोत्कर्षप्रशसाराम् पुरूपकारस्तुतौ ह्य ( अन्यो  
न्यप्रशसावाच्यमनोत् ) पावन श्रोतणाम् । पापनाशन अमीषा जनकविश्वामित्र  
शतानन्दानाम् समवाय समुदाय ( अयमत्र सङ्गम ) अस्तीति शेष ।

यदात्थ—स्व यद् प्रवीणि ।

स्मरन्ति । अमी विश्वामित्रादय लोकार्थम् लोककल्याणहिताय किल श्रुती  
वेदान् स्मरन्ति अभ्यस्य स्मृतिविषयान् रचन्ति, अथवा श्रुती स्मरन्ति स्मृति  
रूपतया परिणमयन्ति इति प्रतिष्ठाम् ण्या प्रसिद्धिम् अधिगन्तुम् ज्ञातुम् ईशमहे

विश्वामित्र—( उनको अञ्जलिको विषयित करते हुए ) सखे सीरध्वज, हाथ खोलें,  
म चुप हो गया । अब आपके शिवधनुषको आरोपित करनेकी कलामें प्रवीण जामात्रा  
आपको प्रतिज्ञा पूर्ण करे ।

लक्ष्मण—( छिपाकर ) भाय, एक दूसरेकी पौरपोत्कर्ष-प्रशसा करते हैं हमसे  
इनका यह सङ्गम नितान्त रमणीय तथा पावन बन जाता है ।

राम—वत्स, ठीक कहते हो

हम इनकी प्रतिष्ठा यही तक जानने में मगध हैं कि यह वेदके अर्थको नया लोकार्थको

पर यदेवा पुनरस्ति वेभव तदेत एव व्यतिविद्वते यदि ॥ १७ ॥

जनक — ( सहर्षम् । ) भगवन् , परमनुगृहीतोऽस्मि । यत ।

समस्या वा साम्ना बहिरवहिरह परिमृजा

मृचा वा सवाद् किमपि यजुषा वा परिपण ।

त्वदाशीर्वादोऽय बहुविषयसाक्षात्कृतफलो

घर मे वत्साया प्रययति पुरोवर्तिनमिव ॥ १८ ॥

शक्नुम , अथ हि ऋषिभिरेभि श्रुतयो रचिता आभिलोकाना हितानि सिद्धयन्ति इति ऋषीणा प्रणिष्ठा केवला ज्ञातु शक्नुम इत्यर्थ । पर किन्तु पुन एषाम ऋषाणाम् यत् वेभवम् ज्ञानकृतसामर्थ्यातिशय अस्ति विद्यते, तत् ज्ञानवेभव यदि एते ऋषय एव व्यतिविद्वते परस्पर जानतीत्यर्थ । एतेषा ज्ञानवेभव नातु नान्ये चमा एते परस्पर स्वयमेव त-ज्ञातु शक्नुवतीनि भाव । व्यतिपूर्वकाल् ‘विद् ज्ञाने’ इति धातो ‘कर्त्तरि कर्म-यनिहारे’ इति लङ्, वेत्तेर्धिभाषा इति स्त् ॥१७॥

अनुगृहीत अनुकम्पित । भवद्दीयनाचिर शिवधनुर्भङ्ग जामातर लभस्वेति वचसा कृनाथीकृतोऽस्मीत्यर्थ ।

ममस्वयति । बहिरवहिरह परिमृजाम् शब्दाभ्यन्तरसकलपापापनोदिकानाम् साम्नाम् सामदानाम् समस्या वा सत्तप इव, ऋषाम् ऋग्वेदानाम् मनाद् सम्भाषणम् इव, यजुषाम् यजुर्वेदाना परिपण मूलधनम् इव अथ त्वदाशीर्वाद त्वकृता मञ्जुभाषसा ( य प्राक् ) बहुविषयसाक्षात्कृतफल बहुपु विषयेषु पूर्वं दृष्टसार्थक्य ( अत एव ) मे मम वत्साया जानक्या घर भक्तार पुरोवर्तिनम् अग्रे स-तमिव प्रययति रथापयति । अयमाशय — शब्दाभ्यन्तर पापापहारिसामवेदसङ्केप इव ऋग्वेदमङ्कलितार्थ इव यजुर्वेदमूलभूत इव चाय नानाविषयपरीक्षितमल्यभावस्तत्रास्तीति इदं स्वसव्यताविधायनविषयाऽत्र प्रव्रान्त

जानते हैं इनके जो अन्वैभव हैं उन्हें यहा जानते हैं । १७ ॥

जनक — ( सहर्ष ) भगवन् , अथ न अनुगृहीत हुआ । क्योंकि —

मामवेदके रहस्यके मद्दश, आभ्यन्तर तथा वाच्यमन्त्रोंको दूर करनेवाले ऋग्वेदके मभाषणके मद्दश यजुर्वेदके मूलधनके मद्दश जानका य आशीर्वाद—निसरा फल अथ अनेको रगनोंपर देखा गया है, मेरा क पाके बरको पुरोवर्तीनी तरह प्रदर्शिन कर रहा है ॥ १८ ॥

१ कथयति ।

विश्वामित्र —(साकूतस्मितम् ।) सरोरे सीरध्वज, एवमेतत् ।

द्वीयस्यो दूरादपथमिह चामुत्र च शुचा

त्रिवेदीवाक्यानामनतिचिरभग्ना इव खिला ।

श्रुतिग्राह्यं ज्योति किमपि वहिरन्तर्मलमुषो

मृजाया मज्जान क नु विपरियन्ति द्विजगिर ॥ १९ ॥

शतानन्द —(स्वगतम् ।) नून 'रामभद्रमेव जामातरमभिसन्धाय  
भगवानय पुन पुनर्वक्रोक्तिभि मीरध्वज परिमोहयते । भवतु । अह

प्रसङ्ग मत्कन्यकावरमपि प्राप्तमिव प्रमापयतीति । 'समस्या तु समासायां', 'नीवी  
परिपणो मूलधनम्' इत्युभयत्राप्यमर । अत्र सर्वत्र वा शब्द इवार्थ । शिखरिणी  
वृत्तम्, तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ॥ १८ ॥

साकूतस्मितम् मनोभावप्रकाशकहासदुक्तम् । एवमेतत् त्वदुक्त सत्यम् ।

द्वीयस्य इति । द्वीयस्य महत्तरा, इह अत्र लोके अमुत्र परलोके च शुचाम्  
शोकानाम् दूरात् अत्यर्थेन अपथम् अविषया, त्रिवेदीवाक्यानाम् वेदत्रितयोक्ता  
थानाम् खिला अप्रहतभूमय इव, किमपि श्रुतिग्राह्यं ज्योति तेजोमया, वहि  
रन्तर्मलमुष वाद्याभ्यन्तरमलापहारिण्य, मृजाया शुद्धे मज्जान सारभागा  
इव द्विजगिर क नु विपरियन्ति विपरीता सत्यान्त्युक्ता भवन्ति ? महत्त्व  
शालिन्योऽत्र लोके परत्र चात्यन्त शोकस्यास्थानभूतास्त्रिवेदीवाक्यानामप्रहतभूमय  
इवोर्वरताजुषो ज्योतिर्मय्य शुद्धिसारभागाभा वाद्याभ्यन्तरपापापहाश्च द्विजवाच  
क नु विपरीता भवन्ति, नहि क्वापि विपरीतार्था असत्या जायन्त इति ।  
'खिलमग्रहतेऽपि स्यात्' इति मेदिनी, 'सारो मज्जा नरि' इति अमर । अपथ  
मिति 'पथ सङ्ख्याऽव्ययादे' इति क्लीबत्वम् । वृत्त पूर्वोक्तम् ॥ १९ ॥

अभिसन्धाय मनसिकृत्य । वक्रोक्तिभि कुटिलभाषितै । परिमोहयते

विश्वामित्र—( साभिप्राय हसकर ) सरोरे सीरध्वज, देही ही रात है—

महान्, इहलोक तथा परलोकमें बस्याण करनेवाले, वेदत्रयोक्त वचनोंके खिलस्वरूप  
बाह्य तथा आभ्यन्तर मलको दूर करनेवाले, शुद्धिके सारभूत वाङ्मयोंके वचन क्व कर्दों  
विपरीतार्थक होते हैं ? ॥ १९ ॥

शतानन्द—(स्वगत) निश्चय ही यह कौशिक रामभद्रको ही जामाताके रूपमें  
मनमें रखकर बार-बार अनेक प्रकारकी वक्तियों द्वारा सीरध्वजको मोहमें डाल रहे हैं ।

१ 'रामचन्द्रमेव' । २ पुनर्वक्रोक्तिभि' । ३ परिमोहयते' ।

मस्य प्ररोचनार्थमसविदान इव पृच्छामि । ( प्रकाशम् । ) भगवन्,  
कस्येदं शकुन्तराजकेतोरिव कौस्तुभश्रीवत्सौ रत्नद्वयम् ।

विश्वामित्र —( विद्वस्य<sup>२</sup> स्वगतम् । ) साधु वत्स शतानन्द, साधु ।  
यदेतत्कृत तीर्थं पित्रक्षितस्य वस्तुन सुगन्तताराय । ( प्रकाशम् । )  
वत्स गौतम, ककुत्स्थकुलसभवौ कुमागवेतौ ।

शतानन्द —( सप्रत्यभिज्ञमिव । )

पुत्रार्थं जगदेकजाद्विकययूद्दामभ्रमत्कीतिना

चातुर्होत्रविनीर्णविश्वजसुधाचक्रेण चक्रे मख ।

वशीकुरुते प्रलोभयति वा । प्ररोचनार्थम् प्रलोभनोद्देश्यम् । असविदान—अज्ञ  
इव । शकुन्तराजकेतो गरुडध्वजस्य । कौस्तुभश्रीवत्सौ तन्नामकौ । गरुड  
ध्वजस्य यथा कौस्तुभश्रीवत्सौ नाम रत्नद्वयमस्ति तथा कस्येसौ पुत्रौ नाम  
रत्नद्वयमिति प्रश्नार्थं ।

तीर्थम् अवतरणवर्त्म 'तीर्थं शास्त्राध्वरन्नेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्व,  
'नीर्थं सोपानपङ्क्तौ स्यात्' इति च धरणि ॥

एतेन शतानन्दप्रश्नेन विश्वामित्रो रामलक्ष्मणयो परिचय प्रदानुभवसर  
प्राप्स्यतीति तदवसरलाभाय विश्वामित्रो धन्यवादमर्पयति शतानन्दायेति ग्रन्थ  
हृदयम् । ककुत्स्थकुलसभवौ—सूर्यवश्यं कश्चन राजा ककुत्स्थो रामचन्द्रपूर्वतः,  
तद्वंशभवौ । रामलक्ष्मणौ कुमारौ ॥

सप्रत्यभिज्ञम् पूर्वानुभूतस्य वस्तुनस्तत्तदेन्ताविशिष्टनया ज्ञान प्रत्यभिज्ञा,  
तथा सह, सोऽयमित्याकारकज्ञानमिदं लब्ध्वा ।

पुत्रार्थं इति जगति ससारे एक श्रेष्ठ जाद्विक अतिवेगवान् य ययु  
अश्वमेधीयोऽश्व स एव उद्दामा उद्गटा भ्रमन्ती च कीर्त्तिर्यस्य तेन तथोक्तेन,

अस्तु । मे भा इनके प्ररोचनाथ अनजानको तरह पूछता हू । ( प्रकट ) भगवन्, भगवान्  
विष्णुके कौस्तुभ श्रीवत्सके समान यह दोनों लडके किम्के हे ?

विश्वामित्र—( इत्वर स्वगत ) साधु वत्स शतानन्द, साधु, तुमने विवक्षित अर्थको  
कहनेका अवसर बना दिया । ( पण्ड ) वत्स, यह दोनों कुमार ककुत्स्थ-वंशमें उत्पन्न हुए हैं ।

शतानन्द—( स्मरण करके ) पुत्रार्थ सत्तारके लघनमें समर्थ अद्वितीय कर्त्तिशाली  
तथा चातुश्चरणगायमें समस्त भूमण्डल दात्र कर देनेवाले राजा दशरथने यह किया था,

१ कुमारलक्ष्मणम् ।

२ 'विद्वस्य' इति वचिन्नास्ति ।

३ 'तीर्थमिव' ।

४ 'शतानन्द' ।

राज्ञा पङ्क्तिरथेन यत्र सप्तलस्वर्वासिसर्वातिथौ

स स्वेनैव फलप्रदं फलमपि म्वेनैव नारायण ॥ २० ॥

तत्किमेतावेव तौ दशरथी यौ किल रामलक्ष्मणौ ताडकामधन<sup>१</sup>म  
ङ्गलोद्घातपितीर्णदिव्यास्त्रमन्त्रपारायणेन <sup>२</sup>भगवतैव विनीतौ वैतानिकस्य  
कर्मणश्छिद्रापिधानदक्षिणया <sup>३</sup>भगवन्तमुपासावभूवतु ।

चातुर्होत्रं चानुश्रवणयागे वितीर्णं पात्रेभ्यो दत्तं विश्वं सकलं वसुधाचक्रं येन  
तादृशनं च राज्ञा भूपालेन पङ्क्तिरथेन दशरथेन पुत्रार्थं पुत्रप्राप्तये मल-  
यागं चक्रे कृतं, यत्र सकला सप्तस्ता स्वर्वासिनः देवा एव सप्ततिथयो  
नवागन्तुका यत्र तादृशो दशरथकृतयागे स विश्वप्रसिद्धवैभवं नारायणं स्वन-  
स्वयम् एव फलप्रदं यज्ञफलद्वार्यां स्वेन आत्मना एव च फलम् अपि अभूत् ।  
राज्ञा दशरथोऽश्वमेधीयमरुचं भ्रमयित्वा स्वा कीर्त्तिमिव नटयामास, चातुश्रवण-  
नामके यागे समस्तमेव धरावल्य पात्रेभ्यो वितीर्णवान्, तदीये यागे च सर्वं  
एव देवा निमग्नता सन्तोऽतिथिभावमभजन्त, किञ्च सर्वलोकानुष्ठितयागानां  
फलद्वार्यां भगवाच्चारायणं स्वयमेव तदीयपुत्रभाष्यमापद्य तच्चागफलत्वमपि प्रपन्ना  
इत्यर्थं । 'ययुरश्वोऽश्वमेधीय' इत्यमरः । चत्वारो होतार एव चातुर्होत्राः, स्वाधि-  
कोऽण् । वेदभेदेन वेदिभेदात् होतृभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

दाशरथी दशरथतनयो रामलक्ष्मणौ । ताडकामधनम् ताडकानामराक्षसी  
मरणम् मङ्गलं शुभकर्म तस्योद्घाते उपक्रमे वितीर्णं दत्तं दिव्यास्त्राणाम् मन्त्र-  
पारायणम् येन तथाभूतेन ताडकावधमारुच्यं दत्तदियास्त्रमन्त्रपारायणेन भग-  
वता विश्वामित्रेण । वैतानिकस्य यागसम्बन्धिनः । छिद्रापिधानदक्षिणया अत-  
रायशमनरूपदक्षिणाद्रव्येण । भगवन्तम् विश्वामित्रम् । उपामात्रभूवतु आरा-  
धयामासतु । एतावत् तौ नाम रामलक्ष्मणौ दशरथसुतौ याभ्यां भगवान्  
विश्वामित्रस्ताडकावधमारुच्यं दिव्यास्त्रमन्त्रसम्प्रदायमाचख्यौ, तस्य मन्त्रोपदेशस्य  
च दक्षिणारूपेण रामलक्ष्मणौ यज्ञं ररक्षतुरिति भावः ॥

जिस यज्ञमें स्वर्गके सभी देवगण पधारें थे, और उस यज्ञमें स्वयं सभी देवोंके फलदाता  
भगवान् विष्णु गुद फल बन गये थे ॥ २० ॥

तो क्या यही है दशरथके पुत्र राम-लक्ष्मण जिन्हें ताडकावधरूप मङ्गलमय भवसर पर  
आपने दियास्त्र मन्त्रका पारायण किया है, आपने जिन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी है और  
जो यज्ञकर्मके निर्वहण ममाप्तिरूप गुप्तज्ञानसे आपकी आराधना कर चुके हैं ॥

विश्वामित्र —( 'सकौतुकम् । ) अथ किम् ।

( जनकस्तौ 'सस्नेहबहुमान परयति । )

शतानन्द —तदनयो कतरो 'गामभद्र' स्वरश्च लक्ष्मण ।

विश्वामित्र —( राम निर्दिश्य' । ) उत्स आङ्घ्रिरम;

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसतानमह्यौ

मालाम्लानस्तमन्मधुरा' जज्ञिरे राजपुत्रा ।

गामस्तेपामचरमममस्ताडकाकालरात्रि

प्रत्यूषाऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्द ॥ २१ ॥

ये चत्वार इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे य चत्वारो राजपुत्रा जज्ञिरे दशरथानुष्ठितपुत्राणि यत्र प्रभावतोऽनायन्त, तेषाम् दशरथमुतानाम् अचरमभव सवतो ज्येष्ठ ताडका एव कालरात्रि प्रलयनिशा तस्या प्रत्यूष प्रभातकाल इव अयम् निर्दिश्यमान राम अस्ति, योऽयं राम सुचरितकथा पुण्यमार्त्ता एव कन्दली वृक्षजातिभेदस्तस्या मूलकन्द प्रानमूलमिवास्तीति, अयमेवासां रामो यमा धित्य सुचरितकथा प्रवर्तते, यश्च [ताडकारूपाया कालनिशाया त्रिनाशाया कल्पत, यश्च दशरथानुष्ठितपुत्राधियागप्रभावान् प्रथममुत्पन्न, यश्च सूर्यवंशराज गणरूपमल्लीमालायामम्लानस्तवक्ता भजन्सु दशरथसुतेषु ज्येष्ठोऽस्तीत्यर्थ । उपमारूपकातिशयोक्त्योऽत्रालङ्कारा, मन्दात्रान्तावृत्त, तल्लक्षण यथा 'मन्दा क्रान्ताऽम्बुपिरसनगैर्भो भनो तौ गयुग्मम्' इति ॥ २१ ॥

विश्वामित्र —( कौतुकम् ) और क्या ?

( जनक स्नेह तथा आदरसे जनक आगे देसने ह )

शतानन्द —तो इनमें राम वीर ह और लक्ष्मण वीर ह ?

विश्वामित्र —( रामकी ओर इशारा करके ) बल्न आङ्घ्रिरम

सूयवशा क्षत्रियोंका वंशपरम्परारूप महिम्न मातृके अम्लान स्वरूपको जो चार पुत्र दशरथ राजाके उत्पन्न हुए थे उनमें सबसे ज्येष्ठ तथा मालाम्लान रात्रिने प्रान नामान एव मचरित कथारूप अङ्कुरके मूलकन्द तुल्य रामचन्द्र यहाँ है ॥ २१ ॥

१ 'सकौतुकम्' इति वचिशास्ति ।

२ 'सस्नेह परयति' ।

३ 'राम' ।

४ 'निर्दिश्यन्' 'निर्दिश्यन्' ।

५ 'रचय' ।

दशरथमुनायेनो दृष्ट्वा यथोत्प्रसित मन

शिथिलयति मे प्रत्यङ्ग्योनि प्रबोधमुन्नाम्बिकाम् ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, एवमेतत् । ममापि राजपुत्राविमो  
मायात्कुर्वती तस्मै मीनोमिले न हृदयाद्वरोहत ।

जनक—( विश्वामित्र प्रति । ) भगवन्,

इदं वयो मूर्तिरिय मनोऽज्ञा गौराद्भुनाऽऽय चरितप्ररोह ।

इमौ कुमारौ वन पश्यतो मे कृतार्थमन्तर्नन्दनीव चेत ॥ २४ ॥

शिथिलयतीत्यर्थ । यथाऽनयो रामलक्ष्मणयोर्दर्शनेनोच्छ्वमित सन्मम मनो ब्रह्म  
ज्ञानवन्मानसि प्रमोदमनात्प्रभावेन पश्यति, इमौ वीक्ष्य ब्रह्मास्वादमुत्पादयि  
भूयान्प्रमोदो मम यथा जायते तथा न गुरोर् धानवत्कथं गृहस्थिते सति न वा  
मुनो विश्वामित्र गृहस्थिते सति नात्रि निराद्य मम मन उच्छ्वमित भवतीति ।  
हरिणी वृत्तम्, लक्षणमन्यग्राहम् ॥ २३ ॥

राजपुत्राविमौ—दशरथमुनीं रामलक्ष्मणौ । माया कुर्वत—परत । न हृदयाद्  
वरोहत न विम्बुनि भवत । पुत्री परयन्नहमनरत सीतोमिणे हृदयस्थे इव  
भावयामि, महेश्वस्तुदर्शनस्य स्मरणोद्दीपकत्वानिति ॥

इदं वय इति । इदं दशरथोदितमन्धिरप वय अवस्था, एव सर्वजनहृदा मनोऽज्ञा  
मूर्तिं तनु, अथ च गौराद्भुन प्रारतयाऽऽक्षर्यजनककर्मभिश्च पूर्ण चरितप्ररोह  
चरितप्रारम्भ, सर्वमेवानयोहृद्यतरमित्यर्थ, तत् इमौ रामलक्ष्मणा नाम कुमारौ  
राजमुती पश्यत वीक्षमाणस्य मे चत हृदयम् कृतार्थम् सिद्धमनोरथ सत् अन्त  
अभ्यन्तरभागे नदतीत्य नृयतीव अनयोर्दर्शनेन मम हृदय प्राप्तमनोरथसाफल्यमिव  
नृयतीत्यर्थ । उपजातिवृत्तम् ॥ २४ ॥

देखकर मेरा मन उच्छ्वमित हो उठा है, आज मेरा मन ब्रह्मज्ञानका सुखामानवाका  
शिथिल कर रहा है ॥ २३ ॥

शतानन्द—राजर्षे वैदेह, यहाँ बात है, मैं भी जब इन राजकुमारोंको देखा हूँ तब  
हमारे हृदयसे बत्मा सीता तथा कमिला नहीं उतरती है ॥

जनक—( विश्वामित्रसे ) भगवन्,

यह वय, यह सुन्दर मूर्ति, यह वार तथा अद्भुत चरितगुण, इन दोनों कुमारोंको  
देखकर इतना बसा यह मेरा हृदय वस्तुतः नाच उठा है ॥ २४ ॥

विश्वामित्र —( १सोप्रासम् । ) भवे सौरध्वज, हृदयनेत्रामन्त्रयस्त्र  
किमर्थं कृतार्थमसीति ।

जनक —( सखेदस्मितम् । )

यद्गोत्रस्य प्रथमपुरुषन्तेजसामीश्वरोऽय

येषा धर्मप्रवचनगुरुत्वंह्यवादी वसिष्ठ ।

ये वर्तन्ते तत्र च हृदये सुष्ठु सम्बन्धयोग्या-

स्ते राजानो मम पुनरसौ दारुण शुल्कसेतु ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मणौ—( २सविमर्गम् । ) कथमस्मदीया कथा प्रस्तूयन्ते ।

सोप्रासम् मन्दस्मितपूर्वकम्, ‘उत्प्रास स मनाक् स्मितम्’ इत्यमरः । हृदय  
मेवामन्त्रयस्त्र हृदयमेव पृच्छ, प्रष्टव्यमर्थमाह—किमर्थमित्यादि ।

यद्गोत्रस्वेति । यद्गोत्रस्य येषा मनुवश्यनृपाणां प्रथमपुरुष कुलमूलपुरुष  
अयम् सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्षदृश्यश्च तेजसामीश्वर सूर्य अस्तीति शेष, येषा च  
धर्मप्रवचनगुरु धर्मकर्मोपदेशक ब्रह्मवादी ब्रह्मज्ञानवान् वसिष्ठो नाम मुनि, ये  
च तत्र हृदये वर्तन्ते येषा हित स्वमपि कामयसे, ते राजान सर्वथैव सम्बन्धयोग्या  
वैवाहिकसम्बन्धोपयुक्ता वर्तन्त इति भाव, पुन किन्तु असौ सर्वत्रिदित मम  
शुल्कसेतु पणत्रय हरचापारोपणरूपो नियम दारुण कठिन, सूर्यवश्याना  
वनिष्ठशिलिताना भवताऽनुध्यायमानानाञ्च राज्ञा दशरथादीना सर्वथा वैवाहिक  
सम्बन्धाहताया विद्यमानायामपि मम पणत्रय एवात्र प्रतिबन्धभूत इति भाव ॥२५॥

सविमर्गम् विचारपूर्वकम् । अस्मदीया कथा प्रस्तूयन्ते अस्मद्विषये विचार्यते ।

विश्वामित्र—( वितोरके स्वर्गे ) एव सौरध्वज अपन हृदयम् हा पूजये कि क्यो  
कुनाथ हा रह हो ?

जनक—( खेरका इती हम्बर ) जिम् वगके आत्पुख यह तज प्रभु मूय ह जिहें  
ब्रह्मवादा वसिष्ठ धमका प्रवचन सुनाया करते हैं, जो आपके हृदयमें है जो मवधा  
सम्बन्धके योग्य हैं बड़ हैं यह दशरथवशके कुमार, परंतु हमारा य पणत्रय सेतु बड़ा  
मयानक है ॥ २५ ॥

रामलक्ष्मण—( कुछ विचार करने ) हमार ही सम्बन्धमें वानें कर रहे हैं ।



विश्वामित्र — ( सस्मितम् । ) राजर्षे, यदि शुल्कसस्थैव वैचलम-  
न्तरायस्तन्न किञ्चिदेतत् ।

जनक — ( सखेद् विमृशन्नपवार्यं । ) भगवन्नाङ्गिरस,

यद्विदन्नपि विदेहनन्दिनीपाणिपीडनविधेर्महार्घताम् ।

एवमाह मुनिरेष कौशिकस्तेन मुह्यति विराय मे मन ॥ २६ ॥

• तदेव स्याणवीर्यं वा धनु स्याद्विदमोदशम् ।

एतदारोपण नाम पणो वा मम जर्जर ॥ २७ ॥

शुल्कसस्था पणग्रन्थ । अन्तराय - विघ्न । न किञ्चित्-अगगर्नायमेतत् ॥

आङ्गिरस-आङ्गिरसो नाम मुने जने जान शतानन्द ।

यन्त्रिजिति । विदेहनन्दिन्या मीनाया पाणिपीडनविधे विवाहकर्मण महार्घं  
ताम् बहुमुरयताम् कष्टसम्पाद्य च हरत्वापारोपणरूपकष्टप्रतिज्ञापूतिसमनन्तर  
सम्पाद्यवमित्यर्थं, विदन् जानत्रपि पण मुनि कौशिको विश्वामित्र एवम् यदि  
शुल्कसस्थैवान्तरायस्तदा न किञ्चिदेतदित्येवरूपम् वचनम् आह, तेन मे मम  
मन विराय मुह्यति, किमपि निश्चेतु मूढमित्र सम्पद्यते, कठोरे पणग्रन्थे सत्यपि  
मुनेर्वचसो मिथ्यावस्यासिन्नापनया किमत्र नार्वाति निश्चेतु न पारयति मम हृदय  
मिति भाव । रथोद्धतायुत्तम्, 'स्यान्नरात्रिह रथोद्धता लगी' इति लल्लुङ्गात् ॥२६॥

• तदेव इदं शम्भवम् धनु ईदंशम्, राघवशिष्टिना आरोपयितुं शक्य  
स्यात्, वा अथवा एतदारोपणम् हरत्वापारोपण नाम पणो वा जर्जर अनादरणीय  
स्यात्, विश्वामित्रस्य वचन सत्यमवश्य भावि, तत्र हृद्येव गतिः, कदाचिदस्य  
मुने प्रभावेण बालकोऽपि रामो धनुरिदमारोपयन्, अथवा विश्वामित्राग्रहो मम  
पण शिथिलयेत्, इदं प्रकारद्वयमध्येऽन्यतरत् परित्यज्य विश्वामित्रवचस सत्या  
एक प्रकारान्तर नावेचे इति ॥ २७ ॥

विश्वामित्र — ( हसन् ) राजर्षे, यदि आप पणवो हो विज्ञ मानते हैं तब यह ब्रह्म  
दान नहीं है ।

जनक — ( सखेद् विचारते हुए छिपाकर ) भगवन् आङ्गिरस,

जब कि सीता की विवाह विधिनी कठिनाई को जानते हुए भी यह मुनिवर विश्वामित्र  
एक तरह कहते हैं तब मेरा मन मोहमें पड़ जाता है ॥ २६ ॥

वह महादेवका धनुष ही कुछ ऐसा ही जाय, अथवा हमके आरोपण वाला मेरा पण  
ही शिथिल हो ॥ २७ ॥

शतानन्द — ‘शान्त शान्तम् ।

दुर्लभ्यमीश्वरशरासनमप्रमोच्य

शुल्कग्रहस्त्वमसि सर्वमिदं तथैव ।

किं त्वस्य राघवशिशो सहजानुभाव

गम्भीरभीषणमतिस्फुटमेव वृत्तम् ॥ २८ ॥

जनक — ( मुनिं प्रति । ) भगवन्कौशिक, चिरमपि विकल्पयन्त  
भगदिगगमभिधेयमद्यापि निश्चिनोमि ।

शान्तम् शान्तम्—‘पणो वा मम जर्जर’ इति मा वादी, स्वाहशस्य सत्यवादिन  
स्तथा कथयत्यातिनिन्दनायत्नादित्यर्थं ।

दुर्लभ्यमिति । इश्वरशरामनम् हरधनु दुर्लभ्यम् दुरारोपम्, त्वम् अप्रमोच्य  
शुल्कग्रह अपरिहार्यपण अमि, न महादेवधनुषो नमन सुकरम्, न वा तव पण  
वधो विहातव्य, उभयमपि यथावस्थितमेव स्थायीनि भाव, नन्वेव निश्चामित्र  
किमिति तथा कथयतीत्यत्राह—किन्त्वस्येति । किन्तु अस्य राघवशिशो रामस्य  
वृत्तम् वृत्तात् सहजानुभावगम्भीरभीषणम् अतिस्फुटम् एव, सहजेन स्वाभाविकेन  
अणुभावेन प्रभावातिशयेन गम्भीर दुर्लभ्यम् भाषणं च ताडकावधारिरूपम् अतिस्फु-  
टम् एव, अय रामो यत् स्वाभाविकविक्रमेण ताडकादिकान् राक्षसगणानवधीत्तदुप्य-  
तिरोहितमेव भमेपामतो मुनिक्थनमपि शक्य सयता गन्तुमिति भाव । वसन्त  
तिलक वृत्तम् ॥ २८ ॥

चिरमपि विकल्पयन्—बहुकालपर्यन्त विचारयन् । अभिधेयम्—आशयम् वक्तव्या-  
र्थम् । निश्चिनोमि—निर्णयेनावधारयामि । ऐन्दुशेखरम्—शिवसम्बन्धि । कार्मुकम्—  
चापम् । व्याकरोतु व्याख्याय बोधयतु, मदीयस्य वचस आशय प्रतिपाद्य बोध-  
यतु, रामेण हरचापे कृष्टे मदीशय सुखमवसितो जायतेत्यर्थं ।

शतानन्द—नहीं, आप पमान नहीं, यह महादेवका धनुष इसी तरह दुर्लभनीय  
बना रहेगा आपने जो पण प्रकट किया है वह भी उधों का ल्यों बना रहेगा । जो जेमे  
है वह जैसे ही रहेगा यह तो अनि स्पष्ट बात है कि हम राघवकुमारमें स्वाभाविक प्रभाव  
तथा गाम्भीर्य विद्यमान हैं ॥ २८ ॥

जनक—( मुनिके प्रति ) भगवन् कौशिक, बहुत देर तक विचारनेके बाद भी मैं  
आपके कथनका अविश्रय नहीं समझ पा रहा हूँ ।

विश्वामित्र — ( विस्व । ) 'तदुपदर्शय कामुकमैन्दुशेखर रामभद्र  
एव व्याकरोतु ।

जनक — ( 'सहर्षं स्वगतम् । ) ऋथमलीकनिकपैरात्मान प्रमोह  
यामि । नन्वय ममेव 'कौतुक पूरयितुमेश्वर धनुरभ्यर्चयते भगवान् ।  
( जनक च दृष्ट्वा सविमर्शम् । ) अहह ।

'वालेन सम्भाव्यमिदं च<sup>१</sup> कर्म व्रवीति च प्रत्ययितो महर्षि ।

इति ध्रुव मन्त्रयते नृपोऽयं दत्ते किमत्रोत्तरमाकुलोऽस्मि ॥ २९ ॥

जनक — ( मुहूर्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्ण च निश्चस्य । ) भगवन्, क  
तादृश भागधेयमस्माकं येन भगवता विश्वामित्रेण नाथवन्तो वय

अलीकविकल्पे - मिथ्यासम्भावनाभि । प्रमोहयामि सशय नयामि । कौतुकम्-  
जो-सुख्यम् । पूरयितुम्-अपनेतुम् । अभ्यर्चयते-आज्ञापयति ॥

वाक्यनति । प्रत्ययित विश्वस्त महर्षि इदं हरधनुरारोपणात्मकं च कर्म कार्यं  
वालेन मया सम्भाव्यम् व्रवीति कथयति ? कथमय विश्वामित्रो हरधनुर्नमनरूप  
कार्यममुना वालेन रामेण सम्भाव्यमिति विश्वासमन्तर्निधायेव वक्षति अयं नृप  
ध्रुव निश्चित मन्त्रयते विचारयति, तत्प्रसङ्गे नृपोऽयं किमुत्तरं दत्ते ददातीति  
तत् श्रोतुम् आकुलोऽस्मि । अस्मिन् प्रसङ्गे जनकस्योत्तरं श्रोतुमहमुत्कण्ठे, किमसौ  
मुनिवचनमनुरुध्य धनुरानेतुमनुमस्यतेऽथवाऽसम्भव तदारोपणं प्रतीत्य किमप्य  
न्यदुक्त्वा मुनेभ्यानमन्यतो नेष्यतीति ज्ञातुमुत्क्रान्तोऽस्मि सदृष्ट इत्याशयः ॥ २९ ॥

भागधेयम्-भाग्यम् । नाथवन्त -सनाथा, तदनुगृहीता इत्यर्थः ।

विश्वामित्र—( इसकर ) तब शिखलाइये शिवधनु, रामभद्र हा मेरे कथन की व्याख्या  
कर देय ।

राम—( सहर्ष स्वगत ) क्यों मैं व्यथके तर्कोमें अपनेको भुलाता रहू । यह भगवान्  
विरामित्र स्वयं मेरे कौतुकीको पूरा करनेके लिये शिवधनु की अभ्यथना कर रह रहे ।  
( जनकको देखकर विचारपूर्वक )

क्या बालकके द्वारा इस व यज्ञा किया जाना सम्भावित है ? और यह महर्षि विश्वाम  
पूर्वक कह रहे हैं, निश्चय यह राजा जनक यही बात सोचते हैं, यह इस मन्त्रधर्म क्या  
उत्तर देते हैं यह जाननेको मैं आकुल हो रहा हू ॥ २९ ॥

जनक — ( थोड़ी देर रुक कर तथा लम्बी साँस लेकर ) भगवन्, हमारे ऐसे भाग्य

१ तदुपमपय कामुक—, 'कामुकमैन्दुशेखर दर्शय' । २ 'स्वगतम्' स्वगत सहर्षम् ।

३ मोहयामि, 'प्रमोहयामि' । ४ 'कौतुहलम्' । ५ 'वत्सेन' । ६ 'तु' ।

‘मैथिलीमेतस्मै रघुकुलकुमाराय प्रतिपाद्य चिराय कृतार्थीभ्राम ।

( रामो लज्जते । )

जनक — किं च भगवन्,

येषा चापसमर्पितत्रिभुवनच्छिद्रापिधान नत

जात रोहितमेव केवलमपज्यायन्धमैन्द्र धनु ।

तेऽपि प्रेक्ष्य पुरा शरासनमिदं मौर्वीकिणश्यामिका

रुम्तूरीसुरभीकृतानविभरन्त्यैर्भुजान्भूभुज ॥ ३० ॥

रघुकुलकुमाराय—राघवाय रामाय । प्रतिपाद्य—दत्त्वा । कृतार्थीभ्राम—स्फुल्ल  
भिलाषा सम्पद्यामहे ॥

येषामिति । येषां भूभुजानां चापेषु धनुषु समर्पितं न्यस्तं त्रिभुवनस्य लोक  
त्रयस्य छिद्रापिधानम् आपत्तिनिराकरणम् एव धृतम् नियमं, ( जत एत च )  
ऐन्द्र धनु शक्रशरासनम् अपज्यायन्धम् विगतमौर्वीकम् मत् रोहितम् सदा सर  
लम् एवम् जातम्, ये राजान सवदा स्वचापरव जगद्भ्य प्रसृज्य इन्द्रचापाय  
निगन्ति वक्ष्यन्त इत्यर्थं, तेऽपि भूभुजा राजान पुरा इत पूर्वकाल इदं गाम्भय  
शरासनं प्रेक्ष्य मौर्वीकिणानाम् ज्यायपञ्चिह्नानाम् वा श्यामिका काष्मिणा सब  
कस्तूरी मृगमदस्तया सुरभीकृतान् सुगन्धिं भीतान् ज्याघातचिह्नप्रयातान् अपि  
भुजान् निजब्राह्मण्डान् व्यर्थं निरथकम् अग्रिभर, इन्द्र स्वसहायतया चिंतामुक्त  
कृतवन्तोऽपि राजानोऽत्र शरासने वध्यप्रयासा अनायतेति किमथ भवानत्र  
कर्मणि राम नियोजितुमिच्छतीति नावगच्छामीति तापर्यम् ॥ शार्दूलविक्रादितम्  
वृत्तम् ॥ ३० ॥

कहाँ जो आपके आश्रित हम हम राजकुमारके हाथोंमें मैथिलीको मांगकर बिरबालके  
लिये कृतार्थता प्राप्त करलें ।

( राम लजित होते हैं )

जनक—और देखिये भगवन्, तिनके चापोंपर त्रिभुवनकी रक्षाका भार मोपर  
इंद्र अपने धनुषपर प्रत्यक्षा नहीं चढ़ाने ई उसे सरल ही रखने ई वह राजाग जो  
हम हरधनुषको देखकर प्रत्यक्षा-भयगमनदिन श्यामिकास्वरूप कस्तूरीमे सुगन्धि अने  
भुजोंको बंध साधिन कर चुके हैं ॥ ३० ॥

१ एतस्मै रघुकुलकुमाराय सोनाम् । ० चरितार्थी-’ ।

३ ‘किं च’ इति वचि नालि ।

विश्वामित्र —( विद्स्य<sup>१</sup> । ) सखे, सीरध्वज, कथ महापुण्यराशि-  
मात्मानमनमन्यसे ।

त्वद्भागधेयमपि तादृशमुत्सवाना

मेतादृशा वयमपि प्रसमीक्षितार ।

सन्त्येव<sup>२</sup> विश्वभुवनाभयदानशोण्डा

क्षोणीभुज परममी तु न रामभद्र ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण —( स्वगतम् । ) कथमुपाध्यायेनैतदभिहितं यदस्मि वक्तु-  
काम ।

कथ महापुण्यराशिमपि आत्मानमनमन्यसे-पुण्यप्रकर्षशालिनमात्मानं किमर्थं  
तुच्छं प्रयेषि, किमिति त्वया रामस्य जग्मुशरामनभद्रविषये भूयो भूय सन्देह  
प्रकाशयताऽऽत्माऽवमन्यते, पुण्यवानसि यदिह राम आयातो योऽसशय धनुरिदं  
नमयित्वा सीताकरग्रहं च कृत्वा त्वामुदितगारव करिष्यतीति भाव ।

वदभागधयमिति । त्वद्भागधयम् तव सौभाग्यम् तादृशम् अस्तीति शेष  
वयमपि एतादृशाम् उत्पन्नानाम् सीताविनाहरूपाणाम् उत्सवानाम् प्रसमीक्षि-  
तारो द्रष्टार समुपस्थिता इति शेष, ( यद्यपि ) विश्वभुवनाभयदानशोण्डा  
सकललोकभयदूरीकरणमार्थशालिन क्षोणीभुज राजान सन्त्येव, परं किन्तु  
अमी भूभुज तु रामो न, नामीषा भूभुजा पराक्रमो रामपराक्रमसमोऽतो यदि  
ते राजानो व्यर्थध्रमा अत्र धनुषि समजायन्त तदा रामोऽपि तथा भावीति  
सशय्यालम्, अतस्तव सौभाग्यमिदं यदेतादृशो जामाता त्वया लभ्योऽस्माकं  
चेद् सौभाग्यं यदीदृशमुत्पन्नं सात्ताकृत्य लोचनं सफलीकरिष्याम इति भाव ।  
वम-तत्रिलकं वृत्तम् ॥ ३१ ॥

उपाध्यायेन गुरुरणा त्रिरवामित्रेण । एतत् अभिहितम्-न सर्वे राजानो राम  
इत्युक्तम् । अचिन्त्य-तर्कयितुमशक्यं । मणिमन्त्रौपधीनाम्-यथा लघुकाये मणौ,

विश्वामित्र—( हसकर ) सखे सीरध्वज, क्यों महापुण्यशाली अपनी आत्माका  
अपमान करत हो ?

तुम्हारे भाग्य ई, और हम ऐसे उत्पन्नके देखने वाले ह, सवारमें विश्वको अभयदान  
देने वाले नृप हे क्यों नहीं, परन्तु वे रामभद्र नहीं हैं ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण—( स्वगत ) क्यों, जो मैं कहना चाहता था उसे आचार्यने ही कह दिया ।

जनक — भगवन्, सत्यमचिन्त्यो मणिमन्त्रीपधीनामिष रघुकुल  
'कुटुम्बकानामनुभाय । परमेतद् व्रजीमि ।

गिरीशेनाराद्धस्त्रिजगद्वजैत्र दिविषदा-

मुपादाय ज्योति सरसिहृहजन्मा यदसृजत् ।

हृषीकेशो यस्मिन्निपुणजनि मौर्वी फण्णिपति

पुरस्तिस्त्रो लक्ष्य धनुरिति किमप्यद्भुतमिदम् ॥ ३२ ॥

शतानन्द — आ किमनया पुनः पुनः पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया ।  
'तदेतत्कौशिकमेव प्रमाणयन्तो बहु मन्यामहे । अपि च किमशक्य  
रामभद्रस्य ।

स्वल्पाक्षरे मात्रे, स्वल्पपरिणामे चौपधौ महान् अनुभासतिष्ठति, तथैव बाल  
वयमि रघुवश्येऽपि महान् प्रभाय स्थातुमर्हति, इति भाव ।

गिरीशेनेति । गिरीशेन शिषेन आराद्धं प्राथितं मरमिरहृजन्मा कमल्योनि  
ब्रह्मा दिविषदाम् देवानाम् ज्योति तेज उपादाय समाह्वय त्रिजगद्वजैत्रम्  
लोकत्रयध्वंसकरम् यत् धनु असृजत् निमित्तवान्, यस्मिन् धनुषि हृषीकेशो  
भगवान् विष्णु इषु शर, फण्णिपति अनन्तनाग मौर्वी प्रत्यज्ञा, तथा तिस्र  
पुर असुरनगर्यं लक्ष्यम् अजनि, इदं धनु तत् किमप्यद्भुतम् आश्चर्यकरं वस्तु  
विद्यत इति शेष । तद्वेदमाश्चर्यकरं धनुर्यस्य स्रष्टा स्वयंस्रष्टा, उपादानं सफलं  
देवतेज, शरो विष्णु, मौर्वी फण्णिपति, त्रिपुरनगर्यो लक्ष्यं विद्यते, अत एवास्य  
नमनं कष्टसाध्यमत एव च मम मनः प्रययो न जायते इति भाव, शिष्य  
रिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

आ इति अनास्थाहृते रागे । पिनाकप्रशस्तिपञ्जिकया हरधनुः प्रशसापद्धत्या ।  
कौशिक प्रमाणयन्त विश्वामित्रवचने श्रद्धाशालिन । बहु मन्यामहे आदरं कुर्म ।

जनक — भगवन्, मणि मात्र तथा ओपधिकं प्रभावकी तरह रघुवशिवोंका प्रभाव भी  
वास्तवमें अचिन्तनीय है, परन्तु मे वद कहता हू—

महादेव की प्राथनापर ब्रह्माने त्रिमुवन विजयी देवोंके तेजकी एकत्रिन करके जिस  
धनुषकी बनाया, जिसके बाण भगवान् विष्णु, मौर्वी शेषनाग, एवं लक्ष्य त्रिपुर वन चुके हैं,  
ऐसा है यह अद्भुत धनुष ॥ ३२ ॥

शतानन्द — आ, बार बार पिनाककी प्रशसाकी पिटारी खोलनेसे क्या लाभ, हम तो  
कौशिककी बातको प्रमाण मानकर उसका आन्तर करते हैं और रामके लिये अमनत्र क्या है ?

१ 'कुटुम्बकानाम्' ।

२ 'तदेतत्कौशिकमेव' ।

उत्पादयन्कमपि कौणपकोटिहोम

तेजोहुताशनसमिन्धनसामिधेनीम् ।

यस्ताडकामकृत वालसखै पृषत्कै-

रीपञ्जय स्फुटमनेन दशाननोऽपि ॥ ३३ ॥

( नेपथ्येऽर्घप्रविष्टः । )

पुरुष — दशाननपुरोहित शौष्कलो महाराज दिदृक्षते ।

शतानन्द — ( मोदोगम् । ) 'आ', आगच्छतु ।

( पुरुषो निष्क्रान्तः । )

उत्पादयन्निति । य राम किमपि वर्णयितुमशक्यम् कौणपकोटिहोमम् राक्षसकोटिवधहोमम् उत्पादयन् कुर्वन् वालसखै वाल्यावस्थोपयुक्तं पृषत्कै वाणं ताडकाम् तेजोहुताशनस्य प्रनापाने समिन्धने प्रज्वालनकर्मणि सामिधेनीम् अग्निप्रज्वालनापयोगिनीमृचम् अकृत, राक्षसवधहोमे प्रकृते ताडका नाम राक्षसी वाल्यावस्थोचितेवाणेरव हत्वा तयैव स्वप्रनापानि प्रज्वलितमकृतेति भावः, तेन तथाभूतन रामेणानेन दशानन रावणोऽपि ईषञ्जय सुग्न जेतव्य इत्यर्थः । 'राक्षस कौणप क्र-यात्', 'पृषत्कवागविदिक्ता', 'ऋक् सामिधेनी धाव्या सा या स्यादग्निसमेधने' इति सर्वत्रामर । वमन्तविलङ्क वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दशाननपुरोहित रावणपुरोधा । महाराजम् जनकम् । दिदृक्षते द्रष्टुमिच्छति । तदनुजानन्तु भवन्तस्तत्प्रवेशमिति भावः ।

तेनरूप अग्निवो वृत्तेनित वरनेने सामधेनी ऋचाके समान इति राक्षस कोटिहोम रूप कायको करके रामने अपने बालकोचित बाणसे ताडकाको समाप्त कर दिया, तब राम रावणको आसानीसे जान लेंगे ॥ ३३ ॥

( नेपथ्यमे अधप्रविष्ट होकर )

पुरुष—दशाननके पुरोहित शौष्कल महाराजसे मिलना चाहते हैं ।

शतानन्द—( उद्विग्न होकर ) आ, आवें ।

( पुरुष जाता है )

१ 'वालसखै' ।

२ 'पुरुष । पुरुष' ।

३ 'शौष्कलो नाम' ।

४ 'आ' इति कचिन्नास्ति ।

राम —( <sup>१</sup>सव्यय जनान्तिम् । ) वत्स लक्ष्मण, कथमन्तरितोऽयम-  
नेन दुरात्मना राक्षसेन <sup>२</sup>कामारिकामुरुपरिचर्यामहोत्सव ।

लक्ष्मण —आर्य, न केवलमयम्—( इत्यर्थोक्ते ऋति । )

( राम सप्रणयरोपस्मित तमपाङ्गेन पश्याते । )

( प्रविश्य । )

शौक्ल —( प्रत्येकमवलोक्यात्मगतम् । ) कथमत्रैव जनकशतान-  
न्दाभ्या पुरस्कृतो विश्वेपामस्माकममित्त्रो<sup>३</sup> विश्वामित्र । ( विचिन्त्य । )  
तिष्ठतु । कोऽय हस्तदक्षिणेन । ( दृष्ट्वा । ) अये, कावेतौ क्षत्रियब्रह्म-  
चारिणौ ।

मव्यथम् व्यथा चात्र शौर्यप्रकाशनावसरलामप्रयुहोपस्थिया घोष्या ।

अन्तरित व्यवधापित विधितो वा । कामारिकामुरुपरिचर्यामहोत्सव हर  
चापारोपणावसरलामरूपोऽभ्युद्भयकाल ।

न केवलम्—न केवल महादेवधनुसरोपगमपि प्रयुहित पर सीताविवाहा  
वसरोऽपि त्रिलम्बित इति लक्ष्मणस्य परिहासपूर्णो भाषितावशेष ।

अपाङ्गेन पश्यति—कृणितत्रिभागया दृशा वच्यमाणोक्तेनिवारयितु दृष्टया  
तथञ्चते, पुरस्कृत आदमो युक्तश्च । विश्वेपाम् अस्माकम् सर्वेपामपि रक्षसाम् ।  
अमित्त दानु । कोऽयम्—अय विश्वामित्र किं कर्तुमीशोऽस्तस्तिष्ठवय किं तथा  
चिन्तयेत्यर्थ । क्षत्रियब्रह्मचारिणौ—प्रथमे वयमि स्थितौ क्षत्रियकुमारौ ण्तौ कौ ?

राम—( खेरके साथ, छिपाकर ) क्यों इस दुरात्मा राक्षमने निवकामुक परिचर्या  
महोत्सवमें बिना हर डाला ।

लक्ष्मण—आर्य, केवल इसमें नहीं—( आधा बड़कर इसते हैं )

( राम रोषमे इसकर इसारे से उन्हें चुप करते हैं )

( प्रवेश करके )

शौक्ल—( प्रत्येकको देखकर स्वगन ) क्यों, यहाँपर जनक शतानन्दके साथ हम  
ममोका शत्रु विश्वामित्र भी बचमान हैं । ( मोचकर ) रहे, यह दाईं ओर कौन है ? ( दिवकर )  
अरे, यह दोनों क्षत्रिय ब्रह्मचारी कौन हैं ?

१ सरोपयथम् ।

२ 'त्रयक्षकाण्डासन-' ।

३ 'शौक्ल' । शौक्ल' ।

४ 'अमित्तम्' ।



पुण्यलक्ष्मीरुयो <sup>१</sup>कोऽयमनयो प्रतिभासते ।

मौञ्ज्यादिव्यञ्जन शान्तो वीरोपकरणो<sup>२</sup> रस ॥ ३४ ॥

निसर्गोद्गमिद<sup>३</sup> च कुमारद्वयम् ।

पार्श्वे त्रयाणामेतेषामृक्सामयजुषामिव ।

रूपाभ्या विधिमन्त्राभ्यामथर्वेव प्रदीप्यते ॥ ३५ ॥

( विमृश्य । ) अथ , ननु स <sup>४</sup>एव लक्ष्मणद्वितीयो रामहतक कौशिक  
मृषिमनुप्लवमानो <sup>५</sup>मिथिलामुपस्थित । ( सकोवशीम् । ) हा वत्से

पुण्यलक्ष्मीकथोरिति । पुण्यलक्ष्मीकयो प्रशस्तपावनश्रीसम्पदुपेतयो अनयो  
पुरोदश्ययो सत्रियकुमारयो क अयम् मौञ्ज्यादिव्यञ्जन मौञ्जमेखलावटदण्डादि-  
ब्रह्मचारिचिह्नं प्रकाश्यमान वीरोपकरण वीररसपरिपोषित शान्तो रस अस्तीति  
शेष , सत्रियकुमारयोरनयोमौञ्ज्यादिव्रह्मचारिचिह्नं कोऽप्यदुसुत एव वीररसाविष्ट  
शान्तो रस प्रकाशत इत्यर्थे ॥ अनुष्टुब्धुत्तम् ॥ ३४ ॥

निसर्गोद्गम स्वभावत एव तेजस्वि ।

पार्श्वे इति । ऋक्सामयजुषाम् इव ऋग्वेदसामवेदयजुर्वेदकल्पानाञ्च इव षुषाम्  
जनकशतानन्दविश्वामित्राणा त्रयाणाम् पार्श्वे समीपदेशे विधिमन्त्राभ्याम् रूपाभ्या  
विधि अनुष्ठानम् मन्त्रश्चेति त्राभ्या स्वरूपभेदाभ्याम् अथर्वा इव अथर्ववेद इव  
प्रदीप्यते विद्योतते । कुमारद्वयमिति कृतृपदमध्याहार्यम् ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणद्वितीयो लक्ष्मणेन सहित । रामहतक तुष्टो राम । अनुप्लवमान  
अनुगच्छन् । सुकेतुनन्दिनि सुकेतुनामकराक्षसतनये । ईदृशात् शान्तसौम्याकृते ।

पवित्र शोभा धारण करनेवाला इन ब्रह्मचारियोंका यह वीरोचित भावना इन मौञ्जा  
मेखलादि चिह्नोंसे अभि-यक्त हो रही है ॥ ३४ ॥

यह दोनों कुमार स्वभावत तेजस्वी प्रतीत हो रहे हैं ।

यह दोनों कुमार ऋक्, साम तथा यजुके समान तीनों ऋषियोंके बगलमें विधि मात्र  
रूप दो भागोंमें विभक्त अथर्ववेदकी तरह दीपित हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

( विचार करके ) आ ! निश्चय ही यह लक्ष्मणके साथ अभागा राम होगा, जो  
कौशिकऋषिके साथ मिथिलामें उपस्थित हुआ है । ( कोप तथा शोकके साथ ) हा वत्से

१ 'सोऽयम्' । २ 'वीरोपकरणम्' । ३ 'वेदम्' ।

४ 'एव' । ५ 'मिथिलायाम्' ।

सुवेतुनन्दिनि ताडके, कथमीदृशान्मनुष्यडिम्भात्ताडशो दैवदुर्विपाकस्ते'  
सवृत्त । 'कष्टमनरण्यवशजन्मन क्षत्रियशिशो रनात्मवेदिता ।

सुन्दासुरेन्द्रसुतशोणितसीधुपान  
दुर्मत्तमार्गणनिरगलवीर'शब्द ।

द्रोह चकार दशकण्ठकुटुम्बकेऽपि

सोऽय वदु कुशिकनन्दनयज्ञवधु ॥ ३६ ॥

मनु । द्रष्टव्यमस्य 'भुजाशोण्डीर्यम् । ( उपव्य । ) अपि सुखिनो  
यूय जनकमिश्रा ।

मनुष्यडिम्भात् मानशिशो । दैवदुर्विपाक दशात्रिपर्यय ( मृयुरूप )  
सवृत्त जात । अनरण्यवशजन्मन अनरण्यो नाम रामधूर्जो राजा, स हि  
रावणेन पराभूत इति विशिष्य तन्नामोपादानम् । अनाभवदिता स्वरूपपरिचय  
विरह, यस्य पूर्वो रावणेन पराभूतस्तस्य तदन्तरयजनवधप्रवृत्तिरनात्मवेदिता  
व्यजयति, स एवात्र खेदविषय ।

सुदासुरद्राव स अयम् कुशिकनन्दनस्य विश्वामित्रस्य यज्ञवधु यज्ञरक्षा  
सम्पादनसहाय वदु गालको राम सुन्दो नामासुरेन्द्रो राक्षसराजस्तस्य सुत  
मुवाहुर्नाम तस्य शोणितम् सीधु मद्य तत्पानेन ( मुवाहुशोणितपानेन ) दुर्मत्ते  
अतिमत्ता य मागगा बागा तै निरगल अप्रतिघ्नद वीरशब्द विजयप्रशस्ति  
यस्य तादृश सन् मुवाहुवधेन वीरगणना प्राप्त मन् दशकण्ठकुटुम्बके रावण  
परिवारजनेऽपि द्रोह वप्रवृत्ति चकार । सुवाहुवधदृष्टेनानेन वदुना रावणवधवो  
ऽपि व्यापादिता इत्यहो माहमिक्वमिति भाव । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३६ ॥

भुजाशोण्डीर्यम् बाहुपराक्रम ।

'जनकमिश्रा' अत्र मिश्रपद बहुवचन चादराभिधञ्जनाय ।

सुवेतुननये ताडके इम मनुष्यके वच्चेने सुन्दारी यह दशा कैमे हो गर ? अनरण्यके  
वशमें उत्प न क्षत्रियकुमारकी इनकी अतात्मज्ञता ॥

सुन्द नामक राक्षसराजके पुत्र सुवाहुके शोणितपानसे अप्रतिघ्न वीरशब्दका मानन  
इम वदुकेने विश्वामित्रकी यज्ञरक्षा प्रसङ्गमें दशकण्ठके परिवारके उपरभी द्रोह प्रारम्भ  
कर दिया ॥ ३६ ॥

अस्तु—इसके बाहुवीरको देखेंगे । ( समीप आकर ) आप इनके तो सानन्द हैं ?

१ 'विपाकीऽय त वृत्त' । २ 'अनरण्यनमन' । ३ 'वदो' ।

४ 'गव' । ५ 'भुजाशोरीर्यम्' ।

जनक—स्वागत पौलस्त्यपुरोहितस्य । इत आस्यताम् ।

( शौक्लस्तथा करोति । )

जनक — 'अपि कुशल ते' राज्ञो रावणस्य । अथवा ।

विपदा प्रतिहृत्तारो यस्योपायैरथर्वभि ।

त्वादृशा सन्ति किं तस्य कल्याणमनुयुज्यते ॥ ३७ ॥

शौक्ल — ( विहस्य । ) श्रोत्रिय<sup>३</sup> सीरध्वज, प्रत्याकरिष्यामैव प्रय यदि स्वभुजमण्डलीमत्तवारणावलीवलयितोर प्रासादसुस्थितचतुर्दश-<sup>४</sup>लोकलक्ष्मीमहान्त पुरे<sup>५</sup> लङ्कापतौ किमपि<sup>६</sup> प्रतिकार्यमभविष्यत् । पश्य ।

विपदाभिः । स्वादृशा त्वत्समाना पुरोधसो यस्य रावणस्य विपदाम् अथर्वभि अथर्ववेदप्रदर्शितै मारणवशीकरणादिभि उपायै प्रतिहृत्तारं प्रतिकारपरायणा सन्ति, तस्य कल्याण कुशल किम् अनुयुज्यते पृच्छ्यते ? निश्चकुशला एव तादृशा जना येषां स्वादृशा अथर्ववेदोक्तोपचारविद्याकुशला पुरोहिता स्युरतस्तत् कुशलप्रश्नो वृथेति भावः ॥ ३७ ॥

श्रोत्रिय वेदाध्यायिन्, राज्ञ इदं सम्बोधनं वीरत्वाभावयत्जनयोपहासपरम्, प्रत्यकरिष्याम प्रतिकार सम्पादयिष्याम स्वभुजमण्डली निजबाहुपरम्परा एव मत्तवारणावली गजसमूहस्तया वलयित वेष्टित यदुर स्थल हृदय तत्र प्राप्तादे सुस्थिता या चतुर्दशलोकलक्ष्मीर्विश्वविजयसम्पत्तस्या महान्त पुरे निवासे किमपि

जनक—पौलस्त्यवक्त्रके पुरोहितका स्वागत इ, श्वर वठिय ।

( शौक्ल बैसा करता है )

जनक—आपके राजा रावण प्रसन्न हैं तो ? अथवा—

जिनकी विपत्तियोंके लिए अथर्वोक्त प्रकारसे आपके समान विद्वान् प्रतिकर्ता सुलभ हों उनके कल्याणके सम्बन्धमें क्या पूछना है ? ॥ ३७ ॥

शौक्ल—क्षत्रिय सीरध्वज, हम तो प्रतिकार करते ही यदि अपने बाहुगणरूप मत्तवारणोंसे वेष्टित प्रासादरूप अन्त पुरमें चतुर्दश लोककी लक्ष्मीको स्थिर भावसे निवासित करनेवाले रावणके सम्बन्धमें कुछ प्रतिकारके योग्य होना ।

१ 'कश्चित्' । २ 'राशस्ते' । ३ 'महाक्षत्रिय श्रोत्रिय' 'महाक्षत्रिव' ।

४ 'प्रत्यकरिष्याम' । ५ वारणवलयितोर -' । ६ 'भुवन' ।

७ 'लङ्कापितौ' । ८ 'प्रतिकर्तव्यम्' ।

यच्छेष्टा 'समनीकनीमनि परिव्रस्त पराञ्चन्नपि  
प्रत्यक्षीकुरुते सहस्रनयन पृष्ठोद्भवैरक्षिभि ।

चक्रे वर्त्म च नागलोकजयिनां यात्रामिव प्रभुव

स्य कैलासमुद्गम्य कीदृशम'उपादानतु तस्यापदाम् ॥३८॥

लक्ष्मण — ( नामर्थं जनान्तिकम् । ) आर्य, 'कथनता सहस्राजुन  
वालिभ्यामर्लीढशौर्यमारो दुरात्मा रावण प्रस्तूयत ।

राम — वत्स, न वक्तव्यमिदम् । महान्तो हि तादृशा । किं च ।

प्रतिकार्यम् अनिष्टम् । अनिष्टोद्वाभावेन प्रतिकारविधिं विनैव रावणो नियकुल  
इति भाव ।

यच्छेष्टा इति । समनीकनीमनि युद्धक्षेत्रे परिव्रस्त भात अत एव च पराञ्चन्  
पराङ्मुखत्व गत अपि सहस्रनयन इन्द्र यच्छेष्टा यस्य रावणस्य सग्रामन्या  
पारान् पृष्ठोद्भवै पृष्ठदेशस्थिते अक्षिभि प्रयत्नाकुरुते विलोभयति, यस्य युद्धे  
इन्द्रोऽपि पराजय प्रपद्यत इत्यथ । यश्च नागलोकजयिनीम् पातालविजयसाधनाम्  
यात्राम् भयाणमिव प्रभुवन् कत्तुमुद्दिशन् कैलास नाम पर्यतम् उद्गम्य उत्तवाय  
वर्त्म नागलोकमार्गं चक्रे, तस्य उपादानम् उपादान किम् ? कुतस्तस्य भयसभावना  
यो द्वाधिपमपि विजिये कैलास चोद्गतोऽल्यदित्यर्थ । एव च भयकारणानुप  
लभ्या सत्प्रतिकारस्यावश्यकत्वेन नोपस्थिता भवति, 'यदि न च भयमभविष्यत्तदा  
प्रत्यकरिष्यामैवेति पूर्णमुत्तरम् 'अनीकोऽन्वो रणे सैन्ये' इत्यमर । शार्दूल  
विक्रीडित वृत्तम् ॥ ३८ ॥

सहस्राजुनवालिभ्याम् कार्स्वीर्येण वालिना च । अवलीढशौर्यसार शमितवल  
गर्वं । तौ हि रावणम् विनित्यावमत्य च तद्वृत्तवीर्यं तुलकीचक्रतु, न वक्तव्य  
मिदम् रावणनिन्दा न काया ।

लक्ष्मणके मैदानमे निशकी चेष्टार्थो भागते हुप रद्र पृष्ठदेशवर्ती नयनोम देखा  
करते है जिमने कैलास पवन उठाकर मानों नागलोककी विजययात्रा सी कर ती था,  
वस रावणको वहाँसे भय हो सकता है ? ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—( क्रोधपूर्वक, द्विपाकर ) सहस्राजुन तथा वालिद्वारा जिमका मुनवल सन  
कर दिया उस रावणका प्रमङ्ग क्यों लाया जा रहा है ?

१ 'स समीक-' । २ 'उपादानम्' ।

३ 'अपि कथमसी वलिसहस्रमुनाजुनाभ्याम्' । ४ 'एवम्' । ५ 'अपि' ।

स्याता नाम कपीन्द्रहेह्यपती तस्यावगाढान्तर-  
 स्थामानो दशस्कन्धरस्य महती स्कन्वप्रतिष्ठा पुन ।  
 सद्य पाठितकण्ठकीकसकणाकीर्णा यदसस्यली  
 स्वेनेमाजिनपल्लवेन मुदित प्रास्फोटयद् धूर्जटि ॥३९॥

अपि च—

मघोनस्नदूधोर कुलिशमलसीकृत्य समरे  
 भुनक्ति न्याराण्य त्रिभुवनभटोऽय दशमुख ।

स्यातामिति कपीन्द्रो वानरराजो वाली हेह्यपति कार्तवीर्यश्च तस्य रावणस्य  
 अवगाढम् अवगतम् अन्तरस्याम अन्तर बल याम्या तथाभूतां स्याताञ्चान,  
 पुन किन्तु दशस्कन्धरस्य रावणस्य स्कन्धप्रतिष्ठा कायिकबलस्त्विति महती भूयसी ।  
 ज्ञायता रावणस्यान्तर बल यान्मिहस्त्रार्जुनाभ्या तथापि रावणस्य कायिक  
 बलमनितरा प्रसिद्धमस्तीति भाव । तत्र कारणमाह—मघ इति । मुदित रावणस्य  
 भक्त्या प्रसन्न सन् धूर्जटि शिव स्वेन आममवधिना इमानिनपल्लवेन गन्-  
 चमाञ्चलेन सद्य पाठितानाम् तत्कण्ठममर्षितानाम् कण्ठाना नवाना शिर  
 स्थानानाम् कीकसकणे कुडास्थिमण्डे आर्क्षणा न्याता यदमस्थलीर्यस्य रावणस्य  
 स्कन्धस्थान् प्रास्फोटयत् पीनयतिस्मि । कपीन्द्रहेह्यपती रावणस्य पराक्रम परा  
 बभूवतुरिति पुराणी कथा स्याञ्चाम, तथापि रावणस्य कायबलप्रतिष्ठा न चौदीयसी  
 यतो रावणेन लिप्सा ममर्षिनेषु स्वेषु नवसु शिरम्सु कीकसकणाकीर्णाभ्यन्तरेणान्  
 प्रमुदित शिव स्वोत्तरीयभूतगजचमाञ्चलेन धीजयतिस्म, एतादृशो धीरे भक्ते च  
 रावणे कदाचित्ताभ्या नितेऽपि तस्य न किमपि हीयते इति भाव । 'रूपादिपञ्चके  
 स्कन्ध कार्येऽसं भूयतावपी ति, 'कीकस कुल्यमस्थि च' इत्युभयत्र विश्वामरौ ।  
 शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३९ ॥

मघोन इति । त्रिभुवनभट त्रिलोकेश्वीरोऽय दशमुख समरे युद्धे तत् प्रसिद्ध

राम—बलम, ऐसा नहीं कहना चाहिये । वह महान् है, और बालि तथा महस्त्रार्जुन  
 रावणके भुजबाणके घाता मले ही रह हों, किन्तु फिर भी दशक-न्धरके स्त्र-धवी बधी  
 प्रतिष्ठा है । तत्काल क्षिप्त रावणके शिरको जिनपर रथिर तथा अस्त्रिच्छण्ड बिल्लरे पडे थे,  
 भगवान् शङ्करने स्वय अपने गजचमसे वापिन कर दिया था ॥ ३९ ॥

इन्द्रके भयङ्कर वज्रको सुदक्षेत्रमें मन्द बनाकर यह रावण त्रिभुवन बौर बहाकर

श्रियो नानास्थानभ्रमणम्मणीया चपलता

मवच्छिद्य स्वस्मिन्नपि भुजवने पुरयति य ॥ ४० ॥

‘जनक — ( शौक्ल प्रति । ) ब्रह्मन्, सत्यमीदृशो<sup>१</sup> रावणसराज ।

शौक्ल — राजर्षे जनक,

सतुष्टे तिसृणा पुरामपि रिपौ कण्डूलदोर्मण्डली

क्रीडाकृत्तपुन प्ररुढशिरसो घोरस्य लिप्सोर्वरम् ।

याचनादन्यपराञ्चि यस्य कलहायन्ते मिथस्त्व वृणु

त्व वृण्वित्यभितो मुखानि स दशग्रीव कथं वपर्यताम् ॥४१॥

पराक्रम घोर भाषणञ्च मघोन इन्द्रस्य कुलिश वज्रम् अलसीकृत्य निश्चेष्टता प्रापय्य स्वाराज्य स्वगाराज्य मुनक्ति भुङ्क्ते पालयति । अपि च य रावण श्रियो लक्ष्म्या नानास्थानेषु भिन्नभिन्नस्थलेषु भ्रमणेन सचरणेन रमणीया चपलता चञ्चलताम् अवच्छिद्य दूरीकृत्य स्वस्मिन् निज भुजवने बाहुसमुदाये पूरयति स्थापयति । अयं हि रावणो मघोनो वत्र व्यधीकृत्य स्वगाधिपत्वमाप्य च लक्ष्म्याश्चञ्चलता दूरीकृत्य ता भुजवने स्वकीये स्थिरीकरोतीत्यर्थः । शिम्बरिणीवृत्तम् ॥ ४० ॥

मत्तष्ट इति । तिसृणा पुराम् त्रयाणां राजसुतनगराणां रिपौ महर्षिरे शिवे सन्तुष्टेऽपि आराधनप्रसन्नेऽपि कण्डूला रणकण्डूशालिनी या दोर्मण्डली भुज समुदायस्तस्या क्रीडया विलासेन कृतानि टि-नानि पुन प्ररुढानि च शिरामि च यस्य तथाभूतस्य वर प्राधान्यम् लिप्सो ल-गुमिच्छोर्यस्य रावणस्य मुखानि दक्षाप्याननानि याचनादैन्येन याचनाकृतलाघवभयेन पराञ्चि याचनाविमुक्त्यानि भूत्वा ‘त्व वृणु त्व वृणु’ इति प्रकारेण परस्पर कलहायन्ते विवादं कुर्वते, स रावण

स्वाराज्यका भोग करता है, और लक्ष्मीकी नानास्थल-भ्रमण चपलता नेवकी दूर करके उसे अपने बाहुओंमें स्थिर रूपमें निवासित करता है ॥ ४० ॥

जनक—( शौक्लसे ) ब्राह्मण सत्य ही रावण ऐसे हैं ।

शौक्ल—राजर्षे जनक, त्रिपुरारि शिवके प्रसन्न हो जानेपर भी सुनलाहटधारी भुजोंमें जब अनायास समा सिर काट दिये, रावण वर प्राप्त करना चाहना भी था, पर तु याचनादैन्य विमुक्त उसके समीं मुख ‘तुम माँगो तुम माँगो’ कहकर आसतमें क्षण्डने लग्ये, उग्य रावणका क्या वचन मिया जाय ? ॥ ४१ ॥

१ ‘शतानन्द’ । २ ‘इदृशोऽयम्’ ।

३ ‘लालालन-’ । ४ ‘कथ्यताम्’ ।

मोऽपि ।

कन्यामयोनिजन्मानं वरीतु प्रजिघाय माम् ।

पुरोवसा गौतमेन गुप्तस्य भवतो गृहान् ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र —सखे सीरध्वज, 'पश्य पिनाकदर्शनोल्लासिकारिस-  
ष्टुलचित्तवृत्तिरिव वत्सो रामभद्र ।

जनक —( विहस्य । )

किमेतदेव<sup>१</sup> भगवन्नभिधीये<sup>२</sup> पुनस्तराम् ।

कथं कन्ये प्रसारेण वर्ण्यताम् स्तूयताम् ? यस्य प्रसन्नेऽपि वरिवस्थया हरे  
भुजवनश्रीडया च्छिन्नप्ररूढशिरसो रावणस्य मुखानि याचितुमनीहमानानि  
सन्ति 'स्र वृणु त्व वृणु' इत्येव परस्परं नियुञ्जानानि कलहायन्ते, स रावण कै-  
शब्दे प्रशस्यताम् । शार्दूलविनीडित वृत्तम् ॥ ४१ ॥

कन्यामिति यस्य रावणस्य मुखानि शिवादि सन्तुष्टाद्वरं याचिन् पुराञ्चि  
समजनिपत, स रावणोऽपि गौतमेन तदारथेन पुरोधसा पुरोहितेन गुप्तस्य वृत्त-  
स्य भवतो जनकस्य गृहान् अयोनिजमानम् अगर्भसम्भवा सीता नाम कन्या  
वरीतु याचिन् माम् स्वपुरोहितं प्रजिघाय प्रपद्यत् । यस्य हि रावणस्य वरप्रदानो  
घताच्छिवादि याचनाया सङ्कोचस्तस्यैव त्वद्गृहं प्रति कन्या याचिन् मम  
प्रेषणं तदिच्छापूर्त्तरविचार्यं कर्त्तव्यत्वमाहेति तदाशय ॥ ४२ ॥

पिनाकस्य हरधनुषं दर्शनाय या उल्लासिका उत्सुकता तथा विसष्टुल्लासिता  
चित्तवृत्ति मनोभावो यस्य तथाभूत, चापद्रष्टु चटन्मना राम इति पश्येति-  
न्रियाया वाक्यार्थं कर्म ।

किमेतदेवेति ह भगवन् सर्वसामर्थ्ययुक्त, एतदेव पूर्वोक्तमेव वचनं पुनस्तराम्  
भूयोभूय किम् किमर्थम् अभिधीये, एकमेव वचनं पुन पुन किमर्थं त्व मामार्थेति

उम रावणने भी—

आपसे आपकी अयोनिजा कन्या सीताकी याचना करनेके लिए मुझे खुद भेजा है  
पुरोधा गौतममे परिपालित आपके वरपर ॥ ४२ ॥

विश्वामित्र—सखे सीरध्वज, पिनाकदर्शनकी उत्सुकतासे वत्स रामभद्रकी मनोवृत्ति  
चञ्चल हो रही है ।

जनक—( हमकर ) भगवन्, बारम्बार मुझे यह आप क्यों कह रहा है, हम तथा

१. पश्य पश्य । २. 'एवम्' ।

इष्वाकवो विदेहाश्च परवन्तस्त्वया वयम् ॥ ४३ ॥

शौकल — भो मीरध्वज, 'किमिदमस्मान्माताशयचनम्, इत  
दुम्परिच्छेद्य एवायमर्थ । चतुत्तरमपि न प्रतिपश्यसे । 'पश्य ।

दातव्येयमवश्यमेव दुहिता कस्मैचिदेनामसौ

दौर्लालामसृणीकृतत्रिभुवनो लङ्कापतिर्याचते ।

तर्कि मूढवदीक्षसे ननु “कथागोष्ठीषु न शासति

त्वद्वृत्तानि परोरजासि मुनय प्राच्या मरीच्याद्य ॥ ४४ ॥

भाव, तथा कथनस्यायुक्तं च प्रमागयति — 'इवाकव इति । इष्वाकवो रघुवश्या  
विदेहा जनकाश्च चया परवन्त स्वधर्मीना तथा च त्वदादारायावश्यपालनीयत्व  
पुनरभिधान निष्कलमिति ॥ ४३ ॥

आकाशभाषितम् शून्यदशे कथनम्, यस्य कोऽपि श्रोता न स्यात्, किमि  
ति कोऽपि मद्रुक्ष नाकर्णयतीत्यर्थ । दुम्परिच्छेद्य क्लेशगोष्ठ्य । प्रतिपद्यम ददायि ।

दानव्येति । इदम् प्रकृतपाणिग्रहणा कथा कस्मचित् वराय अवश्यम् एव  
देया वैवाहिकविधिनाऽर्पणीया, ननु स्वगृह रक्षणीया, पत्न्या कन्या दौर्लाल्या  
भुक्तविलमितेन मसृणीकृतत्रिभुवन सरलीकृतत्रिलोक लङ्कापति रावणो याचत  
प्रार्थयते, तत् तदा अवश्यदानं यवस्तुप्रार्थितया त्रिभुवनकर्षार रावणे समुपस्थिते  
मूढवत् किङ्कर्तव्यमिदं लोक इव ईक्ष्मे इतस्तन पश्यमि ? इदं प्रसङ्गे मौभा  
ग्योपननेन किमपि विचारणीय किन्तु मय कर्तव्यमवधारणीयमिति तदाशयः ।  
ननु बुद्धिमानेव सद्य कर्तव्य स्थिरयति न माधारणा लोकस्तकथमह इतिनि  
कर्तव्यमवधारयेय तत्राह—न अस्माक कथागोष्ठीषु विश्वस्तकथाप्रसङ्गेषु प्राच्या

इष्वाकु दोनो हा आपके वशवर्ती ह ॥ ४३ ॥

शौकल—अब मीरध्वज, क्या यह मेरा वचन आकाशभाषित है, अथवा यह  
विषय नितान्त अविचारणीय ही है कि आप कुछ उत्तर नहीं देते । देखिये—

यह कन्या निश्चय किसीको दान करनी है, फिर इसे अपने भुक्तविलसते त्रिभुवनको  
मशक समान सिद्ध कर देनेवाले रावण जब मोंग रहे हैं, तब आप किङ्कर्तव्यविमूढका  
तरह क्या देख रहे हैं ? हम लोगोकी कथागोष्ठ्यामें प्राचीन मरीचि आदि ऋषिगण  
आपके रजस्तमोऽतिवर्ती वृत्तान्तोंकी चर्चा किया करते हैं ॥ ४४ ॥

१ 'किमस्माकम्' । २ 'पश्य पश्य' ।

३ 'दौर्लाला', 'दौर्लालामसृणीकृत' । ४ 'लङ्कापि' । ५ 'तथा' ।



शतानन्द — ब्रह्मन्, चिराय दत्तमेवोत्तरमस्माभि ।

शौष्कल — 'दन्त, राजपुत्रीसमर्पणादन्यत्कीदृश तत् ।

शतानन्द — शृणु ।

शाम्भवं चापमारोप्य योऽस्मानानन्दयिष्यति ।

पूर्णपात्रमियं तस्मै मैथिली कल्पयिष्यते ॥ ४५ ॥

शौष्कल — ( विद्वस्य । ) 'शान्तम् । अहह युष्माकमप्यमून्यक्षराणि ।

आद्या मुनयो मरीच्याद्यो नाम परोरचासि रजोगुणमतीत्य समवस्थितानि  
त्वद्बृत्तानि तवार्थानानि शासति कथयन्ति । प्राप्यमुनिमरीच्यादिस्तुतृत्ततया  
तव प्रसिद्ध एव त्रिवेस्तद्विलम्बमुत्तर प्रतिपद्यस्व स्वीकारामकमल मूढवद्व  
स्थायेति भाव ॥ ४४ ॥

चिराय तदुक्तात्पूर्वम् ।

राजपुत्रीसमर्पणात् सीताप्रदानात् । नात्र वाक्यामकमुत्तरमपेक्ष्यते, किन्तु  
सीताप्रदानात्प्रक्रियारूपमेवोत्तरमपेक्ष्यते इति तदाशय ।

शाम्भवमिति यं शाम्भव हरसम्बन्धि चापम् धनु आरोप्य सद्य कृत्वा  
अस्मान् कन्यापक्षगतान् पित्रादीन् आनन्दयिष्यति प्रतिज्ञापूत्तिसम्भवान् इमाज  
करिष्यति, इय मैथिली सीता तस्म हरचापारोपणयज्ञस्विने पुरपाय पूर्णपात्र  
पारितोषिकदक्षिणारूप कल्पयिष्यते समर्पयिष्यते । इदमेव निश्चितमुत्तरमिति  
भाव ॥ ४५ ॥

अहह ! इति असम्भावितोत्तरध्वजजयोपहासे । युष्माकमप्यमून्यक्षराणि यूय  
सर्वविषयकज्ञानवन्तोऽपीत्य प्रथ, १ भवद्भिरिदं वाच्यमित्यर्थ ।

शतानन्द — ब्रह्मन्, सदावे लिप ह्मन्ने उत्तर दे दिया है ।

शौष्कल — हाय, राजपुत्रीके समर्पणके अतिरिक्त क्या उत्तर हो हो सकना है ?

शतानन्द — मुनिये —

महादेवके धनुषको आरोपित करके जो हमें आनन्दित करेगा, पूर्णपात्र स्वरूप यह  
मैथिली उसीको दक्षिणा देनेगी ॥ ४५ ॥

शौष्कल — ( हसकर ) शान्त रहिये भला । आप भी इस तरहकी बात करते हैं ?

तेनाङ्गुलीशतनिघृष्टकुचेरशौल  
 कण्ठोक्तदो कुलिशकन्दलप्रिरुमेण ।  
 माहेश्वरेण महता दशकन्धरेण  
 'कर्मदश कथमनार्यमधिक्रियेत ॥ ४६ ॥

शतानन्द — ( विहस्य ! ) ब्रह्मन्,

अथ महाक्षत्रियगोत्रजन्मा दृढप्रतिज्ञो जनकाधिराज ।

न चापमारोपयिता दशास्यस्तथापि जानासि यदुत्तर न ॥ ४७ ॥

तेनाङ्गुलीशनेनि । अङ्गुलीना शतेन विंशतिहस्तैस्तावतीभिरङ्गुलीभिर्निघृष्ट  
 चालितं य कुचेरशौल कैलास तेन कण्ठोक्त स्पष्टमाख्यायान कुञ्चिकदलविक्रम-  
 वत्रपराक्रमो यस्य तेन तथोक्तैः अङ्गुलीशतसंचालितकैलासप्रत्यापितपराक्रमाति-  
 शयेन तेन महता प्रसिद्धेन माहेश्वरेण शिवभक्तेन दशकन्धरेण रावणेन ईदृश कर्म  
 स्वारायशिवधनुर्भङ्गनामक कुकृत्य कथं केन प्रकारेण अधिक्रियेत सम्पादयितु  
 मारभ्येत इष्येत वा ? नहि रावण स्वाराध्यस्य हरस्य चापमारोपयितुमुद्यतो  
 भविष्यति, वारता तु तस्य कैलासचालनप्रत्याता एव, अतस्तस्य वीरतात्यापन-  
 बुद्ध्याऽप्यत्र कर्मणि प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति भावः ॥ ४६ ॥

अपमिति अथ जनकाधिराज महाक्षत्रियगोत्रजन्मा महति क्षत्रियवशे समु-  
 त्पन्न, दृढप्रतिज्ञश्च अमिथ्याभाषी च, तथा चास्य पत्ने विचारपरिवर्तनमशक्यमिति ।  
 एव दशास्यो रावणोऽपि महामाहेश्वरतया चाप हरधनुर्नारोपयिता नारोपयिष्यति,  
 सोऽपि स्वमिद्धान्तात् स्यात्प्रयितु न शक्यते, तथा सति न अस्माकम् अत्र प्रसङ्गे  
 यदुत्तर तत् जानामि अपि । चापारोपणमात्रलभ्यायाः सीतायास्तदुपायमात्र-  
 लभ्यत्वमिति भावः ॥ ४७ ॥

अपनी सी अङ्गुलियोंस मञ्जालिन कैलास पवतके द्वारा जिस रावणने अपने वज्रापम-  
 भुञ्जोके पराक्रमको स्पष्ट बना दिया है, वह महामाहेश्वर दशकण्ठ महा इम तरहका  
 अधन्य काय किम प्रकार कर सकेगा ? ॥ ४६ ॥

शतानन्द—( हसकर ) ब्रह्मन्,

यह महाक्षत्रिय वंश मञ्जान जनकराज की दृढप्रतिज्ञा है, और माहेश्वर होनेके कारण  
 रावण चापारोपण नहीं करेंगे, फिर आपही समझ सकते हैं कि इस विषयमें हमारा क्या  
 उचर हो सकता है ? ॥ ४७ ॥

१ कर्मदमोदशमनाय— ।

शौक्ल —( सहासम् । )

अङ्गिराश्च पुलस्त्यश्च प्रसवौ परमेष्ठिन ।

पौलस्त्ये 'ज्ञातिधर्मोऽयं तत्किमाङ्गिरसस्य ते ॥ ४८ ॥

( 'सामर्पम् । )

माहेश्वरो दशग्रीव क्षुद्राश्चान्ये महीभुज ।

पिनाकारोपण शुक्क हा सीते किं भविष्यसि ॥ ४९ ॥

शतानन्द —( 'मरोप्ययम् । ) ब्रह्मन्, 'एयमनेन धनुषा किमपि विनयाधि'कारिकमध्याप्यते । यद्य 'परममाहेश्वरस्ते राज्ञोऽपि सवृत्त' ।

अङ्गिरा इति । अङ्गिरा नाम मुनि गौतमस्य पिता शतानन्दस्य पितामहः, पुलस्त्य रावणस्य पितामहश्च तावेतौ परमेष्ठिने ब्रह्मण प्रसवौ पुत्रौ, तव तस्मात् पौलस्त्ये रावणे ते तव शतानन्दस्य अयं ज्ञातिधर्मं विद्वेष किम् ? समानकुल योवैरस्य प्रयिद्धतया स्वमपि स्वगोत्र रावणे विद्वेषमाचरसीति भाव ॥ ४८ ॥

माहेश्वर इति । दशग्रीवो रावण माहेश्वर शिवभक्त ( अत एवासौ हरचापारोपण कृत्वा त्वा न वरीष्यति ) अन्ये च महीभुज नृपतय क्षुद्रा, तुच्छा, ( अत एव तेषामपि हरचापारोपणे साफल्यमसम्भवं ) ननु विनैव चापारोपण सीता यस्मै कस्मै चिद्वराय दास्यत इति चेत्त्राह—पिनाकारोपण हरचापनमन शुक्क सीतापरिणये पण अस्या स्थितौ हा सीते, किं भविष्यति ? वा तव दशा भविष्यतीति न जाने इत्यर्थं ॥ ४९ ॥

विनयाधिकारिकम् नम्रत्वम् । अध्याप्यते शिक्षयते । परममाहेश्वर अतिशिव भक्त । अस्य नमनमसम्भव सम्भाव्य स्वाशक्तिगोपनायैव रावणस्यायमुद्यमो न चास्तवमेवासौ शिवभक्त इति वाक् ।

शौक्ल—( हसकर ) अङ्गिरा और पुलस्त्य ब्रह्माके पुत्र हैं, क्या आङ्गिरस होनेके कारण आप रावणसे दायादका धर्म निमा रहे हैं ? ॥ ४८ ॥

( क्रोधसे ) रावण माहेश्वर हैं, अन्य राजगण क्षुद्र ही हैं, पिनाकका आरोपण पण बना ही है, हाय, सीते न जाने तुम्हारा क्या होगा ? ॥ ४९ ॥

शतानन्द—( क्रोध तथा खेदके साथ ) ब्रह्मन्, इस प्रकार यह धनुष लीगोंकी विनयकी शिक्षा दे रहा है । जिससे तुम्हारे रावण भी आज माहेश्वर बन गये हैं ।

- १ 'जाति-'. २ 'सामवमाकाशे कर्णं दत्त्वा सहासम्' । ३ 'सरोपावदित्वम्' । ४ 'किमनेन' । ५ 'कारिकां कारिवाभ्या-'. ६ 'ते रावणोऽपि परममाहेश्वर' ।

शम्भोराधारमचलमुत्क्षेपतु भुजसौतुकी ।

माहेश्वरो धनु क्रष्टुमहो ते दशकन्धर ॥ ५० ॥

( शौष्मलवर्नमन्ये<sup>१</sup> स्मयन्ते । )

शतानन्द —( सरोपावहित्यम् । )<sup>२</sup> रामभद्र,

तदेतदारोपय<sup>३</sup> चापमीशप्रकोष्ठभस्मप्रतिरूपितव्यम् ।

शौर्याम्भभाजा भजता मुखानि स्वराहुमोर्वीकिणकालिकैः ॥ ५१ ॥

शम्भोरिति । शम्भो शिवस्याधारमचल निवासभूत पर्यन्त कैलासमुत्क्षेपतु सवात्मनोत्पाद्य चालयितु भुजसौतुकी बाहुत्कण्ठाशाली ते दशकन्धरो रावण अहो आश्चर्यम् धनु क्रष्टुम् माहेश्वर धनुर्मयितु माहेश्वर माहेश्वर शिवभक्त जात इति शप । यो हि तव रावण शिवस्यावासभूत कैलासाचल चालयितुमुत्क्षेपतेस्म, तस्य शैवधनुर्मन भक्त्या पराङ्मुख्यम आश्चर्यकरमिति । तदिय तदीया प्रतारणाऽत्र न सम्भवदवकाशेति भाव ॥ ५० ॥

नदेविति । तत् तस्मात् अवसरप्रतीक्षाया व्यर्थत्वात् ईशस्य शिवस्य प्रकोष्ठे मणिवन्धोपरितनहस्तभागे यद् भस्म विभूति तेन प्रतिरूपिता मलिनीकृत्वा रञ्जिता व्या मोर्वी यस्य तादृशम् एतत् चापम् धनुरारोपय नमय । शौर्याम्भभाजाम्

मिति भाव ॥ ५१ ॥

आपके जिन रावणन महादेवके निवासपवा कैलासको चला दिया और अपने भुजोंकी उत्तुङ्गता निश्चय की, वही रावण आज शिवचारोपणमें माहेश्वर बन रहा है ॥ ५० ॥

( शौष्मलके अतिरिक्त सभी मुस्कुराते हैं )

शतानन्द—( शीप तथा अवहित्याके साथ ) रामभद्र,

महादेवके बाहुका भस्म जिसको प्रत्यक्षाको रूपित बना चुका है ऐसे इसको आरोपित करो, बाहुकी पराक्रमशीलताके कारण जब रखनेवालोंके मुँहको उनके बाहुमें बलमान मौर्वी किण्वी कालिमा प्राप्त करले ॥ ५१ ॥

१ 'इतरे' ।

२ 'रामभद्र रामभद्र' ।

३ 'देश—भूधितव्यम्' ।

शौक्ल — ( मक्रोधम् । ) अरे रे शतानन्द, किमुद्भ्रान्तोऽसि । यदेवमस्मदग्रे पौलस्त्य महाराजमधिक्रिपसि । कथमय ते 'माणिक्यपरिहाणेन गैरिकपरिमह । यदेव 'दशमीप्रममन्यमानस्य मनुष्यपोतेऽनुराग । यदि वा तत्रभयन्त गौतममपहाय दुर्लचक्षुषि सहस्राक्षे भयतो 'मातुरहल्याया ।

शतानन्द — ( 'सरोपहासम् । ) निमात्थ रे, किमात्थ अस्मदग्र इति ।

विश्वामित्र — ( 'सप्रणयरोपमिव । ) वत्स गौतम, निरम निरम शुककलहात् । अतिथिरयमस्मान्मुपाध्यायो 'दशकण्ठस्य । ( व्ययमानौ

उद्भ्रान्त मूढ, कर्त्तव्याकत्तव्यविवेकत्रिपुर इत्यर्थं । पौलस्त्यम् रावणम् । अधिक्रिपमि निन्दसि । माणिक्यपरिहाणेन रत्न विहाय । गैरिकपरिमह गैरिक धानुशिलाखण्डस्वीकार, रावण विहाय रामस्यादरो रत्न विहाय गैरिकस्वीकार इव मूर्खताप्रमापकं, अतस्तथा मा कार्पीरिति भाव । अद्यमन्यमानस्य तिरस्कुर्वन्त, मनुष्यपोते मानवशिखौ । दुर्लचक्षुषि दुर्ले कच्छप्याश्चक्षुरिव चक्षुरस्य तस्मिन् पीतनयने सहस्राक्षे । यथा तव माताऽहल्या गौतम नाम मुनि स्वपतिमपहाय पीताभनयनतया कुरूपे शक्रेऽनुरागस्तथैवाय तव रावण लोकेऽवीरमपहाय मानवशिखौ रामचन्द्रेऽनुरागस्तदय तव कौलिको रोगो न शक्यते इदिति शमयितु मिति भाव ।

विरम निरर्त्तस्व । शुष्ककलहात् वृथाविवादात् । उपाध्याय' गुरुपुरोहित,

शौक्ल — अरे, शतानन्द, क्या तुम पागल हो गये हो कि हमारे सामने ही तुम महाराज रावणपर आक्षेप कर रहे हो । क्यों तुम यह माणिक्य छोड़कर गैरिक स्वीकार कर रहे हो, जो कि दशप्रोवका अपमान करके मनुष्यके वक्रका अनुराग कर रहे हो । अथवा उचिन है तुम्हारी भाताने भी तो गौतमको छोड़कर कछुआकी तरह आँखोंवाले इन्द्रपर प्रेम किया था ।

शतानन्द — ( रोपते हसकर ) क्या कहा ? हमारे आगे क्या कहा रे ?

विश्वामित्र — ( प्रेम तथा वीपके साथ ) शतानन्द छोड़ो इस शुष्क कलहको, यह दशकण्ठके आचार्य हमारे अतिथि हैं । ( व्यथित होने हुए राम लक्ष्मणकी ओर देखकर

१ 'परिहारेण' । २ 'दशानमवगत्य', 'दशमीप्रममन्यमानस्य ते' ।

३ 'यदिव' 'अथवा' । ४ 'तव' । ५ मातुरपि कथमहल्याया ।

६ 'सरोषाहकारम्' । ७ 'सप्रणयमिव' । ८ 'दशकभरस्व' ।

रामलक्ष्मणौ च दृष्ट्वा विहस्य । ) वत्स रामभद्र, ‘धनुर्गृहोपसर्पणमभ्यनुजानाति ते जनकान्वयपुरोधः’ ।

राम — यदादिशन्ति गुरव । ( इति सवितयलज्जाकौतुक परिक्रम्य लक्ष्मणेन सह निःशान्त । )

शौकल—राजर्षे मीरध्वज, धन्योऽसि । पुरा किल परमेश्वर-परिचर्याप्रदाने निरुत्तेषु नयमूर्धसु

वर तादृक्कर्माद्भुतसदृशमप्रेक्ष्य किमपि

प्ररोहद्वैलक्ष्यं पुरविजयिनो येन दृष्टो ।

तदुन्माष्टुं येन त्रिभुवनमपि प्रार्थितमिदं

तदेव त्वय्यर्थीभवति दशम रावणमुखम् ॥ ५२ ॥

धनुर्गृहोपसर्पणम् धनुर्गृहगमनम् । अभ्यनुजानाति आदिशति । जनकान्वयपुरोधः विदेहवशपुरोहित शतानन्द ॥

वरमिति । येन तादृक्कर्माद्भुतसदृशम् तादृशाद्भुतकार्यांनुरूपम् नवशिरकर्त्तनरूपातिभयानककार्यांनुरूपम् किमपि वरम् देयं वस्तु अप्रेक्ष्य अदृष्ट्वा पुरविजयिनः त्रिपुरारे शिवस्य प्ररोहद्वैलक्ष्यं जायमाना त्रया दृष्टो तत् पुरविजयिणो वैलक्ष्यं प्रमाष्टुं च इदं त्रिभुवनम् लोकत्रयं ( भुवनत्रितयस्वामित्वं ) प्रार्थितम्, तदेव दशम रावणमुखं त्वयि जनके अर्थीभवति याचकत्वं लभते । रावणे दशशिरस्सु नवशिरसि च्छित्त्वा प्रमादितवति वरप्रदानायागते शिवे च तादृशाद्भुतकार्यांनुरूपत्वरालाभेनोदयत्त्रये सत्सृष्टे सति शिवस्य तादृशीमवस्थामालोक्य दशममत्रशिष्ट रावणस्य शिरो भुवनत्रयाधिपत्यरूपं लघुमपि वरं याचमानं शिवस्य त्रया

दृष्टते हुए ) वत्स रामभद्र, तुमको धनुर्गृहमें जानेकी आज्ञा जनकवशसे पुरोहित दे रहे हैं ।

राम—गुरुजनोकी जैसी आज्ञा । ( विनय, लज्जा, कौतुकसे लक्ष्मणके साथ जाते हैं )

शौकल—राजर्षे मीरध्वज, तुम धन्य हो, पूर्वकालमें शिवकी आराधनाके अवसरपर, नय मस्तकोंके काट दिये जानेके बाद,

उस अद्भुत वायके योग्य वरको नहीं देखकर रावणका दशमुख लज्जाका अनुभव करने लगा, महादेवने उसकी यह दशा देख ली तब उस मुखने लज्जा गोपनके लिए हम त्रिभुवनको हाँ माँग लिया, आज रावणका बही मुख तुम्हारे सामने याचक बन रहा है ॥ ५२ ॥

१ ‘धनुर्गृहोप-’ ।

१२ अ० रा०

शतानन्द — ( उत्याय । 'नेपथ्यावलोकितकेन सहर्षाद्भूतम् । ) 'पश्यन्तु भवन्त ।

यस्मिन्नेकधनुष्मतो भगवत खट्वाङ्गपाणे रसा  
वाकृष्टो गुणता गतोऽप्यहिपति कर्णावतंसायते ।  
'उन्मुक्त पुनरेव भूषणपद याति प्रकोष्ठान्तरे  
( जनर औत्सुक्य नाटयति । )

शतानन्द —

काकुत्स्थेन तदेव भार्गवगुरो कोदण्डमाकृष्यते ॥ ५३ ॥  
( नेपथ्ये । )

मपाकरोत्, तदेव रावणस्य मुखमद्य त्वामर्धयत इति मा अन्यथा चिन्ति, पालनीय एव च तदनुरोध इति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति । एकधनुष्मत अद्वितीयधनुर्धरस्य भगवत सर्वसामर्थ्यशालिन खट्वाङ्गपाणे शिवस्य यस्मिन् धनुषि असी आकृष्ट गुणता प्रत्यञ्चारूपत्वं गतोऽपि अहिपति जनन्तनाग कर्णावतसायते कर्णाभरणरूपता प्रपद्यते, उन्मुक्त त्यक्तश्च सन् पुन एव प्रकोष्ठान्तरे मणिवधोपरितनभागे भूषणपद कङ्करूपत्वं याति, तदेव भार्गवगुरो परशुरामाचार्यस्य शिवस्य कोदण्डम् धनु काकुत्स्थकुलोत्पन्नेन रामेण आकृष्यते नम्यते । महादेवस्य तद्धनु रामेणाकृष्यते यत्र नाग प्रत्यञ्चाभावेनावस्थित, स व्याकर्षणकाले कणपयन्ताकृष्टतया कर्णभूषणभाव, विकर्षणकाले च प्रकोष्ठससक्ततया हस्ताभरणभाव भजत इत्याशय । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५३ ॥

शतानन्द—( उठकर नेपथ्यकी ओर दखकर ) ( सहर्ष ) आप लोग देखें—

जिस धनुषपर अद्वितीय धनुर्धर भगवान् शङ्करने जब प्रत्यञ्चा चढाकर आकृष्ट किया तब नागराज उनके कर्णावतस बन गये, फिर प्रत्यञ्चा छोड़ देनेपर वही नागराज कर्णभूषण बन गये थे,

( जनक उत्कण्ठा प्रकट करते हैं )

शतानन्द—काकुत्स्थकुलभूषण राम वही धनुष आकृष्ट कर रहे हैं ॥ ५३ ॥

१ 'नेपथ्याभिमुखमवलोकयन्' । २ 'पश्यन्तु पश्यन्तु' ।

३ 'उन्मुक्तश्च पुरेव' ।

लक्ष्मण —

रुन्धन्नष्ट विधे श्रुतीर्मुखरयन्नष्टो दिश क्रोडय-

न्मूर्त्तिरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलश्माभृत ।

तायक्षणा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च सपादय

न्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्वल'दलत्कोदण्डकोलाहल ॥ ४० ॥

जनक—( १ महर्षिविपादादमुत्तम् । ) कथं भग्नमपि ।

शतानन्द —

वैदेहीकरवन्धमङ्गलयज्ञु सूक्त द्विजाना मुखे

नारीणा च ३ कपोलकन्दलतले श्रेयानुल्लुध्वनि ।

रुधन्निति । अयम् सर्वश्राव्यतया प्रत्यक्षरूप आर्यस्य रामस्य दोर्वलेन बाहु  
वीर्येण दलत' भग्नमानस्य कोदण्डस्य हन्त्रापस्य कोलाहल भयङ्कर शब्द  
विधेश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मण अष्टश्रुती कर्णविधिराणि रुधन् बधिरता नयन् अष्टौ दिश  
प्राच्याद्यष्टदिग्बिभागान् मुखरयन् सा दै पूरयन्, महेश्वरस्य अष्टमूर्त्ता पृथिव्याद्य  
स्वरूपाणि क्रोडयन् क्रोडीकुर्वन् व्याप्नुयन् अष्टौ कुलश्माभृत दलयन् विदारयन्  
तानि असिद्धानि अष्टौ पन्नगकुलानि तच्छक्रादीनि अष्टौ बधिराणि शब्दप्रणासना  
धानि सम्पादयन् उन्मीलति सर्वान प्रसरति । रामेण हरत्रापे भयमाने विधर  
ष्टापि श्रुतय शब्दपूर्णतया रुद्धा, दिशोपि सवास्तच्छब्दव्याप्ता, शिवस्य वारि  
वद्विधराऽऽकाशवायुरत्रिचन्द्रयज्ञमानरूपा अष्टात्रपि मूर्त्तयोऽपि तदीयध्वनिना क्रोडी  
कृता, सपाणा चतुर्ध्रवस्तया चक्षुष्येव शब्दग्रहणात्समाप्यनायन्त, तदेव सर्वान  
प्रमृत्तन्तःकोलाहल इति भाव ॥ ५४ ॥

वैदेहानि । द्विजाना ब्राह्मणाना मुखे वेदेष्टा स्मिताया करवन्धाय पाणिग्रहाय  
यत् मङ्गल शुभाशसनम् तदर्थं यज्ञु सूक्तम् यज्ञुवदीपमन्त्रविशेष, नारीणा स्त्रीणा

लक्ष्मण—मङ्गलके भाठ कानोंकी भरता हुआ, दिशाभाको व्याप्त करता हुआ,  
नहादेवसी पृथिव्यादि भाठ मूर्त्तियोंको एक दुःखवनोंको दग्धिन करता हुआ भाठ नारियों  
बधिर बनाता हुआ यह रामके द्वारा खण्डित धनुषका शब्द प्रकट हो रहा है ॥ ५४ ॥

जनक—( १ इय विपाद तथा आश्रयके साथ ) क्या तोड भा गिया ?

शतानन्द—ब्राह्मणोंके मुखोंमें स्मिता विवाह मङ्गलमूर्त्तोंके रूपमें, नारियोंके कपोल

१ 'ललत्' ।

२ 'सद्वर्षादनुत्तम्' ।

३ 'कन्दर-' ।



पेष्टु च द्विषतामुपश्रुतिशत मध्येनभो जम्भते  
रामश्रुण्णमहोक्षलान्छनधनुर्दम्भोलिजम्भा रव ॥ ५५ ॥

शौक्ल — ( 'सविषादाद्भुतमात्मगतम् । ) अहो दुरात्मन क्षत्रिय-  
स्फुलिङ्गस्य सर्वकर्मिणामूष्मायितम् ।

जनक — ( सहर्षं पादयोर्निपय । ) 'भगवन्कुशिकनन्दन,

इयमात्मगुणेनैव क्रीता रामेण मैथिली ।

स्वगृहव्यवहारस्तु लक्ष्मणायोर्मिलाऽस्तु न ॥ ५६ ॥

कपोलक दलतले गण्डममूहप्रदेशे श्रेयान् माङ्गलिक उल्लुध्वनि शब्दभेद,  
द्विषतां शत्रूणां च उपश्रुतिशतम् ध्रुवणेन्द्रियशतसमीपेषु पेष्टुम् तान् द्विषतो दल-  
यितुं रामेण श्रुण्णस्य रामेण वृष्टस्य महोक्षलान्छनस्य धृषकेतनस्य शिवस्य  
धनुर्दम्भोले चापरूपवत्रस्य रव शब्द जम्भते प्रसरति, रामेण हरचापे दलिते  
सति तदुत्थितो रव सबत्र प्रसरति, स हि ब्राह्मणमुखेषु सीताविवाहमङ्गलमन्त्रात्मना  
परिणमत, वनितानां कपोलतलेषु च माङ्गलिकोऽल्लुध्वनिसंवादात्मना, शत्रूणां ध्रुवणेषु च  
दारकशब्दतयेति भावः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५५ ॥

दुरात्मन दुष्टस्य । क्षत्रियस्फुलिङ्गस्य क्षत्रियरूपाग्निक्वणस्य । सर्वकर्मिणम् सर्व  
कार्यसमर्थम् । ऊष्मायितम् तेजस्विधम् ।

इयमिति । रामेण इयम् मैथिली आत्मगुणेन स्वपराक्रमेण एव ( हरचापारो  
पणद्वारा ) क्रीता अजिता । न अस्माकम् स्वगृहव्यवहार गृहस्थव्यवहार  
कन्यादानरूपस्तु लक्ष्मणाय उमिला नाम कन्यान्तरमस्तु । रामेण सीताया लब्धा  
यामपि मम कन्यादानपुण्यं नोत्पद्यते, तस्यास्तत्पराक्रमलब्धतया मम कर्त्तव्यता ।

तन्ममे 'उल्लु' शब्दके रूपमे रामक द्वारा लीढे गये शिवके धनुषमे उत्पन्न शब्द शत्रुओंके  
काजके फाट डालनेके लिए आकाशमे फैल रहा है ॥ ५५ ॥

शौक्ल—( विषादके साथ स्वगत ) अहो, इस दुष्ट क्षत्रियकुमारका पराक्रम  
सबनोमुत्त है ।

जनक—( सहर्षं चरणोंपर पडकर ) भगवन् कौशिक,

रामने सीताको अपने गुणमे ही खरीद लिया है, अपने गृहका व्यवहार मैं उमिला  
देकर लक्ष्मणके साथ करना चाहता हूँ ॥ ५६ ॥

विश्वामित्र —( सस्मितम् । ) सरसे सीरध्वज, यदभिरुचित भवते ।

शतानन्द —( 'जनककणे एवमेव कथयित्वा । ) भगवन्विश्वामित्र,  
ममापि चन्द्रशेखरशरासनारोपणप्रथमप्रियवादिन पारितोषिक धारयामि ।

विश्वामित्र —( विस्य । ) वत्स, दीयते । किमभिप्रैषि ।

शतानन्द —कुशध्वजदुहितृभ्या माण्डवीश्रुतकीर्तिभ्या भरतश  
शुध्नावभ्यर्षये ।

विश्वामित्र —एवमस्तु । ( शतानन्द हस्ते गृहीत्वा सस्मितम् । ) वत्स,  
सर्वमस्माभिर्विधातव्यम् । आगमयस्व तावद्दशरथम् ।

राहित्यात्, गृहस्थैश्च कन्यादानपुण्यमर्जनीयमत कृपया मा लक्ष्मणाद्योर्मिला  
नाम स्वकन्या दातुमनुमन्यन्ता भवन्त इति भाव ॥ ५६ ॥

चन्द्रशेखरस्य शिवस्य यन् शरामनम् तस्य आरोपणम् रामेण सज्जीकरणम्,  
तदेव प्रथम प्रियम् नवश्रुतिकेतया कणरसायनीभूत नस्य वादिन कथयितु रामेण  
हरचापमारोपितमिति कर्णरसायन सवप्रथम सूचयत इत्यर्थ । पारितोषिक  
धारयामि पुरस्कार दातु वारयसे इत्याशय ॥

कुशध्वजदुहितृभ्याम् कुशध्वजो नाम सीरध्वजानुजइतःकन्याभ्याम् । अभ्यर्षये  
याचे भरताय माण्डवी शुनकीर्ति च शशुध्नाय दातु भवन्तोऽभमाननुनामन्वि  
त्यर्थ । आगमयस्व आनेतु यतस्व ।

विश्वामित्र—( मुस्कुरावर ) सरसे सारध्वज, जैसी तुम्हारी इच्छा ।

शतानन्द—( जनकके कानमें कुछ कहकर ) भगवन् ! विश्वामित्र, मैंने हा महादेवके  
धनुषके आरोपणका समाचार पहले सुनाया है, अत मरे लिए आप पारितोषिकके  
श्रुणी ह ।

विश्वामित्र—( हसकर ) वत्स, देना है, क्या चाहते हो ?

शतानन्द—कुशध्वजकी कन्याओं माण्डवी तथा श्रुतकीर्तिके लिए भरत तथा  
शशुध्नकी प्राथना करना हूँ ।

विश्वामित्र—ऐसा ही हो । ( शतानन्दका हाथ पकटकर हसते हुए ) वत्स, सब  
हमको करना है, ठहरो तो तब तक ।

जनक—सर्हि प्रहीयतामेप एव भगवानाङ्घ्रिरस प्रियसुहृदमुत्तरकोमलेश्वरमानेतुम् ।

विश्वामित्र—एवमस्तु ।

शतानन्द—( उवाच । ) भगवन्, किमन्यदधिकमस्ति वाचिनम् ।

विश्वामित्र—वत्स, नित्तृष्टार्थोऽसि । गम्यताम् ।

( इति शतानन्दो निबन्त । )

विश्वामित्र—( हर्षं नाटयन्नात्मगतम् । )

दोर्लीलादलितेन्दुशेखरधनुर्विप्यातविक्रान्तिना  
काकुन्स्थेन कृतो विदेहनृपति पूर्णप्रतिज्ञाभर ।

प्रहीयताम् प्रेष्यताम् प्रियसुहृदम् प्रियमित्रम् उत्तरकोमलेश्वरम् दशरथमनेतुम् मियिलामानेतुम् ॥

वाचिकम् सन्देशनाक् । इह दशरथानयनापेक्षयाऽधिकमपि किञ्चिद्वक्तव्यमस्तीति तत्परनाशय ।

नित्तृष्टार्थं दूतप्रकारविशेषो य स्वयमप्यूहापोहाभ्यामर्थमनुसंधत्ते, तादृशोऽसि, अतो यद् वाचिकमाख्यातव्यं तत्त्वया स्वयं विचारणीयमिति भावः, नित्तृष्टार्थदूतलक्षणमुक्तं यथा साहित्यदर्पणे—‘उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् । मुशिलष्टं कुरुते कार्यं नित्तृष्टार्थस्तु स स्मृत ॥

गोलीलेति । दोर्लीलया भुजविलासेन दलितम् आकृष्टम् यत् इन्दुशेखरस्य शिवस्य धनु तेन विरयाता प्रसिद्धा विक्रान्ति पराक्रमो यस्य तादृशेन काकुन्स्थेन रामचन्द्रेण विदेहनृपतिं जनकं पूर्णप्रतिज्ञाभरं पूरितपणं कृतं विहितं, स्वबाहुलीलयैव शाग्भवं चापमारोप्य रामो विदेहस्य प्रतिज्ञामपूरयदिति प्रथमपादः

जनक—ना भगवान् आङ्घ्रिरसको प्रियमित्र दशरथको लानेके लिद भेज दे,

विश्वामित्र—एवमस्तु ।

शतानन्द—( उठकर ) भगवन्, कुछ और भी सन्देश है ?

विश्वामित्र—वत्स सब तुम्हें शत है, जाओ ।

( शतानन्द आते हैं )

विश्वामित्र—( हृष प्रकट करते हुए स्वगत )

भुजपराक्रमसे शिवके धनुषको दलित करके कीर्तिविस्तार करनेवाले रामने विदेह

पश्यामश्च सुहृद्गृहान्नवनवोन्मीलद्विवाहोत्सवा-

नैक्ष्वाकेषु च मैथिलेषु च फलन्त्यस्माकमद्याशिष ॥५७॥

शौकल — ( वैलक्ष्यरोषाभ्या स्मयमान । ) भो सीरध्वज, पुरुषप्र-  
कपोवाने हि 'विद्यावृद्धसयोगाद् बहिरङ्गानि वयासि । यदनया प्रहीण-  
लब्धकन्यया <sup>२</sup>यौनसम्बन्धोपस्थित पुलस्त्यकुलमुपेक्षमाणो वर्षीयानपि  
<sup>३</sup>कोमलप्रज्ञोऽसि । ( मुनि प्रति । ) <sup>४</sup>कौशिक, नाद्यापि किञ्चिदतिश्रामति ।

द्वयार्थ । सुहृद्गृहान् सुहृदो मित्रस्य जनकस्य भवनानि च नवनवोन्मीलद्विवा  
होत्सवान् सद्योजायमानपरिणयमङ्गलान् पश्याम, तद्वित्थम्—अद्य सम्प्रति  
पेक्षाकेषु दशरथादिषु वैदेहेषु च रानसु अस्माकम् आशिष शुभाशया फलन्ति  
सफलीभवन्ति दशरथस्य पुत्रवत्ता, तत्पुत्रस्य च प्रख्यातचिन्मता, जनरस्य  
गृहे प्रतिज्ञापूर्तिजन्य यशो विवाहमङ्गल चेति सर्वमप्यमीष्ट न फलित  
मिति भाव ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रकपोधाने पुरुषोत्कर्षज्ञाने, विद्यावृद्धसयोगाद् विद्यावृद्धपुरुषसयोगमपेक्ष्य,  
बहिरङ्गानि दुर्बलानि वयोऽपेक्षया विद्यावृद्धत्वमेव प्रकल्म, केवलवृद्धजनापेक्षया  
विद्यावृद्धोऽल्पयया अपि पुरुषप्रकर्षं ज्ञातुमधिकं शक्नोति इत्यर्थ । त्व केवल  
वृद्धोऽसि, तव विद्या नास्ति, अतएव त्व रावणस्य प्रकर्षं नावगच्छामि, अतएव  
प्रार्थ्यमानोऽपि तस्मै स्वा कन्या नार्पयसीति भाव । प्रहीणलब्धकन्या हल्पद्धतौ  
प्राप्तया कन्यया । यौनसम्बन्धोपस्थितम विवाहोत्सवम् । उपेक्षमाण अवमन्यमान,  
वर्षीयान् वृद्धोऽपि, कोमलप्रज्ञ अप्रौढमति, अनया हि भयोनिजयाऽतण्वाल्पममता

नृपतिकी प्रतिष्ठा पूरा कर दी मित्र जनकके गृहोंमें नवनव नवीन विवाहोत्सव हो रहे हैं,  
इस तरह इक्ष्वाकुवंश तथा मैथिलवंशमें हमारे आशावाँद आज फलित हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

शौकल—( लज्जा तथा रोषसे ) अजा सीरध्वज पुरुषकी ओष्ठनामें विद्याकी  
अपेक्षया बयको बहिरङ्ग माना जाता है, म समझता हूँ यौन-सम्बन्धके लिए उपरिष्ठ  
पुलस्त्यकी छोटकर बृद्ध होनेपर भी तुम कोमलमति ही रह । ( मुनिस ) कौशिक,  
अमी भो कुछ विवाहा नहीं है, आपके लिए भी नाडकावधरूप अपने अपराधकी धो  
देनेका यही अवसर है ।

१ 'वृद्धस्व-' ।

२ 'यौवन-' ।

३ 'प्रतिज्ञोऽसि' ।

४ 'राजर्षे कौशिक', 'ऋषे कौशिक' ।

तवापि लङ्कापतो 'ताडकावधापराधमपमा'र्दुमयमेवावसर । ( 'कौशिकस्त  
त्रावणा नाटयति । )

जनक — भगवन्, एहि । 'स्वयमुपेत्य' रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण 'निर्वापयामि ताडलीकधनुर्धर' महन्प्रार्थ्यमानमैथिलीकद  
थितमात्मानम् । नहि मिहिरमरीचिनिचयपचेलिमस्य 'तुहिनकरविम्ब  
सवादादपरोऽपि' कश्चिद्गदकार 'कैरवाकरस्य' ।

( इत्युत्थाय परिक्रामत । )

स्थानभूतया वन्यया मन्त्रन्धोद्यनस्य रावणस्य परित्यागस्तत्र वादकेऽपि बाल्य  
प्रमापयतीति तात्पर्यम् ॥ अतिक्रामति अनिवर्तते, नाधुनापि किमपि हीन,  
सीतापरिणयस्याचातत्रेण किमपि नातिक्रान्तमिति यावत् । ताडकावधापराधम्  
नाडकावधस्वरूप स्वकृत दोषम् । प्रमाप्नुम् चालयितुम् । त्वयापि सीताया  
रावणाय दाप्यमानाया तेन प्रमन्नो रावणस्तुभ्य कोपन करिष्यति, त्वया कृत  
मपराध विस्मरिष्यतीत्यर्थः ।

रामचन्द्रवदनचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहेण राममुत्तशशिज्योत्सनाधारया निर्वापयामि  
शीतलीकरोमि । अलीका मिथ्याभूता ये धनुर्धरा वीरा तेषा सहस्रेण बहु  
भिर्मिथ्यावीरैः प्रार्थ्यमानाया मैथिली सीता तत कदर्थितम् खिन्नम् । बहवो हि  
मिथ्यावीरत्वाभिमानवन्तो मैथिलीं प्रार्थयमाना मा बहुकलेशितवन्तस्तदधुना  
दृष्ट्वापारोपणपूरितमप्रतिज राममालोक्यात्मनो हृदय शीतलयामीति भावः ।  
मिहिरस्य सूर्यस्य ये मरीचिनिचया किरणसमुद्भवा, तैः पचेलिमस्य सन्तप्तस्य  
कैरवाकरस्य कुमुदमूहस्य तुहिनकरविम्बसवादात् चन्द्रकरसम्पर्कान् । अपर

( कौशिक वसपर अवशा प्रकट करत है )

जनक—भगवन्, आश्ये, सुद चलकर रामचन्द्रके वदन चन्द्रकी चन्द्रिकासे मिथ्या  
धनुर्धरो द्वारा वी गर्ई सीतानी प्राधनासे खिन अपने हृदयको शीतल करूँ । कैरवाकरके  
लिपि सूर्यकिरणसम्पर्कमे परिपक् चन्द्रकरके अतिरिक्त दूसरा वैध नहीं होता है ।

( उठकर जाते हैं )

१ 'वधमपि माष्टुम्' । २ 'जनक — ( तत्रावशा नाटयन् । ) भगवन्, एहि' ।

३ 'राममद्रमुखचन्द्रचन्द्रिकाप्रवाहे' । 'राममद्र—प्रवाहे' । ४ 'निर्वापयाम' ।

५ 'सहस्रार्थ—' । ६ 'परिचय—' ।

७ 'हिमकर—' । ८ 'कैरवकेदारस्य' ।

शौक्ल — ( सखेदमाकारो । ) हा तपस्विनि भीते, हताभि । पोल-  
स्त्यप्रार्थितापि विचार्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रिय सपत्नी जनयतु को भवतीमनात्मतन्त्राम् ।  
म्वजनमपि न ते निरूपयाम किमपि विपाटय भुव त्रिनिर्गतासि ॥५८॥

( सरोप जनक प्रति । ) सीरध्वज,

पौराणीभिरनेकविक्रमकथागाथाभिरर्थापिता

स्ते धीरस्य जयन्ति राक्षसपतेर्दो स्तम्भदम्भोलय ।

अन्य । अगदद्वार चित्रितक, क्लेशापहता । यथा कैरवकुलस्य सूर्यकरविलष्ट  
स्य केवल चन्द्रवरसम्पर्क एव क्लेशापहो नान्यस्तथैव रात्र्यागृहसीताप्रार्थना  
कदर्भ्यमानस्य मन रामभद्रमुखावलोक एव तापशमनोपाय इति भाव ॥

तपस्विनि वरात्रिनि, निरपराधं । विचार्यसे दानविधौ इतस्नतश्चिन्त्यसे ।

त्रिभुवनविजयश्रिय इति । क जनामतत्राम् परार्थीनाम् भवतीम् त्रिभुवन  
विजयश्रिय भुवनत्रयत्रिजयलक्ष्या सपत्नीं करोतु ? लोकत्रयविजयिना रात्रणेन  
वित्राह्य त्रिभुवनजयलक्ष्मीसपत्ना कस्त्रा करोतु यत्तस्व परतन्त्रासि, आसना  
तथा कत्तुमक्षमा भवसि, न दास्रिस्ति कश्चन ते स्वजनो यस्तव हितमनुध्यायेत्तदाह-  
भुव विपाटय पृथिर्वी भित्त्वा त्रिनिगता आविभूतासि, अतश्च तव कमपि स्वजनम्  
आत्मीय जनमपि पित्वादित्र न निरूपयाम पश्याम । य आसना किमपि स्व  
हित कत्तुमक्षमस्तस्य स्वजने हितसाधनमायत्त, तस्यापि चाभावऽवश्यभारिय  
निष्टसङ्क्रान्तिरिति शोच्यता तवेति भाव ॥ ५८ ॥

पौराणीभिरिति । पौराणीभि पुरातनीभि अनेकाभि त्रिपुलाभि वित्रमकथा  
गाथाभि पराक्रमस्तुतिभि अथापिता व्याख्याता राक्षसपते रावणस्य ते दो  
स्तम्भदम्भोलय वप्रसमाना बाहुस्तम्भा जयन्ति सर्वोक्पग वर्तन्ते, पेशावण

शौक्ल — ( सखेद आकाशकी ओर ) हा माते, हा, तुम्हारा भाग्य खराब है किमने  
रावण प्रार्थिता होनेपर विचारना विषय बना हो ।

कौन आदमी तुमको त्रिभुवन विजयश्रीकी सपत्नी बनावे ? तुम्हारा कोश आरामाय  
जन भी नहीं देख पडता है क्योंकि तुम पृथ्वी पादकर बाहर निकली हो ॥ ५८ ॥

( सरोप जनकके प्रति ) सीरध्वज,

रावणके बाहुरूप दह्र जिनकी प्रश्ना पुरानी अनेक कथाओं द्वारा की जाती है,

यानुत्प्रेक्ष्य विशोषयन्मदमय मैर्यमैरावणो

भूषास्त्रिभिरभूदमात्यमधुपश्रेणीषु साधारण ॥ ५९ ॥

तेषु च सत्सु—

वृथा सञ्जनसम्बन्धसन्कारेणानि वञ्चित ।

पौलस्त्ये हस्तवतिन्या सीतया तु भविष्यते । ६० ॥

( मातेषु च<sup>३</sup> नैपथ्याभिमुखमवलीका । )

इन्द्रहस्ती यान् दोस्तमभद्रम्भोलीन्, उप्रेक्ष्य इष्ट्वा मदनय गर्वस्वरूप मैर्यम् मन्वारि विशोषयन् अपनयन् भूषास्त्रिभिः अलङ्कारमात्यैः अमात्यमधुपश्रेणीषु सहचरभ्रमरमनुदयेषु साधारण अन्यगजसदृश अनूत् । पुरागवीरताकथा-विरयात्पाहुस्तम्भशाली रावणो जयति यस्य बाहुस्तम्भान् इष्ट्वा ऐरावनस्य दानवारि शुष्यति, शुष्के च दानवारिणि साधारणगतापेक्षया कोपि विशोषस्तत्र सहचरभ्रमरैर्नोपलभ्यते स्म, मनि दानवारिणि प्रवहमाने भूषास्त्रि दानवारिणि चोभयत्रालीना विनोदायैरावणतोऽशक्नोत्, परे च गजा केवल भूषास्त्रि, सम्भ्रनि रावणभयात् शुष्के दानवारिणि ऐरावनोऽपि साधारणहस्तीव भूषास्त्रिमात्रे भ्रमर-सन्तोषप्रदो जात इति तात्पर्यम् ॥ शार्दूलविरिञ्चिडित वृत्तम् ॥ ५९ ॥

तेषु च सन्सु रावणे याचिनरि मतीर्यथ ।

वृथामञ्जननि । वृथा ध्यैर्यमेव सञ्जनसम्बन्धो रावणरूपोत्तमपात्रा सह, यौनसम्बन्धस्ततो य सत्कार गौरवम् तेन वञ्चित रहित अस्मि व्यर्थैव तवेय मत्रनरच्युतिरिचर्य, नन्वनेन व्यापारेण लङ्कापते सीतादीवारिक सुखमपहत मिन्येव फलमभिप्रेत, तस्मिद्भवति, सत्राह—पौलस्त्येति । सीतया तु पौलस्त्यहस्त-गामिन्या भवितव्यमभेति । उभयथापि सीताया रावणहस्तगामिन्ये व्यर्थ पुत्र तव सञ्जनसम्बन्ध-यागजन्यायशोलाभ इति भाव ॥ ६० ॥

सर्वोत्कृष्ट है, निन्दा सम्भावनाम हा एगवतक दान-वारि सूख जात है और भ्रमरक लिये वह भूषास्त्रिमात्र धारणकृता साधारण इत्या रद जाता है ॥ ५९ ॥

उनके रहत ही व्यथ ही तुम सञ्जनसम्बन्ध-धलम्ब-गौरवसे वञ्चित हो रहे हो । आखिर मानाका रावणके हाथमें जाना होगा ही ॥ ६० ॥

( आक्षेपके साथ नैपथ्यकी ओर देखकर )

१ 'च' इति पुलकान्तरे नास्ति । २ 'वशवतिन्या' ।

३ 'च' इति पुलकान्तरे नास्ति ।

समन्तादुत्तले सुरसहचरीचामरमरु  
 तरङ्गैस्त्कीलद्रुजपरिघसौरभ्यशुचिना ।  
 स्वयं पौलस्त्येन त्रिभुवनभुजा चेतसि कृता-  
 मरे राम त्वं मा जनकपतिपुत्रीमुपयथा ॥ ६१ ॥

( ‘सविमर्शमात्मगतम् । ) अहो गम्भीरमिदं मुपस्थित वस्तु । तन्म-  
 न्त्रिण माल्ययन्तमेव पुरस्कृत्य लङ्केश्वरस्य निवेदयामि ।

( इति निष्क्रान्ता सर्वे । )

इति पिनाकभङ्गो नाम तृतीयोऽङ्क ।

समन्तानि । अरे राम, समन्तात् सर्वासु दिक्षु उत्तले प्रवहन्नि महन्नि  
 सुरसहचरीणा देवाङ्गनाना चामरमरताम् ध्वजनधनानाम् तरङ्गै प्रवाहै उमी  
 लत् प्रसरत् यत् भुजपरिधानाम् बाहुरूपाङ्गलानाम् सौरभ्यम् सुगन्ध तेन  
 शुचिना सपरिमलेन त्रिभुवनजिता लोकप्रितयविजयिना पौलस्त्येन स्वयं चेतसि  
 कृताम् मनसि कृता जनरूपपुत्रीं सीता त्वं मा उपयथा परिणैषी । अरे राम,  
 या सीता रावण परिणेतुमिच्छति, यो हि रावणो बन्दीकृतदेवाङ्गनाचालितचामर  
 वायुत्रिफ़ीर्णसौरभसुरभिलाक्त्रयविजयी च, ता त्वं मा उपयथा, तथा नव  
 विवाहो न शुभोदर्को घटेति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ६१ ॥

गम्भीरम्—अतिमहत्, हरचापभङ्गरूप, सीताविवाहरूप वा ।

इति मथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिप्रकृतायामनर्धरावत्रस्य ‘प्रकाश’  
 चारयाया तृतीयाङ्क प्रकाश ।

चारों ओर जोरोंसे बहनेवाली देवाङ्गनायुत चमरवायु जिनके भुजराशिका सुगन्धियों  
 विस्तारित किया करता है, ऐसे रावणने जिस सीताको अपने हृदयमें बिठा लिया है अर  
 राम, तुम उस सीताके साथ क्या मत करना ॥ ६ ॥

( विचारकर स्वयं ) यह गम्भीरवस्तु उपस्थित हो गया है इसलिये मात्रा माल्य  
 वान्को साथ ल करके रावणसे निवेदन कर दू ॥

( सबका प्रधान )

तृतीय अङ्क समाप्त ॥



## अथ चतुर्थोऽङ्कः

( तत प्रविशति मान्यवान् । )

मान्यवान्—( 'जृम्भमाणश्चक्षुषी परिमृज्य । ) अये, 'विभातैव विभा  
चरी । तथाहि ।

स्तोकोन्निद्रनिदाघदीधितिमहस्तन्द्रालुचन्द्रातपा

स्तायन्ते ककुभो रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिद ।

अद्यापि स्वकुलायशाखिशिरसि स्थित्वा रवन्तो मुहु-

स्तूष्णीं प्रत्यभिजानते वलिभुजो भीता स्वयूध्यस्वरान् ॥१॥

विभाता प्रातः कालिक प्रकाश प्राप्ता समासेत्यर्थं । विभाचरी रात्रि ।

स्तोकोन्निद्रेति । स्तोकोन्निद्रम् ईपद्विकस्वर यत् निदाघदीधितिमह सूर्यतेज  
तेन तन्द्रालुव निष्प्रभत्व गता चन्द्रातपा चन्द्रकिरणे यासु तथोक्ता, रथाङ्ग-  
गृहिणीना चक्रवाकवधूना गार्हस्थ्ये गृहस्थधर्मे समारे या गर्हा रात्रिविरहजनिता  
दुरवस्था तज्जिद तदपनोदिका ककुभो दिश तायन्ते विस्तृता भवन्ति । किञ्चिद्-  
विकासिसूर्यप्रभानिष्प्रभीभूतचन्द्रकरा सति सूर्यप्रकाशे चक्रवाकीविरहव्यथा  
पनोदिकाश्च दिश क्रमशः प्रकाशमाप्तादयन्ति । अद्यापि समग्रत्यपि वलिभुज  
काका स्वकुलायशाखिशिरसि निजायासनीडाश्रयत्तरशिखरदेशे स्थित्वा मुहु  
पुन पुन रवन्त शब्दायमाना पुनश्च भीता अतश्च तूष्णीम् सूचीभूय स्वयूध्य  
स्वरान् स्ववर्गीयशब्दान् प्रत्यभिजानते परिचिन्वन्ति । 'रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हा  
भिद' इत्यभ्यायमाशय — रात्रावेकप्रस्थितयोरपि चक्रवाकमिधुनयो सद्गमा-

( मान्यवान्का प्रवेश )

मान्यवान्—( जमाद लेता हुआ आँसू मलकर ) अरे, रात समाप्त हो गई, क्योंकि—  
थोड़ा थोड़ा प्रकट होनेवाले सूर्यके तेजसे दिशाओंमें चन्द्रमाकी किरणें अस्तोमुख हो  
रही हैं, और चक्रवाकियोंके हृदयसे गृहस्थधर्मके प्रति उत्पन्न निन्दा समाप्त होता जा  
रही है, अभी भी अपने नोडद्रुमके शिखरपर बैठकर कावगण शब्द करते हुए अपने  
साथियोंके स्वरोंको ढर-ढरकर पहचान रहे हैं ॥१॥

१ 'विजृम्भ—प्रमृज्य' ।

२ 'विभातप्रापैव विभाचरीयम्' ।

३ 'स्त्यायते' ।

४ 'शिखरे' ।

अपि च—

प्राचीं वासकसञ्जिकामुपगते भानौ दिशा चल्लभे  
पश्यैता रुचय पतद्गृहपदामग्नेयनाडिन्धमा ।

लोकस्य क्षणदानिरङ्कुशरसौ सभोगनिद्रागमौ

<sup>१</sup>कोकस्तोमकुमुद्वतीविपिनयोर्निक्षेपमातन्वते ॥ २ ॥

( सर्वतो <sup>२</sup>निरूप्य । ) हन्त <sup>३</sup>समन्तादामोदमानपौरसभोगमयी खलिय  
दशग्रीर्भुजागलापरिपालिता राजधानी ।

भावाद् व्यर्थाऽय ससार, कृत गार्हस्थ्यनेत्यादिरूपा या मतिरुदेति संव गृहा, ता च  
दिशो दूरीकुर्वन्ति, उदिते सूर्ये तयोरेवान्योन्यमगतयो सतोस्तत्रैव समाने  
साफल्यबुद्धिजननादिति । 'दिशस्तु कुभ काष्ठा', 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्', 'काके  
तु करटारिष्टरलिपुष्टसकृ प्रजा' इति सर्वत्रामर । शार्ङ्गल्वित्रीडित वृत्तम् ॥ १ ॥

प्राचामिति । दिशा चल्लभे पश्यौ भानौ वासकसञ्जिकाम् 'कुस्ते मण्टन यस्या  
सञ्जिते वासवश्मनि । सा तु वासकसञ्जा म्याद्विदितप्रियमनाम्' इति लक्षण-  
लक्षिता नायिकाम् उपगते प्राप्ते सति पतद्गृहसुहृदा सूर्यकान्तानाम् आग्नेयनाडि-  
न्धमा आग्नेयनाडीप्रज्वालिका ( यन्सम्पर्केण सूर्यकान्ता प्रज्वलन्ति ते सञ्जाडि-  
न्धमन्वेनात्रोक्ता ) एता रुचय सूर्यमयूखा लोकस्य क्षणदाया रात्रौ निरङ्कुशरसा  
अवाधभावभास्वाद्यमाना सम्भोगनिद्रागमौ रमणस्वापा कोकाना चक्रवाक्याणा  
स्तोम समूह कुमुद्वतीविपिन कुमुदवन च तयो निक्षेप यासम् जातन्वते कुर्वते,  
एता प्राचामितिकयो रुचयस्सूर्यकान्तमणि दीपयन्त्य एव लोकाना निशि निरगलरसो  
सम्भोगस्वापौ चक्रवाककुमुदयोर्भ्यस्यत, लोकाश्च सम्भोग जहति स चक्रवाके, य  
च स्वाप जहति स कुमुदेषु मङ्कामतीति तात्पर्यम् । पूर्वोक्ताविपरीत वृत्तम् ॥ २ ॥

दिशाभोके वस्त्वम सूर्य देवके प्राचादिशा रूप वासकसञ्जा नायिकाके पाम पहुँच  
जानेपर उनकी वह किरण-जो सूर्यशान्तमणिकी आग्नेय नाडीको क्षीपित करती हैं—  
रात्रिमें सम्भावित सभोग तथा निद्रारसको कोकसमुदाय तथा कुमुदतीवनमें निक्षेपके  
रूपमें रख रही हैं ॥ २ ॥

( चारो ओर देखकर ) अहा, चारो ओर प्रसन्न पुरवामिगणके सम्भोगसे पूज हो  
रही है यह दशकण्ठभुजापालिता राजधानी ।

१ 'कोकद्वन्द्व' । ० 'निरूप्य सदृशम्' ।

२ 'मोदमान' । ४ 'भुजागलापालिता' ।

इत पौरस्त्याया ककुभि विवृणोति क्रमदत्त  
 तमिस्रामर्माण र्त्रिणकलिकामम्बरमणि ।  
 इतो निष्क्रामन्ती नवरतिगुरो प्रोञ्जति वधू  
 म्बरुस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिणामुद्रितमुर ॥ ३ ॥

अपि च—

अथ मृदुमृणालिनीवनविलासवेहासिक  
 स्त्विषा वितपते पति सपदि दृश्यमाना निजा ।  
 स्तनौ पुलकयन्ति चोत्पलदृशा प्रियोर स्थले

समन्तत सर्वत, आमोदमानाना हृष्यता पौराणा सम्भोगमयी तत्प्रचुरा  
 दशप्रीवस्य भुना एवार्गला परिधास्तै पालिता, रात्रणरहितेऽत्र नगरे पौरा सर्वत  
 सम्भोगभानोऽस्यामोदमानाश्च सन्तीति भाव ।

“त इति । इत अस्या पौरस्त्याया प्राच्या ककुभि दिशि अम्बरमणि क्रमेण  
 पयायेण दृष्टत् त्रिवीर्यमाण तमिस्राया रजन्या मर्म यया ता तथाभूता त्रिण  
 कलिना मयूपाङ्कुर विवृणोति प्रकाशयति, इत अस्या च दिशि नगर्या वा वधू  
 नायिका नवरतिगुरो नूतनसुरताचार्यस्य नायकस्य स्वकस्तूरीपत्राङ्कुरमकरिण-  
 मुद्रितम् स्ववत् स्थलस्थितमृगमदरचितपत्राङ्कुरकृतमकराकृत्या मुद्रितम् उर  
 हृदय प्रोञ्जति नायकस्य गुर्वांसिर्मापे सम्भोगचिह्नप्रकटनद्वारा लज्जा मा जनीति  
 नायिका स्ववत् स्थलस्थितमृगमदरचितमकराकृतिचिह्न तत्कृतगाढालिङ्गनसमये  
 तदुरसि लग्न प्रभाते प्रमार्जयतीति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ३ ॥

अर्थमिति । मृदु कोमल यत् मृणालीवन कमलिनीकानन तस्य विलासे विलासे  
 वेहासिको विदूषकस्वरूप (‘वेहासिक कलिकर प्रहासी च विदूषक’ इत्यमर )  
 कमलवनविकासक कमलवनविलासी च, सूर्यं त्विषापति वितपते प्रकाशते ।  
 सपदि सम्प्रति च उत्पलदृशा कमलसमाननयनाना प्रियोर स्थले प्रियवक्ष्मि

इधर पूव दिगामें कमसे अ धकारके ममको विद्रलित करनेवाला अपनी त्रिणको  
 सूर्य फेला रहा है, और इधर नवरतिगुर प्रियवतमके उरोदेशपर लगी अपने स्तनस्थित  
 कस्तूरीपत्रसे सकात श्यामिकाको रहस्य भेदनके भयसे डुबती पौछ रही है ॥ ३ ॥

कोमल-मृणालिनीवनके विकाममें विदूषकके कार्य करने सूर्य अपनी किरणों फेला

\* ‘अपि च’ इति पुस्तका तरे नास्ति ।

विपर्ययितवृत्तयो घुसृणपङ्कपत्राङ्कुरा ॥ ४ ॥

इतश्च—

प्रियवसतेरपयान्त्यो मिथ करम्बितकराम्बुजन्मान ।

करजत्रणाविरलस्तनपुलकममू किमपि विवदन्ते ॥ ५ ॥

( अन्यतश्च दृष्ट्वा । ) इतो रम्यतर वर्तते ।

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहमवृत्त सहचरी-

नवोढा न व्रीडामुकुलितमुखीय मुखयति ।

विपर्ययितवृत्तय विपरीतभावेनास्थिता ( वामस्तनस्था दक्षिणस्तनभागं दक्षिण  
स्तनस्था वामस्तनभागे दृश्यन्ते पुरपायिते गात्रालिङ्गने च तथा सम्भवात् )  
निजा स्वीया घुसृणपङ्कपत्राङ्कुरा कुङ्कुमद्रवविरचितपत्रात्रलय स्तनौ पुलकयन्ति  
सम्भोगस्मरणेन रोमाञ्चितो कुर्वन्ति । इत कमलिनीवनविलासा सूर्य उत्तपते  
इतश्च प्रियगृहाग्निर्गताना वधूना विपर्ययितवृत्तय पत्रात्रलय सम्भोगस्मरण  
जननद्वारा स्तनयो रोमाञ्च सृजन्तीति भाव । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ४ ॥

प्रियवसनरिति । प्रियवसते कान्तगृहात् अपयान्त्यो यहिर्गच्छन्त्य अमू  
वारस्त्रिय करम्बितानि परस्परालम्बितानि कराम्बुजन्मानि करकमलानि यामा  
तथाभूता सत्य परस्परछनन्त्रा इति भाव, करजत्रणै नपद्यते विरल स्वल्पदृश्य  
पुलक रोमाञ्चो यत्र तद्यथा स्यात्तथा किमपि परस्पर विवदन्ते काचिद् वदति  
पश्य स्वस्तनयोर्बहुलीभवत्पल्लवत येन सम्भोगस्मरणजन्मा रोमाञ्चोऽपि गोपाय्यते,  
अन्या च नैव मम तवेव तयति वदन्ती तदपल्पतीति परस्पर कल्हायन्ते  
वारवनिता इत्यहो सम्भोगमयता रात्रभरानधान्या इत्यर्थ । सामायनायिका  
वर्णनमिदम् । आयाभेदो वृत्तम् ॥ ५ ॥

प्रभात इति । इय नवोढा नवपरिणीता वधूनायिका व्रीडया लज्जया मुकुलित  
मुखी नमित्तवदना सती अनुरहस्यवृत्तम् नायकेन सह कृत निधुवनविलासमाधारी

रहे दे, और श्वर मुनियों अपने प्रियतमोंके उरोदेशोंमें सङ्गन अपने स्ननरियन करनूरी  
पत्रोंको देखकर पुलकित हो रहा है ॥ ४ ॥

प्रियतमके आबामसे जाती हुई परस्परालम्बित-इसके स्ननार्थे नखमुक्त चिह्नसे  
व्याप्त स्नन रोमाञ्चपूर्वक कुछ वादविवाद करनी जा रही है ॥ ५ ॥

( दूसरी ओर देखकर ) श्वर और सुन्दर है—

१ ‘इत’ इत्यादि पुलकान्तरे नास्ति ।

लिखन्तीनां पत्राङ्कुरमनिशमस्यास्तु कुचयो

श्चमत्कारो गूढ करजपदमासा कथयति ॥ ६ ॥

( मुहूर्तमनुष्याय । ) अहो यत् प्रभृति वैदेहीवरणाय प्रहितेन पुरोधसा कथ्यमानं ककुत्स्थकुलकुमारस्य 'मानुष्यकातिशयमष्टमम्' तत् प्रभृति कथा दशामनुभवामि । तथाहि ।

तत्तादृशं कथमुदैति मनुष्यलोके

तेजोऽद्भुतं निरभिसन्धिं न तावदेतत् ।

कृत्य रहस्यवृत्तान्तं पृच्छन्ती जिज्ञासमाना सहचरी स्वा सखी न सुखयति सुखस्य स्वरहस्यमाग्याय नानन्दयति, तु किन्तु अस्या वध्ना कुचयो स्तनयो चमत्कारं विचित्रता अनिश सर्वदा पत्राङ्कुरं पत्रावलीं लिखन्तीनां विन्दासपूर्वकं विरचयन्तीनाम् आसा सहचरीणाम् गूढ तिरोहितं करजपदं नखस्रतं कथयति प्रकटीकरोति । एज्जावशान्मुखतोऽनिवद्यमानेऽपि रहोवृत्ते स्तनयो पत्रावलीविरचनकाले तत्र वैचित्र्यदर्शनात्सहचर्यस्तासां नववध्ना गूढं नखस्रतमनुमिमत् इत्याशयः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ६ ॥

वैदेहीवरणाय जनकं सीता याचितुम् । प्रहितेन प्रेषितेन । पुरोधसा शौक्लनाम्ना स्वपुरोहितेन । ककुत्स्थकुलकुमारस्य ककुत्स्थवशवालकस्य रामस्य । मानुष्यकातिशयम् अमानुषचरितप्रकर्षम् । कष्टम् कष्टप्रदाम् । रामस्यालौकिकं वृत्तं श्रुत्वा व्यथामनुभवामीति भावः ॥

तत्तादृशमिति । मनुष्यलोके मर्त्यभुवने तत्तादृशम् अत्याश्चर्यकरम् तेजः रामाभिधानं ज्योतिः कथम् उदैति केन प्रकारेण जन्म लभते ? एतत् तावत् रामसदृशस्य तेजसो मर्त्यलोकेऽवतरणं निरभिसन्धिगूढाभिप्रायशून्यं न, अवश्यमेव

प्रातः फाल्गुने सप्तम्यां रहस्यवृत्तान्तं पृच्छता इ परन्तु नवोदा कुच्छं वताती नही है केवल एज्जासे मुख झुका लेती है, परन्तु जब सप्तम्यां उनके स्तनोंपर पत्रावली लिखने बैठता है तब नखस्रतोको देखकर उनकी सारा रहस्य समझ जाती है ॥ ६ ॥

( थोड़ी दूर सोचकर ) जबसे मेने वैदेहीकी मगनाके लिए मेने गये पुरोहितके मुखसे ककुत्स्थकुल कुमारका मानुष्यकातिशयी वृत्तान्त सुना है तबसे मेरी डरी दशा हो रही है, क्योंनि—

मनुष्य भोवमें इस प्रकारका अद्भुत तेज क्यों उत्पन्न हो गया है ? यह बिना

तान्येव चास्य चरितानि दशाननस्य

धिन्विचन्तया रजनिरक्षिपु न 'प्रभाति ॥ ७ ॥

अपि च—

श्रुत्वा दु श्रवमद्भुतं च मिथिलावृत्तान्तमन्त पत

चिन्तापङ्कयसाद्यद्विद्वयवदनत्वग्निप्रकीर्णस्मित ।

हेलाकृष्टसुरावरोधरमणीसोमन्तसंनानक-

स्रग्वासोज्ज्वलपाणिरप्यवति मा वत्सो न लङ्केश्वर ॥८॥

रामसमानस्य तेजस्विनो मर्यादोकेऽत्रतार स्मपि गूढमभिसन्धि कुञ्चौ करोतीति भाव । (आतेऽपि दुरधिमधिपूर्णं रामे) दशाननस्य तान्येव पूर्वाधिपरीतानि चरितानि व्यापारा, देवैदुरभिसन्धिना रामे भुव प्रहितेऽपि रावणे न चेतयते, धिक्, इदं रावणस्य मूर्खत्व धिक्, इति चिन्तया पतद्गनया चिन्तया न अस्माकम् अक्षिपु रजनि प्रभाति वयं जागरेणैव निखिला निश थापयाम, रात्रौ निद्रा न लभामहे इत्यर्थ ॥ वमन्तनिलक वृत्तम् ॥ ७ ॥

श्रुत्वेति दु श्रवम श्रोतुमनर्हम् अद्भुतम् आश्चर्यजनकं च मिथिलावृत्तान्तं विदेह नगरीममाचार रामकर्तृ कक्षिरथनुभङ्गजनककचक्ररावणप्रार्थनाप्रत्यारयानादिरूप श्रुत्वा आकर्ष्य अन्तपतती मनसि समुद्भवन्ती या चिन्ता तस्या अपह्वेन बलान्निगूहनेन साग्रहित्यानि आकारगोपनचिह्नशालीनि यानि वदनानि दशापि रावणमुखाणि तेषा स्वधि चर्मण्युपरितने भागे विकीर्णं विस्तृतं स्मितं हसितं यस्य तथाभूतं रावणो नाम वत्सो लङ्केश्वर इत्या अनायासेन आकृष्टाना हताना सुरावरोधरमणीना देवाङ्गनाना मीमन्तेषु केशपाशेषु या सतानकखनो देपतर पुष्पमाला तासा वामेन मोरभेग उज्ज्वल सुरभीकृत पाणिर्यस्य तथाभूतं सन्पि माम् न अवति न प्रीणयति । मिथिलावृत्तान्तश्रवणतन्वचिन्तागोपनप्रयास कृतशुष्कहमितपूर्णमुखो भूत्वा रावणो यद्वदीभूतसुराङ्गनाकचयाशार्क्यणात्तत्सो मन्तस्थितदेवपुष्पस्रग्सुगाधेन स्वपाणीन् सुरभीन्निरोति, नदायेन तेनाकारगोपन

किमी गूढ रहस्यके ही नहीं सफल है । इधर दशाननके वही पुरान चरित हैं ? रही चिन्ताके कारण मैं रात्रभर जगकर सबेरा करता हू ॥ ७ ॥

दु श्रव तथा अद्भुत मिथिला-वृत्तान्तको सुनकर हृदयमें पैदा होनेवाली चिन्तन आकारगोपनपूर्वक वदनपर जिसके हाम विचार रहे हैं, अनायास आकृष्ट देववाच्य रूप बन्दिनियोंके क्षीरोमाख्योसे जिसके मुख प्रकाशित हो रहे हैं ऐसा हीकर भा रावण मुग आन आनन्तित नहीं कर रहा है ॥ ८ ॥

१ 'प्रयाति' ।

२ सुरावरोधनवधू-, 'सुराधिराजरमणी-' ।

( विमृश्य आराधे । ) अहह, दास्येयमस्माक चिरजीविता ।

प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या

न्वत्रेऽन्यतो यदभय स भवानहयु ।

तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य

द्वा वत्स शान्तमयत्रा दशकन्धरोऽसि ॥ ९ ॥

( नविमर्शम् । ) अहो मैथिलस्य नृपतेरकायज्ञता ।

विश्वामित्रशरीकृते हृदि वय मा भूम सम्बन्धिन

स्ते दृष्टा न कथ पुराणमुनयो मान्या पुलस्त्यादय ।

व्यापारेणापि मम न मन्तोष, चिन्तावीजस्य तावताऽनपनीतत्वादिति भाव ।

'अवहित्थाऽऽकारशुक्ति' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८ ॥

दास्या क्लेशपननी । चिरजीविता दीर्घायुष्म । यद्यह न चिरजीव्यभविष्य तदा प्राङ्मृत वादिमा दशा नाद्रक्ष्यन्, तद्विडम्न चिरजीवि-वमित्यर्थ ।

प्राय इति स भवान् अहयु अहङ्कारवान् भूवा पुरा विधातरि ब्रह्मणि प्रीते तपसा तोषिते सति मर्त्यान् परिभूय मर्त्येष्वस्यापराङ्मुखो भूवा अन्यत मनुष्यातिरिक्तैभ्य यत् अभय निर्भयभाव वप्रे वृत्तवान्, तत् तव मानवानना- हृत्य देवभ्योऽभयवरणम् अद्य सम्प्रति माम् अतिमात्रम् अत्यन्त मर्मणि स्पृशति हृदये व्यथयति, अथवा शान्त प्रतिहतममद्ग्लमस्तु, दशकन्धरोऽसि तव दशकन्ध रतया नास्ति भयमि-त्यर्थ । ब्रह्माण पुरा तपसा प्रसाद्य यद्भवान् देवासर्गाद् वध्यत्व मर्त्येष्वस्यापराङ्मुखो याचितवान्, तदधुना मा स्मर्यमाण सद् व्यथयति, यदि प्रागेव मनुष्यादप्यभय ब्रह्मणो याचितमभविष्यत्तदा सम्प्रति भय नाभविष्य दिति कष्ट भवति । अथवाऽलमनयाचिन्तया, तव दशक-धरो रामेणैककन्धरेण कथ कार नित स्यास्तदनवमरचिन्तयाऽनयाऽलमिति तात्पर्यम् । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रेण दशीकृते स्ववदानीते हृदि वय सम्बन्धिन सम्बन्ध योग्या मा भूम न स्याम नाम, ते प्रसिद्धा मान्या आदरपात्राणि पुराणमुनय प्राचीनर्षय पुलस्त्यादयो रावणपूर्वपुराणा कथ न दृष्टा किमिति न गणिता, विश्वा

( विचार करके आकाशकी ओर ) अहह ! हमारा यह चिरजीविता क्या दास्य है, ब्रह्मणके प्रसन्न होनेपर मर्त्योंके प्रति आस्था नहीं रखनेवाले उस अहङ्कारी रावणने जो मर्त्येतर जनमे अभय याचनाकी वह बात आज हमारे हृदयमें चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बातको, तुम रावण हो ॥ ९ ॥

( विचार करके ) मैथिलराजकी अकार्यज्ञता तो देखिए—

विश्वामित्रने उनके हृदयको दशमें कर लिया है अत वह हमें सम्बन्धके योग्य

जामातापि महेंद्रमौलिवलभीपर्यङ्करत्नाङ्कुर-

ज्योत्स्नापुष्टनखेन्दुदीधितिरय 'नापेक्षितो रावण ॥ १० ॥

( पुरोऽवलोक्य । ) कथं मिथिलाचरितानि चरितुमनुप्रहिता चिरयति  
वत्सा शूर्पणखा ।

( प्रविश्य शूर्पणखा । )

शूर्पणखा—( सहर्षम् । ) अम्महे सोम्मसुन्दरविआहरोवच्छल  
च्छीविच्छरिदकान्तिपम्भाराइ रहुडलनुभाराण मुहुपुण्डरीआइ पेक्क-

मित्राधीने दृष्टि यद्यस्माकं विषये सम्बन्धार्हताज्ञानं न जातं न जायतान्नाम, परन्तु  
विश्वामित्रापेक्षयाऽप्यधिकतपशालिनं पुलस्त्याद्यो राक्षणपूर्वपुरुषा किमिति  
न मनसि विभाविता श्रयाद्यपाद्द्वयस्यार्थं । महेंद्रस्य शत्रुस्य मालि शिर एव  
चलभी प्रासादोपरिततगृहम् तत्र ये रत्नाङ्कुरा भगिप्ररोहा तेषां ज्योत्स्नाभिः कि-  
रणं पुष्टां त्रिदं नीता नपेन्दुता नवरूपचन्द्राणां दीधिति कान्तिर्यस्य तथाभूत  
तत्रशिरसि पाद न्यस्य तत्रत्यरत्नप्रभासमेधितनत्रमयूत्रो रावण अपि जामाता  
न अपेक्षितं जामातृभावेन न चरितुमभिलषितं, आश्रयमिदम्, यजनकं पता  
वदपि ज्ञानं न रक्षतीति भावः । शार्दूलविनीडितवृत्तम् ॥ १० ॥

मिथिलाचरितानि मिथिलागृतातान् । चरितुम् चरभावेन ज्ञातुम् । प्रहिता  
प्रेषिता । चिरयति विलम्बं करोति ।

अम्महे आश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम् । सोम्यम् अनुद्धत सुन्दरं रमणीयं च यद्  
विवाहनेपथ्यम् चैवाहिको धेप तस्य लक्ष्म्या शोभया विच्छर्दितं समधितं  
कान्तिप्राग्भारं शोभातिशयो मेया तथोक्तानि । रघुकुलकुमाराणाम् रघुवदोप-

मले न समझे, परन्तु पुराणमुनि पुलस्त्य आदिको उन्होने क्या नहीं देता ? इदं  
मस्तकरूपं पयङ्गपरं वत्तमानं रत्नवी किरणोत्तं निसकं नखचन्द्रवी धुनि समृद्धं द्रुआ  
कारती है वम रावणरूपं जामाताही भी अपेक्षा न की ॥ १० ॥

( आमे देखकर ) मिथिलके वृत्तान्तको जाननेके लिए भेजी गई शूर्पणखा क्यों देर  
कर रही है ?

( शूर्पणखाका प्रवेश )

शूर्पणखा—( सहर्षं ) मैने यद्यपि कपटसे यह मानुषरूप धारण किया है जो मेरे  
लिए घृणित है, फिर भी इससे मुझे यह बड़ा लाभ हुआ है कि सुन्दर विवाह-वेधने

१ 'नापेक्षित' । २, वत्सा' मे ।



न्ती जुडच्छिडेणापि माआमाणुसीभावेण कदत्थीकिदह्नि । अम्मो, सा तारिसी गुणाण पकिदी जा विपक्खहत्थपटिटावि सुहावेदि । [ अम्महे, सौम्यसुन्दरविवाहनेपध्यल्दमीविच्छदिदकान्तिप्राग्भाराणि रघुकुलकुमाराण सुख पुण्डरीकाणि प्रेक्षमाणा जुगुप्सितेनापि मायामानुपीभावेन कृतार्थीकृतास्मि । अहो सा तादृशी गुणाना प्रकृतिर्या विपक्षहस्तपतितापि सुखयति । ]

माल्यवान्—( दृष्ट्वा सस्नेहम् । ) कथं वत्सा मे शूर्पणखा । वत्से, अयमहम् । इत इतो भवती ।

शूर्पणखा—कथं इह ज्जेअ अट्टालअसिहरपग्गीवे मादामहो ! अहो दुसिलिद्धता दद्धकज्जाणम् । ज दाणि पजागरकिलिअन्तलोअणो

न्नानाम् बालकाना रामादीनाम् । सुखपुण्डरीकाणि वदनकमलानि । प्रेक्षमाणा पश्यन्ती । जुगुप्सितेन निन्दनीयेन मायामानुपीभावेन कपटवनिताभावेन । कृतार्थीकृतास्मि धन्यता प्रापितास्मि । यद्यपि अस्माकं राक्षसीनां दृष्टौ मानुष्यकमनि घृणित तथापि यद्यहं मानुष रूपं नाग्रहीष्यं तदा कथं तादृशं रघुकुमाराणां सुन्दरं वैवाहिकं वेपमालोक्यान्मानमकृतार्थयिष्यमिति धन्यो मम मायामानुपीरूपपरिग्रह इत्यर्थः । तादृशी गुणाना प्रकृति एतादृशी गुणाना स्वभावो ( यत् ) विपक्षहस्तपतिता शत्रुपु स्थिता । गुणानामय स्वभावे यत्ते शत्रुपु स्थिता अपि दर्शका नामानन्दयेव जनयन्तीत्यर्थः ।

अयमहम् अहमत्र देशेऽस्मि । इत इतो भवती त्वमत्रागच्छेत्यर्थः ।

अट्टालकशिवरप्रर्षीवे धनधारणस्थानशिवरे । मातामहो माल्यवान् । दुःखिण्यता कष्टप्रदता दग्धकार्याणाम् निन्दितानामेषां कार्याणाम् । प्रजागरकलान्तलोचनं चिरजागरणवशां किलपटनयनं । प्रतिक्षणं सततं जृम्भया मुखज्वाशनेन प्रसारितं व्याप्तं यन्मुखं कुहरं गह्वरं तत्र दृष्टं हृदयस्थितं कार्यभारो यस्य तादृशं

वर्धितं कान्तिं ममुत्पायधारा इति रघुकुमारमुखं पुण्डरीकं दशमोक्षं म धन्यं हो गद, गुणोका यह स्वभाव होगा है कि वह शत्रुनिष्ठ होकर भी सुखप्रद होते हैं ।

माल्यवान्—( देखकर सस्नेह ) क्यों मेरी वत्सा शूर्पणखा, वत्से, मैं यह हूँ, तुम रहो आओ ।

शूर्पणखा—क्यों इतो अट्टालिकाके शिवरपर मातामह उपस्थित हैं ?

इत अभागे कार्यो की बुरी स्थिति होती है, जिससे सदा जागने रहनेके कारण इतनी

पठिक्प्रणजिन्मिआपसारिदमुहकुहरदिट्टहिअअट्टिदकठिणकज्जभारो अ-  
ण्णो निअ को वि दीमदि । अहवा सामण्णो वि गुरुओ मन्तिभायो  
विसेसेण माहसेक्करसव्यवसाअस्म चण्डचरिदस्स अह्वसामिणो रावण-  
स्म । जाणामि म जेव पडिपात्तअन्तां चिट्ठदि । जाव ण इयसप्पा-  
मि । ( सविपादमुपस्य ) अज्ज, वन्हे । [ कथमिहंवाद्यात्कशिसरप्रप्रीवे  
मातामह । अठो दु शिल्पता दग्धकार्याणाम् । यदिदानीं प्रनागरकल्यान्तलोचन  
प्रतिक्षणजुम्भाप्रसारितमुखकुहरदृष्टदयस्थितकठिनकार्यभारोऽन्य इव कौऽपि  
दृश्यते । अथवा सामान्योऽपि गुरुवो मन्त्रिभावो विशेषेण साहसैकरसव्यवसायस्य  
चण्डचरिनस्यास्माक स्वामिनो रावणस्य ) जानामि मामेव प्रतिपाल्यस्तिष्ठति ।  
यावदेतमुपसर्पामि । आर्य, वन्हे । ]

माल्यवान्—'वत्से, कन्याणिनी भूया । इहास्यताम् । अपि  
भरतशत्रुघ्नाभ्या मिथिलामुपस्थितो दशरथ ।

शूर्पणखा—( उपविश्य ) अज्ज, नसरहे आअटे कुमाराण गोदा

चिरजागरजनिताभिरनवरत प्रवर्त्तमानाभिजुम्भाभिमुपकुहरे व्याधीयमाने मति तत्र  
काले तद्दृष्टप्रस्थितस्य महत कार्यभारस्य प्रत्यक्ष भवतानि । अय इवाय माल्य  
वान् प्रणीयते । गुरुक महान् । साहसैकव्यवसायस्य सतत साहसेन व्याप्रिय  
माणस्य । चण्डचरितस्य कोपनस्वभावस्य । प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाण ॥

कल्याणिनी कुशलिनी । भरतशत्रुघ्नाभ्याम् इत्यत्र सहैति शेष ।

कुमाराणाम रामादीनाम् । गोदानमङ्गले विवाहात्पूर्वसम्पाद्ये धार्मिककृत्य

जाँवे कल्पान हो रही ह प्रतिक्षण जमाइ लते रहनेसे फैलाये गये मुखके भागसे हृदयगन  
कार्यके वादृश्यके दशा होते हैं, इस तरह यह मातामह दूमरे ही प्रनीत होते ह,  
अथवा—सामान्य मन्त्री होना ही मक्षगौरवपूर्ण कार्य है, विशेषत सननसाहसकर्ता  
नथा चण्डचरिन रावणका मन्त्रा होना । माल्य पडता है—यह मेरीही प्रतीक्षामें बैठे  
हुए हैं । जब तक उनके पास चहुँ । ( सखेद मनीष जाकर ) आय, प्रणाम करती हू ।

माल्यवान्—वन्हे, तुम्हारा कल्याण हो । शहर बैठो । क्या भरत तथा शत्रुघ्नके  
साथ दशरथ मिथिला पहुँच गये ?

शूर्पणखा—( बैठकर ) दशरथके आ जाने और कुमारोंके गोदानमङ्गलके हो

१ 'कल्याणिनि, इहास्यताम्' । २ 'सह बैठेहुमुपस्थित', शत्रुघ्नाभ्यामुपस्थित' ।

णमङ्गले अ सवुत्ते दाप मण पत्त मिहिलाणअरम् । [ आर्य, दगरथे आगते  
कुमाराणा गोदानमङ्गले च सवुत्ते तावन्मया प्राप्त मिथिला नगरम् । ]

माल्यवान्—( निश्चय । ) 'अतिप्रकाशोऽयमर्थो यथा निवृत्तस्वी  
करणा जानकीति ।

शूर्पणखा—अध इ । [ अय किम् । ]

माल्यवान्—( विमृश्य । ) अहो दुरात्मन' क्षत्रियब्राह्मणस्य कुशि-  
कजन्मनो दुर्नाटकम् ।

यज्ञोपप्लवशान्तये परिणतो राजा सुत थाचित  
स्त चानीय विनीय चायुधविधौ ते जग्निरे राक्षसा ।  
त्रैयक्ष चिद्वलय्य कार्मुकमय म्बीकार्यं सीतामितो

विशेषे, क्षत्रियागामयमाचारो यत्ते विवाहात्पूर्वं पुत्रस्य गोदानमङ्गलं सम्पाद्यन्ति,  
तथा च कालिदाम 'अथास्य गोदानविधेरनन्तर विवाहदीक्षा निरवर्तयद् गुरु' इति  
प्राप्त गतम्, मद्गमनान् पूर्वमेव दशरथस्तत्र गत इत्याशयः ॥

अतिप्रकाशं ग्यात । निवृत्तस्वीकरणा मज्जातविवाहा । 'उपायम स्वीकरणे'  
इति पाणिनि, तत्रोपयमन विवाह इति भट्टोजिदीक्षित ।

दुरात्मन दुष्टस्य । क्षत्रियब्राह्मणस्य जन्मत क्षत्रियस्यापि तपसा ब्राह्मणत्वमभि  
मन्यमानस्य । कुशिकजन्मत कुशिकात्मजस्य विश्वामित्रस्य । दुर्नाटकम् दुःश्लेष ।

यज्ञोपप्लवेति यज्ञोपप्लवशान्तये मरुविघ्नोपशमनाय परिणत वृद्धो राजा  
दशरथ सुत राम नाम पुत्र थाचित, त पुत्र रामनानीय तपोवन प्रापय्य लायुध  
विधौ दान्त्रप्रयोगं विनीय शिक्षयित्वा च ते प्रसिद्धा ताडकासुवाहुप्रभृतयो  
राक्षसा जग्निरे निहता, अथ एतदनन्तर त्रैयक्षस्य त्रिलोचनस्येद् त्रैयक्ष शैव धनु

जानेपर ही म मिथिला पहुची ।

माल्यवान्—( साँस लेकर ) अब यह बात अनिप्रकट है कि सीताका विवाह हो गया ।

शूर्पणखा—और क्या ?

माल्यवान्—( विचारकर ) अहा दुरात्मा तथा क्षत्रिय ब्राह्मण विरवामित्र का  
दुर्नाटक तो देना ।

यज्ञविघ्नशमनके लिए राजासे उनके पुत्रकी याचना की, ठाकर उन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा  
देकर उनके द्वारा हमारे वीर राक्षसोंका वध करवाया । शिवके धनुषकी लम्बाकर सीताका

नो विद्म वदुनाविटेन वदुना किं तेन कारिष्यते ॥ ११ ॥

शूर्पणखा—अज, एव रौदम् । सो मए तत्त्व बह्वणो वमिष्ट-  
महेसिणो नि फुरन्तो दिष्टो । [ आर्य, एवमेतत् । स मया तत्र वदुणो  
वमिष्टमहर्षेरपि स्फुरन्ष्ट । ]

माल्यवान्—( विस्य । ) वत्से, तपोभिरव्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्वा-  
निवद्भावेन क्षत्रकार्यं न जहाति । किं च स्वभावमधुरोऽपि काकुस्थ  
वदुरीत्पत्तिकेन क्षात्रेण ब्राह्मण्येन च जन्मना त्रिजातकादस्मान्मुनेरधी-  
यानोऽवरीण परिणस्यते । तथाहि ।

विदुर्लभ्य भङ्गयित्वा सीता स्वीकार्यं रामेण त्रिवाह्य इत् परम् वदुनाविटेन दम्भ  
कर्मणि निपुणधूर्त्तन तेन वदुना ब्राह्मणशिशुना विश्वामिनेण किं कारिष्यते विश्वास्यत  
इति नो विद्म न जानीम । चिन्ताऽत्र व्यज्यते, स्पष्टमन्यत् ॥ ११ ॥

वसिष्ठमक्षये वमिष्टापेक्षया । स्फुरन् दीप्यमान , वसिष्ठतोऽयधिक्रतेजस्यी ।

ब्राह्मणादेश ब्राह्मणत्ववृद्धि । क्षत्रकार्यं न जहाति क्षत्रियसम्पाद्य हिंसादि न  
त्यजति । यथा 'स्थानिवद्भादेशोऽनल्विधौ' मत्रण हन्ते स्थाने जायमान कोऽप्यन्य  
आदेश स्थाविप्रयुक्तमपि कार्यं करोति तद्वत् तपस्यया ब्राह्मणत्व प्राप्तोऽयय प्राप्तन  
क्षत्रियसस्कार तत्प्रयुक्ता हिंसादिभर्त्सित च न जहातीत्यर्थ ।

स्वभावमधुर निसर्गान्महस्वभाव । वदुस्थदुरीक्ष्यो बह्वचारी । नीत्य  
निकेन स्वाभाविकेन, क्षात्रेण क्षत्रियोचितेन ब्राह्मण्येन त्रिभावेन जन्मना परि  
वृत्तनेन त्रिजातकात् त्रिधा गृहीतजन्मन, प्रथममेकजन्म मातुर्गर्भत, द्वितीय  
क्षत्रियोचितोपनयनेन, तृतीय च तपोलभेन ब्राह्मणत्वाभिमानेनेति बोध्यम् । (अत्र  
त्रिभिजातस्त्रिजातक इति विश्वामित्रस्यानेकपितृकान्निर्निर्दार्य ) अस्मात् मुने

विवाह सम्पन्न करवाया, नहर् जानते हँ दसके बाद वह धूत् वदुक क्या करेगा ? ॥११॥

शूर्पणखा—भाय, ऐमी हा वान है, विश्वामित्रको मैंने वसिष्ठके आगे भी अपनी बात  
चलाते देला था ।

माल्यवान्—( इसकर ) तपस्यासे वह ब्राह्मण बन गया है परंतु उत्तका क्षत्रिय  
कार्य अभी नहीं छूट सका है । स्वभावन सुकुमार होनेपर भी वह वदुत्सुकुमार जन्मना  
क्षत्रिय, कर्मणा ब्राह्मण इम विश्वामित्रसे अस्वविद्या ग्रहण करनेके कारण स्वयं धिक्कारका  
पात्र ही जायगा । क्योंकि—

१ 'अपीयत्रपरीणशील' ।

अविनयभुवामज्ञानाना शमाय भवन्नपि  
 प्रकृतिकुटिलाद्विद्याभ्यास खलत्वविवृद्धये ।  
 फणिभयभृता मन्तूच्छेदक्षमस्तमसामसौ  
 विषधरफणारलालोको भय तु भृशायते ॥ १२ ॥

मयतु । किमनिज्जान्तोपपन्ननेन ? कथं त्रिदानीं स्वयप्रहीतुमुत्तिष्ठ-  
 मानो राश्रसपति प्रतिकर्त य स्यात् ।

विधामित्रात् । अधोयान विद्यामभ्यस्यन् । अवरीण धिक्कारपात्रम् । निन्दिता  
 चारात् निन्दितकुलाद्वाध्ययन धिक्कार्यतामूलम् । परिणस्यते भविष्यति ।

अविनयभुवामिति । अविनयभुवाम् दुर्णयजनकानाम् अज्ञानानाम् शमाय प्रश-  
 मनाय भवन् समदोऽपि अज्ञानीच्छेदक्षमोऽपि प्रकृतिकुटिलात् स्वभाद्रकूराजनत्वात्  
 विद्याभ्यास विद्याध्ययन खलत्वविवृद्धये दोर्जन्यस्य वर्धनाय जायत इत्यर्थः ।  
 अज्ञानापपोद्धतमोऽपि दुर्जनादध्यापकाद्विद्याभ्यासोऽध्यनुर्दुर्जनता समेधयतीत्यर्थः,  
 तत्र दृष्टान्तमाह-फणिभयेति । फणिभयभृता सर्पोऽत्र स्यादिति भयजनकानाम् तम-  
 साम् अन्यकाराणाम् असौ विषधरफणालोक सर्पमणिप्रकाश उच्छेदक्षम विना-  
 शकर अस्तु पर भय भृशायते सर्पमणिधारणे तदन्विष्यत सपाद् भय वर्धते ।  
 तस्मात् तमोनाशरस्यापि सर्पमणेर्यथा भयमपृक्ततयाऽनुपादेयत्वं तथाऽज्ञान  
 विनाशकस्यापि दुर्जनादध्ययनस्येति रामलक्ष्मणयोर्विधामित्रादध्ययन न हितमिति  
 भावः । हरिणीवृत्तम् ॥ १२ ॥

अविज्जान्तोपपन्ननेन व्यतीतवस्तूपनिबन्धनेन । स्वयं प्रहीतुम् आत्मनेव मीता  
 हस्तुम् । उत्तिष्ठमान उच्यते । प्रतिकर्त य शान्तिं नेय ।

अविनयसे अज्ञानको दूर करनेवाला होकर भी प्रहृत्या दुष्टजनसे किया गया विद्या  
 भ्यास खलत्वकी वृद्धि किया करता है, जिन्हें सर्पोमे भय मान्यम पहना है उन्हें फणि  
 मणिमे अथकारका भय मल दूर हो जाय किन्तु फणि मणिके देखनेसे सर्प भय तो बना ही  
 रह जाता है ॥ १२ ॥

अस्तु अतीतवस्तुकी चर्चासे क्या लाभ ? अब सीताको स्वयं हरनेकी चिन्तामें पड़े  
 रावणको किस तरह रोका जाय ?

शूर्पणखा—अञ्ज, ण खु मोट्टिम परिहरन्तो अण्णो उआओ लक्खीअदि । [ आर्य, न खनु मोट्टिम परिहरतोऽप्य उपायो लक्ष्यते । ]

माल्यवान्—घत्से, मा मैवम् । महादोषो हि तादृशेन 'धर्मविजयिना वीरप्रवालेन परिगृहीताया वैदेह्या प्रमथ्यापहार । पश्य ।

दो स्तम्भद्वयदर्पडम्बरमिति स्पष्ट न विस्पन्दते

वैदेहीकरबन्धसूचनमिति प्रमत्तोति न प्रीडया ।

इत्यालोच्य कृतस्मितैर्मुनिभिरादिष्टेन येन क्षणा

दात्तं चन्दितमाश्रितं च सहसा भग्नं च तादृग्वनु ॥१३॥

मोहिमम् बलाकारम् । परिहरन् त्यक्त्वा । लक्ष्यते प्रतीयते, राणो प्लप्रयोग परिहृत्य नान्येनोपायेन शमयितुं शक्य इत्यर्थः ।

महादोष बहुदोषपूर्णः । धर्मविजयिना धर्ममाश्रित्य विजयप्रवृत्तेः । वीरप्रवालेन नवोदयेन वीरेण । परिगृहीताया परिणीताया । प्रमथ्यापहार उलाढलरणम् । सीताया रामेण परिणीताया तस्या घलाद्धरण महतेऽनर्थाय जायेनेति तापर्यम् ।

दो स्तम्भद्वयेति । दोःस्तम्भद्वयदर्पडम्बरम् । बाहुरूपयो रतम्भयोर्दर्पस्यान्वयस्य डम्बरम् प्रकाशनं स्यादिति ( सर्वेषु नृपेषु परस्परस्पर्धया धनुर्नमयितुं प्रवृत्तं भानेऽपि तथाकरणे स्तम्भोपमयोर्जहोर्दर्पं प्रकाशितो भवतीति तत्प्रकाशनं नम्रनयाऽनिच्छन् ) न विस्पन्दते इतरनृपवत् न स्पन्दते, किञ्च तथाकरणे वैदर्हीकरबन्धसूचनम् सीतापाणिप्रहृत्पियत्राभिलाषप्रकाशनं स्यादिति व्रीट्या लज्जया न प्रस्तौति धनुर्नमनप्रस्ताव न करोति । इति एव रामस्य शार्ङ्गानताम् आलोचय विभाय कृतस्मितै हसितमुखै मुनिभि तत्कालमनिहितं शतानन्दादिभि आदिष्टेन आज्ञेन येन रामेण तादृक् स्तनामविरयानम् ऐश धनु क्षणान् अल्प

शूर्पणखा—बलाकारक अनिर्दिष्ट तो वाइ उपाय नहा दावना इ ।

माल्यवान्—घत्से, ऐसा मन कहा, धमवित्ता वम् वीर कुमारक द्वारा विनाशिन माताके बलात् हरणमें बड़ी आपदा हो सकती है । देखो—

शिवधनुषके उठानेमें बाहुओंके गवका प्रकाशन होगा ऐसा समझकर उसकी शक्ति नहीं प्रकट करता है, और वैदेहाके विवाहको सुचना होगा इसलिये लज्जित धनुषके विषयमें प्रस्तावनी नहीं करता है, ऐसा देखकर मुस्करान हुए मुनियोंके आज्ञाने ज्यन तत्क्षण धनुष उठाया बन्नाका, नवाया और वम विगाए धनुषको तोड़ दिया ॥ १३ ॥

१ 'निजधर्मविजयिना', 'धर्मविजयिना' । २ 'चन्दितम्' ।

‘तत्कथं च तस्मिन्निशाचरनाथमाततायिनमनुजानीम ।

शूर्पणखा—( ‘निश्चय । ) जघा णिरूपिद मातामहेण । अहो कालस्य माहप्प, ज दाणि तिहुअणजअलच्छीलीलापण्डिआरे महा राअराण्णैरि एव्व मन्तीअदि । [ यथा निरूपित मातामहन । अहो कालस्य माहात्म्यम्, यदिदानीं त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीलावन्दीमारे महाराजरावणोऽप्येव मन्यते । ]

माख्यवान्—वत्से,

मुनिरपि गुरुदिव्याखाणा बभूव दिवौकसा-

मज्जगवधनुर्भङ्गे तावानहो स महोत्सव ।

कालेनैव आत्त गृहीतं यदिमं नमस्कृतम् आद्रितम् नमितम् सहसा हठात् भग्नं खण्डितम् । अतस्तादृशीरवधूहरणे रावणस्य हठात् प्रवृत्तिर्न श्रेयसे स्पा-  
दिति भावः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रामे । निशाचरनाथम् राजसराजं रावणम् । आततायिनम् दाराप-  
हारिणम्, ‘अग्निदेो गरदश्रैव शखपाणिर्धनापह ।

क्षेत्रदारापहारी च पडेते आततायिनः’ ॥

अनुजानीम अनुमन्यामह ।

यथानिरूपित मातामहेन साधु विचारितम् भवता । त्रिभुवनजयलक्ष्मीलीला-  
वन्दीमारे—अनायासामादितलोकत्रयनयलक्ष्मीके । रावणो यदि रामस्य दारान्  
पहरिष्यति तदा नोचितं करिष्यतीति चिन्ता रावणस्यापि विधीयमाना कालस्य  
बलवत्तरत्व प्रकाशयति ।

मुनिरपीति । मुनिर्विश्वामित्रोऽपि दिव्याखाणा जृम्भकादीनां गुरुरपदेष्टा बभूव,  
अन्नावधनुर्भङ्गे दिवौकसा देवानां स नावान् अतुलित महोत्सव बभूवेति

इसलिये हम राक्षसराजको बलप्रयोग करनेकी अनुमति कैसे दें ?

शूर्पणखा—( सौत लेकर ) मातामहका सोचना ठीक है । समयका माहात्म्य है,  
कि इस समय त्रिभुवन विजयलक्ष्मीको वन्दी बनानेवाले महाराज रावणके सम्बन्धमें भी  
इस तरह विचार किया जा रहा है ।

माख्यवान्—वत्से ! मुनिने दिव्याखोंका प्रदान किया है, पिनाक-भञ्जनके अवसरपर

रघुपतिगुणक्रीतामेतामवेहि जगत्त्रयीं

विपरिणमते दौर्जन्यं तु प्रभुत्वपदेन न ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—को सन्देहो । तस्मिन् विवाहमहोत्सवे सौम्यं च मय पञ्च-  
कसीन्दिम् । [ क सन्देह । तस्मिन्विवाहमहोत्सवे सर्वं अयं प्रयत्नोक्तम् । ]

माल्यवान्—तदेवमेकलोष्टप्रथमं स्यात् । तथाहि । ‘मिथिला  
प्रतिश्य बलादाकृत्यमाणं कलत्रं यथा तितिश्चेत् १ रघुराजपुत्र । त  
चोत्तिष्ठमानं पौरानपदप्रकृतयः २ अनुत्तिष्ठेरन् । ३ किमुना ४, सम्बन्धिवान् ५-

शेष । तदेवम् एता जगत्त्रयीम् लोकत्रयेम् रघुपतिगुणक्रीताम् राधवगुणवशा-  
कृताम् अवेहि विद्धि न अस्माक प्रभुत्वमदन बलदर्पेण दौर्जन्यं दुष्टत्व विपरिणमते  
पर्यवस्यति विश्वामित्र इत्येव तो नीचा दियास्त्राणि दत्तवान् इति दुराधर्यो तौ,  
नैनाप्रदेव, द्वा जपि तत्पक्षपातिन, अतएव तत्कृते शिवभ्रनुभङ्गे ते महात्मसु सव  
मन्यन्ते स्म । तदेव रामस्य लोकप्रियत्वे प्रमागितेऽपि यदि वय प्रभुत्वमद् प्रकृ-  
यामस्तदा नो दौर्जन्यप्रकाशनमात्र फल भविष्यति नान्यदिति तथाह्वाऽहमिति  
भाव ॥ १४ ॥

तस्मिन् विवाहमहोत्सवे सीतारामयो विवाहरूप महोत्सवे । प्रयत्नीकृतम्  
दृष्टम् । एकलोष्टप्रथमं लोष्टं श्रुत्तिकावण्डम् । यथा लोष्टद्वयास्फालनेनायतर  
स्फुटन भवति तादृशो बधो लोष्टप्रथ, मिथिलातो रावणन सीतायामपहृताया  
रामरावणयो मङ्गपे सजाते रामो गत्रणो वा न भवेदियर्थ । कलत्रं त्रियाम्,  
तितिश्चेत् सर्पयेत् । उत्तिष्ठमानं युद्धोद्यतम् । पौरा जानपदा प्रकृतय इति पौर  
जानपदप्रकृतय, पौरा नगरवासिन जानपदा देशवासिन प्रकृतय प्रनाश्च ।  
अनुत्तिष्ठेरन् अनुवृत्तेरन्, सहायका भवयुगित्यर्थ । किमुना, सम्बन्धिवान्  
सहाया प्रजातामेव सहायकत्वं सम्भविनि सम्बन्धिनो बान्धवाश्च सहाया

द्वौन उतना बद्धा उत्सव मनाया, इम तरह्म ममरंन विश्व हा रघुपतिवे गुणोसे उसका  
कीनशाम बन रहा है, हमारे प्रभुत्व-मदका परिणाम केवल दौर्जन्य रह जायगा ॥ १४ ॥

शूर्पणखा—इसमें क्या म-देह ? उस विवाह समयमें मेने सब कुछ आँसु देला था ।  
माल्यवान्—इम समय लडना डेलकी लडारका तरह्म व्य- होगा, क्योंकि मिथिला  
जाकर यदि हम उमरी स्त्रीका बलात् हरण करेंगे, तो मला रघुराजपुत्र किस प्रकार सडन

१ ‘मिथिलायाम्’ । २ ‘तितिश्चेत्’ । ३ ‘राजपुत्र’ ।

४ ‘जानपदा’ । ५ ‘किमुना’ ।



वा । 'यद्योक्तम्—'आरण्योऽग्निरिव' दु सहदु खामर्पज तेजो विक्रम यति, मण्डलस्य चानुप्राहो भवति' इति ।

शूर्पणखा—( दार्यमुष्ण च ति श्वस्य । ) अज्ज, किं वाणि जुत्तम् ।  
[ आर्य, किमिदानीं युक्तम् । ]

माल्यवान्—<sup>३</sup>शृणु वत्से, मार्यज्ञासि । अस्ति वनौकसा मन्त्री जाम्बवान् । म मतज्ञाश्रमवास्तव्यामुपसृत्य <sup>४</sup>श्रमणा नाम सिद्धशवरीम मभ्यर्धितवान् । यथास्य बालिनो द्वैराज्येन क्षीणा "लुब्धापवारिता"

भविष्यन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थं , आरण्योऽग्नि वनवद्धि । दु सहदेन दु ख मोदु शनयेन अमर्पण कौपेन जायते तादृश तेज पराश्रमम् विक्रमयति प्रकाशयति । मण्डलस्य रानसमूहस्य । अनुप्राह्य प्रीतिपात्रमनुसरणीय इत्याशय ।

इदानीम् घृताहरया स्थितौ ।

कार्यज्ञा वर्त्तयज्ञानशालिनी । वनौकसाम् वानराणाम् । मन्त्री मन्त्रवित् स जाम्बवान् । मतज्ञाश्रमवास्तव्याम् मतज्ञाश्रममुनिकुटीरवासिनीम् । सिद्धशवरीम् सिद्धाम् तपस्याप्राप्तसिद्धिम् दार्वरीं क्रिरातजातीया रामायणग्रन्थाप्रसिद्धा वनिताम् । द्वैराज्येन सुग्रीवस्य राज्य बाली हरति, तदिह कदाचिद् बाली राजाज्ञा प्रवर्त्तयति कदाचिच्च गूढ स्थित सुग्रीव, तदिह द्वैराज्यम्, द्वैराज्यमनिश्चित स्थितिक शासनम्, तत्र प्रकृतीना दशा न साधुस्तिष्ठति, तथा च प्रयुक्त नैपथीये 'चरच्चिर शोशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वथि संदमेति ।' क्षीणा अपहृतधना । लुब्धापवारिता धनलुभैरैतस्तेरपकृता प्रकृतय प्रजासुरयपुरपा । अभिषेच्य

वरणा ? वह जब खडा होगा तब गाँव तथा देशके लोग भी उसके साथ खड़े हो उठेंगे, सम्बन्धियोंकी बात हा क्या ? कहते हैं—वनवद्धिको तरह लोग दु सह दु खबन्ध तेजकी विक्रमके रूपमें प्रकट करते हैं, और लोग उनका साथ देते हैं ।

शूर्पणखा—( लम्बो गरम सौम लेकर ) आर्य, इस समय क्या करना चाहिये ?

माल्यवान्—सुना वत्स, तुम सब समझनी हो, वनवासियोंका मन्त्री है जाम्बवान्, मतज्ञाश्रमवासिनी श्रमणाके पास जाकर सिद्ध शवरीसे उससे प्रार्थना की है कि हम बालिके द्वैराज्यसे क्षीण वनो डर लुम्ब तथा अपकृत प्रजायें किष्किध्यामें कुमार सुग्रीवकी अभिषिक्त करनेमें रामकी सहायता चाहते हैं ।

१ 'तद्योक्तम्' । २ 'अग्निरिव दु खान्' । ३ '(चित्तं नाटयति ।) शृणु वत्से' ।

४ 'श्रमणाम्' । ५ 'अपचिता' ।

प्रकृतय किञ्चिन्धाया १कुमारसुग्रीरमभिपेक्ष्यमाणा सामवायिक राम-  
भद्रमपेक्षन्ते ।

शूर्पणखा—( सातङ्कम् । ) कथं रयत्तिअपोदओ वालिणिग्गहे पि  
सहाओ समीहीअदि । तदो तदो । [ कथं क्षत्रियपोतकौ वालिनिग्रहेऽपि  
सहाय समीक्षते । ततस्तत । ]

मात्यवान्—ततश्चायोध्यात कैकेय्या भरतवार्ताहरणाय प्रेषिता  
मन्थरा नाम २स्थविरदासी ३कठोरतरणिताप ४वज्रानलबालानर्लाडजी  
विता मिथिलाप्रान्तरे ५तिष्ठतीति ६निद्राघकिरणान्तेवासी सतीर्ष्यमृषि  
याज्ञवल्क्यमुपस्थाय ७सम्प्रत्येव निमेषमात्रान्निवृत्तो हनुमान्कथयति ।

माणा अभिपेक्षु कामयमाना, सामवायिकम् सम्भूय योद्धारम्, मिलित्वा बालि  
निग्रहाय प्रयनितारम् । क्षत्रियपोतक क्षत्रियशिष्य राम । समीक्षते इष्यते, एतेन  
रामस्य महाबलशालित्वसम्भावना कृता वक्त्रुनिष्ठचिन्ता धरणिता ।

कैकेय्या भरतस्य मात्रा । भरतवार्ताहरणाय भरतसमाचारानयनाय । स्थविर  
दासी वृद्धा चेटी । कठोरस्य परिणतस्य तीव्रस्य तरणे सूर्यस्य तापेन किरण  
स तापेनैव वज्रानलं भयङ्कराग्निना अबलीढम् भस्मितं गृहीतं जीवितं यस्यास्त  
थोक्ता । मिथिलाप्रान्तरे मिथिलामिमुवे वृरगामिनि शूचवर्मानि कैकेय्या भरत-  
वृत्तज्ञानाय प्रहिता मन्थरा मये मार्गमत्युग्रभास्करकरसन्ताप्यमाना वर्त्तत  
इत्यर्थं । निद्राघकिरणस्य सूर्यस्य अन्तेवासा व्याकरणविद्याच्छात्र । सतीर्ष्यम्  
एकगुरुकम् । याज्ञवल्क्यं सूत्राह्वेदभधीतवान् हनुमान्श्च सूर्याद् व्याकरणमिति तयो  
सतीर्ष्यता । उपस्थाय अभिवाद्य । निमेषमात्रात् अल्पकालविराम्येन । एतेन

शूर्पणखा—( सभय ) क्यों बालिके निग्रहमें मा उस क्षत्रियशिषुकी सहायता मांगा  
जा रहा है, इनके बाद ?

मात्यवान्—इसके बाद अयोध्यासे कैकेयी द्वारा भरतके समाचार जाननेके  
लिये भेजा गद मन्थरा नामकी वृद्धा दासी सूर्यके तापरूप दग्धमे समस्त अह्नोकी शक्ति  
हस्त हा जानेसे मिथिला समाप्त प्रान्तमें वर्त्तमान है यह बात सूर्यके शिष्य तन अथवा  
सत्पार्थ्यं महाविद्यापवन्धकी बन्दना करके मिथिलामे लौटि हुए हनुमान्ने अमाजमा

१ 'कुमारम्' । २ 'स्थविरतरा' । ३ 'कठोरतररणि' ।

४ 'वज्रानलबलीड-' । ५ 'प्रांते' ।

६ 'निद्राघकिरणयाकरणात्तेवामी' । ७ 'सम्प्रत्येव' ।

अतस्त्वमयस्मद्गुरोधेन 'हनुमत्प्रत्यवेवितम्बशरीरा परपुरप्रवेशविषया  
मन्थराशरीरमधिनिष्ठन्ती' मिथिलामुपेत्य प्रत्ययिता नविधानमिदं  
दशरथगोचरीकरिष्यसि<sup>१</sup> । 'इत्यन्भाविना गुम्निदेशचर्वाप्रमङ्गेन पङ्क-  
पापाणप्रिपमण्डक' व्यालकुलवहुलामरण्यानीमनुप्रविष्ट' मर्यादा वैदेशिको  
राजपुत्र' कार्यगौरवाभियतमेव वालिवधपूर्वकेण प्रतीकारसन्धिना<sup>२</sup>  
सन्वन्वेन सुप्रीवमुपगृहीयादिति ।

शूर्पणखा—( मकानुवन् । ) अत्र चित्तमविहाणम् । [ आर्य, कि-  
त्वेनविधानकम् । ]

मन्थराया मार्गस्थवनुकम् । अस्मद्गुरोधेन मदीयविचारमनुसृत्य । हनुमत्प्रत्यवे-  
दितस्वशरीरा हनुमता रघुमागनिजवतनु<sup>३</sup>, सुग्रीवकार्यसाधकतया हनुमानस्फारहा  
करिष्यति । परपुरप्रवेशविषया परकायप्रवेशकल्या । अधिनिष्ठन्ती प्रविशन्ती ।  
प्रययिता मन्थराशरीरप्रविष्टतयाऽऽह्वनीया । मविधानकम् केंद्रव्या मन्त्रितम्  
रामभद्रवनप्रेषाभरतरात्र्यप्रदानरूपम् । गोचरीकरिष्यसि बोधयिष्यसि । गुम्नि  
देशचर्वाप्रमङ्गेन पित्राजापालनप्रमङ्गेन । इत्यन्भाविना जनेन प्रकारेण प्राप्तेन । पङ्केन  
कर्त्तमेन, पापाणेन गिलागकलेन, विषमाम् नतान्भतान्, कण्टका व्याला मर्षा  
व्याघ्रादयश्च तद्वहुलाम् व्याताञ्च । अरण्यानीम् महावनम् अनुप्रविष्ट प्राप्त ।  
वैदेशिक' अन्यदेशादागत' । राजपुत्र राम, कार्यगौरवात् कर्त्तव्यस्य मीतोदरगम्य  
गौरवमपेक्ष्य । वालिवधपूर्वकेण वालिवधद्वारकेण । प्रतीकारसन्धिना परस्परोप-  
काररुच्येभ्यो प्रतीकारसन्धिचङ्गमुक्त चाङ्कये 'मयाऽऽस्योपकृत पूर्वमेव मानुष  
करिष्यति । इति य' कियते सन्धि स प्रतीकार उच्यते । उपकार करीम्यन्व

वशाह है । अतः तुम हमारे अनुरोधसे अपनी देहको हनुमान्को देस-रेमने रखकर  
परचाय प्रवेश विद्याके द्वारा मन्थराले शरीरमें प्रवेश करके मिथिला चली जा मरवा  
विश्राम प्राप्त कर ले, और वह भारी बात दशरथसे बजा दे । ऐसा होनेसे शुरुबचन  
पालनप्रमङ्गने पङ्क पापाण, कण्टक, मर्षने व्याप्त अरण्याने आये हुये रामचन्द्र वैदेशिक  
होनेके कारण निश्चय ही वालिवधपूर्वक सुग्रीवको सन्धिको स्वीकार कर लेंगे ।

शूर्पणखा—( हुनुहलने ) वह मविधानक क्या है ?

१ 'हनुमदवेक्षित' । २ 'उपानिष्ठन्ता' । ३ 'पुरम्ब' ।

४ 'भाविना च' । ५ 'व्यालवहुलान्' । ६ 'सन्धिना सुग्रीवम्' ।

माल्यवान्—( कर्णे । ) एउमेउम् । ( इति स्थयति । )

शूर्पणखा—(हसन्ती ।) अहो बुद्धरिन्ध्रस्म कुटिलना । तदो तदो ।

[ अग्रे बुद्धरक्षस्य कुटिलता । ]

माल्यवान्—<sup>१</sup>ततश्च सापि शत्रुरयोगिनी <sup>२</sup>सुग्रीवगुणानुरोधेन मर्त्र-  
मोमित्युरसि कृत्य तदैव विन्हेहाभिमुखी प्रस्थितेति मे जनस्थानविहारि-  
भिर्निशाचरेरागत्य निप्रेदितम् । <sup>३</sup>तदमुना च जाम्बवत्प्रयोगेण <sup>४</sup>फलता  
विराधप्रभृतिभिरधिष्ठितेषु विन्ध्यगिरिगङ्घरेषु <sup>५</sup>विहरतो रामस्य सुकर  
कलत्रापहरणम् । अस्मदीयास्तु माया सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य युद्ध-  
मुदितप्रिबुधपतिना <sup>६</sup>प्रितीर्णमायाहरणमन्त्रधारिणो दशरथस्य सनिधौ न  
प्रभवन्ति ।

ममाप्येष करिष्यति । अय वापि प्रतिकारो रामसुग्रीवयोरिव' । सम्यग्नेन मज्या,  
उपगृहीयान् आश्रयेत् ।

बुद्धरक्षस्य स्थत्रिरभल्लुकस्य जाम्बवत । कुटिलता वक्रनीतिशालिता । शवर-  
योगिना सिद्धा शवरजातीया श्रमणा नाम । सुग्रीवगुणानुरोधेन सुग्रीवस्य गुणान  
नुरद्धय । उरसि कृत्य स्वाकृत्य । विन्हेहाभिमुखी मिथिलामुद्दिश्य । जनस्थान  
विहारिभि वनवासिभि । अमुना सुग्रीवस्य फलकेन । जाम्बवत्प्रयोगे जाम्बवत  
कुटिलनाया प्रयुक्तेन व्यग्रहारेण । अधिष्ठितेषु अध्युपितेषु । विन्ध्यगिरिगङ्घरेषु  
विन्ध्याचलकन्दरासु । विहरत भ्रमत । सुकरम् अनायाससाध्यम् । अस्मदीया  
राक्षसकृता । माया छलनायापारा । सुरासुरप्रथमरेखयोधस्य देवासुराप्रगण्य

माल्यवान्—( जानमें ) इम तरह है ( कहता है )

शूर्पणखा—( हसती हुए ) बूढ़े वानरकी कुटिलता तो देखें । इसके बाद ?

माल्यवान्—इसके बाद वह शवर तपस्विनी सुग्रीवके गुणानुरोधमे सब कुत्र  
स्वीकार करके उसी समय मिथिलाकी ओर चली, यह बात निशाचर राक्षसोंने आकर  
तत्काल मुझसे बना दी थी । इस जाम्बवान्के प्रयोगसे विराध प्रभृतिने अधिष्ठित विन्ध्य  
गिरि गङ्घरोंमें भ्रमण करनेवाले रामकी स्त्रीका अपहरण सुकर हो जायगा । हमारी  
माया दशरथके समीप नहीं चल् सकती है क्योंकि दशरथने सुरासुर शुद्धने प्रथम पत्निमें  
रहकर दूसरी प्रसन्न करके मायाहरणमन्त्र सीख लिया है ।

१ 'तत सापि' । २ 'अनुरागम सब तथत्पुरराकृत्य तथव' ।

३ 'अमुना जाम्बवत' । ४ 'फलवता' । ५ 'विहरत सुकरम्' ।

६ 'सुरासुरसमरप्रथमरेखा' । ७ 'विबुधपतिविनीण' ।

शूर्पणखा—( नविविक्लिप्तम् । ) अज्ज, उण्णवस्स एव्व करीअदि ।  
[ श्रार्ये, उपनतस्यैव क्रियते । ]

माल्यवान्—( विहस्य । ) वत्से, साधु । वृद्धसवादिनी ते 'दृष्टि ।  
यदाहु—'यो ह्युपनतस्य पुत्रदारानतिमन्यते' तस्योद्विग्न मण्डलमभा  
वायोपतिष्ठते' इति । किं पुनरस्मासु नैव निसर्गतेजस्वी सश्रयप्रवृत्तिमा-  
तिष्ठते ।

शूर्पणखा—हृ । अण्ण मणामि । अवि एव्व करिस्सदि रामभदो ।  
[ अन्धद्रुणामि । अण्णोव करिष्यति रामभद्र । ]

वीरस्य । युद्धमुदितविबुधपातिना सद्रामकौशलप्रसन्नशत्रेण । वितीर्णमायाहरण  
मन्त्रधारिण दत्तमायाप्रशमनमत्रिदि । दशरथो हि युद्धे प्रसद्येन्द्रेण दत्ता माया  
हरणदीप्ति रक्षतीति न शक्यतेऽस्माभिर्माया काञ्चिदुपपाद्य दशरथो वन प्रेषयितु  
राममादिशन्वारयितुमित्थ च रामे वन गतेऽवश्य भावि सीताहरण तन्मूलरुध्र  
रावणपराभव इति चिन्ताबीजमुग्नेयम् ॥

उपातस्य वनसमीप गतस्य । एव त्रियते कलत्रमपह्नियते ।

वृद्धसवादिनी वृद्धजनदृष्टितुलिता, यथा वृद्धा विचारयति तथा स्वमपीति  
भाय । अतिमन्यते हरति । उद्विग्नम् शङ्काकुलम् । एकस्यास्य समीपागतस्य पुत्र  
दारानय हतज्ञानेवमस्मानमपि हरिष्यतीति शङ्काकुलम् । मण्डल राष्ट्रम्, अभावाय  
विनाशाय । उपतिष्ठेत् उद्यत स्यात् । निसर्गतेजस्वी स्वभावत तीक्ष्णदृष्टि । सश्रय  
प्रवृत्तिम् नाश्रयेण वर्त्तनम्, जातिष्ठते बद्धीकरोति । राम कदापि नास्मानाश्रयि  
ष्यति, यत्र तदीय दारापहरण शक्यमर्पण स्याद् यतोऽसौ निसर्गतस्तेजस्वी  
वर्त्तत इत्याशय ।

एव करिष्यति पित्रादेश मानयन्वन प्राप्स्यति ?

शूर्पणखा—भाय, आ पढनेपर ऐमा क्रिया जाता ह ।

माल्यवान्—( इसकर ) वत्से, तुम बुरोंकी तरह देखनी हो । कहते हैं—जो व्यक्ति  
उपनतजनकी स्त्री पुत्रका अपहरण करता है उसके अभावकें लिए सारा मण्डल उठ खडा  
होता है । क्या वह निसर्ग तेजस्वी रामभद्र हमपर सशय नहीं करने लगगा ।

शूर्पणखा—हृ, मैं कुछ दूसरी बात कह रही थी, क्या रामभद्र ऐसा करेंगे ।

१ साधु वत्से । २ 'बुद्धि' । ३ 'अभिमन्यते' ।

माल्यवान्—<sup>१</sup>क सशय । लोकोत्तर हि किमप्युभीलयन्तो जगति राज्योपभोगेभ्योऽपि बीभत्सन्ते महानुभावा ।

शूर्पणखा—<sup>२</sup>अण वि क्रि वि अणत्थन्तर अत्थ पडिदमिति तक्केमि । [ अन्यदपि किमप्यनर्थान्तरमा पतितमिति तर्क्यामि । ]

माल्यवान्—( सहर्षम् । ) क्रि<sup>३</sup> तत् ।

शूर्पणखा—मए जणअणअराटो णिक्कन्तीए सुट्ठ, जथा खुडिदसि रिक्कण्ठसरासणम्म दासरहिणो मच्छरेण सअलरात्तिअविदन्तो परसु रामो परागटोत्ति । [ मया जनकनगराभिधान्तया श्रुतम्, यथा क्षुण्णश्राक्कण्ठ शरामनस्य दाशरथेमात्स्येण मन्त्रक्षत्रियकृतात् परशुराम परगत इति । ]

माल्यवान्—( 'सहर्षम् । ) सर्वमुपपद्यते ।

लोकोत्तरम् सकलभेकप्रिलक्षणम् । उन्मीलयन्त अलौकिकश्चरित प्रकाश यन्त । बीभत्सन्ते, अलौकिकश्चरित प्रकटीभुवन्तो महानुभावा राज्योपभोग मपि परित्यज्य गच्छन्तीति शक्यते रामो वन गन्तुमिति भाव । अनर्थान्तरम् अनिष्टविशेष ।

जनकनगरात् मिथिलात् । निष्क्रान्तया बहिर्भूतया । क्षुण्णश्रीरूण्ठशरामनस्य तण्डितशिषधनुष । दाशरथे रामस्य । मात्स्येण कोपेत । सकलक्षत्रियकृतान्त समस्तरानकमहर्षा ।

सर्वमुपपद्यते निम्बिलमस्मदधित मिद्धयति, परशुरामागमनमस्मद्वितसिद्धि व्यञ्जकमित्यर्थ ।

माल्यवान्—<sup>१</sup>ममै क्या स देइ ? कुछ लोकोत्तर कम करनेकी इच्छा रखनेवाल राज्योपभोगत भी घृणा करते हैं ।

शूर्पणखा—<sup>२</sup>समै कुछ दूसरा भी अनर्थ मिल गया है, मैं ऐसा सोचती हू ।

माल्यवान्—( सहर्ष ) वह क्या बात है ?

शूर्पणखा—जनक नगरसे निकलती हुई मैंने सुना था कि शिवधनुष मजक रामसे कुपित होकर मन्त्रक्षत्रियसदारी परशुराम वहाँ आ गये ह ।

माल्यवान्—( मध ) सब ही मक्ता है ।

१ बले, क सशय । लोकोत्तर किमपि रूपमुभीलयन्त ।

२ क्रि च अण्ण वि' । ३ 'कीदृश नद' ।

४ 'सहर्षन्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

भुजागलितनर्मदामकरचन्द्रदृष्टुर-

त्रणप्रकरकर्कश किमपि विभ्रदुग्र वपु ।

स येन परशौ हुतो नृपतिरर्जुन कौतुका

दसौ कथमुपेक्षते गुम्धनुर्व्यलीक मुनि ॥ १५ ॥

पर त्रनेनापि सकलमूर्खाभिपिक्तकण्ठकाण्डरुधिरावसेकपङ्किल  
कुठारेण दुरभिभवो दशरथि ।

भुजागलितेति । येन भुजाभिर्वाहुसहमेण अगलिताया प्रतिरुद्धप्रवाहाया नर्म  
दाया नदीभेदस्य यानि मकरचक्राणि जलजन्तुनिवहा तेषा दृष्टाङ्कुरे दशनाग्र  
भागै य वणप्रकर क्षतसमुदयस्तै कर्कशम् कठोरम् किमपि अवर्णनीयम् उग्र  
भीषणवपु शरीर विभ्रत् धारयन् अर्जुन कार्तवीर्यार्जुनो नाम नृपति परशौ  
निजपरवधऽस्त्रभेदे हुत क्षय नीत असौ मुनि परशुराम गुरुधनुर्व्यलीकम्  
निजाचार्यस्य शिवस्य धनुषो भङ्ग कथमुपेक्षते मृष्यति, नेद सम्भवति यत् नर्मदा  
भुजैर्वदध्वा तत्रत्यजलजन्तुदन्तक्षतकठोरीकृतमुग्र वपुर्दधानस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य  
नृपतेर्वधाय समर्थस्य परशोधत्ता परशुरामो निजगुरुत्वापायमानिन राम भर्षये  
दिति भाव । पुरा किल याहुभिर्नर्मदाप्रवाहमरुध्य स्त्रीभि सह जलक्रीडा  
कुर्वत सहस्रातुनस्याङ्गाणि जलचरचत्रे चतानीति पुराणत्रार्त्ता प्रथते । पृथिवी  
वृत्तम् ॥ १५ ॥

अनेन परशुरामेण । सकलाना समस्ताना मूर्खाभिपिक्ताना राजन्याना यानि  
कण्ठकाण्डानि गलनालानि तेषा रुधिरै शोणितैरवसेकेन सेचनेन पङ्किल पङ्क  
द्विग्न कुठार परशुर्यस्य तादशेन । समस्तत्रयिसहारकपरशुनाऽपीत्यर्थ ।  
दुरभिभव दुर्जय ।

अपने बाहुओंसे बाधी गर नर्मदाके मकर समुदाय द्वारा उत्पादित दन्तक्षत्र चिह्नयुत  
मुजशाली उग्र शरीरको धारण करनेवाले कार्तवीर्यको पित परशुरामने अपने कुठाररूप  
अग्निमें होम कर दिया था, वह परशुराम अपने गुरुदेवके धनुषका अपमान कैसे  
सहन करेगा ? ॥ १५ ॥

परन्तु सकलक्षत्रिय कण्ठसमुदायके रुधिरसे पङ्किल इस कुठारसे भी दशरथपुत्रका  
अभिभव भयव नहीं है ।

शूर्पणखा—( साभ्यसूयम् । ) अहो दुग्धमुष्टे तस्मिन् रात्रिअत्रदुष्ट  
एव्य सम्भावेदि मादामहो । [ अहो दुग्धमुष्टे तस्मिन् रात्रियत्रदुष्ट एव सम्भाव-  
यति मातामह । ]

मातृयवान्—'वत्से, नेतज्जानासि ।

सर्वराजकदुर्घर्ष सर्वद्रेमय धनु ।

भञ्जता रामभद्रेण विजिग्ये भुवनत्रयम् ॥ १६ ॥

उदानीं तु—

राजन्यरधिरामभोधिकृतत्रिषवणो मुनि ।

प्राप्त परशुरामोऽयं न विद्म किं करिष्यति ॥ १७ ॥

तदेहि । रानकुलमेव गच्छाम ।

साभ्यसूयम् सरोपम, स चात्र रामस्य पराक्रमतिशयद्योतनत्वात् । दुग्धमुष्टे  
वान्नाशस्ये । अत्रियत्रदुष्टं रानकुमारे । सम्भाययति उत्प्रेक्षते ।

एतत् रामस्य पराक्रमतिशयम् ।

सर्वराजकेति । सर्वं राजकै राजममूर्त्तं दुर्घर्षं दुरारुर्षम् नमयितुमशक्यम् ,  
सर्वदेवमयम् मन्त्रदेवाशममुद्गमम् धनु शैव चाप भञ्जता सण्ड्यता रामभद्रेण  
भुवनत्रयं लोकत्रितयं विजिग्ये जितम् । यद्देवाशसम्भव धनु मन्त्रे राजभिर्नमयितु  
नाशकं तत्सख्यद्वयिन् रामस्य प्रभाषितं मन्त्रलोकविनक्तिवमिति युक्तमेव रामे  
परशुरामदुरभिभवत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

राजकेति । रानयाना अत्रियागा रुद्रिरामभोधा शोणितमागरे अत्रियरधिरमये  
समुद्रे कृतत्रिषवणं कृतत्रिसंध्यस्नानोऽयं मुनि परशुराम प्राप्त, किं करिष्यति  
राम जेष्यति न वा इति न विद्म न जानीम ॥ १७ ॥

शूर्पणखा—( असूयाके साय ) उम दुग्धमुष्टे अत्रियकुमारदे विषयमे मातामह ऐमा  
वान् वत्से हैं

मातृयवान्—वत्से, तुम नहीं जानता हो, सकल रानवर्गने दुर्जमनीय सर्वदेवमय उम  
धनुषका भञ्जत करके गमने त्रिलोकको जीत लिया है ॥ १६ ॥

इम समय तो—राजन्यरधिर रूप मनुश्रमे त्रिकालसाया सम्पन्न करनेवाले मुनि  
परशुराम आवे हैं, न जाने वह क्या करते हैं ? ॥ १७ ॥

चलो राजकुलपी ओर चलो ।



( इति निष्कान्तौ । )

विष्कम्मक ।

( नेपथ्ये । )

भो भो जनकाग्निहोत्रपरिचारका , पाद्य पाद्यम् । अर्घोऽर्घ ।

आजन्मत्रह्यक्षारी पृथुलभुजशिलास्तम्भविभ्राजमान

ज्याघातश्रेणिसशान्तरितवसुमतीचक्रजैवप्रशस्ति । ।

वक्ष पीठे घनाख्यव्रणकिणकटिने सक्षुण्वान पृषत्का

प्राप्तो राजन्यगोष्ठीवनगजमृगयाकौतुकी जामदग्न्य ॥१८॥

जनकाग्निहोत्रपरिचारका — जनकस्य यदग्निहोत्रम् अग्नौ नित्यहोमविधिः, तत्र परिवारका सामग्रीसम्पादननियुक्ता भृत्या । पाद्यम् पादार्थमुदकम्, अर्घं पूजा च प्रस्तूयताम्, आगतस्य परशुरामस्य पूजायै पाद्यादि समुपस्थाप्यतामित्यर्थः ।

आजन्मेति । आजन्म जन्मकालादारभ्य ब्रह्मक्षारी समाधितब्रह्मचर्यं, पृथुलौ दीर्घपीनौ भुजौ एव शिलास्तम्भौ तयोर्विभ्राजमाना शोभमाना या ज्याघातश्रेणि मौर्वीसम्प्राकर्षणजन्मा किणराजि तरसज्ञया तदारयया अन्तरिता आच्छन्ना वसु मतीचक्रन्य क्षोणीवलयस्य जेत्रप्रशस्ति जयप्रशसा यस्य स तयोक्त, घनाना कटिनानाम् अस्त्राणा व्रणो हतै ये किणा शुष्कव्रणचिह्नानि तै कटिने कर्कशे वक्ष पीठे उरोदेशे पृषत्कान् वाणान् सक्षुण्वान् ममुत्तेनखन् राजन्यगोष्ठी राजसमूह एव वनगजा आरण्यका करिणस्तंपा मृगयायाऽस्त्रेके कौतुकी घृतरसह जाम दग्न्य परशुराम प्राप्त, अत पाद्यादि तत्पूजासाधनमुपस्थाप्यतामिति भावः । जन्मकालावधि मुलभसासारिकसुखविमुख पृथुलयोर्भुजयो स्तम्भयोरिव विभ्रा जमानाना ज्याघातश्रेणीना ज्याजेन समस्तवसुधाविजयप्रशस्ति विभ्राण अस्त्रहत कठोरे वक्षसि वाणान् निशितानिव कर्तुंमामृशन्नय परशुराम क्षत्रियगजमृगया-विहारी प्राप्त इति बोध्यम् । 'पृषत्कवागृषता' इत्यमरः । खग्धरावृत्तम् ॥ १८ ॥

( दोनो जात हं )

( विष्कम्मक )

( नेपथ्ये )

हे जनकके अग्निहोत्रके परिचारको, पाद्य लाओ पाद्य, अर्घ लाओ लाओ, आजन्म ब्रह्मक्षारी, विशाल बाहु पर वचमान ज्याघात परशुरामके रूपमें विश्वविजय प्रशस्तिकी धारण करनेवाले, अस्त्र व्रणचिह्नसे युक्त वक्ष स्थलमें वाणोंकी धारण करनेवाले, तथा क्षत्रिय-समुदाय रूप मृगवर्गकी मृगयाके कौतुकी परशुराम आरहे हैं ॥ १८ ॥

अपि च—

‘एष खेणकपोलकुङ्कुमलिपिस्तेयातिभीरौ’ भुजे

विभ्राणश्चतुरन्तराजविजयि ज्यानादरौडं धनु ।

तूगावेव पुनस्तरा द्रढयति स्वादन्तरस्मात्पटा

दाष्ट्रै कुशचीरतन्तुभिरभिऋद्धो मुनिर्भागव ॥ १९ ॥

( तत्र प्रविशति शरचापहस्ते क्रोधोद्धतो<sup>१</sup> जामदग्न्य । )

जामदग्न्य —( सखेदम् । ) अहह यथा ‘मृष्टभोजिना कृतान्तेन प्र-  
त्ययमितान्ते सायुगीना । वर्तमाने तु

एष स्वयेति एष भागव अभिऋद्ध सातिशयकुपित सन् (हरचापमन्त्रन  
कृद्धो नृत्वा) खेणा स्त्रीसम्बन्धिनो ये कपोला गण्डनेशान्तेषा कपोलाना या  
कुङ्कुमलिपय कारमीरप्रवलेखविनेपास्तेषा स्तेये चौय सम्भोगद्वारकापनयनेऽतिभीरौ  
साशङ्के स्त्रीसम्भोगसुखानभिज्ञे आशालम्हचारिणि भुजे चतुरन्तस्य चतुर्दधिवल  
वितस्य जगतो राजा विजयि पराभवकारि ज्यानादरौडम् धनुष्टङ्कारभीषणधनु  
विभ्राण धारयन्, अभिऋद्धो भागवो नाम मुनि स्वात् निजात् अन्तरम्मात्  
पटात् उत्तरीयवस्त्रात् कुशचीरतन्तुभि सूयमवलकलसूत्रे तूगौ एव पुनस्तरा  
भूयोऽपि द्रढयति दृढीकरोति । अयमतिशेषेण आत्मघ्नह्यचारी च परशुराम  
स्वहस्ते भाषण सकलराजन्यकविजयि च धनुधारयन् स्वोत्तरीयवल्कलसूत्राण्या  
कृष्य तै स्वतूगौ द्रढयति, एतेन तस्य युद्धोद्यत्त्व द्योतितम्, शार्दूलचिक्री  
डित वृत्तम् ॥ १९ ॥

मृष्टभोजिना स्वादुभोजनशीलेन । कृतान्तेन यमन । प्रत्ययसिता भुक्ता,  
सायुगीना युद्धरमिका, सर्वेऽपि राजानो यमेन भक्षिता ।

ब्रह्मचारी होनेसे श्रियोंके कपोल पर बलमान कुङ्कुमलिपिके स्तेयमें डरनेवाले अपने  
बाहु पर सागर पयन्त रात्मण्डलके विजयी धनुषको धारण करनेवाले तथा अति कुपित  
यह परशुराम अपने उत्तरीय वल्कके कुश चौरात्मक सूत्रों द्वारा अपने तूगीरोंको दृढ  
कर रहे हैं ॥ १९ ॥

( शरचापधारी कुपित परशुरामका प्रवेश )

जामदग्न्य —( खे<sup>२</sup>के साथ ) अहा, सभीको समाप्त कर देनेवाला यमराजने लहने  
वाले वीरोंको खाकिया,

- १ क्षत्रसैन्य । २ ‘अतिभोगे’, अतिरौद्रे ।  
३ ‘कृद्धोद्धत’ । ४ ‘निष्ट’ ।

शस्त्राशस्त्रिकथैव का नवभवद्वीर्वाणपाणिधमा

पन्थानो दिवि सकुचन्ति वसुधा वन्ध्या न सूते भटान् ।

लक्ष्मीरप्यरविन्दसौधवलभीनिर्व्यूहपर्याङ्किका

विश्रान्तेरलिभिर्न कुञ्जरघटागण्डोद्गतैर्मोदते ॥ २० ॥

( मधिमर्शाश्वर्यम् । )

शम्भुर्दगुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिक

शलाशस्त्रीति । शस्त्राशस्त्रि यद्युद्ध शस्त्रैश्च अस्त्रैश्च प्रवृत्त तद्युद्धम्, तस्य कथा वार्ता एव का कीदृशी, सम्प्रति युद्धस्य वार्ताऽपि जगति न विद्यते सर्वेषामपि राज्ञ्यकानां परशुरामेण हतत्वादित्यर्थं, नवभवन्तो युद्धे प्राणान् विमुच्य सद्यो जायमाना ये गीर्वाणा देवास्तेषा पाणिन्धमन्ति ये ते तथोक्ता ( युद्धहताना देवत्व प्राप्तानामसद्गुणतया स्वर्गोऽहमहमिकया सञ्चरता तेषां परस्परसङ्घर्षं पाणय पीडयन्ते इत्याशयेनेदं पथो विशेषणम् पन्थान स्वर्गमार्गां सङ्कुचन्ति अविस्वृता प्रतिभासन्ते, वन्ध्या जननसामर्थ्यशून्या वसुधा भटान् वीरान् न सूते न जनयति । लक्ष्मी जयश्रीरपि कुञ्जरघटानां साङ्ग्रामिकगनानां गण्डेभ्यः कपोलदेशेभ्य उद्गतैः निर्गतं अरविन्दमेव सौधवलभीं हर्म्यशिरोगृहम् सैव निर्व्यूहपर्याङ्किका हस्तिदन्तनिमित्तपर्यङ्कं तत्र विश्रान्तैः लब्धस्थानैः अलिभिः भ्रमरैः न भोदते न प्रीतिमासादयति, लक्ष्मीर्हि गजदानवारिलुब्धानां भ्रमराणां समूहो गजकपोलदेशा दुत्पत्य कमलानि यावन्नाश्रयतिस्मिन्, करिकपोलयोरेव दानलुब्धतया तिष्ठति स्म तावत् कमलकुलंबामिनी लक्ष्मीरानन्देन कमलेषु वसति स्म, सम्प्रति युद्धकथा समाप्तौ मात्प्रामिकराजानुपलब्ध्या सर्वेऽपि भ्रमरा करिकपोलमहाय कमलमेवाश्रिता इति लक्ष्म्या परितोपाभावे कारण बोध्यम् । 'निर्व्यूह शेखरे द्वारे निर्व्यूहो नागदन्तके' इति धरणि । 'पर्याङ्किका तु खट्वा स्यात्' इति मेदिनी । शादूल विक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

शम्भुरिति । शम्भु शिव अस्य धनुष गुणवल्लरीं मौर्वीलताम् आकृष्य कर्णां

अब लडाई की तो बात हो नहीं रही, नये नये देव बननेवाले लोगोंसे आवृत्त स्वर्गका मार्ग बन्द हो गया, पृथ्वी पर धीरोंके नाम होते हैं नहीं वह बन्ध्या हो रही है, लक्ष्मी भी अब गजघटाके कपोलस्थलवर्ती भ्रमरोंसे नहीं किन्तु कमल रूप भयनकी पर्याङ्किका पर विश्राम करनेवाले भ्रमरोंसे अपना दिल बहलाया करती है ॥ २० ॥

( विचार करके माध्य ) महान्व जिमकी प्रयत्नो आकृष्ट करके कानों तक ले

१ 'निर्व्यूह' । २ 'उत्कट' । ३ 'शरी' ।

अश्रयन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशा कर्णोत्पलप्रन्यय ।

स्व चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुचय तासामहो

भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भ्रममैश धनु ॥ २१ ॥

( सरोषविकट परिक्रमन । ) भो भो विदेहा , क रामो दाशरथि ।

यस्मिन्नर्जुनदो सहस्रमलकप्रोहच्छदच्छटा

न्तिक स्वश्रवणसामीप्यम् उपनयति प्रापयति, ( तावत् ) त्रिपुरावरोधसुदृशाम् त्रिपुरान्त पुरस्त्रीणाम् कर्णोत्पलमन्धिरन्धनानि अश्रयन्ति विगलन्ति ( शम्भुना यस्मिन्धनुषि कर्णान्तिकोपनीतमोर्वीके कृते सति त्रिपुरावरोधा भाविस्वामिबधा शङ्कयाऽलङ्कारभूत कर्णोत्पल शिथिलबन्धनता नयति ) शम्भु च स्व निव प्रकोष्ठकम् बाहुभागम् आस्फालयति ताडयति सति तासां त्रिपुरावरोधसुदृशाम् वलयानि कङ्कगा भिद्यन्ते च्युटगन्ति, पथपायस्य निश्चितत्वेन समाप्यन्ते, तद् ऐश धनु दाशरथिना रामेण भग्नम् त्रोटितम् । अयमाशय-रामस्तस्य शिषधनुषो भङ्ग कृतवान् यस्मिन्धनुषि ज्यामाधाय हरेण कर्णान्तिकमानीयमाने स्वस्वामिबिनाशसम्भावनायां त्रिपुरावरोधसुदृशी निवमलङ्कारभूत कर्णोत्पल शिथिल बन्धन कुर्वन्ते, विद्मन्ते तेन धनुषा करटने यदा शम्भु स्व प्रकोष्ठकमाकृशति तदा त्रिपुरावरोधसुदृशा वलयानि पतन्ति भाविपति निरहृददोर्गल्येन स्फुरन्ति, तमहदनुचित कृत तेनेति । अत्र यस्य कर्णातिक धनुषागच्छति तस्यैव कर्णोत्पल भ्रश, यस्य च प्रकोष्ठकास्फालन तस्यैव प्रलयभेद उच्चितस्तथाप्यत्र शिवस्य धनुषि तत्कर्णान्तिकमुपाच्छति त्रिपुरावरोधसुदृशाम् कर्णोत्पलभ्रशस्य, शिवप्रकोष्ठकास्फालने सति त्रिपुरावरोधसुदृशीवलयभेदस्य चोपनिबन्धनात् कार्यकारणयोर्भित्तदेशतयाऽऽसन्नतिर्नामालङ्कार, शार्दूलविक्राडित वृत्तम् ॥ २१ ॥

यस्मिन्निति । अर्जुनस्य तदारयया प्रसिद्धस्य दो सहस्रसहस्रसङ्ख्याका भुजास्त एव नलकानि प्रवाहास्तेभ्य प्रोद्गच्छती निस्सरती या अश्वच्छटा रथिरधारा

जाते हैं, जिसमें त्रिपुरामुक्ता स्त्रियोंके कर्णोत्पलाका अन्धियों सुन जाता है, और जब महादेव इन धनुषको तानकर अपने प्रकोष्ठको आकृष्ट करते हैं तब त्रिपुरामुक्ता स्त्रियोंके हस्तामरण दृष्टने लगते हैं, उसी धनुषको द ३२थके पुत्रने तोड़ दिया ॥ २१ ॥

( सरोष भ्रमण करने हुए ) भो भो विदेहगण, दाशरथ पुत्र राम क्यों है ?

महस्रार्जुनके महस्रभुनन्धमर्णोसे निवलयी हुई रथिर गारासे भीषण जिन वृठारमें

जिह्वाले जुह्वावभूविम रुषा राजन्यसत्तामपि ।

सोऽयं प्राक्कवलग्रहस्य विघसीभूतेऽपि क्षत्रिय-

क्षुद्रेषु क्षुधितश्चिरेण परशुस्तेनायमन्विष्यते ॥ २२ ॥

( तत प्रविशति 'सधैयप्रमोदो दा'रयी राम । )

राम —

साक शक्तिपरेण तत्रभवतो देवान्भवानीपते

यं सम्यञ्जमराप चापनिगम सम्यञ्चि सामानि च ।

शूराणा च तपस्विना च परमा <sup>३</sup>काष्ठामधिष्ठास्तुभि

स्तेजोभिर्भगवानसौ भृगुपतिर्दिष्टथाऽद्य दर्शियते ॥ २३ ॥

तथा जिह्वाले रसनाशालिनि यस्मिन् निजपरशौ रषा कोपेन राजन्यसत्ताम्  
सकलक्षत्रियास्तित्व जुह्वावभूविम हुतवतो वयमिति शेष । कार्तवीयार्जुन  
भुवभारनलकनिर्यन्त्रुधिरधाराप्रकटितरसने यस्मिन् परशौ वय सकलक्षत्रकुल  
हुतवन्त इत्यर्थक परशुपराक्रमयोधकमेक वाक्यम् । सोऽय परशु प्राक्कवल  
ग्रहस्य पूर्वं कवलीङ्गनस्य विघसीभूतेषु भुक्ताशिशोचिद्विष्टरूपेषु अपि क्षत्रियक्षुद्रेषु  
राजन्यापसदेषु चिरेण क्षुधित बहो कालाद् बुभुक्षित विद्यते, तेन मम परशु  
नाऽय हरधनुर्भङ्गसाहसी रामोऽन्विष्यते मृष्यते । येन परशुना पूर्वं सर्वे रात्रानो  
हता स एवाय मम परशु निहतावशेषान् क्षत्रियाक्षिपासुर्भूत्वा सम्प्रति हरचाप  
भङ्गक राममन्विष्यतीति भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २२ ॥

साकमिति । य परशुराम शक्तिधरेण कुमारकाञ्चिःश्रेयैः साक सह तत्र भवत  
पूतनीयात् देवात् भवानीपते सिवात् सम्यञ्च साधुरूपम् चापनिगम धनुर्वेद  
सम्यञ्चि साधुस्वरूपाणि सामानि सामवेदशाखाश्च अवाप अधीतवान् शूराणाम्  
तपस्विनाश्च परमा काष्ठाम् चरमा कोटिम् अधिष्ठास्तुभि आश्रितवद्भि तेजोभि  
प्रभावं ( उपलक्षित ) असौ भगवान् सर्वसामर्थ्यायुक्त भृगुपति अद्य सम्प्रति

मैंने सबल क्षत्रियकुलकी सत्ताका होम कर दिया, वहा यह मेरा कुठार आज पूर्वमक्षितसे  
शेष क्षुद्र क्षत्रियों पर कुभित हो उठा है और वह रामको हूँ कर रहा है ॥ २२ ॥

( धैर्यं तथा आनन्दते युक्त रामका प्रवेश )

कार्तिकेयके साथ जिन्दोंने शिवजीके चरणोंमें चापविद्या तथा सामवेदका यथावत्  
अध्ययन किया, पराकाष्ठाकी पहुँचनेवाले अपने प्रतापसे वीरों तथा तपस्वियोंके अग्रगण्य  
वही परशुराम सौभाग्यवश हमारे सामने होंगे ॥ २३ ॥

जामदग्न्य — ( नग्रेदोपालम्भमात्मान प्रति । )

भस्माङ्कुरेति खुरलीफलहे कुमार

मप्याक्षिपन्परुपररोपरसान्धचेता ।

दृष्टोऽस्मि य कृतमिथोहसित शिवाभ्या

तच्चापभङ्गमपि हा सघृण शृणोमि ॥ २४ ॥

( 'विश्वस्य च । ) अहो मामरण्यनिवासिनमुपश्रुत्य दुरात्मना रघु-  
कुटुम्बकेन दूरमुच्छ्वसितम् । ( विविदुश्चै । )

द्विष्टा मसोभागेन दर्शितयत् साक्षात् करिष्यते । यो भगवान् परशुराम शिवेन  
सुतनिर्विरोध धनुर्वेदे मामवेद च शिक्षित, यश्च त्रीरतपस्विप्रभावेण परा  
प्रतिष्ठा प्राप्तस्तमधुना प्रत्यक्षीकरिष्यामीत्यहो मम सोभाग्यमिति भाव । 'शक्ति  
धर कुमार क्रौञ्चदारण' इत्यमर । शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥ २३ ॥

भस्माङ्कुरेति । परुपरु कटोरो यो रोपरस कोपस्तेन अन्ध विचारशून्य चेतो  
यस्य तथोक्त य अहम् खुरलीफलहे धनुर्वेदाभ्यासपाठवस्पर्धाविवाद कुमारम्  
कात्तिकेयम् अपि भस्माङ्कुर नष्टतापसपुत्र इत्याक्षिपन् निन्दावाक्येन भस्मयन्  
शिवाभ्याम् हरपार्वतीभ्याम् कृतमिथोहसितम् अन्योन्यस्मितपूर्वकम् दृष्ट, सोऽहम्  
शिवयो मुक्तापेक्षयाऽप्यधिप्रीतिभाजन भूत्वाऽपि सघृण स्वकृतस्यभावनाविरहित  
सन् तच्चापभङ्गम् हरचापखण्डनकथाम् शृणोमि, नेतमम योग्यमिति भाव ।  
'अभ्यास खुरली योग्या' इति हारावली ॥ वसन्ततिलकवृत्तम् ॥ २४ ॥

माम् परशुरामम् । अरण्यवासिनम् वने वसन्त तपस्यासमाप्तम् । उपश्रुत्य  
आकर्ष्य । रघुकुटुम्बकेन रघुकुलोत्पन्नेन राजसमूहेन । दूरम् अत्यधम् । उच्छ्वसितम्  
साहस कृतम् । मदीयारण्यवास श्रुत्वा रघुकुल नितरा साहसिन्य घृतवदित्यर्थ ॥

जामदग्न्य—( रोद तथा उलाहनेके साथ स्वगत ) शशाभ्यास-कलहकालमें जब मैं  
कुमारको 'भस्माङ्कुर' बहकर ललकारता था और क्रोधसे हमारा हृदय अन्धा हो उठता  
था, तब मुझे शिव पादनी परस्पर हासपूर्वक देखती थीं, वही मैं आज निदयभावसे  
उनके चापके टूटनेकी बात सुन रहा हूँ ॥ २४ ॥

( विमर्श करके ) हाय, मुझे वनवानी समझकर दुरात्मा दशरथपरिवारने बहुत

१ ( 'विश्वस्य । ) अहो नु खलु मामरण्यवासिनम् ।

रे काकुत्स्था कथं च श्रुतिविषयमय नागमद्भागवीयो  
दु सामन्तापचारप्रचितपितृवधामर्पनिस्तारयन्धु ।

वारानासन्नविशान्विशमितविषमक्षत्रजातिप्ररोह

क्रोधादुत्कृत्तगर्भामिपत्तधिरवसाविस्त्रगन्धि कुठार ॥ २५ ॥

राम — ( दृष्ट्वा सहर्षबहुमानम् । )

जेतार दशकन्धरस्य रभसाहो श्रेणिनि श्रेणिका-

तुल्यारूढसमस्तलोकविजयश्रीपूर्यमाणोरसम् ।

रे काकुत्स्था इति । रे काकुत्स्था ककुत्स्थकुलोत्पन्ना क्षत्रिया, दुःसामन्तानां दुष्टक्षत्रियाणाम् अपचारेण अत्याचारेण प्रचित कृतो यः पितृवधः मदीयपितृहत्या, तेन यः अमर्षः शत्रुत्वनिर्घातनेच्छा तस्य निस्तारे पूर्तो यः पृथुः सहायभूतः, आसन्नविशान् वारान् एकविंशतिवारान् प्रिशमितं निहतं विषमक्षत्रजातिप्ररोहं दुष्टराजन्यकुलाङ्कुरो येन स तथोक्तः, क्रोधात् उत्कृत्ता खण्डिता ये ( क्षत्रियस्त्रीणाम् ) गर्भाः तेषां यत् आमिषम् मामम् रधिर शोणितम् वसा मेदा च तं विस्त्रगन्धि आमगन्धि भार्गवीय परशुरामसन्धी कुठार कथं च पुष्पाकम् श्रुतिविषयं न अगमत् न श्रुतं । यो मम कुठारं दुष्टराजभिरत्याचारेण मम पितरि निहते जातेन कोपेन पञ्चविंशतिवारान् क्षत्रजानिप्ररोहान्दुनात्, यश्च तावताऽप्यशान्तकोपः क्षत्रियस्त्रीणां गभानपि चिद्धत्वा तदीयमासासृङ्गमेदोभिरामगन्धितामभजत् तदीयं नाम किं यूयं न श्रुतवन्तो येनेतावत् हरचापमङ्गलन्याह्निक्य प्रकाशितमन्तं हनि भावः । 'विस्त्रस्यादामगन्धि यत्' इत्यमरः । पूर्वं सहस्राङ्गुनेन जमदग्निर्हन्, तदन्तरं पितृवधामर्षान्परशुरामेण क्षत्रिया हता इति कथाऽत्र पृष्टभूमिः । सन्धेरात्रुत्तम् ॥ २५ ॥

जेतारमिति । यः भार्गवः दशकन्धरस्य दशप्रीवस्य रावणस्य जेतारम् परिभवि-  
तारम्, तथा द्वौ श्रेणिः सहस्रसत्रयकभुजपरम्परा एव निःश्रेणिना अधिरोहणी  
तत्र तुल्यारूढा एककालमारूढा या समस्तलोकविजयश्री सकलभुवनत्रयलक्ष्मी

साहस्रकरलिये ( कुच्छ लच्छ स्वरसे ) अरे ककुत्स्थवशके लोगो, दुष्टक्षत्रियोंके अपचारेसे उत्पन्न पितृवधजन्य कोपसे मुक्ति दिलानेवाले स्वकीसवार क्षत्रियजातिके अङ्कुरोंको खण्डित करनेवाले, तथा क्रोधमे खण्डित क्षत्रियगणके रधिर मांस वसादिसे सम्पक्ते आमगन्धि इस भागवकुठारके सम्बन्धमें तुम लोगोंने कुच्छ नहीं सुना है ॥ २५ ॥

राम—( देखकर हर्ष तथा आदरसे ) रावणको जीतनेवाले तथा भुजमण्डलरूप पर्यङ्गपर एक साथ समस्त विश्वविजय लक्ष्मियोंको बैठकर हृदयमें धारण करनेवाले,

य सख्ये निजघान हैहयपति शत्रोर्मुख दृष्ट्वा

न्य पृष्ठ ददतोऽपि पण्मुखजये सोऽय कृती भार्गव ॥२६॥

(क्षण च निर्वर्ण्य सस्मितम् । ) अहो सकीर्यमाणानेकरसानुभात्रगम्भीर-  
मधुरोऽयमस्याभोग ! तथाहि ।

जटा धत्ते मूर्धा परशुधनुषी बाहुशिखर

प्रकोष्ठा रौद्राक्षं वलयमिपुदण्डानपि कर ।

प्ररुढप्रौढास्त्रत्रणविकटरौद्राद्भुतमिद

स्तया पूर्वमाणम् मृतसनाथमुरो बन्धो देशो यस्य तथाभूतम्, हैहयपति कार्त-  
वीयार्जुन सरये युद्धे निजघान हतवान्, यश्च पण्मुखजये कार्तिकेयपराजयकाले  
पृष्ठ ददत पराङ्मुखीभूतस्य पलायमानस्यापि शत्रो पण्मुखस्य मुख दृष्टवान्  
पण्मुखस्य पृष्ठदेशेऽपि मुखशालितया बदन साक्षात्कृतवान्, सोय कृती रणकुशलो  
भागव अस्तीति शेष । अयमर्थ—य कार्तवीर्यो रात्रमपि जिगाय, यस्य  
भुक्तममुदायरूपनि श्रेणिकाद्वाराऽऽरुढा सखलभुवनत्रलक्ष्मीबन्धोदेशमप्रितिष्ठनि  
स्म, तमपि जितचारतथा पण्मुखमपि युद्धे विजित कृत्वा तदीय पृष्ठस्थ मुग्  
साक्षात्कृतवानय भगवापरशुराम इति । 'नि श्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमर । शाकूल  
विनीडित वृत्तम् ॥ २६ ॥

मङ्गीयमाणेति । सङ्कीर्यमाणा एकत्राश्रये मिलिता ये अनेके रसा वीरशान्त्या  
दय, तोषामनुभावेन सख्यध्रमभावेण गम्भीर दुरवगाह मरु रमणीय । अस्य  
परशुरामस्य । आभाग शरीरावयवविस्तार । परशुरामशरीरस्यानत्ररमसामग्री  
पूर्णत्वमुक्त, तदेवोपपादयिष्यति 'जटा धत्ते' इत्यादिना वच्यमाणश्लोकेन ॥

जटा धत्त इति (अस्य भार्गवस्य) मूर्धा शिरोदेश जटा धत्ते धारयति,  
बाहुशिखरम् भुजाग्रदेश परशुधनुषी कुठार धनुश्च धत्ते, प्रकोष्ठ हस्तभाग रौद्राक्ष  
वलय रूद्राक्षमालाम्, कर हस्तश्च इपुदण्डान् शरान् यत्ते, प्ररुढन जातेन  
प्रौढेन महता अस्त्रत्रणेन अस्त्रक्षतेन विकट भोगेण रौद्राद्भुतम् रात्ररसेन विस्मय

वात्तवीर्याजुनको जिह्वोने युद्धमें निहत किया, और जिह्वोने युद्धसे गागत हुए कार्तिकेय  
का मुख देखा, यद्यपि वह पाठ दिखला रहे थे, वही है यह कुशङ्करा भागव ॥ २६ ॥

(सोडी देर देखकर सहाम) अहो इनके आकारमें अनेक रसोंका सम्मिश्रण है  
जिससे यह प्रभावशाली तथा रमणीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि—

इनके सिर पर जटा है और बाहुमें कुठार तथा धनुष हैं, प्रकोष्ठमें रूद्राक्ष है और



प्रशान्तामैणेशीं त्वच्चमपि च वक्ष कलयति ॥ २७ ॥

( इत्युपसर्पति । )

जामदग्न्य — ( विलोम्ब । ) 'कथमयमसौ' श्रूयमाणगुणानुकल्पिता कारसवादी दाशरथि । साधु रे राजन्यपोत, साधु ।

सखिवमुपसरन्समूलकाप कपितनृपान्वयमद्य मा धिनोपि ।

हरिमिव करिकुम्भकूटकोटिप्रकटकठोरनखाङ्कुरं कुरङ्ग ॥ २८ ॥

जनक च वक्ष उर चापि प्रशान्ता सौम्याम् ऐणेशीम् मृगामम्बधिनीम् त्वच्च वृत्ति कलयति धारयति । जटया शान्ति, परशुधनुभ्यां वीरता, रुद्राक्षवलयेन शान्ति, इपुदण्डे पुनर्बारभाव, उरसि स्थितैरखच्चतचिह्नवीरता रौद्रता अद्भुतता च, पुनरेणेत्येवचि शान्तिरित्यस्य वपुरनेकरससामग्रीसवलिततयाऽद्भुतमिति भाव । शिवरिणीवृत्तम् ॥ २७ ॥

श्रूयमाणानुकल्पिताकारसवादी श्रूयमाणो ह्येकं कथितो मया श्रुतश्च अनु कल्पितस्तेन मनमि स्थिरीकृतो य आकारस्तत्सवादी तदनुहारी । दाशरथि राम । राजन्यपोत क्षत्रियशिशो ।

सखिवमुपसरन्निनि सखिवमुपसरन् मदन्तिकमागच्छन् त्वम् समूलकापम् आमूलचूलम् कपितनृपान्वयम् निहतराजकुलम् साम् परशुरामम् अद्य अधुना कुरङ्गो मृग करिणा गजाना ये कुम्भा मस्तकदेशास्तेषा कूटानि शिखराणि तेषा कोटी तत्सङ्घायाम् प्रकट प्रसिद्ध कठोर तीक्ष्णो नखाङ्कुरो नखाग्रभागो यस्य तथाविध हरिं सिंहमिव धिनोपि प्रीणयसि । यथा करिकुम्भकूटकोटिपाटन विदधत सिंहस्य तृसये समीपमुपसरन् कुरङ्गो जायते तथैव समूलकपितचक्रकुलस्य मम

दाध मे वलय तथा बाण विद्यमान है, वक्ष स्थल पर अख द्रगक विह्वोकी रौद्रता स्थित है और शान्तिव्यञ्जक मृगचम मा है ॥ २७ ॥

( समीप जाते हैं )

जामदग्न्य—( देखकर ) क्या यह बड़ी दशरथपुत्र है जिसके सुने गये गुण आकारसे मिल जुल रहे हैं, साधु रे क्षत्रियकुमार, साधु,

समूल क्षत्रिय वंशके सहार करनेवाले परशुरामके पास जाता हुआ तुम उसे उसी तरह आनन्दित कर रहा है जैसे गजकुम्भ-समुदाय पर नख कोटिको प्रकट बरनेवाले सिंहके पास जाता हुआ हरिण उसे आनन्दित करता है ॥ २८ ॥

राम — ( सस्मितम् । ) भगवन्भार्गव, 'गुरुगर्भरूपयोरेताऽदेवान्तरम् ।  
किं च' ।

आदेष्टा भगवान्भृगुर्जननयोरौत्पत्तिकब्राह्मणो  
देवो धूर्जटिरस्त्रकर्मणि गुरुवीर्यं च दूरेगिराम् ।  
सप्तद्वीपवतीं ददद्भुवमभिप्रैषि द्विजान्कश्यप  
प्रायान्प्रतिमानुभाव भवते कस्मैचिदस्मै नम ॥ २९ ॥

समीपमुपमरस्व मा प्रीणयसीत्युपमया यथासौ कुरङ्गो हरिणा तेनानानाय व्यापाद्यते  
तथैव त्वमपि मया व्यापादयिष्यसे इति वस्तुनो ध्वनि । पुपिताप्रावृत्तम् ॥ २८ ॥

गुरु महान्, गर्भरूप अतिबुद्धो बालक, तयोरेतावदेव अन्तर भेद, यथा  
कुरङ्गसिंहयोरन्तर तथैव मम भवतश्च तच्चदुक्त सत्यमेवेति भाव ॥

आदेष्टेति अप्रतिमानुभाव हे अनुपमप्रभाव, भगवान् भृगु औत्पत्तिकब्राह्मणो-  
मानुक्चिजन्मसावित्रजन्मनो जननयो आदेष्टा उपदेशक जन्मदातोपनेता च,  
देव धूर्जटि शिष्य अस्त्रकर्मणि धनुर्वेदशिष्यायाम् आचार्य शिष्य, वीर्यं पराक्रमश्च  
गिरा दूरे अवर्णनीयम् इत्यर्थः । सप्तद्वीपवतीम् सप्तद्वीपशालिनीम् भुव पृथिवीं  
ददत् कर्यप्रायान् कर्यपादीन् द्विजान् ब्राह्मणान् अभिप्रैषि स्वदानक्रियाकर्मणा  
सप्तद्वीपया वसुमत्या योजयितुमिच्छसि कर्यपादिभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरा वितरन्ती-  
त्यर्थः, कस्मैचित् अचिन्त्यसर्वगुणाय अस्मै भगवते परशुरामाय नम । औत्पत्तिक  
ब्राह्मजन्मनोर्भृगुरादेष्टेति कथनेन वीजशुद्धिं सस्कारशुद्धिश्चोक्ता, किञ्च धूर्जटिरश्वोप-  
देष्टेन्यनेन सम्प्रदायशुद्धिरुच्यते, वीर्यं गिरा दूरे इत्यनेन च पात्रशुद्धिकृत उत्कृष्ट  
प्रकाशयते, कर्यपादिभ्यो धरादानेन सत्त्वशुद्धिश्चेति सर्वशुद्धिनिधये भवते प्रगता  
स्मेति भावः । 'जम्बुप्लक्षकुशक्रीडशकशाकशाल्मलिपुष्करा । द्वीपा सप्तेति' । शाकूल-  
विक्रीडित वृत्तम् ॥ २९ ॥

राम—भगवन्, गुरुओं तथा बालकमें इतना ही अन्तर होता है ।

आपको औत्पत्तिक तथा सांस्कारिक जन्म भगवान् भृगुने दिया, अस्त्रकी शिक्षा  
महादेवने दी, आपके पराक्रमका वणन अशक्य है, सप्तसमुद्रवेष्टिना पृथ्वीको देते हुए  
आप सभी ब्राह्मणोंको नश्यपके समान समक्षते हैं, आपका प्रभाव अतुल्य है, आपको  
नमस्कार है ॥ २९ ॥

१ 'गुरुगमयो' 'गुरुभगयो' । २ 'तु' । ३ 'अप्रतिमप्रभाव' ।

इमा च क्षत्राणा भुजवनमहादुर्गविषमा

मय वीरो वारानजयदुर्गविशान्वसुमतीम् ॥ ३२ ॥

राम—शान्त शान्तम् । 'प्रसीद भगवन्, अविमृश्यकारितया न गणितोऽमि । न पुनरखलेपात् ।

स्त्रीषु प्रवीरजननी जननी तवैव

देवी म्वय भगवती गिरिजापि यस्थे ।

त्वद्दोर्वशीरुतविशाम्मुखावलोक

द्रीडाविदीर्णहृदया स्पृहयांभव ॥ ३३ ॥

जन्म रक्षा यस्य तथोक्तश्च समभयत् सज्जात । अय महल्लक्षणो वीरश्च उपविशान् वारान् पञ्चविंशतिधा क्षत्राणा क्षत्रियाणा भुजवनानि एव महादुर्गाणि तै विषमाम् दारुणाम् वसुमतीं पृथ्वीम् अजयत् जितवान् । मया सह युध्यमानो महासेन पलाय्य प्रागानरक्षीत्, निन्द्यात् क्षत्रियभुजवनरूपदुर्गशालिनीमिमा पृथ्वीमेव विशतिवारानलैषम, तदीदृशोऽप्यह त्वया न गणित इत्यहो तव साहसिक्यम् इत्याशय । 'कात्तिकेयो महासेन शरजमा पडानन' इत्यमर ॥ ३२ ॥

प्रसीद क्षमस्व । अविमृश्यकारितया अविवेकितया । न पुनरखलेपात् गर्वात् न केवल समाविवेकित्वमव तवागणनाया कारण न पुनर्मम दुर्ष, मयि तस्या भावादिति भाव ॥

स्त्रीषु प्रवीरति । स्त्रीषु स्त्रीणा मध्ये तवव जननी माता रेणुका प्रवीरजननी प्रकृष्टवीरप्रसविनी, स्वय भगवती गिरिजा पार्वती अपि तव द्रोण्या भुजेन त्वदीय बाहुबलेन वशीकृतस्य निर्जितस्य विशालस्य कार्तिकेयस्य मुखावलोकनेन वदन दर्शनेन या व्रीडा लज्जा तथा विदीर्णहृदया दु गितहृदया यस्यै तव जनन्ये स्पृह

कार्तिकेयने अपनेको दो बार शरजमा समझा, उस वीर परशुरामने क्षत्रियोंके भुजवन विषमा इस पृथ्वीको इक्कीस बार जीता ॥ ३२ ॥

राम—शान्त शान्त ! कृपा कीजिये महाराज, अविचारके कारण ही आपको नष्ट गिना, सबसे नहीं गिना यह बात नहीं है ।

क्षियोंमें वीरजननी आपको ही माता है, आपके द्वारा परानित कार्तिकेय के मुखको देखकर लज्जासे विदीर्णहृदया होकर स्वयं देवी पावतीने आपकी माताके प्रति अपनी स्पृहा प्रकट की थी ॥ ३३ ॥

जामदग्न्य —( विदस्य । ) रे राजन्यपोत,

अनुभवपुनरुक्ता मुञ्च न स्तोत्रचर्या-

मुपनमय तदेतत्कौशिकोपज्ञमह्यम् ।

क्षिपति न खलु काल वीरगोष्ठीविनोद्

प्रियपरशुरय मे यादुर्यच्छमान ॥ ३४ ॥

राम —( स्वगतम् । ) अरे, भगवन्त विश्वामित्रमपि स्पृशति । भव  
त्वेव तावत् । ( प्रकाशम् । सधैर्यस्मितम् । )

याम्भूव स्पृहाञ्कार । धया भार्गवचरणी यस्या पुत्रो ममापि पुत्रमजयत्,  
इति मनसि विभावयन्ती स्वापेक्षया वा गरीयसी मनुतेऽस्म भगवती गिरिजा,  
तादृशी तव जननी धन्येति भाव । 'विशाल शिखिमाहन' इत्यमर । चमन्त  
गिरिक वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अनुभवेति । अनुभवपुनरुक्ता प्रयत्नसिद्धाम् न अस्माक स्तोत्रचर्याम् मुञ्च  
स्तुतिवार्त्ता परित्यज । तदेतत् कौशिकोपज्ञम् विश्वामित्ररिचितम् अह्यम् उप  
नमय उपनमय उद्यच्छ, वीरगोष्ठी शरजनसभा सत्राम तत्र विनोदप्रिय तद्रसिक  
परशु कुठारो यत्र तादृश उद्यच्छमान युद्धोद्योगे सम वाहु काल समय न  
खलु क्षिपति नैव प्रतीचते, मदीय समस्तमपि वीरत्वमनुभवप्रमापितमित्यल  
तत्स्तुत्या पकृतया, युद्धाय सज्जो भव विश्वामित्रदितीर्णं च स्वपञ्चमुपनमय,  
युद्धरसिको ममाय कुठारो मदीये वाहौ स्थितस्त युद्धाय प्रेरयति, तदती समय  
प्रतीक्षानर्ह इति भाव । कौशिक उपज्ञा आद्योपनेष्टा यस्य तत्कौशिकोपज्ञम्  
'उपज्ञा ज्ञानमाद्य स्यादिति कोप । मालिनीवृत्तम्, 'जनममययुक्तेय मालिनी  
भोगिलोकै' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

विश्वामित्रमपि स्पृशति निन्दयति शेष, मदीयनिन्दाद्वारा मद्गुरुमपि  
निन्दतीत्यर्थ ।

जामदग्न्य—( हसकर ) अरे क्षत्रियकुमार, अनुभवों द्वारा सत्यापित हमारी  
प्रशंसाकी बात छोड़ दो, तुमने कौशिकसे जिस अस्वकी शिक्षा प्राप्त की है उसे प्रकटकर,  
यह प्रियपरशु तथा फटकता हुआ हमारा बाहु हम वीरगोष्ठी विनोदको नहीं पसन्द  
करता है ॥ ३४ ॥

राम—( स्वगत ) अरे, यह तो भगवान् विश्वामित्रको भी समेटे जा रहा है रहे तब

१ 'रे राजन्यपोत' इति कचिन्नोपलभ्यते ।

भूमात्र क्रियदेतदर्णत्रयम्' तत्साधित ह्यार्यते

यद्वीरेण भवाद्देशेन चद्रति त्रि सप्तकृत्वो जय ।

१डिम्भोऽय नत्रवाहुरोदृशमिद घोर च वीरवन्नं

३तत्क्रोपाद्विरम प्रसीद भगवन्नात्येव पूज्योऽसि न ॥३५॥

जामदग्न्य — ( उज्ज्वलम् स्वगतम् । ) अहो दुरात्मनोऽस्य राज्ञ्य  
पोतस्य ४वीरप्रहताया पद्धतेरस्वलितमुक्तिरैदग्ध्यम् । ( प्रकाशम् । ) आ  
पाप, जात्यैव केवलया ५पूज्यते परशुराम । कथमद्यापि निरायुधोऽसि ।

भूमात्रमिति । एतत् भूमात्र क्रियत् अल्पमिदं भूमण्डलम्, तदपि अर्णदमय  
सागरव्याप्त साधितम् त्रित सत् भवाद्देशेन वीरेण ह्यार्यते पुन परवत् नीयते यत्  
भवता जितस्य सागरव्याप्तस्य भूमण्डलस्य परेर्हरान् त्रि सप्तकृत्व एकविंशति  
वारान् क्रियमाणो त्रिचय चद्रति कथयति, एवञ्च नितस्य पुनर्न्यायोगात् पुन  
पुनज्योद्योग नितयाभुन परेर्हरण प्रमापयति, तथा सत्येव पुनर्नयोद्योगसम्भवात् ।  
अयन् डिम्भ बाल अहम् नत्रवाहु नत्रप्राप्तभुन कोमलवाहु, इदञ्च वीरवत्तम्  
युद्धम् ईदृश घोरम् भीषणम्, तत् तस्माद् हे भगवन् जामदग्न्य प्रसीद प्रमाद  
भञ्ज, कोपाद्विरम निवृत्तो भव, जात्या एव न अस्माक पूज्य असि प्राज्ञ्यादेव  
वय तत्र पूजापरा अनोऽन्मस्मात् कोपयोगे भाव । अत्र नवोद्यनभुनेन बालकेन  
मया यदि तव पराजयो जायत तदाऽस्तीवापमान स्यादिति कोप निवृत्तायेति भाव ।  
शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३५ ॥

दुरात्मन दुष्टस्य । वीरपोतस्य वीरबालकस्य । वीरप्रहताया वीरजनपरि  
शीलिताया । पद्धते मागात् । अस्वलितम् अच्युतम् । उक्तिप्रयुक्तिरैदग्ध्यम्

नक् [ प्रकट ] ( धयसे मुक्कुराते हुए ) समुद्रवेदित इत पृथ्वानो पात वरके आरने  
दानमें दे गिया, यह जीन सा बड़ी वान है, आपन तो पृथ्वानो इक्कीम बार जीता हैं ।  
न नत्रवाहुशात् बालक हू और यह बोरजन बडा भयङ्कर है, क्रोध छोटिये, आप मेरे  
लिये जामत आदरणाव हैं ॥ ३५ ॥

जामदग्न्य — ( क्रोधसे कौपते हुए स्वगत ) अहो, यह दुरात्मा क्षत्रियकुमार वीर  
नभुण्णपद्धतिस विना हटे कैसा नचुरासते बनें कर रहा है, ( प्रकट ) आ पाप क्या  
परशुराम केवल जातिसे पूज्य है ? क्यों अब तू तुमने अस्त्रग्रहण नहीं किया ?

१ 'मितम्' । २ 'अहम्' । ३ 'क्रोधात्' ।

४ 'महावीर' । ५ 'प्रकाश सरोधम्' । ६ 'पूजनीय' ।

विनयनिचुलितैर्भवद्ब्रह्मोमि किमपि नवं विवृणद्भिरङ्कमन्त ।  
अयमजनि कर कृतान्तदृष्टाकृचकठोरकुठारदुर्निरीक्ष्य ॥ ३६ ॥

( तन्नेध । ) अहो नु खलु भो ,

त्रैलोक्यत्राणशोण्ड 'सरसिजवसतेर्य' प्रसूतो भुजाभ्या

। स क्षत्रं नाम वर्णं कुलिशकठिनयोर्यस्य दोष्णोर्विलीन ।

ज्वालाजिह्वालकालानलकचलभयभ्रान्तदेवासुराणि

व्यातन्यानो जगन्ति ज्वलति मुनिरय पार्वतीधर्मपुत्र ॥ ३७ ॥

कथोपकथनचतुर्थम् । निरायुध अष्टाक्ष । पुन पुनरागृहीतोऽपि किमपि सम्प्र  
त्यपि युद्धोद्यतो न भवतीति भाव ॥

विनयेति । विनयनिचुलितैः शिष्टाचारविहितैः किमपि रहस्यम् अन्त मनसि  
स्थितम् नयम् अहम् पापमलङ्कम् विवृणद्भिः व्यनयद्भिः उपरि विनीतत्वेऽपि  
मांमि स्थित कौटिल्य प्रकटीकृतं 'साप्रित हायेते' इत्यादिपूर्वोक्तैः अय  
नम कर कृतान्तस्य यमस्य दृष्टा कृता एव कश्च तद्वत् कठोरेण परशुना दुर्नि  
रीक्ष्य दुर्गं जननि कृत । कुलिशकठिनवचन प्रेरितो ममाय करो युद्धोद्यम  
श्रपित इत्यर्थः । पुष्पिताम्रावृत्तम् ॥ ३७ ॥

त्रैलोक्येति । य सरसिजवसते कमलजमनेर्ब्रह्मण भुजाभ्यां प्रसूत जन्मा-  
ग्रहीत्, 'बाहू रानन्द्य कृत' इति श्रुत्या क्षत्रियजातेर्बाहुजव प्रमाणितम्, स  
तादृशं त्रैलोक्यत्राणशोण्ड लोकत्रयराजसमतादृशं क्षत्र नाम वर्णं क्षत्रियजाति  
यस्य मम दोष्णो भुजयोर्विलीनं समाप्ति गत, अयं स मुनि पार्वतीधर्मपुत्र  
पार्वत्या पुत्रवदनुगृहीत जगति सबान् लोकान् ज्वालाभिः शिवाभिः जिह्वालि  
वान् य कालानल प्रत्याग्नि तस्य कचलात्प्राप्तात् भयेन भ्रान्ता मूढभाव गमिता  
देवा असुराश्च येषु तानि तथाकानि व्यातन्यान कुर्वन् ज्वलति दीप्यते । ब्राह्मणो

विनयने बाधुन तथा नीचरमे पाव भर गुहारे इव वचनोत्तरं परितः शोकर यह हमारो  
यमराजना दशके समान कठोर कुठारसे दुर्निरीक्ष्य हो रहा हू ॥ ३६ ॥

( जोरोंसे ) अहो, अरे भो दुष्टो,

त्रैलोक्यकी रक्षाभ दक्ष तथा ब्रह्मके बाहुओंसे उत्पन्न जो क्षत्रिय जाति मेरे विन  
कुलिश कठोर व दुर्गोंमें बिलान हो गयी, वही ज्वाला भीषण प्रत्यागनलके भयसे देवामुर्खों  
को ब्रह्म बनानेवाला तथा नीचरमीना धर्मपुत्र मैं परशुनाम कीमसे प्रज्वलित हो रहा हू ॥ ३७ ॥

( नेपथ्ये । )

भगवन्भार्गव,

अप्रवृत्तिविषयं वितन्वत क्षत्रशब्दमियमेव मेदिनी ।

दक्षिणा तव बभूव यज्वनो मुञ्च सप्रति तु शुष्कमायुधम् ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य —अरे प्रशान्तगम्भीर क एष । तर्हि जनकेन भवितव्यम् । ( तदभिमुखमवलोक्य । ) राजर्षे सीरध्वज, भगवत'सूर्यशिष्यात्पुराणवाजसनेयिनो याज्ञवल्क्यग्राधीतब्रह्मसिद्धान्तो गृहीतवाक्य' एवामि । किं तु नायमवमर शिष्टानुरोधस्य ।

हस्ताभ्या गृहीतजन्मा त्रैलोक्यरक्षादृत्तश्च क्षत्रियवर्णो यस्य बाहुभ्या समापित, ज्वालाजालजटिलकालानलभ्रमवशाद्यतो देवा, असुराश्च विभ्यति, तादृशोऽहं मुनिस्तदल कट्टक्तिभिर्ननु सज्जो भव युद्धावेति भाव । स्वधरातृत्तम् ॥ ३७ ॥

अप्रवृत्तिविषयमिति । क्षत्रशब्दम् क्षत्रियेति सज्जाम् अप्रवृत्तिविषयम् प्रवृत्तिविषयं शयम् क्षत्रशब्दशब्दतावच्छेदकक्षत्रत्वरूपजातिविरहितम् अप्रमिद्धवाच्यम् वितन्वत कुर्वत सर्वानेव क्षत्रियान्विपाद्य क्षत्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्त क्षत्रियत्व लुप्तत तव यज्वन कृतयज्ञस्य इयमेव मेदिनी ग्राह्यगाय देया बभूव जाता, सग्ननि तु शुष्कम् नीरसमप्रयोजनञ्च आयुध शस्त्र मुञ्च । तव प्रतिपत्तिविरहादायुधग्रहण नितान्तविफलमित्यल तद्ग्रहणेनेति भाव । रथोद्धतातृत्तम्, 'राजर्षेर्नरलगोरथो ददा' इति तत्त्वज्ञगाव् ॥ ३८ ॥

पुराणवाजसनेयिन पुरातनयज्ञवल्क्यविद्याविद् । अधीतब्रह्मसिद्धान्त अधिगत ब्रह्मविद्य, गृहीतवाक्य मान्यपचन । पुरा तव वाक्य मया, मन्यतेस्मैव, किं तु नाय

( नेपथ्ये )

भगवन् भगव,

आपने इम पृथिवीपरसे क्षत्रिय जातिके प्रवृत्ति निमित्त क्षत्रियत्वको उठा दिया, नीर उम यज्ञकी दक्षिणार्थे यह पृथिवी हो प्राप्त हुई, अब आप इस शुष्क आयुधका त्याग कर दें ॥ ३८ ॥

जामदग्न्य —अरे, यह प्रशान्त गम्भीर बौन है, तो यह जनक हो सकता है ? ( धर देकर ) राजर्षे सीरध्वज, आपने सूयके शिष्य पुराणवाजसनेयी याज्ञवल्क्यसे ब्रह्मविद्या सीखा है, आपकी बात मैं मान चुका हूँ परन्तु यह शिष्टाचारका समय नहीं है ।

१ 'भगवन् भगव' । २ 'अप्रवृत्त' । ३ 'प्रशान्तगम्भीरस्वरेण जनकेन' ।

४ 'राजर्षे' इति वचिनास्ति । ५ 'वागेवामि' ।

अवनिमधिकविंशानभ्यवम्कन्द्य वारा  
 नवभृथभृतकेभ्य सप्रदाय द्विजेभ्य ।  
 विरगति रमणीयाद् द्वन्द्वयुद्धात्कथ मे  
 निखिलनृपतिहत्यादृष्टसार कुठार ॥ ३९ ॥

( पुनर्नेपथ्ये । )

भृगुतिलक नमस्ते मुञ्च वैमत्यमेत-  
 त्कुरु करुणामिदानीं मानस मानशौण्ड ।  
 वहति यत किमत्र पुत्रभाण्डेऽपि रामे  
 त्रिजगदभयदानस्थूललक्ष्यो भुजस्ते ॥ ४० ॥

काल शिष्टानुरोधस्य महाजनवचनपालनस्य, युद्धकाले महाजनवचनात्ततो निवृत्तौ कातर्यव्यञ्जनादिति भाव ।

अवनिमिति । अधिकविशान् विशतेरधिकान् एकविंशतिवारान् अवनिं पृथ्वीम् अवस्करुन्द्य विजित्य अवभृथभृतकेभ्य यज्ञान्तस्नानविग्भ्य द्विजेभ्य अपरि प्रदाय च ( स्थितस्य ) मे मम निखिलाना नृपतीना हत्याया वधे दृष्ट सारो बल यस्य तादृशोऽय कुठार परशु रमणीयात् अनधिकप्रयाससम्पाद्यात् द्व द्वयुद्धात् द्वयो रेवाद्योर्मये भाविन सप्रामात् कथ विरगति निवर्त्तते । योऽहमसिहा धरा विजित्य यज्ञे ऋत्विग्भ्य प्रतिपादितर्वास्तस्य ममाय सकलराजन्यकवधदृष्टसामर्व्योऽय कुठार परस्परयुद्धादस्मात्कथकार निवर्त्तत, तदत् तव वचनेनेति भाव । सालिनीवृत्तम् ॥३९॥

भृगुतिलकेति । भृगुतिलक हे भार्गवकुलभूपग, ते तुभ्य नम, एतत् सम्प्रति प्रकाश्यमानम् वैमत्य विरुद्धबुद्धिं युद्ध त्यज, हे मानशौण्ड अभिमा तशालिन्, इदानीं स्व मानस करुण दयायुक्त कृत, त्रिजगत लोऽत्रयस्य अभयदाने निर्भयभावप्रदाने स्थूललक्ष्य वदान्य ‘स्युर्वदान्यस्थूललक्षवानशौण्डावहुप्रद’ इत्यमर । ते भुज वाहु

इकांसकार जानकर इस पृथिवीसे जिमने यह अनभरणीय जलानोंके अधीन कर दिया है ममस्त नृपतिर्दोको हत्यामें जिमका बल देखा जा चुका है वही यह मेरा कुठार इस रमणीय द्वाऽयुद्धमें किस प्रकार विरत होगा ? ॥ ३९ ॥

( फिर नेपथ्यमें )

हे भृगुतिलक, आपको नमस्कार, आप अपना यह इठ छोड़ दें, हे अभिमानीन्, आप अपने हृदयको दयालु बनाइये, क्यों आप पुत्रके समान रामपर अस्त्र ठठा रहे हैं ? ॥४०॥



जामदग्न्य — ( राम प्रति । ) अये, धीरकर्कशस्वर क एप ।

राम — ( सप्रश्रयम् । ) भगवन्, अय नस्तातो रघुपति ।

जामदग्न्य — ( संब्ययम् । ) विक्, सर्वत क्षत्रकलम्बोद्भेद ।

( 'नेपथ्याभिमुत्तमवलोक्य । ) भो राजन्दशरथ, 'अस्मन्नामधेयमात्रमित्रेण पुत्रेणामुना मानार्हो भवान् । किं पुनरनभिज्ञोऽसि वीरव्यवहारस्य ।

पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थ प्रदहदहर्दिवमस्ति तीव्रमर्चि ।

रघुजनरुक्ुट्टुम्बवाष्पपूरै परमिह शान्तिमुशान्ति शस्त्रभाज ॥४१॥

पुत्रभाण्डे पुत्ररूपे मूलधने किम् कथम् अस्त्र वहति धारयति ? वतेति गेदे ।  
मालिनीवृत्तम् ॥ २० ॥

धीरकर्कशस्वर गम्भीरकठोरवाक् ।

सप्रश्रयम् विनयपूर्वकम् । तातो जनक । रघुपति दशरथ ।

संब्ययम् समनस्तापम् ।

सर्वत सतन्तात् । क्षत्रकलम्बोद्भेद क्षत्रियादुरप्ररोह । अस्मन्नामधेयमात्र-  
मित्रेण नामधेयसमतासत्वेन । मानार्हं पूज्य । तत्रापि पुत्रस्य तद्व नाम यन्ममेति  
मम पूज्योऽसि त्वमियाशय, वीरव्यवहारस्य शूरकर्त्तव्यस्य, युद्धान्तरे सान्त्व  
वचन न व्याहरन्ति शरास्तत्कथमेवमाह भवानिति भाव ।

पुरमथनेति । पुरमथनधनुर्विमर्दनोत्थम् हरशरासनभङ्गभवम् तीव्रम् उग्रम्  
अचि कोपरूपन्तेज अहर्दिव सततम् प्रदहत् जाग्वल्यमानम् अस्ति ममेति शेष,  
इह अस्मिन्मर्चिपि शस्त्रभाज मादृशा शस्त्रधारिण पर केवलम् रघूणा जनकाना  
च कुट्टुम्बयो वश्ययो वाष्पपूरै अश्रुप्रवाहं शान्तिमुशान्ति कामयन्ते, रामे

जामदग्न्य—( रामक प्रति ) अजा, धारककश स्वरवाच्य यह कौत है ?

राम—( नम्रतासे ) ये हैं हमारे पिता रघुपति ।

जामदग्न्य—( सखेद ) विक्, चारों ओर क्षत्रियोंके अङ्कुर लग आये । ( नेपथ्यवी  
ओर देखकर ) हे राजन् दशरथ, आपके पुत्रका भी वही नाम है जो मेरा नाम है,  
अत वह मेरा मित्र हुआ, अत आप हमारे माय है किंतु आपको वीरजनके व्यवहार  
का शां नही है ।

मादेवके धनुषके मङ्गसे लपन यह तीव्र तरह अहर्निश हृदयको कण्ठ कर रहा है,

१ 'कदम्बोद्भेद' । २ 'नेपथ्याभिमुत्त' ।

३ 'नामधेयमित्रेण' । ४ 'सूनुना मानार्हो' ।

( नपथ्य । )

आ जामदग्न्य, विमेऽमतिप्रसक्तं सन्यस्तशस्त्रानस्मानपि बलाद्ध  
नुर्प्राहयसि ।

जामदग्न्य — ( तरोपम् । ) अरे विदेहप्रसवपासन<sup>१</sup>,

अयमधिपतिर्भासामेकान्तरो भवतो गुरु-

स्त्वमसि तपसा यद्वर्षीयानिति स्म तितिक्ष्यसे ।

कथमसि धनुर्नामग्राही तदेप समाप्यसे

मम हि सकलक्षत्रालम्भकतोरमृत भवान् ॥ ४२ ॥

हते रघुदुग्ध्या पुत्रशोकेन जनकदुग्ध्वाश्च जामातृशोकेन यदि रदति तदा  
तद्वाप्यरेवास्यहनिश ज्वलतो मम कोपस्याग्ने शान्तिर्भवेन्नान्यथेति भाव ॥४१॥

अतिप्रसक्त — अत्युद्धत । मन्यस्तशस्त्रान् चिरायत्ताद्यान् । बलात् प्रसक्त ।  
धनुर्प्राहयसि युद्धे प्रवृत्तयसि ॥

विदेहप्रसवपासन विदेहवन्दूपक ।

अयमधिपतिरिति । अयं भासा त्रिपास अधिपति सूर्यं भजन एवांतर  
ण्यव्यवहितं गुण आचार्यं, ( याज्ञवल्क्य सूर्यात् याज्ञवल्क्याच्च भवानधीतवा  
निति सूर्यस्य याज्ञवल्क्यव्यवहितं भवदाचार्यमिति ) एव तपसा तपस्यया  
वर्षीयान् मदपेक्षया वृद्धतम इति तितिचयमे मया जग्यसे । धनुर्नामग्राही  
कथमसि कथं धनुषो नाम गृहातवानिति, तद् धनुर्नामप्रहणाद्युद्धोद्धततादुद्धया

शस्त्रादिजन रघु तथा जनकके वद-नेक अत्रमवाहृत हा उमकी शान्तिवी बानना  
करने है ॥ ४१ ॥

( नेपथ्यमें )

आ जामदग्न्य, क्यों हम तरह घृणना प्रकाशित वाके शस्त्र मन्दाप लेगवाले मुझको  
मा अस्त्रप्रण करनेको बाधित कर रहे हो ?

जामदग्न्य—( कोपसे ) अरे विदेहप्रसव,

ये सूर्य तुम्हारे परमगुरु हैं और हम तपस्यामें मुझमें श्रेष्ठ हो अतः क्षमा कर रहा  
हूँ, अगर तुम किसी तरह शस्त्रप्राप्तो बने तो अभी समाप्त कर दिये जाओगे, मेरे द्वारा  
प्रकाशित हम सकल क्षत्रिय संहार यद्यथा तुम ही यत्नशेष बनोगे ॥ ४२ ॥

१ 'शस्त्रानपि' ।

२ 'पासुल' ।

३ 'तपसा त्वम्' ।

४ 'समाप्यते' ।

( नेपथ्ये । )

१'भार्गव भार्गव, च्यवनादिवृद्धवाक्यगौरवनिगृहीतसप्रहारक्रियासम  
 भिहारस्य ३तत्रभवत् परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य पुनरपप्लवन्ते बुद्धय ।  
 ३तद्विरम, कियच्चिरमित ४ परमपि नाटयिष्यति ५ भवन्तमायुधपिशाची ।  
 जामदग्न्य — ( विहस्य । ) अहो याज्यस्नेह शतानन्दमाकुलयति ।  
 भवतु, सान्त्वयामि ताजदेनम् । ( तदभिमुखम् । ) आङ्गिरस,

समाप्यसे हन्यसे त्वमिति शेष, भवान् जनक मम सन्ताना च्छ्राणामालम्भो  
 वध एव ऋगुयांस्तस्यामृत हुतशेषभूत । भयापूर्वं सर्वान् क्षत्रियामारयतापि  
 न हत, सम्प्रति तमपि भवन्त मारयामीत्याशय । 'अमृत हुतशेषे स्यात्' इति  
 विश्व । हरिणीवृत्तम् ॥ ४२ ॥

च्यवनादीनाम्—तपामप्रथितानाम् वृद्धाना स्वकुलधेष्टाना वाक्येषु वचनेषु  
 गोरवात् आदरातिशयात् निगृहीत सयन सप्रहारक्रियाया युद्धप्रवृत्तिरूपाया  
 समभितार सम्मिलन येन तादृशस्य, च्यवनादिवृद्धवचनात्यक्तयुद्धप्रवृत्तेरित्यर्थ ।  
 तत्र भवत् पूज्यस्य परशुरामस्य । परमे ब्रह्मणि वर्तमानस्य ब्रह्मनिष्ठस्य तप  
 स्विन । बुद्धय पुनरपप्लवन्ते—पुनर्युद्धाभिमुषीभवन्ति । तत् विरम—त्यज युद्ध  
 मि—त्यर्थ । इत् परमपि—इतोऽपि ब्रह्मज्ञानात् परमपि । भवन्तम्—परशुरामम् ।  
 आयुधपिशाची—अस्त्रप्रहणालसारूपा पिशाचयोपिव् । कियच्चिर कियन्त काल  
 यावत्, नाटयिष्यति नर्त्तयिष्यति ।

याज्यस्नेह यजमानो जनके प्रेमा । आकुलयति व्यथयति, यदसावेव मा भाषते ।  
 सान्त्वयामि—शान्ति गमयामि । आङ्गिरस शतानन्द ।

( नेपथ्ये )

भाषाव, भाषाव च्यवन आदि वृद्धजनोंके वचन मानकर जिद्दोने शरनग्रहण करना  
 छोड़ दिया है और जो मरदा परब्रह्ममें लान रहा करते हैं उनकी बुद्धि फिर शरनग्रहण  
 करनेकी चपला हो रही है अत एक जाओ, इसके आगे भी न जाने कब तक यह  
 आयुधपिशाचो तुम्हें ननानी रहेगा ?

जामदग्न्य — ( इनकर ) अहो, यजमानका प्रेम शतानन्दकी ब्याकुल बना रहा है ।  
 अस्तु, मैं इनका मुझ बन्द कर देता हूँ । ( उसकी ओर ) आङ्गिरस,

१ 'भर्गव-भार्गव' । २ 'भवत्' । ३ 'विरम-विरम' ।

४ 'इयमपरमपि' । ५ 'परवन्तम्' ।

नृपस्ते पान्योऽयं मम पशुपुरोडाशरसिक  
 पृथिव्यामन्याजोद्भटभुजभृत सन्ति रजव ।  
 अमीषामुत्सिक्त किमपि कुलमुत्सृत्य लजशो  
 विधाता तत्सर्वं यद्भिरचितं ते भृगुपति ॥ ४३ ॥

( नेपथ्ये । )

आ पाप 'क्षत्रियाया पुत्र, क्षत्रियभृग्हत्यापातकिन्, नित्सर्गनि  
 प्राण हि प्रहरणमिच्छाट्टणा ब्राह्मणेषु । तेर्यादशस्तादृशो वा सोढ  
 व्योऽसि । 'कथमेयमतिक्रमन्नस्मारुमपि ब्रह्मर्चसात्र विभेपि ।

मृपस्त इति । ते तत्र शतानन्दस्य पशु यज्ञार्था मृग छागो वा पुरोडाशो  
 ह्ययत्रयभेदस्तयो रसिक सस्नेह सनत पशुपुरोडाशसत्सर्गो यज्ञप्रवृत्त जय  
 नृपो जनक मम पालय रक्षणीय, किन्तु पृथिव्याम् अव्याजम् अरुपट यथा स्या  
 तथा उद्भटभुजभृत उद्भटदोर्दण्डशालिन रघव सन्ति रघुवश्या प्रयते, अमीषा  
 रघवा किमपि अत्यधिकम् उत्सिक्तम् गर्वोद्धत कुल वशम् लजश उत्सृत्य रण्डशो  
 विनाश्य भृगुपति परशुराम ते यद् अभिरचिनम् दृष्टम् तत्सर्वं विधाता विधा  
 स्यति । यज्ञरसिकस्य तत्र यज्ञमानस्य वधेन प्रवृत्तिर्मम, अतस्त्र जपोमास्त्रव,  
 नमप्रति समुद्धत रघुद्वार रण्डश कृत्वा त्वद्भिमत् नर्वमपि सम्पादयितु कर्ता  
 स्मीत्यर्थं । शिवरिणीवृत्तम् ॥ ४३ ॥

क्षत्रियाया पुत्र क्षत्रियस्य गाधे कन्यका रेणुका तस्या पुत्र । क्षत्रियभृगु  
 हत्यापातकिन् गर्भस्थानामपि क्षत्रियकुलाङ्कुराणां हन्ता । नित्सर्गनिप्राणम् स्व  
 भावतोऽनलम्, यादृशस्तादृश अतिदुराचारोऽपि । सोढय लतव्य । इदवाक्यो

पुरोडाशका प्रमी तुम्हारा यह राना मेरे लिये रक्षगाय है, नि तु यह रघुवश पृथ्वापर  
 वहादुरा प्रकाशित कर रहा है । हमके धमण्डा वशको खण्डश करके पीछे जो तुम वशमे  
 वह सब कुछ भृगुपति करनेको उचन रहेगा ॥ ४३ ॥

( नेपथ्यमें )

आ पाप, क्षत्रियापुत्र, क्षत्रियोंके गमपातका पापी, इदवाकुओंके अस्त्र ब्राह्मणोंके  
 विषयमें रवभावत निप्राण होते हैं, जिनसे किसी भी स्थितिमें तुम्हें क्षमा करते जा  
 रहे हैं, किन्तु इस तरह बढने हुए तुम क्यों हमारे ब्रह्मर्चजसे भी नहीं टर रहे हो ?

१ 'क्षत्रियपुत्र' । २ 'अतिक्रमन्' ।

जामदग्न्य — (सरोपशसम् ।) अरे ब्रह्मबन्धो बान्धकिनेय गौत  
मगोत्रपामन,

कुर्यु शस्त्रकथाममी यदि मनोर्वशे मनुष्याङ्कुरा

स्याच्चैद् ब्रह्मगणोऽयमाकृतिगणस्तत्रेष्यते चेद्भवान् ।

सम्राजां समिधा च साधकतम धत्ते छिदाकारण

विद्मौर्वीकुशकर्षणोत्थणकिणग्रन्थिर्ममाय कर ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणेषु न प्रगल्भन्तेऽतो दुराचारेऽपि त्वयि ते न शस्त्रग्रहण करिष्यन्ति । एव  
मतिक्रामन् इत्य प्रगल्भमान अस्माकम्-आह्निसानान् । ब्रह्मवर्चसात्-ब्राह्म  
तेजस । राघवान् ब्राह्मणेषुशस्रग्राहिणो जात्रा काम मा मैषी, परमस्त्रद्ब्रह्मवर्च  
सस्तु त्वया भेतव्यमासीद्यदेकपदे ण्यत्रा दग्नु जममिति ।

ब्रह्मबन्धो ब्राह्मणाधम । बान्धकिनेय बन्धकी कुलटा, तदपत्य, शतानन्दमातु  
रहल्याया इन्द्रसङ्गमादित्यमुक्ति । 'ब्रह्मगणुरधिर्षे' इति, 'अथ बान्धकिनेय  
स्याद् बन्धुत्वात्सतीसुत' इति चामर । गौतमगोत्रपामन गातमनुलकलद् । सर्व  
मेतत् शतानन्द निदापर्यवसायि सजोधनजातम् ॥

कुरु शस्त्रकथामिति । यदि अमी मनोर्वशे मनुष्याङ्कुरा मनुष्य  
शिशव शस्त्ररथा कुरु युद्धवार्ता प्रवर्तयेतु, चेद् ब्रह्मगण ब्राह्मणगणना आकृति  
गण आकारमात्रग्राह्य स्यात्, तत्रापि चेत् ब्राह्मणगणेष्वपि यदि भवान् इष्यते  
भवतोऽपि यदि ब्राह्मणेषु गणना न्यात्, तदा मम मौर्वीकुशानाम् कुशनिमित्त  
मौर्वीगुणानाम् कर्षणेन मुहुरामशेन उत्तरण उत्कट शिण्ग्रन्थि शुष्पत्रगच्छिह  
यत्र तथाभूत अय कर हस्त सम्राजां राज्याना समिधा होमवाष्टाना च  
समानभावेन छिदाकारण छेदक माधकतम क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् इम  
परशु धिन् च्यर्थ धत्ते । यद्यमी मनुष्यया शस्त्रगृहीयुर्यदि वा भवाद्दशा विप्राधना  
आकारमात्रेण ब्राह्मणेषु गण्येरन् तदाऽनवरतप्रवञ्चाकुशकर्षणरसिको ममाय करो  
वृथैव समभावेन छत्रियासमिधश्च चिन्दन्तमिम कुठार धारयतीत्यर्थ । मयि  
परशुधरे नामीषा युद्धकथा न वा तव ब्राह्मणगणना सभविनीति भान ॥ ४४ ॥

जामदग्न्य—(सरोपशसम्) अरे मिथ्या ब्राह्मण, व्यभिचारिण्ये पुत्र, गौतम वशाधम  
यदि यह मनुष्यके अङ्कुर भी शस्त्रको बाने करने लगे, और यदि ब्रह्मगणको आकृति  
गण मानकर तुम्हारा भी उमार्ने समवेश कर दिया जाय, तब राणाओं तथा समिधाओं  
को समभावसे बाटनेवाले इस कुठारकी धनुषप्रत्यज्ञाके द्वारा धपणसे उत्पन्न ब्रह्मचिह्नयुक्त  
हमारा हाथ व्यथ धारण करता है इसे धिक्कार है ॥ ४४ ॥

( नेपथ्ये । )

‘भगवान् भागव भागव,

त्व वेदवानसि वसिष्ठगुरो सनाभि

स्वायभुव स भगवान्प्रभवो गुरुत्ते ।

तेनातिमात्रमसृण हृदय मदीय

मद्यापि न त्रुटति शाम्यतु ते कुट्टि ॥ ४५ ॥

जामदग्न्य — ( सोचैहामम् । ) त्रिमात्य रे दशरथ, त्रिमात्य  
नाद्यापि हृदय त्रुटतीति । कथं वा त्रुटतु यावद्वेप न व्याप्रियते परशु ।

( नेपथ्ये । )

त्व वेदवानसि इति । वेदवान् अर्थात्तवद् एतन् परशुराम वसिष्ठगुरो वसिष्ठा  
रथस्य मम गुरोराचार्यस्य सनाभि वसिष्ठ पृथ्वीगोत्रोद्भूत असि, ते तत्र प्रभवे  
जनक स भगवान् शृगु स्वायम्भुव ब्रह्मण पुत्र । शृगोर्वसिष्ठस्य चैकहृत्पुत्र  
तथा सनाभित्वेन शृगुपुत्रस्य तवापि वसिष्ठमनाभिर निद्धमिति भाव ।  
तेन तवास्मद्गुरुवसिष्ठसनाभित्वेन अतिमात्रमसृण मदीय हृदयम् नितातक्षोमल  
दयाहासि मम चित्तं त्वद्विषयस्यापि त्वद्येयति विरथ्यमानोऽपि न त्रुटति न निर्दय  
त्वमुपैति, ते तव कुट्टि विरद्धभावं शाम्यतु निवर्त्तता येन मम शोषो नोद्दिशान वा  
मम गुरुवसिष्ठवधभवे दोष स्यादिति भाव ॥ ४५ ॥

यावद्वेप न व्याप्रियते यावन्मम धनुर्नोद्यमपरायण भवति तावत्ते हृदय कथ  
लण्डश स्यादिति त्रुटतिपदस्यार्थान्तरपरकतयाऽधिचक्ष्य ।

( नेपथ्ये )

भगवान् भागव तुम वेदज्ञ तथा हमारे गुरुदेव वसिष्ठके वक्ष्यते उत्पन्न हो, क्योंकि  
तुम मा ब्रह्माके पुत्रकी सन्तति हो, इसीलिये हमारा यह मरनेइ हृदय नहीं टूट रहा है,  
अभी मा तो तुम्हारी कुट्टि शान होवे ॥ ४५ ॥

जामदग्न्य — ( जोरसे हमकर ) क्या कहा रे दशरथ, क्या कहा ? अभी मा हृदय  
नभा टूट रहा है ? टूट तो कैसे ? अभा तो हमारे कुठार ने कुछ किया हा नहीं है ॥

( नेपथ्ये )

१ ‘भगवन्’ इति पुस्तकान्तरे भोपलभ्यते ।

मैंहीं वृत्तिमधिष्ठितेऽपि हि मयि क्षात्रेण कल्पेन ते  
दिष्ट्या कौतुकमाभिरामिकमसि त्व कोऽपि वीराङ्कुर ॥४७॥

( नेपथ्ये । )

भार्गव भार्गव, दुर्विज्ञानमिदमयोक्फलनिष्पत्तेराभिरामिक साङ्ग्रा-  
मिक वा ।

राम —( सरोप नेपथ्याभिमुखम् । ) आ वत्स, कोऽयमद्यतनस्ते  
दुर्विनयप्ररोहो यद्गुरूनपि ज्ञेयीरूपेऽपि ।

च पर्यापिताम् आत्मान प्रापिताम् सेहीं वृत्ति सिंहव्यापारम् अधिष्ठिते प्राप्तेऽपि  
मयि दिष्ट्या भाग्यबरोन ते तव क्षात्रेण कल्पेन शौर्यप्रकटनेन आभिरामिकम्  
प्रीतिप्रद कौतुकम् औत्सुक्यम्, त्व कोऽपि वीराङ्कुर वीरप्ररोह असि । अयमाशय  
यथा कोऽपि सिंह स्वनसरे क्षमपि प्रोन्नतशिरस दन्तावल विदार्य तन्मौक्तिकानि  
च विकीर्य स्वा सेहीं वृत्तिमधिष्ठिति, तथैव मयि स्फुरप्राप्तेण प्रोन्नतशिखर  
जौञ्चादि विदार्य तद्विवरानि गच्छतो हस्ताश्वेनस्तत सचार्य सेहीं वृत्ति प्राप्ते सत्यपि  
यत्त क्षात्रेण न्यभाजन वीरत्व प्रथयामि तत्सत्य मम महत्यै प्रीतये जायते, निश्चित  
तव वीराङ्कुरत्वमिति । शार्दूलविकीरित वृत्तम् ॥ ४७ ॥

दुर्विज्ञानम् वेत्तु कठिनम् । एतन्निष्पत्ते फलेत्पत्ते । अर्वाक प्राक् । रामस्येदं  
कौतुकमाभिरामिकं भवत्योतिजननाद्देश्यकम् साप्रामिकं युद्धार्थं वेति फलनिष्पत्ते  
पूर्वमपगन्तुमयोग्यम्, फलानुमेयत्वात्प्रारम्भाणामित्याशय ।

अद्यतन अद्य जायमान । दुर्विनयप्ररोह अशिष्टाचारितोदय । यद् गुरूनपि  
पूज्यानपि । ज्ञेयीरूपेऽपि विषयीकरोपि, कोऽयमद्य तत्राविनयो यद् गुरूनपि नादि  
यस इत्यर्थ ।

व्यवहार करनेवाले तुममें बहुत कौतुक भरा है, तुम जरूर बहादुर हो ॥ ४७ ॥

( नेपथ्यमें )

भार्गव, भार्गव, फल निष्पत्तिमें पहले यह समझना कठिन है कि मेरा कौतुक  
आभिरामिक है या साङ्ग्रामिक है ।

राम —( बोधमें नेपथ्यकी ओर ) आ वत्स, आज तुम क्यों इतने अविनीत हो रहे  
हो कि गुरूनों पर भी आक्षेप करते हो ।

१ विनयानिप्ररोहो यद्गुरूनपि ।

( नेपथ्ये । )

आर्य, 'तूणीमयमस्मि । क्षमस्व जामदग्न्य, नियन्त्रितोऽहमार्येण ।

जामदग्न्य — ( विहस्व । ) 'अरे राम, 'अथमद्यापि वाचमेव सूनुता-  
मस्मदभियोगप्रशमनी 'प्रथयसे । कत्रचहरोऽसि । शस्त्रैरेव प्रतिक्रियन्ता  
शस्त्राणि । किं च रे,

राजन्येभ्यो जन्म वैत्रस्ततेभ्यश्चक्रे चापाचार्यक कौशिकश्च ।

क्षार्त्री चर्यामेवमुन्मुञ्चतस्ते गोत्राक्षेपी वज्रलेप कलङ्क ॥ ४८ ॥

राम — ( नगर्वस्मितम् । ) भगवन्, सत्यमेतत् ।

तूणीन् मोनीभूत । निगन्त्रित उत्पथान्निवारित ।

सूनुताम् प्रियाम् । जामदग्भियोगप्रशमनीम् मदीययुद्धोत्थमनिरतिनीम् ।  
प्रथयसे विस्तारयसि । कत्रचहर दर्मवारणक्षम, प्राप्तयुद्धोपयुक्तास्य इत्यर्थ ।  
गस्त्राणि प्रतिक्रियन्ताम् अस्त्राणामुत्तर दीयताम् ।गान्धेभ्य 'पि । तत्र रामस्य वज्रस्तनेभ्य सूर्यवयेभ्य राजन्येभ्य सत्रियेभ्यो  
जन्म उपति कौशिके निगन्त्रितश्च चापाचार्यजम् धनुवदविद्यागुरुत्वं चक्रे कृत  
वान् । एतम् क्षार्त्री क्षत्रियायुचिता चर्याम् परिपाठीम् उन्मुञ्चत त्यजनस्तव कलङ्क  
अपवाद वज्रपे वनपनेय द्यान्नि नेप । सूर्यरशो गृहीतव मनो विश्वामित्राद्  
धीतधनुर्वदस्य च तत्र क्षात्रप्रयापरियागोऽपरिहार्यकलङ्क जनयेदिति भाव ॥ ४८ ॥

( नेपथ्ये )

आय न अब चुप रहत ह । जामदग्न्य, आप सुखे क्षमा कर, आय ने सुखे  
रोक लिया ।जामदग्न्य — ( हसन् ) अरे राम, जमा भग तुम हमारे कोप को शां न करनेवाली  
बाने हो कर रहा है ? तू ना जुवा है 'मार शस्त्रोंका उतर शस्त्रोंसे दो । और—तुम्हारा जन्म सूयवशियोंमे हुआ है, तथा तु हैं विद्वामित्रने शस्त्र विद्या का शिक्षा  
दा है, यदि तू इना तरह क्षात्र धर्मका त्याग करणा तो तुम्हारे वशका यह कलङ्क वज्र  
लेप हो जायगा ॥ ४८ ॥

राम — ( सगवदास ) भगवन्, जाइका कथन सत्य है,

१ 'तूणीमयम' । २ 'रे रे' । ३ 'कथ वाचमेव' । ४ 'समर्थयसे' ।



जात सोऽहं दिनकरकुले<sup>१</sup> क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यो  
 विश्वामित्रादपि भगवतो<sup>२</sup> दृष्टदिव्यास्त्रपार ।  
<sup>३</sup>अस्मिन्वशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा  
 विप्रे शस्त्रग्रहणगुरण साहसिन्याद्विभेमि ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य — (सक्रोधम् ।) आ पाप दुर्युख, वसिष्ठ इव विश्वामि-  
 त्र इव स्वस्तिवाचनिको ब्राह्मणस्ते परशुराम । (सत्यम् ।) धिक्-  
 ष्टम् । एवमुच्चारचनाच्च क्षत्रिया भ्रयन्ते । (क्रोधातिशय नाटयन् ।)  
 अयमहं भो ,

जात इति । दिनकरकुले सूर्यवंशे क्षत्रियश्रोत्रियेभ्यो वेदनेभ्यो राज्ञाम्प राज्ञामु-  
 त्तमेभ्यो वा जात उत्पन्न विश्वामित्राद् भगवत इष्टदिव्यास्त्रपार अवाप्तदिव्यास्त्र  
 विद्य सोऽहम् राम जन अस्मिन्वशे मद्दुत्पत्तिक्षेत्र कुले यश कथयतु जयशो वा  
 कथयतु, विप्रे शस्त्रग्रहणगुरण ब्राह्मणेऽस्त्रग्रहणमहत साहसिकत्वात् साहसाद्  
 विभेमि भयमनुभवानि । सत्यमहं क्षत्रियेभ्यो भास्वद्वशे लब्धत्वात् विश्वामित्राद्  
 धीतास्त्रविद्यारहस्यश्चास्मि, काम लोको मयि भवता सह योद्धमप्रयत्नमाने सति  
 मदीये वशे यशोऽयशो वाऽभिधत्ता, परमहं ब्राह्मणे शस्त्रग्रहणसाहस कर्तुमशक्त  
 इत्यर्थः । मदाक्रान्तावृत्तम्, सत्कृत्तयथा मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मा भनो तो  
 गयुग्मम्' इति ॥ ४९ ॥

स्वस्तिवाचनिक यतश्चिद्धिदा प्राप्य स्वस्तीतिवचनप्रयोक्त ।  
 उच्चारवचवाच विनिधालापा । 'उच्चारवच नैकभेदम्' इत्यमर ॥

सूर्यवंशके क्षत्रिय श्रोत्रियोसे में उत्पन्न हुआ हूँ, भगवान् विश्वामित्रने मुझे अस्त्र  
 कलाकी शिक्षा दी है लोग हमारे वशको यश दें या अयश, ब्राह्मणके ऊपर शस्त्रग्रहणरूप  
 साहसकायने में डरता हूँ ॥ ४९ ॥

जामदग्न्य—(सक्रोध) आ पाप कर्तुभायो, क्या वसिष्ठ या विश्वामित्र  
 तरह परशुराम भी तुम्हारा स्वस्ति मनानेवाला ब्राह्मण है ? (सत्येद) धिक्  
 बडे खेदकी बात है कि क्षत्रियोंकी यह ऊचनीच बातें सुननी पड रही है ॥  
 (अतिकुपित होकर)

सहदशरथमघोत्कृत्य पुत्रैश्चतुभि

जनककुलकवन्धस्कन्धनिर्गतवरीभि ।

नवरधिरलताभि नलसलीलापताका

रणभुवमतिरौद्रीं रद्रशिय करोमि ॥ ५० ॥

राम — ( ३सरोधम् । ) आ जामदग्न्य, तेय वाग्निभीषिका । दूर-  
मतिनामति प्रसङ्गे कदाचिदिच्छात्रोऽपि दुर्मनायन्ते ।

जामदग्न्य — ( ४सभ्रुकुटाभयम् । ) तत किम् ।

राम — ( सावधम्भम् । ) ततश्च ।

सहदशरथमिति । रद्रशिय शिवस्यास्रविद्यातेवासी अह परशुरामोऽद्य चतुभि  
रामादिभि पुत्रै सह दशरथ नाम राजानम् उत्कृत्य खण्डयित्वा जनककुल-  
वधाना हतजनकवरयजनच्छिन्नशिरोऽहेहाना स्कन्धभ्यो गलदेशेभ्यो निर्गतवरीभि  
निस्सरन्तीभि नवरधिरलताभि मद्य शोगितवल्लीभि बलसलीलापताकाम् रचित  
पताकाम् रणभुवम् अतिरौद्रीम् निकामभीषणा करोमि । अद्याह रद्रशिय स  
पुत्रचतुष्टय दशरथ निहत्य जनककुलकवन्धस्कन्धनिर्गतवरीभि प्रयग्रधिरधाराभि  
घृतपताका रणभुव भीषणा विद्धामि । मालिनीवृत्तम् । 'ननमयययुतेय मालिनी  
भोगिलोकै' इति तल्लक्षणात् ॥ ५० ॥

वाग्निभीषिका वचनद्वारा भयप्रदर्शनम् । प्रसङ्गे वाग्वापारे । दूरमतिनामति  
वर्धमाने सति । दुर्मनायन्ते दुर्मनस क्षुपिता इवाचरन्ति, वागोवाक्यवशात्  
कदाचिदिच्छात्राणामपि कोपोद्भय सम्भवीति भाव ।

तत किम् वाकोवाक्य विहाय त्व किं कर्तुमिच्छामीति भाव ।

चारो पुत्रोके साध दशरथको वाटकर जनकवशियोके कवन्धोस निबलतेवाली नव  
धिरधाररूप पताकार्ये कैलाकर मे अभी रणभूमिको अनिमयद्वर बना देना हू ॥ ५० ॥

राम—(मकोष) आ जामदग्न्य, यह क्या वचन विभाषिका दिक्षा रहे हो ? जानक  
अधिक बड़ जानेपर कदाचिद इच्छाकुवशो मा क्षुपित हो जा सकते हैं ॥

जामदग्न्य—( भ्रुकुटी चशकर ) रससे क्या ?

राम—( जोर देकर ) हमसे—

१ 'लुप्त-'. २ 'सकोधम्' । ३ 'विभीषा' । ४ 'सभ्रुकुटिवचम्' ।

१६ अ० रा०

तैस्त्रि सप्तभिरेव राजविजयैर्यत्ते भुजस्तम्भयो

कृत्वा तोरणमालिका पुनरमु द्वाविंशमारिप्सते ।

द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना तच्चापविद्याद्भुत

शंभोस्तस्य द्वि केवलेन धनुषा कृष्टेन तुष्टिर्नामि ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य — ( 'सरोषम् । ) किमात्थ रे, किमात्थ । ( 'द्रक्ष्यामि त्वयि वर्तमानमधुना' इत्यादि श्लोकोत्तरार्थं पठित्वा सव्यथम् । ) अहो सर्वत समि-  
ध्यमानदारुणस्य रोपजातवेदसो विदेहदिलीपयो कुल नाम कति  
भयिष्यन्त्याहुतय । ( 'उच्चै । ) भो भो सप्तद्वीपजुलपर्वतवर्तिनो  
राजान चेतयध्व चेतयध्वम् ।

नैस्त्रिसप्तभिरिति ( यत् तत्र चापविद्याद्भुतम् ) तै सर्वजनविदितै त्रि  
सप्तभि एकविंशतिसङ्ख्यकै एव राजविजयै क्षत्रियजातिपराभवै ते तत्र परशु  
रामस्य भुजयो स्तम्भयोरिव स्तम्भोपमस्वूलच्छदयोर्भुजयो तोरणमालिका कृत्वा  
तोरण यथा मालयाऽलङ्करोति तथैकविंशत्या क्षत्रविजयैस्तत्र भुजस्तम्भावल्ङ्कृत्ये  
त्यर्थः । अमु द्वाविंश मग्नयरूप राजविजयम् आरिप्सते कर्तुमिच्छति, तत् त्वयि  
वर्तमान त्वया स्थित चापविद्याद्भुतम् अस्त्रविद्यारूपमाश्चर्यम् अधुना सम्प्रति  
द्रक्ष्यामि, हि यत तस्य शंभो धनुषा चापेन केवलेन कृष्टेन मे भम रामस्य  
तुष्टि सन्तोषो न । त्वदीय तच्चापविद्याकौशलं द्रक्ष्यामि यत् त्रि सप्तवारान् राज  
विजय कृत्वा तेविजयैस्तत्र भुजस्तम्भौ तोरणमालिकाभिरिवाल्ङ्कृतवत्, अमुना  
कृष्टेन हरधनु कर्षणमात्रेण मम मनस्तोषो नास्तीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडित कृतम् ॥५१॥

समिध्यमानदारुणस्य दीप्यमानस्य भीषणस्य च । रोपजातवेदस कोपाग्ने ।  
कति कियत्सराया आहुतय हव्यप्रक्षेपा । विदेहदिलीपकुलयो खण्डनेन मम

इत्कोस बार किए गए राज विजयसे तुम्हारे भुजस्तम्भोंने तोरणमाला धारण करके  
यह बार्दसवा विजय प्रारम्भ करना चाहता है, अब मैं देखूंगा कि तुममें कितना चाप  
विद्याकौशल है ? केवल उस महादेवके धनुषमझसे मुझे सन्तोष नही हुआ है ॥ ५१ ॥

जामदग्न्य — ( सरोष ) क्या कहता है रे क्या कहता है ? ( 'द्रक्ष्यामि त्वयि' इत्यादि  
श्लोकाधिकी दुष्टराते हुए सखेर ) अहो, हमारी तिस कोपाग्निमें सभी ओरसे ज्वालयें  
बढ़ रही हैं, उसमें विदेह तथा दिलीपके वश कितनी आहुतियाँ बन सकेगा ? ( उच्च  
स्वरसे ) अजी सप्तद्वीप तथा कुलपर्वतोंपर रहनेवाले नृराजण, सावधान हो जाओ सावधान,

येन स्वा त्रिनिहत्य मातरमपि क्षत्रान्नमध्यासव-

स्वादाभिज्ञपरश्वधेन विद्ये नि क्षत्रिया मेदिनी ।

यद्वाणत्रणवर्मना शिखरिण क्रौञ्चस्य हसच्छला

दद्याप्यन्धिकणा पतन्ति स पुन क्रुद्धो मुनिभार्गव ॥५२॥

राम — ( ‘सहर्षन्नश्रमम् । )

नृपानप्रस्यक्षान्किमपवदसे नन्वयमह

कोपस्य क्रियतो पूर्ति शान्तिर्वा भाविनीति भाव । सप्तद्वीपकुलपर्वतवर्तिन सप्तसु  
द्वीपेषु सप्तसु कुलपर्वतेषु च स्थिता । चेतयध्वम् साधना भवत ।

येन स्वामिति । येन क्षत्रास्ताणि क्षत्रियरधिगण्येव मन्वामवा मद्यानि तस्वा  
त्रभिज्ञ तत्स्वाद्विन परश्वध परशुर्यस्य तादृशेन क्षत्रियरधिरूपमद्यस्वादुरसिक  
परशुधारिणा परशुरामेण स्वा मानर जननी रेणुकाम् अपि त्रिनिहत्य हत्वा गृध्वा  
समस्ता धरा नि क्षत्रिया क्षत्रियसामान्यशून्या विद्ये कृता, अद्यापि सग्नयपि  
यद्वाणत्रणवर्मना यदीयवाणच्छिद्रमार्गण हसच्छलात् नियन्मरालकुलव्यापान्  
क्रौञ्चस्य शिखरिण क्रौञ्चाभिधस्य पर्वतस्य अस्थिकणा पतन्ति स मुनिभार्गव  
परशुराम पुन क्रुद्ध लुपित । जयमाराय — हे सप्तद्वीपकुलाचलस्था राजानो यूय  
साधनाना भरत, यत क्षत्रियरधिरूपमद्यास्वादुरसिककुटार परशुरामो यो  
मात्रा सहैव स्वानपि, राज्ञो त्रिनिहत्य भुव नि-क्षत्रियामकृत, य एव च क्रौञ्च नाम  
गिरिं स्वर्वागैरिद्धवन्तम् व्यभिन, यद्वाणच्छिद्रवर्मना तद्गिरेरस्थिवण्टा  
इव हमा निपतन्ति, अन्यस्यापि व्रगितगात्रस्य यथाऽस्थीनि निपतन्ति तथेति ।  
पुरा स्वपितुराज्ञया परशुरामो निजा मानरमहर्षिनि कथाऽत्र बोध्या । शार्दूलविक्र  
रिद्धत वृत्तम् ॥ ५२ ॥

नृपानिति । अप्रन्वक्षान् दृष्टिपयवहिर्गंतान् दूरस्मान् नृपान् राज किम्

क्षत्रिय शोणितरूप मदिराके स्वादको जाननेवाले पशुमे जिस परशुरामने अपना  
पापाको भी काटकर हम पृथ्वीको क्षत्रियरूप्य बना दिया, जिसके बाणभागने आज  
भी हमोंके छलसे क्रौञ्चपवनके अस्थिकण गिरा करते हैं वही परशुराम पुन कुपित  
हो उठेह ॥५२॥

राम—( हर्ष तथा उतावलापनके साथ ) जो साधन नहीं है उन नृपोंका विन्या

शिशुनीडामग्नत्रिपुरहरधन्वा तव पुर ।

अहंकारकूरार्जुनभुजवननश्चनकला

निष्ठृष्टार्यो वाहु कथय कतरस्ते प्रहरतु ॥ ५३ ॥

जामदग्न्य—( 'सक्रोपाटोपम् । ) आ पाप विकर्तनकुलकलङ्क, पु  
नन्तरा तदेव पार्वतीद्वयितकोदण्डदलनसाहसमुद्गावयसि<sup>१</sup> । अहह  
क्षत्रियोऽपि, भार्गवस्य<sup>२</sup> कार्त्तवीर्यजयिन भुजदण्डमन्विष्यति । अहो  
गरीयान्काल । यदश्रुतचरमपि श्रापयति । अदृष्टचरमपि दर्शयति ।  
अपि च रे राजन्यकीट,

किमर्थम् अपवदने निन्दसि ? अशृण्वता तेषा निन्दया न किमपि फल लभ्यमि  
त्यर्थ । ननु शिशुनीडया बाललीलया भग्न खण्डित त्रिपुरहरस्य शिवस्य धनुर्धन  
तद्योक्त अयमहम् तव पुर अग्रत अस्मीति श्लेष, अहङ्कारेण भुजदण्डेण क्रूरस्य  
समुद्धतस्य अर्जुनस्य कार्त्तवीर्यस्य भुजवनानाम् सहस्रमरयकवाहुनाम् वश्चनस्य  
च्छेदनस्य कला सामर्थ्यम् तेन निष्ठृष्टार्थं ज्ञातवस्तुसार ते तव कतरो वाहु  
प्रहरतु भवि प्रहार करोतु इति कथय आदिश । अपराधिनि पुर स्थे च भवि  
प्रहाराय स्वमुनादेश एव प्राप्तकालो न व्यर्थाऽपररात्रनिन्देति भाव । शिव  
रिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

सक्रोपाटोपम् सक्रोधावेक्षम् । विकर्तनकुलकलङ्क सूर्यवशाधम । पार्वतीद्वयि  
तस्य महादेवस्य कोदण्डो धनुस्तस्य दलने खण्डने साहस स्व सामर्थ्यम् उद्  
भावयामि प्रकाशयामि । अहह इति खेदातिशयव्यञ्जकम् । अन्विष्यति । मुग्यते ।  
गरीयान् गुरुतर, सर्वाधिकबलशाली । अश्रुतचरम् पूर्वं कदापि न श्रुतम् । अदृष्ट  
चरम् पूर्वं कदापि न दृष्टम् । राजन्यकीट क्षत्रियाधम ।

क्यों करत हो ? बालकालमें निपुरातिके धनुषको तोड़ देनेवाला मैं तेरे आगे खड़ा हूँ ।  
आता दो कि अहङ्कार भरे अर्जुन बाहुओंके दण्डनकी कलामें निपुण हुन्दारा कौन-सा  
हाथपदल मुझपर प्रहार करेगा ? ॥ ५३ ॥

जामदग्न्य—( कोपके वेगमें ) आ पाप सूयकुलकलङ्क फिर उसी शिवधनुर्मङ्गकी  
बान चलाना है, अहह ॥ क्षत्रिय होकर भी भरे काँचवीर्य विजयी हाथकी सोज कर  
रहा है ? समय बड़ा बलवान् है, जो अश्रुतपूर्व वस्तु सुनाता गया अदृष्टपूर्व वस्तु दिखलाना

१ 'साटोपम्' । २ 'साहसम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

३ 'कार्त्तवीर्यभुजविजयिनम्-अ-वेपयति' ।

जानास्येव यथा पितु परिभवन्होमार्जुनीमर्जुनो  
 मत्कोदण्डमनेकराजकवधम्व्याध्यायमध्यापिपत्<sup>१</sup> ।  
 तेनैवाम्बि भवत्सु यद्यपि मम क्रोधोऽयमौत्सर्गिक  
 स्तत्सप्रत्युपसर्जनं गुरुधनुर्भङ्गादय हेतुमान् ॥ ५४ ॥

राम—<sup>२</sup>ऋषे जामदग्न्य, पटञ्चरीभूता खल्विय पुरातनी कीर्ति  
 पताका । नन्विदानीमेव द्रष्टव्यम् । ( नेपथ्याभिमुखम् । ) वत्स लक्ष्मण,  
 धनुर्धनु ।

जामदग्न्य—( <sup>३</sup>साक्षेपम् । ) <sup>४</sup>अरे अनात्मज्ञ क्षत्रियवटो,

जानास्येवेति । यथा पितुर्मम वनस्य जमदग्ने होमार्जुनीम् होमसाधनीभूता  
 सौरभेयीम् नाम् परिभवन् हरन् अर्जुन कार्तवीर्यं मत्कोदण्डम् मम चापम्  
 अनेकेषा राज्ञानाम् वय एव स्वाध्याय तम् अध्यापिपत् पाठितवान् ( तत् )  
 जानास्येव । कार्तवीर्यो नाम राजा मम पितुर्होमधेनु हरमम धनुस्सकलक्षत्रवधाय  
 प्रेरितवानिति नाविदित स्यात्तेति भाव । तेनैव कार्तवीर्यकोपनेन भवत्सु क्षत्रि  
 येषु अयम् मम क्रोध औत्सर्गिक सामान्य अस्ति, तत् सम्प्रति उपसर्जनं गुणी  
 भूतम् अप्रधानम्, अयं साम्प्रतिकस्तु भवत्सु मम क्रोध गुरुधनुर्भङ्गात् शिवचाप  
 दलनात् हेतुमान् सकारणक । यद्यपि कार्तवीर्यापराधसमुत्थितो मम भवत्सु क्रोध  
 आसीदेव, परमसौ सम्प्रति न प्रज्वलति, असौ गुणीभूत, सम्प्रति तु गुरुचापभङ्ग-  
 भवस्य कोपस्य यूय विषया इति भाव । 'अर्जुनी सौरभेयी गौ' इत्यमर ॥ ५४ ॥

पटञ्चरीभूता जीर्णवसनस्वरूपता गता । 'पटञ्चर जीर्णवस्त्रम्' इत्यमर । पुरा  
 तनी प्राचीना । यथा पताका कीर्त्तिप्रदास्ति ।

अनात्मज्ञ स्वरूपपरिचयशून्य । क्षत्रियवटो क्षत्रियशिशो ।

हे । अरे धुद्र क्षत्रिय, जानते हा हो कि हमारे पिताकी होमधेनुका अपमान करनेवाले  
 अर्जुनने मेरे धनुषको अनेक क्षत्रियवधका पाठ पढ़ा दिया है, क्षत्रियोंपर मैं उसाने  
 कुपित रहता आया हूँ परन्तु इस समय वह गौग हो रहा है, हम समय तो मैं गुरुके  
 धनुषके भङ्गसे कुपित हो रहा हूँ ॥ ५४ ॥

राम—ऋषे जामदग्न्य, तुम्हारी यह कीर्तिपताका अब जीण वस्त्र बन गई है अमा  
 देखना है—( नेपथ्यकी ओर ) वत्स लक्ष्मण, धनुष तो देना ।

जामदग्न्य—( आक्षेपके स्वरमें ) अरे अनात्मज्ञ क्षत्रिय कुमार,

१ अध्यापयत् । २ 'ऋषे' इति पुस्तकान्तरं नास्ति ।

३ 'साक्षेपम्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४ 'रे रे' ।

तच्चापमीशभुजपीडनपीतसार

प्रागप्यभज्यत भवांस्तु निमित्तमात्रम् ।

राजन्यकप्रधनसाधनमस्मदीय

मारुर्ष कार्मुकमिदं गरुडध्वजस्य ॥ ५५ ॥

आकृष्टेन पुनरमुनैव धनुषा 'किलास्मानभियोत्स्यसे । क्षत्रसत्त्रे दीप्ति-  
ताना तु चिरस्य 'होताय परशुरस्मान्मस्त्येव ।

( इति रामस्य हस्ते धनुरर्पयति । )

नच्चापमिति । इशभुजपीडनेन महादेवऋतभूयस्समाकर्षणेन पीतसार क्षपिते  
सामर्थ्यम् तत् चापम् प्रागपि प्रागेव अभज्यत स्वयं भग्नम्, भवास्तु निमित्त  
मात्रम् उपलक्षणमात्रम्, शिवव्यवहृततया वृद्धं तदनु स्त्रयमेव भग्नमभवद्  
भवत् कुतस्तद् भजनक्षमत्वमित्यर्थः । ( नन्वस्ति मयि सामर्थ्यं तादृशं तत्राह-  
राजन्यकेति ) राजन्यकानां क्षत्रियाणां प्रधाने मारणे साधनं सहायभूतम् इदं  
गरुडध्वजस्य कार्मुकम् वैष्णवं धनुराकर्षं नमय, स्वमामर्थ्यपरीक्षार्थमिदं मम  
चापं नमयेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

अभियोत्स्यसे युद्धं करिष्यसि । रामो लक्ष्मणाय 'धनुर्धनु' इत्युत्तवान्,  
तदुत्तरमिदं परशुरामवचनम्, इदं ममेव धनुराकृष्य स्त्रबलं परीक्ष्य चानेनैव  
मया सह युद्धं करिष्यसि, इतमन्यधनुरानयनादेशप्रदानेनेति तात्पर्यम् ।

ननु यदि तत्र स्व चापं मह्यं ददासि तत्रेन पुनस्त्वं योत्स्यसे इत्युत्तरमाह-  
परशुरामः । क्षत्रितिः । क्षत्रसत्रं अस्मिन् क्षत्रियवधयोगे । दीक्षितानां कृतसङ्कल्पानाम्,  
होता होमकृत्ता । अहमनेन परशुनेव योत्स्य इत्यर्थः ।

महादेवके मुञ्जे द्वारा पीडित होनेसे डुबल वह धनुष पहले मी टूट जा सकता था  
तू तो निमित्तमात्र हो गया है । सकलक्षत्रिय संहारी मेरे इस वैष्णव चापको तो  
चढ़ाओ ॥ ५५ ॥

इसी धनुषको चढ़ाकर हमसे लड़ो । क्षत्रवध यज्ञमें बहुत दिनोंसे लगी रहनेवाले मर्  
लिये तो यह परशु है ही ॥

( रामके-हाथमें धनुष देता है )

राम —( गृहीत्वा । ) भार्गव, नमन्तादुद्धातिनी भूमिरियम् । तदेहि  
निमर्दक्षम प्रदेशान्तरमवतराय ।

जामदग्न्य —( सरोप परिक्रामन । ) भो भो श्वात्रेण ब्राह्मेण च  
तेजसा विक्रम्यमाना , तदत्र

भवतु शरणदो वा सर्वशस्त्राभिसार  
प्रतिविदधतु वाऽस्मिन्नाशिषो वैजयिभ्य ।  
अदशरथमराम निर्विदेहेन्द्रमुर्धा  
वलयमिद्व विप्रत्ते रोपणो रैणुकेय ॥ ५६ ॥

( इति निघ्नान्तौ । )

( नेपथ्ये । )

समन्तात् सर्वत । उद्धातिनी नतीन्नता । विमर्दक्षमम् युद्धयोग्य समतलम् ,  
प्रदेशान्तरम् अन्यत्स्थानम् ।

विक्रम्यमाना आत्मश्लाघापरायणा , ब्राह्मतेजसा श्वात्रनेजसा चाभिमानवन्त ।

भवत्विति । सर्वशस्त्राभिसार सर्वेषांश्च एतद्व सर्वशस्त्रकृत युद्धम् वा  
शरणद रामस्य रक्षायामुद्यतो भवतु, अस्मिन् रामस्य मया क्रियमाणे वधे वैज-  
यिभ्य विजयप्रयोजिकां विन्याशसिन्ध्यां आशिष युष्माक शुभाशसा वा प्रति  
विदधतु प्रतिकारपरायणा भवन्तु । इह अत्र देशे काले च रोपण कुपित रैणुकेय  
रेणुकापुत्र परशुराम उर्वीवलयम् इदं भूमण्डलम् अदशरथम् दशरथशून्यम्  
अरामम् रामविरहितम् निर्विदेहेन्द्रम् जनकवर्जित च विप्रत्ते, सर्वेषु योधेषु सर्वे  
रपि शस्त्रैरेकदेव रक्षापरायणेषु मत्स्वपि सर्वेषु लोकेषु शुभाशमापरेष्वपि सत्सु  
सम्प्रत्यह दशरथरामजनकाभारयामीत्यर्थ । मालिनी वृत्तम् ॥ ५६ ॥

राम—( लेकर ) भार्गव, यह जगह निम्नोन्नत है, वन आइये, युद्धके योग्य समर  
भूमिमें चलें ।

जामदग्न्य—( सरोप चलते हुए ) हे क्षात्र तथा ब्राह्मतेजके अभिमानियो,  
सकलशास्त्रका ज्ञान शरणप्रद हो, या विजयके आशीर्वाद प्रतिकर्ता हो, मैं रेणुकापुत्र  
परशुराम कुपित होकर इस भूमण्डलको दशरथ तथा रामने रहित बनाने जा रहा हूँ ॥५६॥

( दोनों जाते हैं )

( नेपथ्यमें )



भो भो पौरजानपदा, प्रत्येता माङ्गलिकमाताङ्गम् । 'प्रसज्यता  
मयमपि वैदेहीविवाहमहोत्सवो जामदग्न्यविजयोत्सवेन ।

कन्या काचिदिहापि कर्मणि पण स्मादित्यस्त्यायल  
स्सौतापाङ्गमयूषमांमलमुखज्योत्स्नाशिलितीं द्विप्रम् ।  
कुचाणिन रघुद्वहेन चक्षुषे नारायणीयं घनु  
मंत्रायाथ शरश्च मार्गप्रगतिरुद्देदात्तमोघीहृत ॥ ५७ ॥

प्रत्येताम् गच्छताम् । माङ्गलिकम् मङ्गलनाथनम् । आतोद्यम् बीणासुग्ण  
वशास्त्ववाचम्, 'चतुर्विधमिदं वाद्यं चाग्निप्रातौघनामकम्' इत्यनर ।

प्रसज्यताम् योज्यताम् । जामदग्न्यविजयोत्सवोऽपि वैदेहीविवाहमहोत्सवेन  
सह योज्यतामिति भावः ।

कथा काचित्ति । ( यथा पूर्ववृत्ते हरधनुर्मन्त्रेऽहं पणं जामम तथा ) इह नारा  
यणीयधनुर्मन्त्राभकेऽपि कर्मणि काचित् कन्या पणं शुक्लं स्यात् इति सापत्न  
सम्भावनात्तन्त्रया असूयया अनर्पेण घृतं मन्त्रारिण अपाङ्गस्य नेत्रप्रान्तस्य  
मयूषैः विरर्णं मामलया प्रभूतना गनया सुवज्योऽनया विलिप्तीम् लिप्तां त्रिव्योम  
कुचाणिनं विदधता यद्यत्रापि कर्मणि काचित् कन्या पणं स्यात्तदा सा मम मपनी  
भविष्यतीति मपनीर्षया सीतया कृगित्त्रिभागया दशा हरयमानो राम स्वनुस्व  
प्रनिफल-र्यातानयनमयूषं ममेधितकान्तिमुखं त्रिव्योमनि द्विपन् द्विव तत्कान्ति  
लिप्ता करोति—तर्थाग्निेन रघुद्वहेन राघववशाग्नेयेन नारायणीयं घनु चक्षुषे आकृ-  
ष्टम्, शरश्च बाणश्च सन्धाय तत्र घनुष्यारोष्य भार्गवगतिरुद्देदात् परशुराम-  
स्वर्गमार्गानरोधद्वारा अमोघीहृतं वैदध्यांश्चिवारितं । रामेण नारायणीये घनुषि  
शरमारोप्यानेन किं तं विद्धनद्मीति पृष्टं परशुरामो भौगतिरुद्देहत्वा स्वा

हे पुरवासियो, माङ्गलिक वाद्यं वजानेका प्रवच करो, वैदेही विवाहोत्सवके साथ  
जामदग्न्य-विजयोत्सव भी मना लिया जाय ।

इस कार्यमें भो कदाचित् कोई कन्या पणरूपमें स्थापित हो देमा भोचकर असूपाते  
मोत्राके अपाङ्गकी विरर्णसे आकाशको आलोकित करानेवाले रजुनाथने नारायणी-नामकी  
आकृष्ट कर दिया, और उसपर बाण सन्धान करके वही बाणको मार्गवकी उत्तरगतिरुद्देह  
द्वारा अमोघ बना दिया ॥ ५७ ॥

१ 'प्रसज्यतामय वैदेहीविवाहोत्सवो जामदग्न्यविजयमहोत्सवेन', 'प्रसज्यतामय  
—विजयेन' । २ 'शरश्च' ।

( 'तत प्रविशतो रामनागदग्न्या । )

राम — भगवन्भार्गव,

परैराहृताना विहितमपि शस्त्रं भवतु न

प्रकृत्या विप्रेभ्य पुनरकृतशिल्पा रघुभुज ।

चिरादण्डीरेण त्वयि तदपि रामे न गणित

तपोविद्यावीरव्रतमय ३मयि क्षाम्यतु भवान् ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य — ( विद्वस्य । ) कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन ।

यदधमस्माभिरिदं प्रकोपितमस्तदद्य ४दृष्ट्वा तव धम वैष्णवम् ।

स्वर्गतिमेव च्छ्रेतु तमन्वत्पणस च तामेव च्छित्त्वा स्व याणममोर्धाचकारेति भाव ।  
'विलिप्तीम्' इत्यत्र 'त्तादृहपात्यायाम्' इति ङीप् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५७ ॥

परैराहृतानामिति परै शत्रुभि आहृतानाम् पुद्गार्यमाभन्नित्रानाम् न अग्माक  
राघवक्षत्रियाणान् शस्त्रम् शस्त्रप्रहणम् विहितम् विधिमनर्थितमपि भवतु  
स्ताज्ञाम, पुन परन्तु रघुभुज रघुवश्या प्रकृत्या स्वभावत विप्रेभ्य ब्राह्मणानु  
दिश्य अकृतशिल्पा अविहितशस्त्रविद्याभ्यासा । चिरात् बहो कालात् अण्डीरेण  
धृतगर्वेण मया तदपि ब्राह्मणविषये शस्त्रप्रहणस्यायुक्तत्वम् अपि त्वयि त्वप्रसङ्गे  
न गणितम् न विचारितम्, हे तपोविद्याव्रतमय, तपोमय, विद्यामय, व्रतमय,  
च, भवान् मयि क्षाम्यतु मृग्यतु, अनुचित, तदाचरित एमता भवानित्यर्थ ।  
शिक्षरिणीवृत्तम् ॥ ५८ ॥

कथमपराद्धमस्मासु वत्सेन—नापराध कृतवान् भवान्मर्याति भाव ।

यदधमिति । अस्माभि यदधम् यस्य वैष्णवस्य धाम्नो दर्शनार्थम् अस्मिन्  
विषये अत्र प्रसङ्गे प्रकोपित क्रोध लम्बित अमि, तत् वैष्णव धाम दृष्ट्वा प्रत्यक्षी

( राम और जामदग्न्यका प्रवेश )

राम—भगवन् मागव, दूसरों द्वारा लष्कारे जानेपर भले ही हम शस्त्रप्रहण करने  
को बाध्य हो जाय, परन्तु स्वभावत हम ब्राह्मणोंपर शस्त्र नहीं उठाते हैं, गवीं होकर  
मने व्रत नियमका पालन नहीं किया, हे तप तथा विद्या-वीरताके ब्रतधारी आप हमें  
क्षमा करें ॥ ५८ ॥

जामदग्न्य—( इत्सर ) वत्सने मेरे प्रति क्या अपराध किया है ?

मैंने आपको जिसलिए बुधित किया था, आपके उस वैष्णव तेजको देखकर हमारे

१ 'तत प्रविशति राम परशुरामश्च' । २ 'मम' । ३ 'दृष्टम्' ।

विशीर्णसर्वामयमस्मदान्तर चिरस्य कचिद्दधिमानमश्नुते ॥ ५९ ॥

राम — इत इतो 'भगवन् ।

जामदग्न्य — ( रामस्य चिबुकमुक्षमय्य मस्मितम् । ) वत्स, अप्रशस्त  
रात्रवारण्यकाना जनपदेषु चिरप्रचार । 'तत्क पुनरस्मान्नेयसि ।

राम — भगवन्, 'भगवतो याज्ञवल्क्यस्यावमथे कृतातिथेयमनि  
धानौ तातजनकौ भवन्तमनुपालयत ।

एहि विष्टरपादार्यं मधुपर्कं उपस्थितान् ।

इत्याकृश्च विदेहाश्च पुनीहि भगवन्नमून् ॥ ६० ॥

कृत्य अद्य अस्मदान्तरम् ममान्त करणम् विशीर्णसर्वामयम् अपेतसमस्तरोगम्  
सत् चिरस्य बहो कालात् कञ्चित् दधिमानम् लाघवम् अश्नुते भजति । वैष्णव  
तेजो दृष्ट्वाऽपेनमकलमनोमलस्य मम हृदय लघभूतमिति भाव । वशस्थविल  
वृक्षम्, 'वदन्ति वशस्थविल जतौ जरी' इति तल्लक्षणम् ॥ ५९ ॥

अप्रशस्त निषिद्ध । आरण्यकानाम् वनवासिनाम् । जनपदेषु प्राप्तनगरादिषु ।  
चिरप्रचार बहुकालपर्यन्त वास ।

आवमथे आश्रमे निवासस्थाने । कृतातिथेयमविधानौ समाहृतातिथ्योपकरणौ ।  
तातजनकौ दशरथविदेहौ । अनुपालयत प्रतीचते ।

एहि विष्टरेति । विष्टर आसनम्, पादार्यं पाद्यम्, मधुपर्कश्च नै त्वदर्चनायै  
माहृतै विष्टरपादार्यमधुपर्कं ( सह ) उपस्थितान् अमून् इत्थान् विदेहाश्च  
उभयवश्यान् पुनीहि पत्नीकुम्भ, भगवन् परशुराम । एहि आगच्छ ॥ ६० ॥

हृदयका सारा रीम दूर हो गया, हमारे हृदयका मार इलका हो गया है ॥ ५९ ॥

राम—आप इधर आइये ।

जामदग्न्य—( रामकी कुट्टी पकटकर चढाते हुए ) वत्स, वनवासियोंके लिए अधिक  
समय तक गाँवमें रहना निन्दित है, अत मुझे कहीं ले जाओगे ?

राम—भगवन्, भगवान् याज्ञवल्क्यके आश्रममें आतिथ्यका आयोजन करके हमारा  
पिता तथा जनक आपके आनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

आइये, आसन, पाद्य तथा मधुपर्कसे आपकी सेवाके लिए उपस्थित इत्थान् तथा  
विदेहके वंशज को पवित्र करें ॥ ६० ॥

१ 'ममान्', 'भगवान्' । २ 'तत्कधम्' ।

३ 'भगवन्' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । ४ 'पाद्यार्थ' 'पादार्य' ।

जामदग्न्य — चत्स, अपरिहार्यमेव' ह्यातिथ्य राजन्यश्रोत्रियाणाम् । किं पुनरेषविधवैरानसोचिताचारस्प्रलितविलक्षो न शक्नोमि धर्माचार्यं याज्ञवल्क्यमुपेत्याप्तुम्' । आचारस्तु दूरादपि कृत कृत स्यात् । ( किंचिदुच्चैर्नैपथ्याभिमुखम्' । )

यस्य स्मृती "प्रतीक्षन्ते चतुर्वर्गे मनीषिण ।

नमो भगवते तस्मै याज्ञवल्क्याय योगिने ॥ ६१ ॥

( नेपथ्ये । )

गायत्री द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते ।

पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम् ॥ ६२ ॥

अपरिहार्यम् अपरित्यक्त्यम् । आतिथ्यम् सत्कार । राजन्यश्रोत्रियाणाम्-वदविद्याविदा राज्ञाम् राजश्रेष्ठाना वा । किं पुन — किं तु । वैरानसोचिताचारस्प्रलितविलक्ष शान्तित्यागलज्जित । आचार प्रणामादि ।

यस्यैव मनीषिणो विद्वांसो यस्य स्मृती सहितावचनानि चतुर्वर्गे धर्मार्थ-काममोक्षाख्येपुरुषार्थचतुष्टये प्रतीक्षन्ते प्रमाणमामनन्ति, तस्मै योगिने अवलम्बित समाधये भगवते याज्ञवल्क्याय नमः ॥ ६१ ॥

गायत्र्याः गायत्री मन्त्रात्मिका सावित्री देवी तथा द्रुपदा 'द्रुपदादिव मुमुक्षान्' इत्यादिमन्त्रात्मिका च देवी ते तव पाप्मानम् पापम् अपहन्तु नाशयतु पावमान्यं पवित्रताजमकतया पठिता मन्त्रविशेषा त्वा पुनन्तु पवित्रता नयन्तु, ते पर ब्रह्म ब्रह्मज्ञानम् ऋध्नोतु वर्धताम् ॥ ६२ ॥

जामदग्न्य—शत्रिय-श्रोत्रियों द्वारा आयोजित आतिथ्य अपरिहार्य है, किन्तु मैंने तपस्वियोंके आचरणसे अपनेको रसलित कर लिया है, अब मुझे धर्माचार्य याज्ञवल्क्यक सामने जानेमें लज्जा होती है । आचार तो दूरसे भी किया जा सकता है ।

( नेपथ्यमें ऊपरकी ओर देखकर )

विद्वान् लोग चतुर्वर्गके निगदमें जिनकी स्मृतिकी प्रतीक्षा करते हैं, उस योगिराज याज्ञवल्क्यको नमस्कार ॥ ६१ ॥

( नेपथ्यमें )

गायत्री तथा द्रुपदादि मन्त्र तुम्हारे पापको नष्ट करें, पावमाना ऋचार्यें तुम्हें पवित्र करें, तथा तुम्हारा ब्रह्मज्ञान समृद्ध हो ॥ ६२ ॥

१ 'एव हि' इति पुनःकाल्परे नास्ति । २ 'अवलीकयितुम्' ।

३ 'कृत्कृत्य' । ४ 'अभिमुख' । ५ 'अपेक्षते' । ६ 'विपदा' ।

जामदग्न्य — भगवन्, अपत्रपमाणो न भवन्त द्रष्टुमुत्सहे । तदनुमन्यस्य 'मामरण्याय ।

( नेपथ्ये । )

शिवास्ते पन्थानो व्रज निजगृहेभ्यो निजगृहा

निक्रमन्त्यत्सर्वेषां गुणमय ! 'शिरोमाल्यमसि न ।

त्रिलोकीनिर्माणस्थितिनिधनवन्वोर्मधुभिदो

मयान्पठो<sup>१</sup> मूर्तिर्भृगुकुलमधिष्ठाय रमते ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य — वत्स रामभद्र ।

राम — आज्ञापय ।

अपत्रपमाग साधुजनोचिताचारपरित्यागलज्जित । अनुमन्यस्व अनुजानीहि । अरण्याय वन गन्तुम् ।

शिवास्त इति । ते तव पथान शिवा कल्याणमया सन्तु इति योजनीयम्, निजगृहेभ्य निजाना स्वजनानामस्माक गृहेभ्यो निजगृहान् स्वोयानाश्रमान् व्रज गच्छ, अथत् किम् उच्यताम्, हे गुणमय सकलगुणालय, न अस्माकम् शिरोमाल्यम् आदरणीय असि । त्रिलोक्या लोकत्रयस्य निर्माणं सृष्टि, स्थिति पालनम्, निधन विनाशश्च तद्वन्धो तत्कर्त्तुं मधुभिदो त्रिणो पृष्ठी मूर्ति परशुरामरूपा तनुर्भवान् भृगुकुलम् अधिष्ठाय स्थित्वा स्नाथोकुर्वन् रमते व्यवहारपरायणतया क्रीडति । 'मत्स्य कूर्मों चराहश्च नरसिंहोऽथ वामन । रामो रामश्च रामश्च बुद्ध कल्की च ते दश' इत्यवतारगणना । राम परशुराम, रामो रामचन्द्र, राम वलरामश्चेति त्रयम् ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य — भगवन्, लज्जाके कारण मैं आपका दर्शन नहीं करना चाहता हूँ, अतः मुझे वनगमनका अनुमति दें ॥

( नेपथ्ये )

तुम्हारे मार्ग वलयाणमय हों, आत्मीयजनोंके यहाँसे अपने घर जाओ, हे गुणमय, और क्या कहें, आप हमारे शिरोभूषण हैं, ससारके निर्माण रखासहारकारी भगवान् विष्णुके षष्ठ अवतारके रूपमें आप भृगुकुलमें रम रहे हैं ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य — वत्स रामभद्र ।

राम — आज्ञा करे ।

जामदग्न्य—निवर्त्तस्व । नूनमिदानीं कृतकौतुकागारमङ्गलोप-  
चार श्वशुरकुललोऽस्त्या प्रतीक्षते । ( इति परिक्वच्य निष्प्रान्त । )

राम—( सौद्वेगम् । ) कथं गतो भगवान् । तदहमपि तातममीप-  
मेव गच्छामि । ( इति परिक्वामन्पुरोऽवलोक्य । ) कथं तातश्च जनश्चेत्  
प्याभिप्रर्त्तेते । ( इत्युपसर्पति । )

( ततः प्रविशतो जनकदशरथौ राजानावन्योन्यं परिवर्ज्य । )

जनक—

सुचरितमिदमैतिहासिकानां हृदि न विरस्यति यत्तत्रैष पुत्र ।  
भृगुसुतपरशूदराद्विराजा सहजविजित्वरमाचकर्षं तेज ॥ ६४ ॥  
दशरथ—( पुरोऽवलोक्य सहर्षम् । ) कथमागत एव वत्सो रामभद्र ।

निवर्त्तस्व मदनुगमनं विहाय परावर्त्तस्व । कौतुकागारं परिणयगृहम् । तत्र  
मङ्गलम् नानाविधाचारद्वारकं शुभाशसनम्, तदुपचारं परिपाटी ।

सुचरितमिति । तव एव रामलक्ष्मण पुत्रो जामाता सुतश्च भृगुसुतस्य परशु-  
रामस्य परशूदरात् कुठारातरालात् विराजा क्षत्रियाणां सहजविजित्वरम् स्वभावतो  
विजयशीलम् तेजं यद् आचकर्षं आकृष्य बहिर्नातवान् इदं सुचरितम् रामस्य  
चरित्रम् ऐतिहासिकानाम् इतिहासविदा हृदि न विरस्यति न मलिनता गमिष्यति ।  
तव पुत्रेण रामेण परशुरामकुठारापहता क्षत्राणां बलसम्पुनहृष्टतेति कीर्त्तिमे-  
तिहासिका अनवरत स्मरिष्यन्तीति भावः ॥ ६४ ॥

जामदग्न्य—लौटिये, कौतुक-मङ्गलाचार करके श्वशुरकुलके जादमी निश्चय आपकी  
प्रतीक्षा कर रहे होंगे । ( आलिङ्गन करके जाते हैं )

राम—( उद्वेगके साथ ) क्यों, भगवान् चले गये । अतः मैं भी पिताजीके पास जाता  
हूँ । ( चलते हुए आगे देखकर ) क्यों, पिताजी तथा जनक शहर ही आ रहे हैं । ( समीप  
जाते हैं ) ॥

( दशरथ तथा जनक आकर परस्पर लिपट जाते हैं )

जनक—ऐतिहासिकोंके हृदयोंसे यह सुचरित कभी भी दूर नहीं होगा, कि आपका  
इम पुत्रने भृगुपतिके उदरसे क्षत्रियोंके स्वामाधिक तेजको बाहर निकाल लाया ॥ ६४ ॥

दशरथ—( आगे देखकर सहर्षं ) क्यों, रामभद्र भी आ ही गये,

जनक —सखे महाराज दशरथ, पश्य पश्य ।

विराट्क्षेत्र तेजस्त्रिजगद्वज्रैत्र जनयिता

विधाता सर्वेषामुपरि सवितार कुलभृताम् ।

विनेता वर्णाना भृगुपतिभुजादर्पनिकषो

महावीर श्रीमानयममृतमक्ष्णोर्विकिरति ॥ ६५ ॥

दशरथ —( निर्वर्ण्य । सस्नेहम् । ) सखे सीरध्वज, रघुराजधर्माधि-  
कारसर्वधुरीण शिशुरपि चत्सोऽयम् । तदस्मिञ्जरसा दुर्वह वर्णाश्रम-

धितान्ति । विराट् बहो कालात् परत क्षात्र तेज त्रिजगद्विजय  
वज्रैत्रम् लोकत्रयविजयकरम् जनयिता विधाता, कुलभृता तत्तद्दशप्रवर्त्तकानाम्  
चन्द्रादीनाम् मध्ये सवितारम् सूर्यम् उपरि विधाता सर्वाधिक प्रकर्षं प्रापयन्,  
वर्णाना ब्राह्मणादीना विनेता सत्पथप्रवर्त्तक, भृगुपतिभुजादर्पनिकष परीक्षित  
परशुरामभुजवीर्यश्च श्रीमान् पुण्यलक्ष्मीको महावीरो रामोऽयमक्ष्णो मनयन  
योरमृत विकिरति सुधामिव वर्पति । यो बहो कालात् क्षात्र तेजो विश्वविजयि  
प्रमापितवान्, स्वपामनि वशाना मध्ये सूर्यवक्ष प्रतिष्ठिततम कृत्वा तत्तद्दशशक्ति  
पुरपाणा मध्य सूर्यस्य प्रतिष्ठा समेधिनवान् सर्वान् ब्राह्मणादीन् वर्णान् सत्पथे  
प्र र्तितवान्, भृगुपतेर्भुजवीर्यं च पराक्षितवानसौ महावीरो रामो मम नयनयोर  
मृतवृष्टिमिव करोतीत्यर्थ । 'शाणस्तु निकष कष' इत्यमर ॥ ६५ ॥

रघुराजानाम् राघवव्रयनृपाणाम्, धर्माधिकारे सर्वविधधर्मपालने सर्वधुरीण  
सर्वविधभारवहनक्षम । जरसा दुर्वहम् वृद्धतया मया बोद्धुमशक्यम् । वर्णाश्रम  
भारम्-वर्णानामाश्रमाणा च रक्षारण्यम् । आरोप्य दत्त्वा । राम यौवराज्येऽभिपि  
च्येत्यर्थ । शेषमायु अवशिष्ट वय । उपबुभुक्षामहे उपभोक्तुमिच्छाम, यापयितु  
कामयामहे, ईदृशम्—पुत्रे लक्ष्मीं निधाय तपस्यारसिकम् । साधु-सम्यक् । राम

जनक—सखे महाराज, देखिये,

क्षेत्रतेजके त्रिजगद्विजयी बनानेवाला तथा सभी कुलप्रवर्त्तकोंके ऊपर सूचको प्रतिष्ठित  
ररनेवाला, सभी वर्णोंका विनेता, तथा मार्गवके दर्पको शान्त करनेवाला, यह महावीर  
राम आँखोंमें अमृतरी वर्षा कर रहा है ॥ ६५ ॥

दशरथ—( देखकर ) ( सस्नेह ) सखे सीरध्वज, यह राम लडका होनेपर भी  
रघुवशके धर्माधिकारके भारको उठानेमें समर्थ है । अत मैं चाहता हूँ कि मैं बूढ़ा हो

१ 'उपबोध्यम्' । २ 'कुलभृताम्' । ३ 'अमृतमयम्' ।

भारमारोप्य <sup>१</sup>वयमपि कापि तपोवने दिलीपकुलोचितेन विधिना शेष-  
<sup>२</sup>मायुरुपवुमुभामहे ।

जनक—सखे दशरथ, साधु ते हृद्यमोहशम् । <sup>३</sup>ऋमादेतदनु-  
घातव्यम् ।

राम—( उपसृत्य । ) <sup>४</sup>तातौ, अभिरादये ।

जनक—एषेहि वत्स रामभद्र । ( इति सहर्षमालिङ्गति । )

दशरथ—( राममालिङ्ग्य । ) सखे जनक, रामभद्रमभिषेक्तु जाम-  
दग्न्यविजयप्रीतिरेव श्रेयानरसर । मालक्षेपे पुन को हेतु ।

( प्रविर्य । )

लक्ष्मण—इयमार्याया मन्थरयोपनीता मध्यमास्त्राया पत्नी ।

( राजानो मवितर्कमन्योन्य पश्यत । )

राम—( सहर्षम् । ) वत्स लक्ष्मण, अपि सपरिजातया कुशलम-  
स्त्राया कथयत्यार्या मन्थरा ।

मभिषेक्तुम्—रामस्य योवरात्र्याभिषेक कर्तुम् । जामदग्न्यविजयप्रीति परशुराम  
विजयज्ञेय सन्तोष । श्रेयान् अवसर उत्तम माल ।

मध्यमास्त्राया केंकेय्या । पत्नी लिपि ।

अस्मन् प्रवासदौर्मनस्यम् अस्माक प्रवासेन परदेशस्थत्वेन जायमान दुःखम् ॥

गया हूँ मुझे जो मार दुर्बंद है उसे रामरर रख दूँ और दिलीपकुलोचित भागने किना  
तपोवनमें आधुके दिनोंका उपभोग करू ।

जनक—सखे, ठीकही आपके हृदयमें ऐसा बात है, ऋमादेता कर लोभियेगा ।

राम—( समीप जाकर ) तात, प्रणाम करता हूँ ।

जनक—आओ वत्स रामभद्र, ( गले लगाते हैं )

दशरथ—( रामको गले लगाकर ) सखे जनक, जामदग्न्यकी जीतका आन दोस्त्व  
ही रामभद्रके अभिषेक्ता उत्तम अवसर है, समय विनाशमें क्या हेतु ?

लक्ष्मण—आर्या मध्यमा अम्बाने यह पत्नी भेजी है ।

( दोनों राजा सवितक परस्पर देखते हैं )

राम—(मन्थ) वत्सलक्ष्मण, सपरिवार मध्यमा अम्बाका कुशल तो बनाना है मन्थरा ?

१ वयमपि’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ उपभोगव्यमहे’ ।

३ ‘वमनुघातव्यम्’ । ४ ‘तानौ’ इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।



लक्ष्मण — 'आर्य, अथ किम् ।

राम — नूनमस्मत्प्रजालदीर्घनस्यमन्त्रा पीडयिष्यति ।

जनक — ( लक्ष्मणहस्तात्पत्रिणा गृहीत्वा वाचयति । ) स्वस्ति । महाराज  
दशरथ कैकेयी<sup>१</sup> विज्ञापयति । यथा

तन्मे वरद्वयमुरीकृतपूर्वमेव

याचे विभर्तु भरतस्तव राज्यलक्ष्मीम् ।

वर्षाणि तिष्ठतु चतुर्दश दण्डकाया

सौमित्रिमैथिलसुतासहितश्च राम ॥ ६६ ।

( इति राजानौ मूर्च्छत । )

राम — यदादिशस्यन्त्रा । ( इति गिरसि पत्रिणा दत्त्वा । ) वस्तु  
लक्ष्मण निजामस्मदाराधनमहाध्यायिनीं प्रजावतीमादाय<sup>२</sup> पुरो भव ।

तन्मे वरद्वयमिति । तत् मे मन्त्रम् उरीकृतपूर्वम् पूर्वमन्त्रीकृतम् एव वरद्वयं याचे  
अर्थये, ( तयोरेकेन ) भरतस्तव राज्यलक्ष्मीं विभर्तुं पालयतु ( द्वितीयेन ) राम  
सौमित्रिमैथिलसुताभ्याम् लक्ष्मणसीताभ्याम् सहित राम दण्डकाया दण्डवावने  
चतुर्दशवर्षाणि तिष्ठतु च ॥ ६६ ॥

अस्मदाराधने अस्माकं सेवयाम्, सहाध्यायिनीम् सद्भिनीम्, त्वं सीता च  
सहैवास्माकमाराधने इति तवासावस्मदाराधनसहाध्यायिनी भवति । प्रजावतीम्  
भ्रातृजायाम् । 'प्रजावतीदोहदशसिनी ते तपोवनेषु स्पृह्यालुरेवे'ति कालिदास ।

लक्ष्मण—आय, और क्या ?

राम—निश्चय ही हमारे प्रवाससे माता पीड़ित होगी ।

जनक—( लक्ष्मणके हाथसे पत्रा लेकर पढ़ते हैं ) स्वस्ति, महाराजसे कैकेयी विज्ञापित  
करतो हैं, हमारे जो दो बर आपन पहले स्वीकृत किये थे, उनमें मैं भरतका राज्याभिषेक  
माँगती हूँ और लक्ष्मण तथा सीताके साथ चौदह वर्ष पर्यन्त राम दण्डकावनमें रहें ॥६६॥

( दोनों राजा मूर्च्छित होते हैं )

राम—माताकी जैसी आज्ञा । ( पत्रिका सिरपर लेकर ) वस्तु लक्ष्मण, हमारी  
आराधनामें तुम्हारी सहायता करनेवाला अपना मौजाइको साथ लेकर आये बढो ।

१ 'आर्य' इति पुस्तकान्तरे नास्ति । २ 'द्वौ कैकेयी' ।

३ 'गृहीत्वा' । ४ 'पुरस्ताद्भवेति' ।

लक्ष्मण —<sup>१</sup>तथा । ( इति निष्क्रान्त । ) - -

राम —<sup>२</sup>तातौ, <sup>३</sup>समाश्रयित ममाश्वसितम् ।

जनक —( आश्रयम् । ) अहह ।

पाणिर्गृहीतो रघुपुंगवेन <sup>४</sup>देव पुराण श्वशुरो विवस्वान् ।

पिता स्वय केकयचक्रवर्ती कर्मदमेतादृशमा किमेतत् ॥ ६७ ॥

( इति मूर्च्छति । )

( राम <sup>५</sup>पटाञ्जलेन वीजयति । )

दशरथ —( आश्वस्य । )

कोऽप्येष <sup>६</sup>वाङ्मनसयोरतिवृत्तवृत्ति

र्भावो हृताशनमयश्च तमोमयश्च ।

पाणिरिति । रघुपुङ्गवेन दशरथेन पाणिर्गृहीत विवाहविधिना स्वीकृत, देवो विवस्वान्मूर्यं पुराण श्वशुर, पिता जनक साक्षात् स्वयं केकयचक्रवर्ती केकयाणां सञ्जातः, तथापि तव ईदृशम् रामधनवान्प्राथनामकं कर्म ? एतत् किम् ? कुत आगतमिति शेषः ॥ ६७ ॥

कोऽप्येष इति । वाङ्मनसयो वाचो मनसश्च अतिवृत्तवृत्ति<sup>६</sup> अविषय वचसो

लक्ष्मण —( जो आशा ) ( जाना है )

राम —मान, धीरज धरें ।

जनक —( आश्वस्य होकर ) अहह " रघुराज (दशरथ) ने पाणिग्रहण किया, भगवान् मूर्य हमके श्वशुर हैं, पिता हैं केकयदेशके चक्रवर्ती, फिर भी हमके यह कार्य, आ, यह कैसे हुआ ? ॥ ६७ ॥

( मूर्च्छित होते हैं )

( राम बखानसे दवा करते हैं )

दशरथ —( आश्वस्य होकर ) वाणी तथा मनका अतिक्रमण करनेवाला एवं उवाचामय

१ 'यदाशपयत्याव' । २ 'समाश्रयिता समाश्रयितान्' । ३ 'देवश्च साक्षात्' ।

४ 'रामस्येन पटाञ्जलेन' । ५ 'अतिवृत्तकर्मा' 'अतिवृत्तवर्मा' ।

भोस्तृत्वमात्रमिदं मे पुनरीदृशं मां

हा वत्स राम कथमुत्सहसे विहातुम् ॥ ६८ ॥

( विमृश्य । ) हा वत्से जानकि, निशाचराणामातिथेयीभक्तिं दशरथ-  
'गृहे प्रविष्टासि । ( इति मूर्च्छति । ),

राम — तातौ, 'समाश्वसित समाश्वमितम् ।

जनक — ( आश्चर्य । आकाशे लक्ष्य बद्ध्या । ) साधु सखि कैकेयि,  
साधु । यदस्या विश्वंभरादुहितुर्मे वत्साया पत्युरनुवृत्तिरेव प्रसादीकृता  
( विमृश्य । सव्ययम् । )

मनमोऽपि वाऽविषय हुताशननय सन्तापकतया वह्निभय अज्ञानजनकतया  
तमोमयश्च कोऽपि अनिवचनीयस्वरूपो भाव ममावस्था जायत इत्यर्थः । इदं  
अस्या विपनयामवस्थाया मे पुन भोक्त्रवमात्रम् केवलमनुभवितुं वम् न जनक-  
न वा प्रतिकारक्षमत्वम् अस्ति, हा ईदृशम् इमा कष्टमवस्था प्राप्तम् भा हे वत्स  
राम, त्व कथं विहातु त्यक्त्वा वत गन्तुमुत्सहसे इच्छामि ? ईदृशयामवस्थाया मा  
परित्यज्य तव वनगाननमदुक्त्वमिति भावः ॥ ६८ ॥

आनिथेयी अतिथि, निशाचरगृहे गन्तुनेव दशरथगृहे गतामीत्यर्थः । विश्व  
भरादुहितु धरासुताया । पत्युरनुवृत्ति प्रत्यनुगमनम् ।

तथा अन्धकारनय यह भाव है, इनमें यद्यपि मैं मोक्षनात्र हूँ, तथापि हे राम, तुम मुझे  
क्यों छोड़ रहे हो ॥ ६८ ॥

( सोचकर ) हा माँ, राहनोंके आतिथ्यके लिए ही तुमने दशरथके गृहमें  
प्रवेश किया ।

राम—जान, धोरन धरें,

जनक—( आश्चर्य होकर ) ( आकाशमें हाथ जोड़कर ) साधु सखि कैकेयि साधु,  
पृथ्वीकी पुत्री इन सौत्राकी तुमने पतिका अनुगमन ही लहरामें दिया ॥

( विचारकर सखेद )

धनुष्मन्तौ वत्सौ दशरथभुञ्जैरुष्मन्तमा<sup>१</sup>

प्रदेशास्ते वत्सा शिशुरशिववृत्ता वनभुव ।

प्रियै राजा मुक्तैरसुभिरपमार्ष्टिं स्वमयश

श्चरित्रव्यत्यास सखि कथमयं केकयकुले ॥ ६९ ॥

कष्ट च । वयमपि कथमनेन जनपदेषु<sup>२</sup> बहुलीभवता भरतयौवराज्य लक्ष्मीकर्णपूरतमालपल्लवेन कैकेयीदुयशसा मूर्धानमुन्नमय्य लोकस्य सुरा द्रज्याम<sup>३</sup> ।

धनुष्मन्ताविति । वत्सौ रामलक्ष्मणौ धनुष्मन्तौ प्रशसनीयधनुर्धरौ, ते प्रदशा रामेण गन्तव्या देशा दशरथभुने दशरथप्रनापे उष्मन्तमा साधुतेन पूणा परिपालिता मन्तापिताश्च सम्नाति शेष, वत्सा सीता शिशु गालावस्था, वनभुव काननस्थस्य अशिववृत्ता विघ्नग्रहला, राजा दशरथ मुक्ते परित्यक्त प्रियै स्वै प्राणैरयशो रामवनप्रपणकलङ्कम् अपमार्ष्टि चालयति, हे सखि केकयि, केकयकुले तव पितु केकप्रस्य वशेऽप्य चरित्रव्यत्यास दुराचारमव कलङ्क कथं जात । बालावपि रामलक्ष्मणौ धनुर्धरौ, रामगम्यादेशाश्च दशरथमुपवीर्यनिषिता इति च वनभुवा विघ्नग्रहलात्वेऽपि शिशोरपि सीताया न किमपि शङ्कितव्यमस्ति, दशरथश्च प्राणानपहायैव स्वीय रामवनप्रपणकलङ्क चालयति, तद्वयं सर्वोऽपि कलङ्क केकयवश एव त्वया निहित इति कारण तस्य न पर्याप्त इत्याशय । शिवरिणीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

बहुलीभवता प्रमरता । भरतस्य यौवराज्यलक्ष्म्या कर्णपुर कर्णाभरण यस्तं मालपल्लवस्तत्स्वरूपेण, भरतराज्यलक्ष्म्या सततसखिहितेनेत्यर्थ । कैकेयीदुर्यशसा कैकेयीकलङ्केन ।

राम-लक्ष्मण धनुधर हैं, दशरथके भुजप्रनापमे वह देश पहलेसे ही माधिन ह सिर भी पने अमङ्गलमय होते हैं, अपने प्रिय प्राणोंका त्याग करके दशरथ अपने अयशका क्षालन कर रहे हैं, हे सखि, सुन्दारे कुलका चरित हम प्रकार क्यों बदल गया ॥ ६९ ॥

वहा बट्ट ! हम देशमें फैलनवाले भरतकी राज्यलक्ष्मीके वशभूषणतुल्य इस कैकेयाके कलङ्कके कारण कैसे सिर उठाकर चलेंगे ?

राम —( उन्वाय । ) तात जनक, यथा सुस्थ तात शृणोमि तथा  
भयता विधातव्यम् । ( इति निष्क्रान्त । )

दशरथ —( आश्वत्थोपाय व । ) वत्स रामभद्र, परिपालय माम् ।  
( इति जनकेन धार्यमाणो निष्क्रान्त । )

( इति निष्क्रान्ता सर्वे । )

इति दशरथप्रलम्भो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।

सुस्थम् प्राप्तसुस्थभावम् , प्रसन्नम् ॥

इति मैथिलपण्डितधीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'  
चतुर्थोऽङ्क 'प्रकाश' ।

राम —( उठकर ) जिम प्रकार में पिताजीको सुस्थ सुन पाऊँ, आप वैसे प्रयास  
करेंग । ( बाते हैं )

दशरथ —( आदरवत्न होकर और उठकर ) वत्स रामभद्र, मेरी रक्षा करो ।

( जनकमे अवलम्बित दशरथवा प्रस्थान )

( सबका प्रस्थान )

चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

## पञ्चमोऽङ्कः

( तत प्रविशत श्रवणाजाम्बवन्तौ । )

जाम्बवान्—ततस्तत ।

श्रवणा—ततो मिथिलाया निष्क्रम्य मन्थराकलेपरमपकीर्य माह-  
तिप्रत्यवेक्षित स्वशरीरमधिष्टाय गङ्गाया शृङ्गवेरपुर नाम निपादपक्षेण  
भागत्य<sup>३</sup> शबरीभूतास्मि ।

जाम्बवान्—ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च ममानुपदमेव तस्मिन्निर्मौ रामलक्ष्मणाविय  
सीतेति सर्पत शब्दो महानभूत् ।

जाम्बवान्—( सहर्षम् । ) ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च कावेतौ रामलक्ष्मणाविति कर्णधाराधिपतिना

मिथिलाया निष्क्रम्य विदेहनगराद् वहिर्भय । अवकीर्य परित्यज्य । मारुति  
प्रत्यवेक्षितम् हनुमता सुरहितम् । गङ्गायाम् गङ्गातटे । पञ्चगम्य शबरालयम् ।  
शबरीभूता चाण्डालरूप धृत्वती ।

ममानुपदम् मत्पश्चात् । तस्मिन् शबरात्ये ।

कर्णधाराधिपतिना कर्णधाराणाम् नाविकानाम् अधिपतिना राज्ञा गुहेन । अनु  
युक्ता पृष्टा । निवेदितवती उच्यते ।

( श्रवणा तथा जाम्बवान्का प्रवेश )

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद मिथिलासे निकलकर मन्थराके कलेवरको छोड़ हनुमान्का  
सुरधामे वर्तमान अपने शरीरमें प्रवेश करके गङ्गातटस्थ शृङ्गवेर पुरमें भाकर शबरी  
वन गद् ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—मेरे पाछे ही उस शृङ्गवेर पुरमें—यह है राम-लक्ष्मण, यह है सीता—इस  
प्रकारके शब्द होने लगे ।

जाम्बवान्—( सहर्ष ) इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद कर्णधाराधिपति गुहने स्वयं पूछ िया कि यह राम-लक्ष्मण

१ 'मम'ग-'. २ 'गङ्गातीरे' । ३ 'भागत्य भूतास्मि' ।

गुहेनाहमनुयुक्ता निवेदितवत्यस्मि' । :-

पुत्रीयता दशरथेन मुनिप्रसादा

प्राप्ता पुराणपुरुषस्य कलाश्चतस्र ।

तासामय गुणमय प्रथम कुमारो

वीरोद्धत पुनरसावपरस्तृतीय ॥ १ ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, साधूक्तम् । ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्चोदकान्तनिर्गर्तितानुयात्रिकवन्धुवर्गं ससभ्रमोपगतेन गुहेनोपनीता नावमधिरह्य

तांत्वा भूतेशमौलिस्त्रजममरधुनीमात्मनाऽसौ तृतीय

स्तम्भे सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतघानातर नाविकाय ।

पुत्रीयतनि । पुत्रीयता आत्मन पुत्रमिच्छता दशरथेन मुने ऋष्यशृङ्गस्य प्रसादात् अनुग्रहानिश्चयात् पुराणपुरुषस्य नारायणस्य चतस्र कला अशा प्राप्ता पुत्ररूपेण लब्धा, तासा कलाना मध्ये अय गुणमय सकलगुणनिधानम् प्रथम कुमार राम, वीरोद्धत वीरोद्धतगत्या परिक्रामन् असावपर तृतीय कुमारो लक्ष्मण अस्तीति शेष । ऋष्यशृङ्गविहितयागमहिम्ना दशरथेन ये चत्वार पुत्रा प्राप्तास्तेषु प्रथमोऽय रामस्तृतीयश्चाय लक्ष्मण इत्यर्थं ॥ १ ॥

तत्रश्चेति । ततश्च तदनन्तरम् उदकान्तात् जलसमीपात् निर्वर्तित परावृत्तिन अनुयात्रिक अनुगच्छन् वन्धुवर्गो येन तथोक्त, 'आ उदकान्त रिनग्धोऽनुगम्यते' इति श्रुत्यनुसारेण जलसमीपदेशादनुयायिय-धुजनाव्विस्मय्येत्यर्थं । ससभ्रमोपगतेन मन्वरमुपस्थितेन । गुहेन निषादेन । उपनीताम् आनीताम् । अधिरह्य आरह्य ।

तांत्वा भूतेशेति । आत्मना तृतीय द्वाभ्या सीतालक्ष्मणाभ्या सहित असौ राम

कौन है ? इसपर मेन उत्तर दिया कि—

पुत्रवा इच्छासे यज्ञ करनेवाले दशरथने मुनिवरके अनुग्रहने पुराणपुरुष विष्णुकी चार कलायें प्राप्त कीं, उनमें प्रथम यह राम है और तृतीय है यह वीरोद्धत लक्ष्मण ॥१॥

जाम्बवान्—श्रवणे, तुमने ठीक उत्तर दिया । इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद जलाशयके पाससे पीछे चलनेवाले आत्मीयजनोंको लौटाकर शीघ्रतया गुहद्वारा उपस्थापित नावपर चढ़कर—

सीता तथा लक्ष्मणके साथ रामने गङ्गा पार किया और उस गुहको लक्ष्मणके साथ

१ अस्मि' इति पुस्तकान्तरे नास्ति ।

२ 'वीरोद्धत' ।

३ 'उपगतन' ।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शवरयुवतिभि कोतुकोदञ्चदक्ष

कृच्छ्रावन्वीयमान क्षणमवलमथो चित्रकूट प्रतस्थे ॥ २ ॥

जाम्बवान्—हन्त महत्करणम् ।

श्रवणा—आर्य, करुणभयादेवे तस्मिन्निहृदीतरुमूले कुमारयोर्ज-  
'जटाग्रहणवृत्तान्तमन्तरितवत्यस्मि ।

जाम्बवान्—श्रवणे, सर्वमेतत्कल्याणोदकं भविष्यति ।

नृत्तशमोर्लक्षणम् शिवशिरोमाल्यभाव भनत्सु अमरधुनीं गङ्गा तीर्त्वा उर्त्तीर्ष्य  
तस्मै नाविकाय सौमित्रिमैत्रीमयम् लक्ष्मणेन सह सूर्यस्वरूपम् आतरम् तर  
पण्यम् उपहेतवान् दत्तवान् । मीतालक्ष्मणाभ्या द्वाभ्यां सहित आम्ना तृतीयो  
ऽसौ राम शिवशिरोमाल्यरूपतया प्रथिता गङ्गामुत्तार्य नाविकाय तस्मै लक्ष्मणेन  
सह मैत्रीमेव तरपण्य समर्पितवानित्यर्थ । अथो अनतरम् व्यामग्राह्यस्तनीभि  
व्याम बाह्योस्तिर्यगन्तरभाग तद्ग्राह्यौ पीनतया बाहुद्वयग्राह्यौ स्तनो यासा  
तादृशोभि शवरयुवतिभि कौतुकेन कुतूहलन उद्वृत्ती अङ्घ्रिणी नयने यत्र तत्तथा  
कुतूहलप्रचलितनयन क्षण कृच्छ्रात् कष्टम् अवीयमान अनुगम्यमान चित्रकूट  
नामाचल प्रतस्थे ययौ । अत्र कृच्छ्रानुगमने कारणमुक्त व्यामग्राह्येयादिना ।  
'आनरस्तरपण्य स्यात्' इत्यमर । 'व्यामो बाह्यो मरुतयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्'  
इति च । स्वधरावृत्तम् ॥ २ ॥

करणभयात् तवापि शृण्वत शोक स्यात्ति भयेन । इहुदीतरुमूले तापमतरी  
रघस्तात् । कुमारयो रामलक्ष्मणयो । जटाग्रहणवृत्तान्तम् जटानिमाणवृत्तम् ।  
अन्तरितवती त्यक्तवती ।

कल्याणोदकम् शुभफलम् । 'उदकं फलमुत्तरम्' इत्यमर ।

मैत्राण्य अनराइ अर्पित वा । इसके बाद विशालनग स्तनोवाला शवरियो द्वारा ओखोने  
कौतुक मर कर अनुगम्यमान हो वह राम कठिनाइके साथ चित्रकूटाचरकी ओर बडे ॥२॥

जाम्बवान्—बड़ा कष्ट इश्य रहा हाँगा ।

श्रवणा—आय, करुण होनेके कारण ही मैंने उस इहूदी-रुमूले किसे गये कनारोंके  
जटाग्रहण-वृत्तान्तको छोड दिया है ॥

जाम्बवान्—श्रवणे, इस सरका परिणाम अच्छा ही होगा ।



श्रवणा—अह तु निपादपतिप्रीतये । तत्रैवातिष्ठम् । अतीते च गणरात्रे 'सप्रकृतिजनपद' पितु 'स्वगारोहणवार्ताभिधायी' द्वितीयो दशरथी रामभद्रमयोध्यामुपनेतु तेनैव पथा चित्रकूटमुपगत ।

जाम्बवान्—( सशङ्कम् । ) ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च तस्मिन् 'आर्य, लोके कैकेयानामाकल्पमनल्प मकीर्तिस्तम्भ निखनता' केनापि च्छलितस्तात । तत्सप्रति गृहाण 'रघूणामधिराज्यम्' इति पुन पुनश्चिरमनुबन्धी रामेण सृष्टिकया प्रत्या दिष्ट कृतजटापरिमहो भरत शरभङ्गमुनिप्रेषितामस्य पादुका 'भद्रास-

निपादपतिप्रीतये निपादराजाज्ञापूर्यां तत्सन्तोषजननार्थम् । तत्रैव रामाग्रमे, गणरात्रे बह्नीषु निशासु । 'गणरात्र निशा बह्व्य' । इत्यमर । सप्रकृतिजनपद' प्रजाभिर्देशवापिभिश्च सह । पितु दशरथस्य ।

स्वगारोहणवार्ताभिधायी शृणु कथयन् । द्वितीयो दशरथि दशरथस्य द्वितीय पुत्रो भरत । उपनेतुम् परावर्त्तयितुम् । पथा मार्गेण ।

कैकेयानाम् कैकयवश्यानाम् । आकल्पम् प्रलयकालपर्यन्तम् । अनल्पम् अतुच्छम् । अकीर्तिस्तम्भ निखनता अयशस्तम्भ रोपयता । छलित वञ्चिन । अनुबन्धी आग्रहपरायण । सृष्टिकया सशपयम् । 'सृष्टिका शपथेऽपि च' इति रत्नकोष । प्रत्यादिष्ट निषिद्ध । कृतजटापरिमह एतजट । शरभङ्गमुनिप्रेषिताम् तदारयमुनिद्वारा प्रहिताम् । अस्य रामस्य । पादुकाम् उपानहम् । 'अथ पादुका,

श्रवणा—मैं ही निपादको प्रसन्न करनेके लिये वहाँ ठहर गए । कुछ रात्रियोंके व्यतीत हो जानेपर भरत प्रजाजनको साथ लेकर वनमें आये, उन्होंने पिताके निधनकी बात कही, और रामभद्रको अयोध्या ले जाना चाहा तथा उमा मार्गसे चित्रकूट गये ॥

जाम्बवान्—( सशङ्कम् ) हमके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद भरतने रामसे कहा—'आर्य, लोकमें कैकेयीको कल्पित करने के लिए अकीर्ति स्तम्भ गाड़कर किमाने पिताजीको धोखा दे दिया था, अब आप अपना रघुवंश राज्य स्वीकार करें' । इस तरह बार बार प्रार्थना करनेपर भी रामने

१ 'प्रकृतिपौरजनपद' । २ 'स्वगारोहण' ।

३ 'दशरथिद्वितीय' 'भरती दशरथिद्वितीय' । ४ 'सशङ्कम्' ।

५ 'केनापि भूतेन' । ६ 'रघूणा धुरमिति पुन पुनरनुबन्धी' ।

७ 'अस्य रामस्य' । ८ 'भारोप्य' ।

नमधिरोप्य प्रजानायाभ्युदयिकमवेक्षमाणस्तदैव<sup>१</sup> नन्दिग्रामं गतवान् ।  
जाम्बवान्—( सहर्षम् । ) हन्त फलितमस्मद्द्वयसायश्रवणापरिश्र-  
माभ्याम् । ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च शावाशौचमास्थितस्य क्षत्रियस्य<sup>२</sup> प्रतिपिद्धमख-  
ग्रहणमिति च्छिद्रान्वेषिभिर्जनस्थानवास्तव्यै सरदूपणप्रभृतिभिस्तत्र  
विराधो नाम राक्षसस्तीक्ष्ण प्रहित ।

जाम्बवान्—( विहस्य । ) धिङ्मूर्त्ता, आतिपातिके हि कार्ये राजा  
सद्य शुद्धि । ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च विराधवधाक्षिप्तहृदये दुःसहशोकदीर्घाह्नीमौर्ध्व  
पादुस्पानत्<sup>३</sup> इत्यमर । भद्रासनमारोप्य सिंहासने स्थापयित्वा । आभ्युदयिकम्  
अभ्युदयम् । अवेक्षमाण परिपालयन् । अस्मद्द्वयसायश्रवणापरिश्रमाभ्याम् मम  
श्रवणायाश्चायास सफलो जात, शावाशौचम् मृतकाशुद्धिम् । आस्थितस्य  
प्राप्तस्य । प्रतिपिद्धम् वर्जितम् । च्छिद्रान्वेषिभि रभ्रगणतत्परै । जनस्थान  
वामिभि मल्यात्सिमीपस्थरक्षोवामस्थानवत्सिभि । तीक्ष्ण खर । 'वरा मत्या  
गिनोस्तीक्ष्ण' इति धरणि । आतिपातिक कालान्तिपातासहिष्णौ । सद्य शुद्धि  
तत्काल एव शौचम् । विराधस्य वधेन आक्षिप्तम् आकृष्ट हृदय यस्य तथोक्ते  
विराधवध कृत्वा खिद्यमानमानमे रामे । दुःसहशोकदीर्घाह्नीम् दुःसहेन कष्टभोग्येन

प्रत्यारयान कर दिया । अब भरतने भा जटा बना ली और वह शरभद्र द्वारा प्रेषित  
रामभद्रकी पादुकाकी गद्दीपर बैठा करके प्रजाभोंदे अभ्युदयकी देख-रेख करने हुए  
नन्दिग्राममें चक्कर रहने लगे ।

जाम्बवान्—( सहर्ष ) अहा हमारा व्यवहार और श्रवणाका परिश्रम मफल हुआ ।  
इसके बाद ?

श्रवणा—मरणशौचकी दशमें क्षत्रियोंके लिए अखग्रहण निषिद्ध है ऐसा समझकर  
छिद्रान्वेषी बनवाना विराध, खर, दूषण प्रभृतिके द्वारा रामके पास भेजा गया ॥

जाम्बवान्—बिकार है उत्र मूर्खोंकी, शीघ्र संपाद्य कायम राजाकी सद्यशुद्धि होगी  
है, इसके बाद ?

श्रवणा—इसके बाद विराधके वधसे रामका हृदय विन्न हो उठा, दुःख तथा

१ 'अवेक्ष्यमाण' ।

२ 'गत' ।

३ 'क्षत्रस्य निषिद्धम्' ।

४ 'विराधनामा' ।

५ 'विशुद्धि' ।

६ 'वधक्षणाक्षिप्तहृदये दुःसह' ।

देहिनीं पितु क्रियामतिवाह्य भगवता- चतुःसमुद्रमुष्टिप्रयेन विन्ध्या-  
चलचापलारम्भप्रिस्रव्यधातिना वातापिदानवदीर्घयात्रामङ्गलकलशेन  
'कलशयोनिना'सनाथामरण्ययीर्था प्रतिष्ठमाने दाशरथी पथि धारापरो  
नाम वायम' महमैव वैदेहीमुपाद्रवन् ।

शोकैः पितृमरणचन्वकष्टेन दीर्घाणि दुःखविशालानि अहानि दिनानि यस्या  
तादृशीम् । पितु दशरथस्य । और्ध्वदेहिनीं क्रियाम् मरणानन्तरमभ्याधा धाद-  
क्रियाम् । अतिवाह्य समाप्य । चतुःसमुद्रेति । चतुर्णां समुद्राणां समाहारश्चतु-  
समुद्रम्, तन्मुष्टिकृत्य धयति पिबतीति चतुःसमुद्रमुष्टिप्रयेन, राक्षसेषु युद्धे  
पराजितेष्वपि पुन पुन सागरे निर्लीय स्व गोपयित्वा देवानुपाद्रवमु शक्रः प्राथि  
तोऽगस्त्य मागर पीतवानिति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् । विन्ध्याचलति ।  
विन्ध्याचलस्य चापलेन चाञ्चल्यप्रयोचितो य आरम्भ सूर्यमागावरोधप्रयास-  
न्तस्य विन्ध्याप्रधातिना विधासोत्पादविधया हन्त्रा पुरा मुनेस्पर्द्धया वर्धमाने  
विन्द्ये सूर्यमागावरोधात्तानि व्याकुले मति दर्वैर्यतोऽगस्त्य स्वसिप्य विन्ध्या  
सुप्रसन्न्य पादप्रगते तस्मिन् 'यावद्दह परावर्त्ते तावदि धमेव स्त्रेय न चोत्थेयमि'त्यभि-  
धाय दक्षिणा दिशम् पुन प्रयावृत्तये गत इति कथामूलकमिदमगस्त्यविशेषणम् ।  
विन्ध्याचलकर्त्तृकस्यारम्भस्य विन्ध्याप्रधाती हि मुनिरगस्त्यो भवति प्रतार्थं तत्तन्ना  
पनादिति बोध्यम् । वातापिदानवति । वातापिदानवस्य तदारयानुरभेदस्य या दीप  
यात्रा मरण तत्र मङ्गलकलशेन सिद्धिकरेण यथा यात्राया मङ्गलकलशं सिद्धिकरस्तथं  
वाग्मन्थो वातापेरमृत्यौ सिद्धिकर इति तथा विशेषणम् । पुरा आनापिवातापी नाम  
राक्षसौ परस्पर विचार्य मामभोजनाय कञ्चन निमन्त्रयामासतु, तस्मिन्नापाते मेप  
स्वरूपमेक द्वयोर्हत्वा ससृष्ट्य चापरो निमन्त्रितानिधि भोजयति, भुङ्क्वति तस्मिन्  
आतापे बहिर्भवति वातापीरित श्रुत्वा भोक्तुन्दर विदार्य भुक्त आतापिनियानि,  
प्रियत च मामभोक्ताऽनिधिरथ तं माम् तौ मुखमत्त, सयोगात् कदाचिदगस्त्यमपि  
निमन्त्र्य व्यवहृत् प्रवर्त्तमानस्य भुङ्क्म्यातापेरदरे एव जीर्णताऽजमीति तं मरणे  
मङ्गलकलशावितमगस्त्येनेति कथात्र विशेषणे मूलम् । कलशयोनिना अगस्त्येन ।

शोकमे पिनाका श्राद्ध करके राम जब चारों मापरोको उठाकर पी आन बाळ विन्ध्याचलके  
उत्रमनको गेकनेवाळे तथा वातापि दानवको दीवदाशा करानेमें मङ्गलकलउ समान  
अगस्त्यमुनिसे मनाथ बनवा ओर जा रहे थे तब धाराधर नामका कांक हठाव वैदेहीके  
साथ उपद्रव कर बैठा ।

जाम्बवान्—( स्वगतम् । ) इदं तावदपराकुनं नाम । ( प्रकाशम् । )  
ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च

रक्षोभिचारचरुभाण्डमिव स्तनयो

देव्या विदेहदुहितुर्विददारकाक ।

पेषीकमस्त्रमधिकृत्य तदा तमक्षणा

काणीचकार चरमो रघुराजपुत्र ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—ततस्तत ।

श्रवणा—ततश्च ।

क्रमेणैव सुतीक्ष्णादीनुपस्थाय महामुनीन् ।

सनाथाम् युक्ताम् । अरण्यवीथीम् वनम् । प्रतिष्ठमाने गच्छति । दशरथौ रामे ।  
वायस काक ।

इदम् काककृतमुपद्रवणम् । अपशकुनम् अशुभमूचकम् ।

रक्षोभिचारिणि । य काक रक्षसा रक्षसानाम् अभिचारे मारणप्रयोजनके  
यागभेदे चरुभाण्डम् हृद्यपाकपात्रमिव देव्या विदेहदुहितु सीताया स्तन विददार  
क्षतवान्, चरमो रघुराजपुत्र प्रथमो दशरथसुतो राम पेषीकम् वीरणशलाकाकृतम्  
अस्त्रम् वागम् अधिकृत्य आदाय त काक धाराधर नाम अक्षणा काणीचकार एक  
मङ्गि विभेद तस्येति भाव । 'हृद्यपाके चरं पुमान्' इत्यमर, 'चरमो अष्टकनिष्ठयो'  
इति विश्वप्रकाश ॥ ३ ॥

क्रमेणैवेति । रघुद्वह रघुवशतिलक राम क्रमेण यथाक्रमम् सुतीक्ष्णादीन्  
सुतीक्ष्णतृणविन्दुशरभङ्गप्रभृतान् महामुनीन् सहपान् उपस्थाय प्रणामादिना

जाम्बवान्—( स्वगत ) यदं ता अपशकुनं इ । ( प्रकट ) इमक वाद ?

श्रवणा—इमके वाद निम वाकने राक्षस वध यशके चरुभाण्डतुल्य देवीके स्तनोंको  
विदारित किया था, उसे बड़े रघुराजपुत्रने पेषीक अस्त्र ( शरकण्डके बाण ) से काना बना  
दिया ॥ ३ ॥

जाम्बवान्—इसके बाद ?

श्रवणा—इमके बाद क्रमश मुनीन् आदि महामुनियोंकी चरणवन्दना करके

अगस्त्यशासनादास्ते पञ्चवट्या रघूद्बहः ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—( महर्षम् । ) तर्हि 'हस्तगत एवास्माकम् । कियदन्तरमृष्यमूकजनस्थानयो ।

श्रवणा—आर्य, न सत्यद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि ।

जाम्बवान्—अमहितोऽस्मि ।

श्रवणा—तत्र च कामुकी 'रामभद्रमनुप्रविश्य' रस दास्यामीति सकल्पितपतिद्रोहपातकिनी शूर्पणखा लक्ष्मणरोपहुतभुजि कर्णनासौष्ठमयीभिस्तिष्ठभिराहुतिभिः प्रायश्चित्तयाचक्रे ।

सकृत्य अगस्त्यशासनात् अगस्त्यादेशं प्राप्य पञ्चवट्या तन्नामके स्थाने आस्ते वसन्ते ॥ ४ ॥

हस्तगतं करगतं प्राप्तकल्पं । कियदन्तरम् कियद्व्यवधानम् ।

न तावदद्यापि श्रोतव्यं शृणोषि सम्प्रत्यपि श्रोतव्यमवशिष्यते श्रोतुम् । कामुकी मैथुनेच्छाशालिनी । रामभद्रम् अनुप्रविश्य रूपयौवनललितैर्मोहयित्वा । रसम् त्रिपत्रिशेषम् । सङ्कल्पितस्य मनसावृतस्य । पत्यु रामस्य । द्रोहकारिणी अशुभाभिलाषिणी । लक्ष्मणरोपहुतभुजि लक्ष्मणस्य कोपपावक्रे । प्रायश्चित्तयाचक्रे प्रायश्चित्तं कृतवती । रामपतित्वेन मनसि कृत्वा तस्य द्रोहविषदानरूपं चिन्तयित्वा विहितपापा शूर्पणखा कर्णनासौष्ठमयीस्तिष्ठ आहुतीर्लक्ष्मणकोपपावक्रे दत्तवती, अन्यापि कृतपापा पावक्रे यथाशास्त्रमाहुतीर्ददाति तथेति भावः ॥

अगस्त्यका आशासे रामपञ्चवटामे निवासं कर रहे हँ ॥ ४ ॥

जाम्बवान्—( सद्यः ) तव तो वह हमारे हाथमें हा है । ऋष्यमूक तथा उस वनमें कितना अन्तर है ?

श्रवणा—आर्य, अभी तो आपने कामुकी बात सुनी ही नहा ।

जाम्बवान्—कहो, सावधान हूँ ।

श्रवणा—वहाँपर वामपरवशा शूर्पणखा पहुँची, उमने सोचा कि रामके साथ सम्बन्ध जोड़कर आनन्द करूंगी, और उन्हें विष दे दूंगी, इस प्रकार जो उसने सङ्कल्पित पतिव्रात द्रोह सोचा इसके लिये उसे लक्ष्मणके कोपानलमें काननाकभोरूप नील आहुतियों देकर प्रायश्चित्त करना पड़ गया ।

जाम्बवान्—( सातङ्गम् । ) अहह महाननर्थकन्द - सवृत्त । अथ भगिन्यास्तादृश विडम्बनमवलोक्य खरादिभि किं प्रतिपन्नम् ।

श्रवणा—( विहस्य । ) आर्य, किं प्रतिपन्नम् । यद्रामभद्रे धृतवज्रुपि प्रतिपन्नते ।

जाम्बवान्—( सहर्षहासम् । ) तत्किं तेऽपि 'वालिसाहायकोपस्था-  
यिनो विराधयान्नाप्रहतमध्यानमनुप्रपन्ना ।

श्रवणा—अथ किम् ।

जाम्बवान्—श्रवणे, प्ररूढमिद्रानीं रामरावणयोरैरम् ।

श्रवणा—( हसन्ती । ) आर्य, मन्ये 'खरदूषणप्रभृतीनामभिभवाभि-  
धाने जेजल क्लेशयिष्यति वाचमात्मन । पुनरनञ्जरमपि शूर्पणखामुख-  
मावेत्यिष्यति दशकधरस्य ।

अनर्थकन्द अनिष्टमूलम् । सवृत्त जान । विडम्बनम् अपमान धर्पणञ्च ।  
प्रतिपन्नम् अनुष्ठितम् ।

वालिसाहायकोपस्थायिन वालिन साहायकाय सहायतायै उपस्थायिन तत्र  
सन्निहिता । विराधयान्नाप्रहतम् विराधेन छुण्णम् । जाम्बवान् मार्गम् । अनु  
प्रपन्ना अनुसृतवन्त ॥

प्ररूढम् पुष्टिं गतम् ।

अभिभवाभिधाने पराजयकथने । क्लेशयिष्यति खेद्यिष्यति । अनञ्जरम्  
विना शब्दप्रयोगम् । विकृत शूर्पणखामुख विनैवोक्तिं सर्वं वस्तुवृत्त रावणाय निवे-

जाम्बवान्—( डरकर ) बडे भारा अनथकी जड जम गद । अपनी बहनको बड  
दशा देखकर खरादि राक्षसोंने क्या किया ।

श्रवणा—( हसकर ) रामभद्रके समान धनुषरके रदसे जो करना चाहिए ।

जाम्बवान्—( सहस्रहास ) क्या बालिकी महायतामें आये हुए वे भी विराधके द्वारा  
गननागने चले गये ।

श्रवणा—और क्या ?

जाम्बवान्—श्रवणे, अब तो राम रावणका वैर जम गया ।

श्रवणा—( हसती हुई ) मैं समझती हूँ खरदूषण आदिकी कथा कहकर बड़ केवल  
अपनी बागीकी कष्ट देगी, नहीं तो शूर्पणखाका मुख ही विना शब्दके सारी बात बता  
नेनेमें पर्याप्त है ॥

जाम्बवान्—( तस्मितम् । ) शरणे, 'लघूत्थमनर्थमुत्प्रेक्ष्य प्रमु-  
थोऽस्मि ।

ऐक्ष्वाकेण पुरापि कौशिकमखादारभ्य लङ्केश्वरो

धत्ते शाश्वतिक विरोधमधुना स्वैते हता बान्धवा ।

उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभिरलभूष्युश्छलज्ञो वली

दृष्ट शूर्पणखानिकारमपर दृष्ट्वा कथं मृष्यते ॥ ५ ॥

शनै शनैरनयोर्विरोधे सधुक्षमाणे तुन्यव्यसनस्थो दाशरथिरस-

दयिष्यति, तच्छूर्पणखा किमर्थं तद्बोधनाय स्वां वाच बलेशयिष्यतीत्यर्थं । लघूत्थम्  
अचिरभाविनम् । अनर्थम् विपदागमम् । उत्प्रेक्ष्य सम्भाय । प्रमुग्ध किङ्कर्तव्य  
ताविचारशून्य ।

ऐक्ष्वाकेणेति । पुरा पूर्वकालात् एवापि लङ्केश्वरो रावण कौशिकमखात् विश्वा  
मित्रयागसमयात् नारभ्य ऐक्ष्वाकेण रामेण शाश्वतिक सार्वकालिकम् विरोध  
वैरम् धत्ते त्रिभस्ति, यदेव रामेण विश्वामित्रयागे ते ते राक्षसा अहन्यन्त तत एव  
कालाद्रायणस्तेन सतत एतवैर एवास्तीत्यर्थं, अधुना सम्प्रति तु एते बान्धवा  
स्वकुल्या खरादयो हता मारिता, एतेन तद्वैर प्रवृद्धमिति वेदितव्यम् । अस्या  
स्थितौ उत्साहप्रभुमन्त्रशक्तिभि उत्साहशक्ति उत्साहकृत सामर्थ्यम्, मन्त्रशक्ति  
मन्त्रणाकृत सामर्थ्यम्, प्रभुशक्ति प्रभावश्च ताभि तिसृभि शक्तिभि अल भूष्यु  
अतिसमर्थं छलज्ञो बद्धनाकलानिपुणश्च वली बलवान् दृष्ट गर्वाद्धिमश्च रावण  
अपरम् सद्य समुपनतम् शूर्पणखानिकारम् नासाकर्णादिदृष्टन्तनृतमपमानम्  
दृष्ट्वा कथं मृष्यते केन प्रकारेण क्षमते ? आदितो वर्तमानो मध्ये सन्नुचित  
सम्प्रत्युद्दीपितोऽय रावणनिकारो न शक्नोति निर्वातुमिति महाननर्थं समुपस्थितो  
वेद्य इत्यर्थं । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

शनै शनै मन्द मन्दम् । अनयो रामरावणयो । सन्नुत्तमाणे प्रज्वलति ।

जाम्बवान्—( मुस्कुराकर ) शीघ्र उपस्थित अनघको देखकर मुग्ध हो रहा हूँ ।

रावण विश्वामित्रके यज्ञके समयसे ही रामके साथ शाश्वतिक विरोध रखता है अब  
तो उसके बहुजन भा मारे गये हैं । उत्साहशक्ति प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिसे युक्त, छलज्ञ,  
बलवान् और गर्वी रावण शूर्पणखाके इस कान नाशको कैसे सहन करेगा ? ॥ ५ ॥

धारे धीरे इनके वैरके बढ़ने जानेपर समान विपत्तिमें पतित तथा असहाय रामके

१ 'लघूत्थानम्' । २ 'चैते' । ३ 'स्वल्पव्यसनस्थो' ।

हाय सूर्यसूनुना सधातुभीपत्कर स्यान् ।- - - -

श्रवणा—आर्य, किमिदानीमनुष्ठेयमस्ति । मम हि शिष्यपुत्रो निपादचक्रवर्ती गुहो लक्ष्मणमित्त्रम् । अनेन सोपानेन सुखाधिरोहो रघुपतिरस्माकम् ।

जाम्बवान्—( महर्षस्मितम् । ) श्रवणे, यद्यसि सुभीत्रपक्षपातिनी, तद्गच्छ सत्वरमुपस्थापय निपादराजम् ।

( इति श्रवणा निष्काता । )

( नेपथ्ये । एकत । )

तुल्यव्यमनस्य ममानदुःखभोगी । असहाय सहायात्तररहित । सूर्यसूनुना सुभीवेण । सन्धानुम् सन्धि कारयितुम् । इपत्कर सुकर । रामो रावणेनापकृत सन् वैर वहति, सुभीवोऽपि बालिना सह, रामस्य कोऽपि कानने महायो नास्ति, तदसौ सुभीवेण सन्धिं कुर्यादिति नितरा सन्नत सुपपादञ्चेति भाव । अनुष्ठेयम् कर्त्तव्यम् । शिष्यस्य पुत्र शिष्यपुत्र शिष्य पुत्र इति वा । निपादचक्रवर्ती निपादराजो गुह । अनेन सोपानेन उपायेन । सुखाधिरोह अनायामगम्य लक्ष्मणस्य गुहो मित्र स च मम शिष्यपुत्र इति परम्परासम्बन्धेन गुहद्वारा राम सूप राम सन्धेय इत्याशय ।

उपस्थापय लक्ष्मणसमीपमानय । तदद्वारा सुभीवरामयो सन्धि घटयेति भाव । निपादराजम् गुहम् ।

माय मूयपुत्र सुभीवके लिप मैत्री महज सन्नाथ हो जायगी ।

श्रवणा—अब क्या करता है ? मेरा शिष्यपुत्र निपादराज गुह लक्ष्मणके मित्र है, हम जरियेन हम रामके पास सुखपूर्वक पहुँच सकने ह ।

जाम्बवान्—( महर्ष इत्कर ) श्रवणे, यदि तु हूँ सुभीवके प्रति प्रेम है तो जाकर शीघ्र निपादराजको बुला लाओ ।

( श्रवणा जाता है )

( नेपथ्यमें एक ओरसे )



भो भो लक्ष्मण, वैशेषिककन्दलीपण्डितो जगद्विजयमान पर्य  
टामि । कासौ राम । तेन सह विप्रदिष्ये ।

( श्रान्यत । )

भो भो परित्राजक, कालसर्पखलीकारखजूलता न सलु सुखकरो  
वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य ।

जाम्बवान्—कथं लक्ष्मणपरित्राजकौ सलपत । शृणोमि तावत् ।  
( इत्यवधत्ते । )

( नेपथ्ये । पुनरेकत । )

वैशेषिककन्दलीपण्डित वैशेषिककन्दलीनामा वैशेषिकशास्त्रव्याख्याग्रन्थ  
प्रसिद्धस्तपण्डित । विजयमान शास्त्रार्थे पराजयन् । पर्यटामि सर्वतो भ्रमासि ।  
विवदिष्ये शास्त्रार्थकलहं प्रवर्त्तयिष्यामि ।

कालसर्पखलीकारखजूलता कालसर्पों विषधरो महानागस्तस्य खलीकारे  
द्रोहावरणे खजूलता कण्डूशालिता । वृश्चिकमन्त्रतान्त्रिकस्य वृश्चिकमन्त्रज्ञस्य ।  
सुखकरी सुखत्रिका । यथा वृश्चिकमन्त्रं जानत कालसर्पद्रोहं पराभवाय जायते,  
तथैव साधारणपण्डितस्य तव रामेण शास्त्रार्थे प्रवृत्तिः पराभव जनयेदतो मौन  
मास्वेति भावः ।

अबो लक्ष्मण, मैं वैशेषिक शास्त्रका पण्डित हूँ और जगद्विजय करता हुआ घूम रहा हूँ ।  
कहाँ है वह राम ? उसके साथ शास्त्रार्थ करूँगा ।

( दूसरी ओरसे )

अबो परित्राजक, वीरूका मन्त्र जानकर बाले नागमें खेक करना कल्याणप्रद नहीं  
होता है ।

जाम्बवान्—क्यों, लक्ष्मण और परित्राजक सलाप कर रहे हैं ? सुनूँ तो, ( सावधान  
होना है ।

( नेपथ्यमें फिर एक ओर से )

१ 'पण्डितोऽस्मि' । २ 'ते रामभद्र' । ३ 'विवदितव्यम्' ।

४ 'कथं पथि' । ५ 'मिथं प्रलपत', 'सप्रलपन' ।

६ 'इत्यवधत्ते इति पुरतकान्तरे नास्ति' ।

आ लक्ष्मण, सर्वविद्रावण खल्वहम् । को मया जनितमानभङ्गो  
न पराजीयते ।

( नेपथ्ये । पुनरन्यत । )

किं भवान् रावण ।

( जाम्बवान्सविशेषमवदधाति । )

( नेपथ्ये । पुनरवत । )

भो वाचोयुक्तिज्ञ, सर्वेषां विद्रावण खल्वहमिति रामस्य व्याहृत  
मन्यथाभिप्राय वाक्छलेन प्रत्यवतिष्ठमानो निगृहीतोऽसि । तन्मुञ्च  
मा भिक्षायै ।

( अन्यत । )

सर्वविद्रावण मया विजेता, सर्वान्ने रावणश्चेति कुशितोऽर्थ ।

वाचोयुक्तिज्ञ वचनपटो, मया सर्वेषां विद्रावणो जेतेत्यर्थे सर्वविद्रावण इति  
प्रयुक्तम्, त्वं पुनस्तत्सर्ववित् रावण इत्यर्थकं समाश्रयसीत्यहो तव चानपादन  
मि-यर्थ । रामस्य समाश्रयमन्यादश कृत्वा । व्याहृतम् उक्तम् । अन्यथाऽभिसन्धाय  
अन्यार्थकं मत्वा । वाक्छलेन वक्रोक्तिद्वारा । प्रत्यवतिष्ठमान उत्तर ददत् । निगृहीत  
शास्त्रार्थदोषग्रस्तो जात । ‘यथाऽयं नपालादागतं नरकम्बलं त्वात्’ इति वादिना  
प्रयुक्ते—‘कुतोऽस्य नरकम्बला एकम्बल एवायमिति बुधाण प्रतिवादी वाक्  
छलनाम्ना निप्रदस्थानेन पराजीयते तथा एवमपि सर्वविद्रावण इति मया-सर्वविनेतृ  
ताऽभिप्रायेण प्रयुक्ते नवान् सर्वान्ने रावण इति प्रतिपद्योत्तर प्रयुक्तानो वाक्छलेन  
निगृहीत इत्यर्थ ।

आ लक्ष्मण म सबको परास्त करनेवाला या सबस रावण हू मैंने कितना मान भङ्ग  
नहीं किया ? किसे परास्त नही किया ?

( नेपथ्यमें फिर ठमरी ओरसे )

क्या आप रावण हैं ?

( जाम्बवान् और सावधान होना है )

( नेपथ्यमें फिर एक ओरसे )

अनी ‘वाक्पटो, सर्वविद्रावण ’ यह रामने कहा आपने बमका अथ कुछ दूसरा समझ  
लिया अत आप वाक्छल करनेके कारण निगृहीत हो गये । अब छोड़िये शास्त्र, म  
मिक्षाकी जाऊ ।

( दूसरी ओर )

किं त्वया, किं तरा च रावणेन । अहमप्युत्सुकोऽस्मि । त्वरितं गच्छामि ।

जाम्बवान्—कथमेतदस्फुटार्थमेव निर्वहणम् । मन्ये पुनरेष परिब्राजकृच्छ्रलेन रावण एव कोपादुक्तमप्यपलप्य स्व नाम द्रागपत्रान्त । ( सर्वतो निहप्य । ) अये, १पुराणप्रियसुहृदस्माक दक्षिणस्या दिशि परापतञ्जटायुरिव लक्ष्यते । २तदेनमनुपालयामि तावत् । दूरदृशो हि गृध्रा । कदाचिद्वेप लङ्काद्वीपवृत्तान्तमप्युपलभेत ।

( प्रविश्य । )

जटायु—प्राग्वैवेयमस्माभिः पञ्चनदी । यद्मूर्गोदावरीतरङ्गसीकरसेकसुकुमारमासलपरिसरारण्यमालिन्यो जनस्थानसीमान् । अपि च ।

उत्सुकं जाश्रमगमनौत्सुक्यवान् ।

अस्फुटार्थम् अस्पष्टाभिधेयम् । निर्वहणम् उपक्रान्तोपसहार 'उपक्रान्तस्य सहारो भवेन्निरवहणं विदम्' इति भरत । कोपादुक्तमपि स्व नाम अपलप्य कोपवशादुक्तमपि स्व नाम चातुर्येण गोपयित्वा । द्रागपत्रान्तं शीघ्रं पलायित ।

पुराणप्रियसुहृत् प्राचीन प्रियवन्धु । परापतन् समागच्छन् । अनुपालयामि प्रतीचे । दूरदृशः सुदूरदेशस्थवस्तुग्रहणसमर्थदृष्टयः । उपलभेत साक्षात्कर्त्वात् ।

गोदावरीति । गोदावया तत्रामनद्या तरङ्गाणाम् सीकरसेकेन जलवणस्पर्शेन मासला पुष्टिनीता परिसरारण्यमाला समीपभूमिगतवनपङ्क्तयः, तद्वत्यः । जनस्थानसीमान् दण्डकारण्यभागाः ।

आपसे और रावणसे मुझे क्या काम ? मैं भी उत्सुक हूँ शीघ्र जाना हूँ ।

जाम्बवान्—क्यों, यह निर्वहण अस्फुटार्थ ही रह गया । मैं समझता हूँ यह रावण ही परिब्राजक वेषमें आया था कोपवश उसके मुन्धमें रावण यह अपना नाम निकल आया था । उसका अपलाप करके तेजसे निरल गया । ( चारों ओर देखकर ) अरे, यह तो हमारे प्रियमित्र जटायु दक्षिणदिशासे आत दौख रहे हैं, अतः इनके आनेकी पतीक्षा करता हूँ, गृध्रकी दृष्टि बड़ी तेज होती है कदाचित् वह लङ्काकी बात भी जानता हो ?

( प्रवेश करके )

जटायु—मैं पञ्चवटीमें पहुँच गया । यही है गोदावरीकी तरङ्ग बिन्दुओंके सेकते सुकुमार तथा समृद्ध वनसे शोभित पञ्चवटीकी सीमायें और—

१ 'किं च' । २ 'पुराणसुहृत्' । ३ 'अनुपालयामि' । ४ 'पञ्चवटीभू' ।

दृश्यन्ते मधुमत्तकोकिलवधूनिर्भूतचूताङ्कुर-

प्राग्भाप्रसरत्परागसिकतादुर्गास्तटीभूमय ।

या वृच्छ्रादतिलङ्घ्य लुब्धकभयात्तैरेव रेणूत्करै-

र्घात्वाहिभिरन्ति लुप्तपदवीनि शङ्कमेणीकुलम् ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—( किंविदुपसृत्य । ) कुत, पुनरियता वेगेन वयस्यो जटायु ।

जटायु—( दृष्ट्वा । ) कथं जाम्बवान् । सत्ये, क्षमस्व । न 'सभाज-  
यिष्यामि तामङ्गन्तम् । मया हि मलयाचलकुलायादार्यसपाति'पादा-

इत्यत्र इति । मधुमत्ताभि वसन्तर्त्तसुलभमकरन्दपानमत्ताभि कोकिलवधूभि  
कोकिलाभि निर्भूता विदलिता ये चूताङ्कुरा रसालमञ्जर्यस्तप्राग्भापरेभ्य तत्-  
समुहस्य प्रसरन्तीभि निर्गच्छतीभि परागसिकताभि कौसुमरजोरूपमालु  
काभि दुर्गा व्याप्तनया दुसञ्चारा तटीभूमय तत्रदत्ता दृश्यन्ते, यास्तटीभूमी  
वृच्छ्रात् अतिलङ्घ्य कश्चित् अतीत्य धारावालिभि स ततर्षिभि तरेव रेणूत्करै  
परागममूहै ण्णीकुलम् मृगाणा ममूह लुब्धकभयात् आसेदकभीते लुप्तपदवी  
नि शङ्कम् मार्गस्य निह्वततया गतभयम् अस्ति । अयमानाय—वसन्ते मधु पीत्वा  
माद्यन्त्य काञ्चिद्विधो रसालमञ्जरार्दशनन्दस्तनिर्गतपरागसिकताभिस्तटीभूमी  
दुर्गमा कुर्वते, ताश्च तटीभूमी कश्चिदतीत्य स्थित हरिणीकुल तैरप पतद्भि  
परागनिबद्धेस्तन्मार्गे लुप्ते सति केन पथा हरिणीकुल गतमिति लुब्धकैश्चानुमशक्ये  
मति तेभ्यो नि शङ्क तिष्ठतीत्यर्थ । शादूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ६ ॥

इयता प्लावता । वेगेन गीघ्ननया ।

न सभाजयिष्यामि त्वा सम्प्रति सभापणान्नि न सत्करिष्यामि । मलया  
चलकुलायात् मलयपर्वतवर्चिनीटात् । सम्पातिनामजटायुपो भ्राता । अभिवाद्य

मधुपानसे मत्त कोकिलाओं द्वारा कल्पित चूताङ्कुरोंके समुद्रावसे फैलनेवाले परागोंके  
वर्गोंसे दुर्ग तटीवाल प्रदेशोंको किमी तरह पार करके उड़ी परागोंसे आगमन मार्गके  
लुप्त हो जानेपर वहाँ हरिणोंका दल अशङ्क होकर बैठ रहता है ॥ ६ ॥

जाम्बवान्—(थोड़ा समीप जाकर) मेरे प्रिय जटायु, क्यों इतने वेगसे आ रहे हो ?  
जटायु—( देखकर ) क्यों जाम्बवान्, मित्र, क्षमा करना । मैं आपका सत्कार नहीं  
कर सकूँगा । मैं मलयाचलस्थित अपने घोरमन्त्रे आर्य सम्पातीके चरणोंका वन्दना करके

नभिवाद्य निवर्तमानेन मारीचसहचर सचरन्निमामरण्यानीमभिलक्षितो  
राक्षसराज । तदतिविपमभाशङ्कमान मा वत्सरामभद्रस्नेहस्त्वरयति ।

जाम्बवान्—( स्वगतम् । ) वयमप्येतदेव 'प्रतिपित्सामहे' । ( प्रका  
शम् । ) सखे, 'त्वरस्व । ( इति निष्क्रान्ता । )

जटायु —( परिभ्रम्यावलोक्य च । ) इयमग्रे पञ्चरटी ! ( सवितर्कम् । )

नीतो दूर<sup>१</sup> कनकहरिणश्चक्षुषा रामभद्र

पश्चादेन द्रुतमुपसरत्येष वत्स कनिष्ठ ।

त्रिभ्यद्विभ्यत्प्रविशति तत पर्णशाला च भिक्षु

धिक्कष्ट<sup>४</sup> भो प्रथयति निजामाकृतिं रावणोऽयम् ॥ ७ ॥

प्रणम्य । मारीचसहचर मारीचसख । इमामरण्यानीम् सञ्चरन् एतद्वनाभिमुखमा-  
गच्छन् । अभिलक्षित दृष्ट । अतिविपमम् महद्भयम्, त्वरयति शीघ्रता कर्तुं  
प्रेरयति । रामभद्रस्य किमपि व्यग्नन रावणादुपस्थित स्यादिति त्वरित यामि,  
अत एव त्रियससमपि देवा न मभाषयामि तत्त्वया ज्ञन्तव्यमिति भाव । एतत्  
रामभद्रवृत्तम् । प्रतिपित्सामहे ज्ञातुमिच्छाम ।

नीतो दूरमिति । कनकहरिणे स्वर्णमृगे या श्रद्धा आदर लोभनित सुवर्णमृग  
प्रत्ययस्तया रामभद्र दूर नीत सुदूर गमित, पश्चात् एष कनिष्ठो वत्स लक्ष्मण  
पन दूरगतम् रामम् द्रुतम् मत्वरम् उपसरति अनुगच्छति । ततश्च भिक्षु परि  
व्राजकूपेण रावण त्रिभ्यत् त्रिभ्यत् भीतभीत पर्णशालाम् रामोऽज प्रविशति, भो  
धिक्कष्टम् अतिभयमुपस्थितम्, अथ भिक्षुवेषो रावण निजाम् आकृतिं स्वरूप  
प्रथयति विस्तारयति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७ ॥

लौट रहा था तो मैंने देना कि माराचके साथ रावण इसी महावनका ओर आ रहा है ।  
इसीसे मुझे बड़ी शङ्का हो गई है और मेरा प्रेम मुझे रामभद्रसे शीघ्र मिलनेको  
प्रेरित कर रहा है,

जाम्बवान्—(स्वगतम्) हम भो यही जानना चाहते थे । (प्रकट) भित्र, शाघता करो ।

जटायु—(चलकर तथा देखकर) यही तो आगे पञ्चवदी है । (विचार करके)

कनकमृगकी प्रीतिसे राम बहुत दूर ले जाये गये, पीछेसे उनके छोटे भाइ लक्ष्मण भी  
उनका अनुसरण कर रहे हैं, एक माधु टरते टरते उनकी पर्णशालामें प्रवेश कर रहा है,  
हाय, हाय, यह तो रावण है जो अपनी आकृति प्रकट कर रहा है ॥ ७ ॥

१ प्रतिपित्सामहे' । २ 'त्वरस्व त्वरस्व' । ३ 'हरिणश्चक्षुषा' । ४ विन्धिक्कष्टम् ।

अहह !

आर्यपुत्रार्यपुत्रेति रुदन्तीं कुररीमिव ।

रथमारोप्य वैदेहीमेघ पाप क यास्यति ॥ ८ ॥

(<sup>१</sup>माटोप परिक्रामन् । ) अरे रे रावण,

वधूटीमिध्वाकोर्निजकरतलस्पर्शमलिना-

मिमा कुर्वाणस्य स्फुरति हृदि शोभेत् भवत ।

कुले येषां किं तु त्वमस्ति गणितान्तेऽपि गुरवो

न सप्त ब्रह्माण कथमिव पुलस्त्यप्रभृतय ॥ ९ ॥

( पुनराकाशे । ) अलीकाट्टहासधूमधूसरितदशवक्त्रवल्मीक, किमात्थ

आर्यपुत्रति । पाप एव रावण कुररीम् उक्त्रोशपत्निणीम् इव 'आर्यपुत्र आर्य पुत्र' इति रुदन्तीम् आक्रोशतीम् वैदेहीम् सीताम् रथमारोप्य स्यन्दने स्थापयित्वा क यास्यति कुत्र गमिष्यति ॥ ८ ॥

वधूटीमिति । इध्वाको तदारयवशस्य इमा वधूटीम् नवीना वधू निजकरतल स्पर्शमलिना स्वराहुससर्गदूषिता कुर्वाणस्य विदधानस्य स्वीयवाहुस्पर्शेन कलङ्क यतो भवत हृदि शोभाप्रसन्नताजनितो विरास एव स्फुरति प्रकटति, न तु लज्जेति, काम भवतो हृदय तथाविधेनापि कुर्मणा लज्जा मा जनीति भाव, किन्तु परन्तु ए येषां कुले वशे अस्मि जातोऽसि तेऽपि सप्त ब्रह्माण पुलस्त्य प्रभृतय सप्तपर्यो गुरव कुलप्रेष्ठा न गणिता न त्रिभाविता, तेऽपि कुकृत्यमिदमा चरता त्वया स्वपूर्वना कलङ्किता इति महदनुचितमाचरितमिथर्थ ॥ ९ ॥

अलीकेति । अलीक ट्टया योऽट्टहास उच्चैर्हंसितम्, न एव धूमस्तेन धूस रित पाशुलीकृत दशवक्त्र एव वल्मीक कीटभेदस्तत्सम्बोधने रूपम् ॥

आवपुत्र, आर्यपुत्र, रुदकर कुररीका तरह रीतां इर सीताको रथपर बैठाकर यह पापी कहाँ ले जायगा ? ॥ ८ ॥

( वेगमे चलना हुआ ) अरे रावण मूयकुन्वी वधूको अपने द्वारके रक्षणे मलिन बनाबेवाले तरे हृदयमें यह बाद भली हा लगती होगी, परन्तु क्या तुमने वन पुस्त्य प्रभृति अपने पूवनाके विषयमें भी सोचा है तिनके वशमें तुम उत्पन्न हुए हो ॥ ९ ॥

( फिर आकाशमें ) मिथ्या अट्टहाससे अपने मुखकी धूमिल बनानेवाले पापी राक्षस,

१ 'इति सादोपम्' ।

रे राक्षसापमद, विमात्य ।

‘जगद्विलोमितीतरयनामिषं हरतो मम ।

अयं क्लिप्त अरद्गृत्र करादाच्छिद्य नेष्यति’ ॥ १० ॥ इति ।

आ’ पाप, ‘कथमेवमभिदधासि । तिष्ठ तिष्ठ ।

भुजत्रिष्टपमदेन व्यर्थमन्यंमविष्णु-

धिगपमगसि चोरंकारं मानुष्यमान ।

त्यदुरसि विदधातु न्यामपन्कारकेलि

कुटिलकरजकोटिनूरकर्मा जटायु ॥ ११ ॥

राक्षसापमद नीचराक्षस ।

जगद्विलोमिति । अयं गृत्रो जटायु जगता विलोमि लोमचतक सृहणीयम् सीतारयम् सीतानामकम् आमिष नामम् भोग्यवस्तु हरत नयतो मम राघवस्य करात् आच्छिद्य बलादादाय नेष्यति क्लिप्तं यलोकं । यथा गृत्रो माम हरतो जनस्य करात् मासमादाय गच्छति तथैव मया द्वियनागा सीता हरिष्यतीति मग्मावनाऽ- लीक्येवेति भावः । ‘अकृष्टे पल्ले भोगे भोग्यवस्तुनि चामिषम्’ इति विश्व ॥ १० ॥

भुजत्रिष्टपमदनेति । भुजत्रिष्टपमदेन बाहुशालत्वादर्पे व्यर्थम् वृथैव अधमविष्णु- अन्धीमिवन् आकुर्यमान मयाऽन्यश्च निन्दापूर्वकम् शङ्कायमानं त्वम् चौर- कृतम् चौर इव अपमरमि पलायने, धिक् त्वाम्, सम्प्रति कुटिलात् द्वा-रा- वक्रात् नवरागा कोटिनि अमरगते नूरकर्मा भीषणन्यापारं जटायुनामिषं त्यदुरसि तव बहोन्धे न्याम् निनाम् अयस्कारकेलिम् नगविलेखनक्रांटां विद- धातु करोतु । बाहुबलदर्पितस्य तव पलायन नोचितम्, तिष्ठ, तत्र वृत्तिं जटायु- रह नगविलेखनक्रीडामाचरामि, त्वदीयपुरो निपैद्वारगेर्नषैद्वारघामाति भावः । मालिनीवृत्तम् ॥ ११ ॥

कदा कदा तुमने ? कथा कथा ?

ममारको लोभित करनेवाले सीतारूप आमिषको मैं हरकर लिये जा रहा हूँ, कदा- कदा गृत्र रहे मेरे हाथोंसे छानकर ले जायेगा ? ॥ १० ॥

अर पापा, इस तरह क्यों कहता है ? ठहरो तो ।

अपने बाहुसमुदायके मदने व्यर्थ गव करनेवाला तू चोरको तरह लटकारे जानेपर भी भागा जा रहा है, धिक्कार है तुमको, तुम्हारी छात्रापर अपने कुटिलानेने नूरकर्मे करनेवाला यह जटायु अनयो अयस्कारकेलि-पटुना प्रकट करेगा ॥ ११ ॥

१ ‘इति’ इति पुस्तकान्तर नास्ति । २ ‘वधमनिरधामि’ । ३ ‘आहृष्यमाणः’ ।

( इति निष्क्रान्ता । )

विष्कम्भक ।

( ततः 'प्रविशति लक्ष्मण । )

लक्ष्मण—अहो दुर्निवारदारुणक्रोधशोकलज्जागहनो विषमोऽयं  
दशाप्रवर्त । यन्मिन्नितिकर्तव्यताभिधानमप्यस्माकमनौपयिकम् ।  
तथाहि

तत्तादृग्दशकण्ठवञ्चनरूपा धूमायमानो गिर

नार्धोक्तप्रविलीनवर्णविधुरामार्य 'समाप्नोति मे ।

घापे तातजटायुजीवितकथापर्यन्तधूमायित

क्रोधोत्पीडनिपीतशोकजडिमा दृष्टिस्तु विश्राम्यति ॥१२॥

दुर्निवारिति । दुर्निवारा निवारयितुं शक्यमितु कठिना अनप्य दारुणा कष्टप्रदा  
महत्तयश्च क्रोधशोकलज्जा क्रोध शनुं प्रति कोप, शोक प्रियजनवियोगजन्मा खेद,  
लज्जा कुलवधूरेकाऽस्माभिर्न पारिता रक्षितुमित्याभावमानजननां त्रपा, ताभिर्गहनो  
भीषण, विषम अनिदुस्सह दशाविवक्त अपस्थापरिणाम । इतिकर्तव्यताभि  
धानम् किङ्कर्तव्यमिति निश्चित्य कथनम् । अनौपयिकम् अयुक्तम् ।

नत्तादृगिति । मे आर्यं मम पूननीयो राम तत्र तादृक् यत् दशकण्ठवञ्चन  
रावणकृत सीताहरणात्मक प्रतारणम् तेन या स्तू रोप तथा धूमायमान धूम  
मुद्गमन् ( अगिरिव स्थित ) अर्धोक्त एव प्रविलीन अर्धोच्चारित एव प्रकर्षण  
एव शतो यो वर्ण अक्षरम् तेन विधुराम् विपर्यस्ताम् अज्ञान उद्वितामशतो निङ्किता  
चरा च वाच वाणी न समाप्नोति निरक्षोपीकरोति, अर्धोक्त एव वचने विरम  
तीत्यर्थ । तु किन्तु तातस्य पितृमत्वात्तादृष्टस्य जटायुर्जीवितकथापर्यन्तेन जीवन  
वृत्तममासया धूमायित धूमोद्गारी य क्रोधोत्पीड कोपातिशय तेन निपीत

( दोनों का प्रस्थान )

लक्ष्मण—दुर्निवार तथा दारुण कोप, शोक तथा लज्जासे विषम यह दशा परिपक्व  
है, जिसमें क्या किया जाय यह भी नहीं समझमें आ रहा है । क्योंकि—

रावण द्वारा किये गये वञ्चनसे उत्पन्न कोपके कारण अन्तर्द्वेषमान हमारे आर्य भाषा  
बहुर रक्त जाते हैं, वाचको ममास नहीं कर पाते हैं, तात जटायुकी जावनकथासे उनका  
कोप घूमिल हो जाता है उनको आखें भोक्मे जड़ होकर जटायुपर आ लगनी हैं ॥१२॥

१ 'प्रविश्य' ।

२ 'समाप्नोत्ययम्' ।



( 'नेपथ्याभिमुख । ) इत इत आर्य मारीचमथन, दृश्यन्ताममूरवार्ची  
ककुभमभिवर्धमाना विन्ध्यवनवीथिभूमय ।

( 'प्रविश्य । )

राम — ( आभाशे लक्ष्य बद्ध्वा । )

कुले वा शौर्ये वा भुजसमुदये वा तपसि वा  
वभूयुर्न प्राञ्चस्त्वमिव भवितारो न चरमे ।

अहो दिङ्मोहस्ते समजनि चिरादेष न खलु  
प्रवीराणां पन्था दशवदन येनासि चलित ॥ १३ ॥

निश्शेषमवसायित शोकजडिमा शोककुण्ठितत्व यस्यास्तादृशी रामस्य दृष्टि  
चापे धनुषि विधान्यति स्थिरीभवति । जटायुनिधनज यकोपवशान्निश्शेषसमापित  
दुःखबाष्पा रामस्य दृष्टिर्धनुरीक्षते, कोपोदयेन दृ खोद्रेकस्य समाप्ततया प्रतिक्रु-  
धनुरवलोकते इत्याशय ॥ १२ ॥

मारीचमथन मारीचहन्त, अवार्ची ककुभम् दक्षिणा दिशम्, अभिवर्धमाना  
अभिमुख प्रवृत्ता, दक्षिणदिशाभिमुखतामिन्ध ।

कुले वेति । रे दशवदन रावण, कुले वशी, शौर्ये पराक्रमे वा, भुजसमुदये बाहु  
समूहे वा, तपसि तपोऽनुष्ठाने वा त्वमिव त्वया समाना प्राञ्च पूर्वतमा लोका  
न वभूयुः, न वा चरमे पश्चाद् भाविन त्वमिव भवितार त्वया समा भविष्यन्ति ।  
रे रावण, कुलगौरवे पराक्रमे भुजबाहुल्ये तपश्चर्याया वा त्वत्मादृश्य न प्राञ्चा  
पुरपाणामजायत न वा भाविलोकाना भविष्यति तदित्यमप्रतिमश्चमसीति भाव ।  
अहो आश्चर्यम् ते तव चिरात् दिङ्मोह दिग्भ्रम एष समजनि जात, त्व आन्त

( नेपथ्यकी ओर ) आर्य रथ आशये, मारीचमथन, दक्षिणे यह दक्षिण दिशाकी  
ओर फँसी हुई विन्ध्यवन वीथी ।

( प्रवेश करके )

राम—( आकाशकी ओर लक्ष्य करके ) कुल गौरवमें, वीरतामें, बाहुशालितामें, तपस्या  
में, न कोई तुम्हारे समान हुआ है और न आगे चलकर होगा, अहो, तुमको यह दिग्भ्रम  
नदमि हो गया, हे रावण, तुमने जिधरसे चलना प्रारम्भ किया है वह नाग वीरोंका  
नहीं है ॥ १३ ॥

१ 'भुजसम्' । २ 'दिङ्मोह' । ३ 'तत्र प्रविशति राम' ।

४ 'विन्ध्य' । ५ 'कथयति', 'कथमिह' ।

( विमृश्य । सगेदस्मितम् । ) हृहो पौलस्त्यः,

सिद्धश्रोत्रपरम्परापरिगतैरेधि प्रपौत्रस्य ते

वृत्तैरद्य पुलस्त्यवर्जमभिन स्मेरेषु देवपिषु ।

विष्वग्वृत्तिरसगता नमयितु दुर्वारलज्जाभर-

म्लानश्रीस्तु चतुर्मुखी भगवतो धातु कथं वर्तते ॥ १४ ॥

( क्षणमनुध्याय । ) हा श्रिये विदेहराजपुत्रि । ( इति मवरण नाटयति । )

लक्ष्मण — ( उपसृत्य । ) आर्य, कोऽधमभिपद्नी नाम भगवद्विज्ञान

प्यास्पदीकरोति ।

सन् परस्त्रीहरणकर्मणि प्रवृत्तो भूरित्याश्चर्यजनकम्, येन यथा परस्त्रीहरणात्मना चलित प्रसिद्ध अमि अमौ पथा प्रवीणाना न खलु निश्चयेन वारास्त पन्थान नैराश्रयति, एव च तमेवात्रित इत्यनस्य तत्राय दिग्भ्रम इति ॥ १३ ॥

सिद्धश्रोत्रेति । सिद्धाना देवयोनिभेदाना कर्णपरम्परा श्रीत्रपरम्परा तत्र परिगतै सिद्धाना श्रवणममुदायपतिते ते तत्र पौलस्त्यस्य प्रपौत्रस्य रावणस्य वृत्ते सीता हरणात्मकुकृ-यवृत्तान्ते पुलस्त्यवर्जम पुलस्त्य विहाय इतरेषु अन्येषु दशपिषु स्मेरेषु विरहितमुखेषु मत्सु विष्वग्वृत्ति सर्वतोमुखी अत एव नमयितुम नश्रता प्रापयितुम असङ्गता अशक्या दुर्वारेण दुरपशमेन लज्जाभरेण त्रपाराशिता म्लान श्री मलिनकाति धातु ब्रह्मण चतुर्मुखी मुपचतुष्टयी कथं वर्तते का दशामनु भवति ? सिद्धै कणाकर्णिक्या निवर्द्धितानि रावणस्य दुष्टतानि धृत्वा अद्या पुल स्त्यातिरिक्ता सर्वे देवर्षयो हसिष्यन्ति, तदा ब्रह्मण कीदृशी वशा भविष्यति ? ब्रह्मा हि रावणकुलप्रथमपुंस, स्वकुलजस्य दुर्वृत्तमाकर्ष्य त्रपेत ब्रह्मा, यदि म त्रपया मुषमपि नमयितुमिच्छति तदपि न शक्य क्तुं सिद्धासु चतसृष्वपि द्विशामु स्थिताना मुषाना नमयितुमशक्यत्वाद्, अतश्च विषमा भवेद् ब्रह्मणोऽ वस्था, तद्विधमाचारस्तत्र नोपयुक्त इति ॥ १४ ॥

( विचार करके खदकी हसीके साथ ) ह पौस्त्यः,

सिद्धोका कर्णपरम्परया तुल्य प्रपौत्रके दम वृत्तान्तको ह्यनकार, पुलस्त्यको छोड आय ऋषियोंके इसने लगनेपर, चारा ओर फैल हुए मुखोंकी ब्रह्मा युक्त भी नहीं सकेंगे, फिर न जाने किम तरह रहेंगे ॥ १४ ॥

( क्षणमनु सोचकर ) हा श्रिये विदेहराजपुत्रे, ( मूर्च्छित होते हैं )

लक्ष्मण — ( समीप जाकर ) भाय, यह कैसा दुःख है जो आपको भा सता रहा है ?

१पतिते व्यसने २दैघादारुणे ३दारुणात्मनि ।

सवर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महतां मन ॥ १५ ॥

राम — ( 'दीर्घं नि श्वस्य । ) वत्स,

सहजधैर्यवशादवृत्तयो हृदि रूपश्च शुचश्च नियन्त्रिता ।

इह तु किं करवै यदपत्रपा किमपि मामवमल्य विजृम्भते ॥ १६ ॥

लक्ष्मण — ( पुरोऽवलोक्य । ) आर्य, १अयमप्रे तातजटायुपो वीर  
२लोकसाधनसिद्धक्षेत्रमरण्यानीसनिवेश । परय ।

पतिव - ति । दैवात् भाग्यप्रशात् दारुणात्मनि महात्मनि जने दारुणे भीषणे  
व्यसने तु खे पतिते आगते सति धैर्यं हि महतां मन वज्रेण सवर्मयति आजृणोति ।  
'दारुणो भीषणे गुरौ' इति शाश्वत ॥ १५ ॥

महत्तमि । सहजस्य स्वाभाविकस्य धैर्यस्य वशात् अर्थात् घृत्ति सत्ता व्या  
पारो वा याम्ना तादृश्य स्वाभाविकधैर्यवशाच्चित्तिन्यो रूप कोपा शुच शोकाश्च  
नियन्त्रिता नियमिता, किन्तु यत् अपत्रपा लज्जा परपुरुषदर्शनजन्मा ही माम्  
अवमल्य विनिय विजृम्भते स्फुरति इह अत्र विषये किङ्करवै करवाणि ? यद्यपि  
स्वाभाविक धैर्यमाधाय तदर्थात् रूप शुचश्च मया निगूहिता, पर धैर्येण निगूहि  
नुमशक्या लज्जा याम्ना पराभूय स्फुरति तत्र मया किट्टिक्रयतामिति भाव ।  
द्रुतविलम्बित वृत्तम्, सल्लक्षण यथा 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १६ ॥

वीरलोकसाधनासिद्धिक्षेत्रम् वीरलोकप्राप्तिस्थानम् ( जटायुर्ग्रामे रावणेन युद्ध्वा  
वीरलोकमापत् तादृशम् ) अरण्यानीसनिवेश वनप्रदेश ।

दैववश मयातक विपत्तिर ना जानेपर महाजनोके हृदय अपने धैर्यकी ही वृत्त  
यनाते हैं ॥ १५ ॥

राम — ( दाघ श्चाम लेकर ) स्वाभाविक धैर्यके वशमें रहनेसे कोप तथा शोकको  
किसी तरह रोक लिया है, परन्तु हमका क्या करू कि लज्जा मुझे हटाकर विजृम्भित  
हो रहा है ॥ १६ ॥

लक्ष्मण — ( आगे देखकर ) आर्य यही है आगे तात जटायु द्वारा किये गये वीरलोक  
साधनका सिद्धक्षेत्र वनप्रदेश देविप —

१ 'पतिव व्यसने', 'पतिव व्यसने' । २ 'दारुणात्' ।

३ 'दारुणात्मन' । ४ 'दीर्घमुष्ण च' ।

भग्नाऽय कथमस्ति रात्रणरथस्तातेन वज्राङ्कुर-

कुरापस्त्रिकरणभङ्गुरनस्रत्रोटिहृष्टद्वन्धन ।

राम — ( सक्कणम् । )

हा सीरध्वजराजपुत्रि स तदा दृष्टम्त्वया धन्यया

पक्षीन्द्रो दशकण्ठो जराशिर सत्वारिपञ्चानन ॥ १७ ॥

( इति लक्ष्मणमवष्टभ्य ध्यान नाटयति । )

लक्ष्मण — ( स्वगतम् । ) \*महादोष खल्वयमतिप्रमज्जमानो \*मा  
नस शोकारयो विकार । तदन्यत प्रेरयामि<sup>१</sup> । ( प्रकाशम् । ) आर्य,  
परय पश्य ।

मनोऽयमिति । तातेन पितु सत्या जटायुषा वज्राङ्कुरवन् कुराभ्याम् दार-  
णाभ्या भीषणाभ्याम् अपस्त्रिकरणाभ्या विदारयन्तीभ्या च अत एव भङ्गुराभ्या  
कुटिलता गनाभ्या नस्रत्रोटिभ्या भवाग्रभागाभ्याम् पुष्ट् भ्रम्यद् वधनम् सधि-  
वधन यस्य नयोन ( कुपितजटायुनववृद्धितसधिवधन ) अत एव च भग्न  
अय रात्रणरथ कथमस्ति केन प्रकारेणात्र तिष्ठति ? हा सीरध्वजराजपुत्रि, जनक  
नन्दिनि, धन्यया त्वया सीतया दशकण्ठो रात्रण एव कुञ्जर करी तस्य शिरस्सु  
सञ्चारी जानामन् पञ्चानन मिह स पक्षीन्द्र रगजातिश्रेष्ठ जटायु दृष्ट, यत्र  
रात्रणशिरमि त्रिशिरमि सिंहमिव घूर्णमान जटायुषमपश्यन्तस्य धयासीनि भाग-  
'सिंहो मगोत्र पद्मास्य' इत्यमर । शार्दूलविनीडित वृक्षम् ॥ १७ ॥

अवष्टभ्य आश्रित्य । ध्यान नाटयति ध्यानस्थ इव भवति ।

अतिप्रमज्जमान नितरा वर्धमान । अयत प्रेरयामि ध्यानमात्रपामि ।

तान जटायुद्वारा वज्रकठोर नलाङ्कुर प्रहारसं जिसके बंध तोड़ टाल गये हैं, बैसा  
यहो दृष्टा हुआ रात्रणका रथ पटा है ।

राम—( कृष्णाक्षे ) हा विदेहपुत्रि, दशकण्ठकी गजपर सिद्धकी तरह आक्रमण  
करनेवाले उस तान जटायुको तुमने देखा था, अतः तुम धन्य हो ॥ १७ ॥

( लक्ष्मणको रामकर मोचने लगता है )

लक्ष्मण—( स्वगत ) बढता हुआ यह शोक नामक मनोविकार बड़ा बुरा होता है ।  
अतः इनको दूर करी और आकृष्ट करता हूँ । ( प्रकट ) आर्य देखिय—

१ अयमेवाग्र । २ 'सिद्धिध्वमरपदमनिवेश' । ३ 'अपस्त्रिकरण' ।

४ 'महान्तोषो हि' क्वचि नास्ति । ५ 'मानस' इति । ६ 'प्रतिसारयामि' ।

विन्ध्यगिरिराजकन्यान्त पुरमेतास्तरङ्गमालिन्य ।

१वेनम्यतीभिरङ्गिस्तौर्यत्रिकगुणनिका दधते ॥ १८ ॥

राम — ( उन्मील्य चक्षुषा दीर्घमुष्ण च नि श्वस्य । ) वत्स, दर्शनीय  
मेतत् ।

कुमुदवनविशायजाग्रदम्भोरुहकृतयामिकविभ्रमा रमन्ते ।

मदकलकरिकर्णतालनृत्यन्मुखरमयूरमनोरमास्तटिन्य ॥ १९ ॥

( इति परिक्रामत । )

विन्ध्यगिरिराजेति । विन्ध्यगिरिराजस्य विन्ध्याचलारण्यपर्वतेन्द्रस्य कन्यान्त  
पुरम् अन्त पुरशब्दस्य तद्वासिवाचिलक्ष्यतया कन्याजन एता तरङ्गमालिन्यो  
नद्य ( विन्ध्यपुत्रीरूपा एता नद्य ) धेतस्वतीभि वानीरवृत्तसयुक्ताभि अङ्गि  
तौर्यत्रिकगुणनिकाम् गीतवाद्यनृत्याभ्याम् दधते धाग्यन्ति । 'न्ययार भुभुजा  
मन्त पुर स्यादवरोधनम्', 'अभ्यामे गुणनी, योग्या', 'तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्यम्' इति  
च सर्वत्रामर ॥ १८ ॥

कुमुदवनेति । कुमुदवनेन सह विशायन पयायण जाग्रद्भि विकसद्भि ( रात्रौ  
कुमुदानि जाग्रन्ति दिवा चाम्भोरुहाणि इति पर्यायेण ) अम्भोरुहे कृत यामिकाना  
प्रहरिणा विभ्रमो विलासो यासु ता तद्योक्ता, मदकला मत्ता ये करिणो हस्तिन  
तेषा कर्णतालेन कर्णशब्दन नृत्यन्त मुखरा शब्दायमानाश्च ये मयूरा तर्पनो  
रमा सुन्दर्य तटिन्य नद्य रमन्ते व्रीडन्ति, अन्या अपि राजकन्या प्रहरिभि  
सुरञ्जिता मयूरनृत्य पश्यन्त्यो रमन्ते तद्दृग्मूर्त्तिविन्ध्यगिरिकन्यारूपा नद्य निशि  
कुमुदानि दिवा चाम्भोजानीति पयायण प्रहरिभि प्राप्तश्चा सत्यो भक्तकरिकर्ण  
नादनृत्यन्मुखरमयूरमनोहरा इह रमन्त इत्याशय । पुष्पिताप्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

विन्ध्यगिरिराजकी कन्याभौका अन् पुर स्वरूप यह नदियों बेंगके वृक्षोंसे होकर  
बहनेवाले अपने जलोंसे गीत-नृत्य वाद्यरूप तौर्यत्रिकका अभ्यास ही कर रही हैं ॥ १८ ॥

( राम अखिं खोलकर दाढ़ तथा उष्ण श्वास लेकर ) वत्स, यह तो दखने योग्य है,

यहा कुमुदवनके साथ वारी वारीसे जागृत होनेवाले कमल पहेरेदारकी शोभा धारण  
कर रहे हैं, भक्तकरियोंके कर्णतालसे नाचनेवाले मयूर वहाकी शोभा बडा रहे हैं, इस प्रकार  
वहाकी नदिया बहुत सुंदर दीख रही हैं ॥ १९ ॥

( शानो चलते हैं )

लक्ष्मण — आर्य, अयमितो गिरिर्मन्यवान् ।

इह महिषविषाणव्यस्तपाषाणपीठ  
स्खलनसुलभरोहिद्वर्भिणीभ्रूणहत्या ।  
कुहरविहरमाणप्रौढमल्लूकहिक्का  
चयचकिनकिरातम्रस्तशस्त्रा वनान्ता ॥ २० ॥

राम — ( चिर दृष्ट्वा सकृष्णाक्षम् । )

प्रतिपरिसर भूयानर्घ शिखण्डभृता यथा  
मिलितमलिभि सभुज्यन्ते कदम्बविभूतयः ।  
अभिनवघनयूढोरस्क प्रवर्षति मार्यवान्

इह महिषेति । इह अस्मिन् प्रदेशे वनात्ता वनभूमिमीमान महिषाणा विषाणे  
शृङ्गे व्यस्तेषु विपर्यस्तेषु पाषाणपीठेषु प्रस्तरखण्डेषु स्पलनेन पादप्रच्यवनेन  
सुलभा सर्वदा सम्भवन्त्य रोहिद्वर्भिणीनाम् गर्भवतीना मृगीणा भ्रूणहत्या  
गर्भस्थशिशुवधा येषु तथोक्ता, तथा कुहरेषु पर्वतगह्वरेषु विहरमाणाना तिष्ठताम्  
प्रौढाना विशालकायाना भल्लूकाना हिक्काचयेन चकिताना सभ्रान्ताना किरा  
ताना शस्त्राणा स्वस्नानि भयस्फलितानि शस्त्राणि येषु तथोक्ताश्च गन्तीति शप ।  
नत्र वनप्रान्तेषु महिषा विषाणे पर्वतशिला विषयासयति, तासा विशद्वलस्थितया  
नत्र चरन्त्यो हरिण्यो गर्भवय स्पलति तेन तासा गर्भा स्वन्ति, किञ्च पर्वत-  
गह्वरस्थस्य प्रौढमल्लूकस्य हिक्काचयेन चकिताना किराताना हस्तेभ्योऽस्त्राणि  
स्पलन्ति, एतादृशोऽयं वनप्रान्त इत्यर्थः । मालिनीवृत्तम् ॥ २० ॥

प्रतिपरिसरमिति । प्रतिपरिसर सत्रासु पर्यन्तभूषु शिखण्डभृता मयूराणाम्  
भूयान् अर्घ महोत्सव ( अस्ति ), अलिभि अमरै यथामिलित यथोपरिस्थित  
कदम्बविभूतयः नीपदुष्पाणि सभुज्यन्ते सभोगविपर्याक्रियन्ते । अभिनवघन  
यूढोरस्क नूतनमेघपूर्णमध्यभाग मार्यवान् नाम गिरि विषधरवधूना भुजगाद्

लक्ष्मण—आर्य इधर यह मार्यवान् नामक पवन है,

यहांक वनातमें महिषोंके शृङ्गोंमें लट्टे गये पाषाणखण्डोंपर गिरनेके कारण हरि-  
णियोंके गर्भपाल प्रसिद्ध हैं, और कन्दराओंमें रहनेवाले प्रौढ भालुओंके हिक्का शब्दमें  
चकिन होनेवाले किगर्तोंके हाथोंसे बाग बनायास निकल जाते हैं ॥ २० ॥

राम—( बड़ी देर तक देखकर ) प्रतिपरिसरमें मयूरोंके उत्सव हो रहे हैं, कदम्बकी  
यथासम्य विभूतियोंको मिल जुलकर अमरगण ही रह हैं, नवीन मेघमण्डलमें भरा

विषधरघधूमर्माधानप्रियंकरणीरप ॥ २१ ॥

वत्स लक्ष्मण धारय माम् । न शक्नोमि स्तम्भयितुमात्मानम् ।

इयमविरलश्वासा शुष्यन्मुखी 'भिदुरस्वरा  
तनुरवयवै 'श्रान्तस्त्रस्तैरपैति विवर्णताम् ।  
स्फुरति जडता याष्पायेते दृशौ 'गलति स्मृति  
मयि रसतया शोको भावश्चिरेण विपच्यते ॥ २२ ॥

( इति लक्ष्मणेन धार्यमाणो निनीलिताक्ष एव । ) हा प्रिये दण्डकारण्य  
विहारसम्राज्यचारिणि । ( इति पुन सृष्टुने । )

नाना गन्नाधानरूप प्रिय क्रियते आभिस्तथोक्ता अप प्रवर्षति । अत्र वपामन्ये  
सवामु पर्यन्तभूमिषु मयूराणामुसव प्रवर्त्तते अमरा यथालाभ कदम्बकुसुमानि  
नुज्जते, नूतनवारिदपूर्णमध्यभागो माल्यवाञ्छामाथ गिरि सर्पवनितागन्नाधान  
प्रियङ्करणीरपो वर्षति । एतादृशोऽय वर्षासमय उपस्थित इत्यर्थ ॥ २१ ॥

इयमविरलेति । अविरलश्वासा सततप्रवृत्तश्वासा शुष्यन्मुखी शोषयुक्तानना  
भिदुरस्वरा धर्घरस्वरशालिनी इय तनु ममेद् शरीरम् श्रान्तस्त्रस्ते बलान्ततया  
विवशता गते अवयवै करचरणादिभिरङ्गै विवर्णताम् मलिनतामुपैति गच्छति ।  
जडता अचेतनात् स्फुरति प्रसरति, दृशौ नयने बाष्पायेते अश्रु वमत, स्मृति  
स्मरणशक्तिरिति नश्यति, मयि मम चित्ते शोको नाम करुणस्थायी भाव चिरेण  
रसतया रसरूपेण विपच्यते परिणतो भवति, करगरसस्थायी शोको मयि स्थित एव  
स ह्यन्येषामपि स्वोपोढलकाना श्वासाधिक्यमुग्रशोषात्प्रसमनताद्याश्रुपालार्णना  
समवधानाद्द्रमरूपता गच्छतीत्यर्थ । हरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

दण्डकारण्यविहारसम्राज्यचारिणि-दण्डकावामसद्भिनि सीते ।

हुआ यह माल्यवान् विषधर लक्ष्मणाओंके गर्माधान करानेवाले जडकी वृष्टि कर रहा है ॥

वत्स लक्ष्मण पकट लो मुझ, मैं अपनेको समान्तरमें असमर्थ हो रहा हू ।

श्वासवेगमें निकल रहा है, मुक्त सूजता है, स्वर मद्ध हो रहा है, अवयवोंके आउ  
तथा छल हो जानेसे शरीर विवण हो रहा है, जडता बन रही है, आँसुमें अश्रु प्रवाहित  
हो रहा है, स्मरणशक्ति छुप्त हो रही है, मुझमें शोक करारसके रूपमें परिणत हो  
रहा है ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—( सखेदमात्मगतम् । ) केन पुनरेष रसो रसान्तरेण  
तिरस्क्रियते ।

( नेपथ्ये । )

आ पाप कबन्धहृत्क, अय न भवसि ।

राम—( आकर्ष्य । ससध्रमम् । ) वत्स लक्ष्मण, दुरात्मना दनुक-  
बन्धेन कलहायमानो वयस्यस्ते गुह इव श्रूयते । बहुच्छलानि रक्षासि ।  
तत्त्वरितमभ्युपपद्यस्व ।

लक्ष्मण—तथा । ( इति निष्क्रान्तः । )

राम—( पार्श्वतोऽवलोक्य । सकवणम् । ) देवी वामशीले सीरध्वजराज  
नन्दिनि', इय ते 'विश्वविस्लम्भमर्मवेदिनी निचुलनिकुञ्जलेखा । इह हि-

स्वप्नपुपि नखलक्ष्म स्वेन कृत्वा भवत्या

कृतमिति चतुराणा दर्शयिष्ये सखीनाम् ।

रसान्तरेण अन्येन रमेन । तिरस्क्रियते दूरीक्रियते । केन प्रमत्नेन रामस्याय  
शोको विस्मार्थते इति भावः ।

स्वप्नपुषीनि । स्वप्नपुपि निजशरीरे स्वेन आमना नखलक्ष्म नखलक्ष्मिण  
कृत्वा भवत्या सीतया कृत रामशरीरे नखलक्ष्म विहितमिति चतुराणा विदग्धहृद्  
याना सखीना दर्शयिष्ये प्रयत्नीकारयिष्यामि, तथा च तव रहस्यभङ्ग स्यादिति

( लक्ष्मणके द्वारा अवलम्बित तथा भार्ये बन्द किए हुए ) हा दण्डकारण्यमद्भिनि  
प्रियतमे, ( फिर मूर्च्छित होने हैं )

लक्ष्मण—( सखेदं स्वगतं ) किस रसान्तरसे हम शोको अन्तरित किया जा सकेगा ।  
( नेपथ्यमें )

आ पापी अभागा कबन्ध, अब तुम नहीं बच सकेगा ।

राम—( सुनकर घबराहटके साथ ) वाम, सुन रहा हूँ जैसे तुम्हारे मित्र शुहका  
दुष्ट कबन्धके साथ मगटा हो रहा है, राक्षस बड़े छली होते हैं, मन शीघ्र जाओ ।

लक्ष्मण—नो भागा । ( जाते हैं )

राम—( चारों ओर देखकर ) हे वामशीले विदेहपुत्रि, तुम्हारे सकल रहस्योंको  
जाननेवाला वेत निकुञ्ज परम्परा यही तो है । यथा—

म अपने शरीरपर नखविद्ध बनाकर तुमसे कहता था कि जाता हूँ तुम्हारी सखियोंमे

१ 'सीरध्वजनन्दिनि' ।

२ 'नमविस्लम्भमर्मवेदिनी' ।



इति रहसि मया ते भीषिताया स्मरामि

स्मरपरिमल्लमुद्रामङ्गसर्वसहाया ॥ २३ ॥

( इति धनुर्वष्टभ्य लक्ष्मणउत्तान्तइत्तचेतास्तथैवास्ते । )

( तत प्रविशति लक्ष्मणो गुह्यम् । )

गुह्य—जयतु<sup>१</sup> जयतु देव ।

विनेता वर्णानामयमभयदुर्गं दिविपदा

कनिष्ठ काकुत्स्थो जयति जगदाश्चर्यचरित ।

यदस्त्रै पाप्मान रजनिचरजन्मग्रहसृज

विजित्य स्वर्लोकानयिकलमुपातिष्ठत दनु ॥ २४ ॥

मया रामेण रहसि एकांते भीषिताया भयप्रापिताया ते सीताया स्मर काम तस्य परिमलो विमर्दोऽथ सुगन्ध तस्य मुद्रा चिह्न तस्या भङ्गे सर्वमहाया सर्वं विधमपि कष्टसोढु प्रवृत्ताया स्मरामि । रामो ह स्वप्ने स्वप्नो लक्ष्मणस्य कृत्वा सीतया कृतमिदमिति तत्र सखाना दर्शयिष्ये इत्येव सीता यदाऽभौपयत्तदा सा रहस्यभङ्गभीता सती कामचिह्नस्य तस्य नखचतस्य भङ्गाय सर्वमपि कष्टसोढु मुद्यताभूत् एतादृश्या सीताया राम स्मरतीति भावः । स्मरतिशोभो कमणि पद्यो मालिनीपुत्र, तल्लक्षणमप्यत्रोक्तम् ॥ २३ ॥

विनेति । वर्णानां प्राज्ञान्त्रियविशा विनेता सत्पथप्रवर्तक, दिविपदा देशानाम् अभयदुर्गं निर्भयवासोपयुक्तं दुर्गमस्थानम्, जगत आश्चर्यं विस्मयजनकं चरित यस्य तादृशं तथोक्तं कनिष्ठ काकुत्स्थो लक्ष्मण जयति सर्वदिक्रमेण वर्तते, यस्य लक्ष्मणस्य अस्त्रे प्रहरणै रजनिचरेषु राक्षसेषु जन्मग्रहसृज जन्मग्रहणकारणीभूत पाप्मान पाप विजित्य पराभयं दनुर्नाम राक्षसं अविकलं सत्त्वात्मना

कान्नेकी सीताने यह नखचिह्न कर दिये हैं, इस प्रकार कहनपर तुम भयभीत हो उठता थी, उस अवस्थायी तुम्हारी कामकला विमर्द सहिष्णुताकी वाद आ रही है ॥ २३ ॥

( धनुष लेकर लक्ष्मणके वृत्तान्तमें मन लगाये उसी तरह बैठा रहता है )

( लक्ष्मण तथा गुह्यका प्रवेश )

गुह्य—जय हो जय हो महाराजकी ।

वर्णोंको उचित शिक्षा देनेवाले, देवोंको अभयदान देनेवाले, जगत्में आश्चर्य चरित बाल कनिष्ठकाकुत्स्थका जय हो, जिनके अस्त्रोंसे राक्षसयोनिमें जन्म देनेवाले पापोंको धोकर यह दनु निर्वापमात्रमे स्वर्ग पहुँच गया है ॥ २४ ॥

राम—साधु वृत्तम् । शिवा सन्तु तस्य देवयाना पन्थान ।  
पत्न्यं गुह, प्रियति विरर्तमान कश्चिदचल इव लक्षित किमसौ तेनैव  
योजनवाहुना प्रहरणीकृत ।

गुह—देव,

दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्र निष्पिपेथ कपीश्वर ।

तस्य कङ्कालकूटोऽयं कुमारेण विलोडित ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा सप्रति 'वालिनो महानभियोग सभाव्यते ।

लक्ष्मण—तत किम् ।

स्वर्लोकात् उपातिष्ठत प्राप्त, दनु पूर्वं कोऽपि गन्धर्वं शापाद्राक्षसयोनि प्राप्य  
लक्ष्मणास्त्रात् शापात् प्राप्य स्वर्गमलभतेति कथात्र मूलम् । यद्यपि कनिष्ठ  
काकुरस्थ शत्रुघ्नो न लक्ष्मणस्तथापि सन्निहितत्वाद्न लक्ष्मण एव तथा विवक्षितो  
बोध्य । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २४ ॥

साधु वृत्तम्—उत्तम जातम्, देवाना यान ये ते देवयाना पन्थानो मार्गा  
शिवा कल्याणमया । प्रियति व्योमनि । विरर्तमान अस्तव्यस्तभावन स्थित ।  
अचल पर्वत । लक्षितो दृष्ट । योजनवाहुना दनुकबन्धेन, प्रहरणीकृत लक्ष्मणो  
परि क्षेप्तुमस्त्रभाव गमित ॥

दुन्दुभिर्निमित्तम् । कपीन्द्रो बाली पुरा दुन्दुभिं नाम दैत्येन्द्र राक्षस निष्पिपेथ  
निहतवान्, अयं तस्य कङ्कालकूट अस्थिराशि कुमारेण लक्ष्मणेन विलोडित  
धनुष्कोट्या विपर्यासित । बालिनिहतस्य दुन्दुभेरस्थिराशिरय लक्ष्मणेन दनु  
ष्कोट्या बालिनो न दनुप्रहरणमिति भाव ॥ २५ ॥

तन्निमित्तजन्मा लक्ष्मणेन यद् दुन्दुभिकङ्कालकूट धनुष्कोट्या क्षिप्त तत्कारण,  
कोऽयं वीरो यस्तापतोऽस्थिकूटस्य विपर्यास कृतवान्, परयेय तस्य बलमिति  
बुद्धया । अभियोग आक्रमणम् ।

राम—ठाक है, दवनाकका मार्ग उसके लिए कल्याणमय है । बत्स गुह, आकाराने  
किसी पर्वतमध्य वस्तुको चल्ते देखा था, क्या योजनवाहुने ही उसे प्रहरण बनाया था ।

गुह—दुन्दुभि नामक दैत्यको बानरराजने मारा था, यह उभी वा बद्दालकूट था  
जिसे कुमार लक्ष्मणने स्थानसे खिसका दिया है ॥ २५ ॥

इसके कारण ही सकता है कि बाली बड़ा उत्पात मचावे ।

लक्ष्मण—इसमें क्या ?

१ 'पुनर्बालिनो' ।

१६ अ० रा०

राम — वत्स, मा मैवम् । माननीय खल्वसौ पुराणवीरो महेन्द्रसूनु । ( गुह प्रति । ) कुत पुनरागच्छतो वत्सस्य योजनबाहुरन्तराय सवृत्त ।

गुह — देव, व्योमयानेन भत्वरमपक्रामति रावणे सीतादेव्या —

राम — ( 'साशङ्कमात्मगतम् । ) किं पुनरस्या ।

गुह — यदुत्तरीयमुत्स्तुत्य हनूमानप्रहीत्, तदेतदेव गुणानुरागिणा कुमारसुग्रीवेण सभाजयितुमुपस्थितवतो मम हस्ते देवस्य प्राभृतीकृतम् । ( इति रामस्य हस्ते सीताया उत्तरीयमर्पति । )

राम — ( गृहीत्वा हृदये निधाय । साक्षम् । ) हा देवि विदेहराजनन्दिनि, कथमुत्तरीयशेषा दृश्यसे । ( इति निमालिताक्षो लक्ष्मणमवशम्भाति । )

पुराणवीर प्राचीन प्रसिद्धश्च नूरो महेन्द्रसूनु इन्द्रपुत्रो बाली । आगच्छत आश्रम प्रयावर्तमानस्य ।- वत्सस्य लक्ष्मणस्य । योजनबाहु दनुकपथ । अन्तराय मार्गरोधको विघ्न ।

व्योमयानेन आकाशमार्गेण, सखरम् वेगेन । अपक्रामति पलायमाने । साशङ्कम् सीतादेव्या इत्यर्धोक्ते किंजातमिति शङ्का ।

उत्तरीयम् उर्ध्ववस्त्रम् । गुणानुरागिणा गुणैकपक्षपातिना । सभाजयितु भवन्त सत्कर्तुम् । उपस्थितवत समायातस्य । प्राभृतीकृतम् उपहाररूपेण दत्तम् । 'प्राभृत तु प्रदेशनम्' इत्यमरः ।

उत्तरीयशेषा उत्तरीयमात्रावशेषा, केवलमुत्तरीयमेव दृश्यते न त्वमिति येदस्य निषय इत्यर्थः ।

राम — वत्स ऐसा मत कहो, इन्द्रपुत्र तथा पुराणवीर बाली हमारे आदरके योग्य हैं, ( गुहके प्रति ) तुम कहाँसे आ रहे थे कि बीचमें योजनबाहु आ रहा हुआ था ?

गुह — आकाशमार्गसे रावण वेगसे भागा जा रहा था तब सीतादेवीके—

राम — ( साशङ्क स्वगत ) उसकी क्या ?

गुह — जिस उत्तरीयकी बरलकर हनुमानने ले लिया था, मैं हनुमानके पास सुग्रीवकी धन्यवाद देने गया था तब हनुमानने आपको अर्पित करनेके लिए वह उत्तरीय मुझे दे दिया है ॥ ( रामके हाथमें सीताका उत्तरीय अर्पित करता है )

राम — ( लेकर तथा हृदयसे लगाकर ) ( रोते हुए ) हा देवि, विदेहराजपुत्रि, अब

लक्ष्मण — ( नि श्वस्य । ) सखे निपादराज, कुशल सुग्रीवस्य ।

शुह — अद्य त्वयि वार्तामनुयुञ्जाने ।

राम — ( स्वगतम् । )

जानन्नेव दशाननोऽपहरते न प्रेयसीमस्ति 'वा

चन्द्रापीडमुपासितु स हि शिरोदाम स्वय कृत्तवान् ।

तत्रासौ रजनीचरस्य न पुन कण्ठाटवीकर्तना

द्विग्गणोर्मम चन्द्रहासहतकध्रुणोऽयमध्वा वृत ॥२६॥

वार्तामनुयुञ्जाने कुशल पृच्छति सति, यद्य त्व सुग्रीवस्य कुशल पृच्छसि तदेतेन तव कुशलप्रश्नेन सम्भाषितसाहायकोऽसौ कुशलमनुभवतीत्यर्थ ।

जानन्नेवेति । दशानन रावण न अस्माकप्रेयसीम् प्रियतमा सीताम् जानन् एव एतेन कर्मणा भाविन स्वविनाश विद् नेत्र अरहरते चोर्येण स्वपुरीं भयति, अस्ति वा युज्यत एतत्, हि यत स रावण चन्द्रापीड चन्द्रभूषणम् उपासितुम् आराधयितुम् स्व शिरोदाम निजा शिर परम्पराम् स्वय कृत्तवान् पित्रहस्तेन खण्डितवान् तत् तस्मात् रजनीचरस्य रावणस्य पुन कण्ठाटवीकर्तनात् पुन शिरश्छेदनात् त्रामो भय न । धिक्, खेदास्पदमिद् यत् मम वाणं शरै चन्द्र हासहनकेन अतिनिराशेन चन्द्रहासनाम्ना रावणखड्गेन ध्रुणोऽभ्यस्त अध्वा वृत प्रार्थित । रावणो निज नाश जानन्नेव सीता हरति, युक्तमिद् यतोऽसौ रावण स्वय स्वकण्ठाना छेदन कृतवानसौ कण्ठच्छेदविषये निर्भय, खेदस्य त्वय विषयो यन्मम वाणैश्चन्द्रहासकृत रावणशिरश्छेदनामकमेव कार्यं कर्तव्यत्वेन कृत मि यर्थ ॥ २६ ॥

केवल तुम्हारा उत्तरीय ही देव रहा हू । ( अखिले बन्द करके लक्ष्मणको पकडते हैं )

लक्ष्मण—( सौम लेकर ) सखे निपादराज, सुग्रीव तो सकुशल ह ?

शुह—आज जब आप कुशल पूछ रहे हैं तब उनका कुशल ही है ।

राम—( स्वगत ) रावणने जान-बूझकर ही मेरी प्रियतमाका अपहरण किया है, उसको शिरच्छेदका भय नहीं है क्योंकि उसने शिवकी आराधनामें स्वयम् अपने मन्त्रक वाट दिये थे । विचकार है हमारे वाणोंको जिनको चन्द्रहास द्वारा ध्रुण माया अपनाता है ॥

लक्ष्मण — आर्य, 'कथमस्मासु वनौत्सोऽपि सौजन्यमनुरध्यन्ते ।

राम — किमुच्यते । सुग्रीव सनाभिरयमस्माकम् । अस्य हि प्रभवो 'भगवानैन्द्रवाकस्य राजर्षिप्रशस्य प्रसविता सहस्रदीधिति । ( हृदयस्य सुतरीय दृक्का । ) वत्स गुह, स्पृहयामि सुग्रीवहनूमतोर्दर्शनाय । तदृष्यमूकगामिन 'भार्गवावेदय ।

गुह — ( महर्षिमात्मगतम् । ) कथमचिरादेव फलवती 'जाम्बवतो मन्त्रशक्ति । ( प्रकाशम् । ) इत इतो मतद्गाश्रमर्त्तना देव ।

( इति सर्वे परिक्रामन्ति । )

गुह — देव, पश्य पश्य ।

विदधति मुदमक्ष्णोर्नूतनानूपनीप-

प्रहसनसहचर्या नित्यनृत्यन्मयूरा ।

वनौकस वनवासिनो वानरादय । सौजन्यम् सद्भावम् । अनुरध्यन्ते कामयन्ते ।

'सनाभि सगोत्र । सुग्रीवस्य सूर्यपुत्रतया सनाभित्वमभिप्रेत रामेण । अस्य सुग्रीवस्य । प्रभव जनक । प्रसविता उत्पादक । सहस्रदीधिति सूर्य । स्पृहयामि इच्छामि । आवेदय कथय । फलवती सफला । मन्त्रशक्ति मन्त्रणा । ( जाम्बवान् रामसुग्रीवयो सहस्य सम्भावयतिस्म, रामस्य सुग्रीवदर्शनस्पृहोबत्या तत्साफल्य प्रतीक्षित कृतम् ॥

विदध-ति नूतनाना नवविक्रमितानाम् अनूपनीपानाम् जलप्रायदेशस्थ कदम्बानाम् प्रहस्यन विकासस्तत्सहचर्यया तत्प्रहवासेन नित्य सतत नृत्यन्तो

लक्ष्मण—आर्य, हमारे साथ यह वन्य-पुरुष क्यों सौजन्य प्रकाशित किया करते हैं ?

राम—इसमें क्या कहना है ? सुग्रीव हमारे सबदय हैं, क्योंकि उनके भी जन्मदाता वही सूर्य हैं जो इन्द्रवाकुबशके प्रवक्तृ हैं । ( हृदयस्थ उत्तरायकी ओर देखकर ) सुग्रीव तथा हनुमानको देखनेके लिए तरस रहा हूँ । अब मुझे ऋष्यमूक जानेवाला माग बताओ ।

गुह—( सहर्ष स्वगत ) क्यों, जाम्बवानकी मन्त्रणा शीघ्र ही सफल हो रही है । ( प्रकट ) इधरसे मतद्गाश्रम होकर आप जा सकते हैं ।

( सभावा प्रस्थान )

गुह—देव, देखिये—नवीन विकसित नूतन और जलप्राय देशस्थ नौप वृक्षोंके साहचर्यसे जहाँ मयूर नृत्य किया करते हैं वैसे फल मरे जम्बूजोंमें शब्दायमान

१ 'किमस्मासु' ।

२ 'मगवान्' इति क्वचिन्नास्ति ।

३ 'मादेशय' ।

फलपुलकितजम्बूकुञ्जकृजत्कपोत-

प्रियशवरपुरध्रीवन्यवो विन्ध्यलेखा ॥ २७ ॥

राम — ( सर्वतो निष्पद्य । मन्वेदम् । )

समन्तादुन्मीलद्वदललहरीलङ्घनकला

लघुप्रेङ्खत्पम्पानिलविदलदेलासुरभय

अविद्यावेदेहीशतलिपिकरीणां मम धिया

ममी हस्तालग्न विपिनविनिवेशा विदधते ॥ २८ ॥

मयूरा यासु तथोक्ता, तथा फलं पुलकितं पूर्णां ये जम्बूकुञ्जा जम्बूजाननानि  
तेषु कृन्त शदायमाना ये कपोता पारावता तद्विद्याणां स्नेहिनीनां शवर  
पुरध्रीणाम् व्याधादिपनीनाम् च धव मित्रभूता विन्ध्यलेखा विन्ध्यपर्वतमाला  
अचगो दर्शकजननयनयो मुदम् प्रीतिं विदधति कुर्वन्ति । जलप्रायदेशस्थप्रत्यप्र-  
प्रफुल्लकदम्बफुल्लसहवामनृत्यन्मयूरास्तथा फलपूर्जजम्बूवनशदायमानकपोतप्रिय  
शवरवधूमित्रभूता इमा विन्ध्यपर्वतमाला दर्शकलोचने तर्पयन्तान्यर्थ । 'जलप्राय  
मनूप स्यादिव्यमर । मालिनीवृत्तम् ॥ २७ ॥

समन्तानि । समन्तात् सर्वत उन्मीलनीना प्रसरणशीलानां बहुलानां  
बहुमर्यानाम् लहरीणां तरङ्गाणां लङ्घनकला अतिक्रमणक्रियया लघु द्विप्र  
प्रेङ्खन् सञ्चरणशीला य पम्पानिल पम्पासरोवरमापुस्तेन विदलतीभि विक  
सन्तीभि फलाभि सुरभय सुगन्धपूर्णां, ममी विपिनविनिवेशा वनप्रवेशा  
अविद्यावेदेहीशतस्य मिथ्याकल्पितमाताशतस्य लिपिकरीणां सर्वासु दिक्षु सीतामेव  
भावयित्वा चित्रयन्तीनाम् मम धिया बुद्धीनाम् हस्तालग्न साहायक विदधते ।  
सर्वतो विसृमरवहलतरङ्गावलीसञ्चरणप्रेरितपम्पासरोवातसम्पर्कविकमितेलाकुसुम  
गन्धपूर्णां ममी विन्ध्यवनप्रवेशा सर्वत भावनोपनीतसीताचित्रनिर्माणपरायणाया

करोतम स्नेह करनेवाली शवरियोंके प्रिय यह विन्ध्य पवनके प्रदेश जानद उपलब्ध  
करते हैं ॥ २७ ॥

राम — ( चारों ओर देखकर, सखेइ ) मिथ्या वैदेहिका कलना करनेवाली इमारा  
बुद्धिका यहाँके वनसन्निवेश सहायता प्रदान कर रहे हैं जो वनसन्निवेश चारों ओर  
प्रसारित होने वाली तरङ्गोंको लापकर धारे धारे बहनेवाली वायुसे विकसित फलाकी  
सुगन्धियोंसे परिपूर्ण हैं ॥ २८ ॥

लक्ष्मण — आर्य, इतस्तावत् ।

भयभ्रष्टप्रेयोविरहनिर्हंकारहरिणी-

मुखालोकोन्मीलद्गुरुकरुणरुग्णां सहचरीम् ।

विलोक्य म्लेच्छन्तीमलमलमिति प्राग्प्रणिहित

शरव्याल्लुब्धाना हृदयमपराद्ध न तु शरा ॥ २९ ॥

राम — ( साक्षम् । ) हा देवि जानकि,

मारीचमृगयाव्यग्रे मयि प्राप्ते च रावणे ।

मम प्रिय सहायतामिष कुर्वन्ति, इमान् बनोद्देशान् निरीक्ष्याहमनवरत सीता-  
मेव भावयन् दशापि दिश सीतामग्री पश्यामीति तात्पर्यम् । शिखरिणी-  
वृत्तम् ॥ २८ ॥

भयभ्रष्टेति । भयेन भ्रष्टस्य पलायितस्य प्रेयस प्रियतमस्य विरहेण निरहङ्कारा  
गतगर्वा त्रिपाद्युक्ता या हरिणी मृगी तस्या मुखालोकेन दर्शनेन उन्मीलन्  
जायमानो यो गुरुर्महान् करुण शोको दया वा तेन रुग्णा व्यथमानमानसाम्  
अलम् अलम्, मैव, मैना हिंसिरिति म्लेच्छन्तीं चारभापया निषेधन्तीम् सह-  
चरीम् प्रियाम् विलोक्य हृष्टा लुब्धाना व्याधाना हृदय शरव्यात् लक्ष्यता  
नीतात् तत प्राणिन स्वलति अन्यत्र यानि, शरा तत्सहिता शरा बाणास्तु  
न स्वलन्ति नान्यत्र यान्ति तैरसौ प्राणी व्यापाद्यत एव तेषा पूर्वसहित-  
तया लक्ष्यवेधस्यावश्य भावित्वादिति भाव । व्याधभयभ्रष्टसहचरविरहविषण्ण-  
मृगीमुखालोकोदयद्वयया प्रियया मैना हिंसिरिति निषिध्यमानस्य व्याधस्य स्व  
प्रियामुखमुदितकरण निरीक्ष्य हृदये ततो लक्ष्याद् यत्र गामिनि सत्यपि पूर्वसहिता-  
स्तच्छरा न् लक्ष्यादपराद्धा भवन्तीति बोध्यम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २९ ॥

मारीचेति । मयि रामे मारीचमृगयाव्यग्रे काञ्चनमृगरूपधारिमारीचवधोद्यते

लक्ष्मण—आय, शर देखिये,

भयसे भागे हुए प्रियतमके विरहसे दु खिनी हरिणीके मुखको देखकर दयादुन होने  
वाली अपनी सहचरीको देखकर भी उसके द्वारा प्रहार करनेके निषेधके किये जानेपर भी  
शिकारी शबरोंका हृदय लक्ष्यसे चूक जाता है परन्तु उनके बाण लक्ष्यसे नहीं चूकते ॥२९॥

राम—( साक्षु नयन होकर ) हा देवि जानकि,

मैं जब मारीचकी शिकारमें चला गया और रावण का पहुँचा, तब तुम्हारी आँसू

आसामिव कुरङ्गीणा तवोत्पश्यामि लोचने ॥ ३० ॥

लक्ष्मण—(स्वगतम् ।) क पुनरुपायो येन विनोद्यते हृदय  
मार्यस्य ।

(नेपथ्ये ।)

भो भो वनौत्स, कथयन्तु भवन्त । कैनाम्मकीतिशामिनीकेलि-  
चङ्क्रमणक्रीडापर्वतो विवर्तितोऽय दनुराजकङ्कालकूट ।

गुह—(दृष्ट्वा । मभयसभ्रमम् ।) देव, पश्य पश्य । कनकमय  
सहस्रपत्रपुण्डरीकत्रैरुभयप्रभापटलेन<sup>१</sup> दुन्दुभिकरङ्कव्यतिकरन्मना च

गते रावणे च प्राप्ते उटनद्वारमागते सति तत्र लोचने नयने जासा व्याधहस्त  
गताना भयभ्रष्टपतिकाना च कुरङ्गीणा हरिणीणा लोचने इव कातरे सखेदे च  
उत्पश्यामि सभाशयामि । यथामूपा मृगाणा नयने कातरे सखेदे च तथैव मयि  
मृगयार्थं दूरगते रावणे च प्राप्ते सति तत्रापि नयने कानरे सखेदे चामूतामिनि  
मम सभावनेति भाव ॥ ३० ॥

विनोद्यते सान्त्वना प्राप्यते ।

अस्मदिति । अस्मात् कीर्तिं चलवत्तारयातिरेव कामिनी चनिता तस्या केलि-  
चङ्क्रमण क्रीडाविहार तदर्थं क्रीडापर्वत कृत्रिमपर्वत, विवर्तित-विपर्यय  
विघटित । दनुराजकङ्कालकूट-दानवासिचय । अय कङ्कालकूटो मत्कार्तिरूपाया  
नायिकाया क्रीडाविहाररूपतया स्थित केनाद्य विघटित इ-वर्थ ।

कलकेति । कनकमयाना स्वर्णमयाना सहस्रपत्रपुण्डरीकाणा सहस्रदलकर्म  
लाना वैश्विक वनसि तिर्यग्-न्यस्त भाव्य तस्य प्रभापटलेन कातिसमूहेन ।  
दुन्दुभ दानवभेदस्य करङ्क कङ्काल तस्य व्यतिकरो विषयाम तज्जन्मना तदु-

भा इन्हीं हरिणियोंका आँखोंके समान हो गई होगी, ऐसी में सम्भावना करता हूँ ॥३०॥

लक्ष्मण—कीनसा उपाय है जिससे आपके हृदयको बहलाया जा सके ।

(नेपथ्यमें)

हे वनवासियों, आप बतावें कि किसने हमारी कीर्तिकामिनीके क्रीडापर्वतरूप इम  
दनुराज कङ्कालराशिको उलट दिया है ?

गुह—(देखकर समझ) देव देखिये, कनकमय कमलकी कान्ति समुद्राधसे और  
दुन्दुभिनामक दैत्यके कङ्कालराशिके ललाटे जानेसे उत्पन्न कोपसे तिगुना रक्तवर्ण शरीर

१ 'विनोद्यते' ।

२ 'कामिनीचङ्क्रमणकेलिपर्वत' ।

३ 'प्रभामण्डलेन' ।



रोपरागेण त्रिगुणपिशङ्गीं तनुमादधान प्लवगराजोऽयमित एवाभिवर्तते ।  
 पोलस्त्यावयवौघसंकटभुजामूलक्षणोन्मूलित  
 द्वैराज्याममरावतीं कृतवते वीराय 'यस्मै हरि ।  
 नित्यालोक्नकौतुकव्यसनिनी 'शङ्के सहस्र दश  
 पिण्डीकृत्य दलच्छलेन कनकाम्भोजस्रजं दत्तवान् ॥३१॥

दित्तेन रोपरागेण कोपजनितलौहित्येन त्रिगुणपिशङ्गीम् त्रिधापिशङ्खर्गाम्,  
 (वानरस्य तनु स्वत पीतरक्ता पिशङ्गी, सा हि स्वर्णकमलमालया पुन पिशङ्गी  
 कृता पुनश्च मेव दनुकङ्कालविपयासजन्मकोपजनितलौहित्येन पिशङ्गीकृतेनि  
 त्रिधापिशङ्गी तत्तनुरत्र निदिष्टा) 'वैकृत्तिक तु तव्, यत्तिर्यक् क्षित्तमुरसि' इत्य  
 मर । 'करङ्को मस्तकास्थिनि' इति च । प्लवगराज-वानराधीशो वाली इत  
 एवाभिवर्तते-एतदभिमुखमेवायाति ॥

पौलस्त्येति । हरि इन्द्र पौलस्त्यस्य रात्रस्य अवयवौघेन करचरणाद्यवयव  
 समुदायेन सङ्घट व्याप्त यत् भुजामूल कक्षप्रदेश तेन उन्मूलितम् समापितम्  
 द्वैराज्यम् राजद्वयाधिकृतत्वं यस्यास्ता तथोक्ताम् अमरावतीं शकपुरीं कृतवते  
 यस्मै वीराय बालिने नित्यालोक्नकौतुकव्यसनिनी पुत्रस्य बालिन सर्वदा  
 त्रिलोकनाय कौतुकव्यसनिनी समासक्ता दश स्वीयनयनानि दलच्छलेन कमल  
 दलव्याजेन पिण्डीकृत्य समाहृत्य कनकाम्भोजस्रज कनककमलमाल्य दत्तवान् ।  
 वाली रावण कृते निधाय मत्सु समुद्रेषु स्नानपूर्वक सन्ध्यावन्दनमन्वतिष्ठत्  
 तावन् कालपर्यन्त स्वर्गस्य द्वैराज्यमपगत, मति रावणे वहि स्थे स्वर्गे शकस्य  
 रावणस्य च समेऽधिकारे तत्र द्वैराज्यमिवासीत्, तदियतेऽपि कालाय स्वर्गे  
 इन्द्रस्यैकाधिपत्य स्थापयित्वा वाली स्वपितर शक सन्तोषितवान्, सन्तुष्टेन  
 पित्रा बालिने कनककमलमाल्य वितीर्ण शङ्के न तत्कनककमलमाल्य किन्तु पुत्र  
 दिदृक्षान्याकुलानि इन्द्रस्य सहस्र नयनान्येव मालाभावापन्नानि सन्तीति भाव ॥३१॥

लिय यह वानरराज श्वर ही आ रहे हैं ।

रावणके अवयव-समुदायसे व्याप्त भुजमूल वाला होकर इस बालिने कुछ देरके लिए  
 स्वर्गके द्वैराज्य भदसे मुक्त कर दिया था इसीलिये इन्द्रकी हजार आँखें इस बालिको  
 सतत देखते रहना चाहती थी, तब इन्द्रने उन आँखोंको पत्र रूपमें परिशत करके सहस्र  
 कमलका माल्य बालिके गले डाल दिया था ॥ ३१ ॥

‘क्षण च देवस्य महावीरसवादगोष्ठीयमृग्यमूकयात्रामन्तरियिष्यति ।  
तदहमप्रतो गत्वा निष्टया वर्धयामि सूर्यतनयम् ।

राम — एनमस्तु ।

गुह — वाचिक पुनरेतावत्कुमारसुग्रीवस्य यत् ‘मित्त्रपर्यायान्तरित  
देवस्य दास्यमिच्छामि’ इति ।

राम — ( अण्वार्यं । ) वत्स लक्ष्मण, एनमाह नयस्यस्ने गुह । किं  
च मन्त्रोत्साहसपन्नानामपि प्रभुशक्तिमपेक्षन्ते सिद्धय । तदह वालि-

महावीरसवादगोष्ठी-वीरेण वालिना सह वार्त्तालाप । ऋष्यमूकयात्रामन्तर  
यिष्यति-विलम्बयिष्यति ॥

द्विष्टया सोभाग्येन, रामस्त्वया सह मिलितुमागच्छतीति सौभाग्यसूचन  
येत्यर्थं । वर्धयामि सौभाग्यभाज करोमि । भूर्यतनयम् सुग्रीवम् ।

वाचिकम् सन्देशवाक् । मित्रपर्यायान्तरितम् मित्रशब्दनिगूढम् । देवस्य  
भवत । कुमारसुग्रीव सन्दिशति यद्भवतो रामस्य दास्य काम्ये, यद्यपि  
मम दास्य मित्रतया निगूहित रथास्यति तथापि मनसाऽह दास्य रथास्या  
मीति भाव ।

एवमाह—पूर्वोक्तस्वरूप सुग्रीवसन्देश कथयतीत्यर्थं । मन्त्रोत्साहसम्पन्नाना  
मन्त्रशक्त्या उत्साहशक्त्या च युक्तानाम् । सिद्धय साफल्यानि । प्रभुशक्तिम्-  
कोपदण्डन तेन । अपेक्षन्ते स्वजमनि कारणतयेच्छन्ति । मन्त्रोत्साहशक्ती यद्यप्य  
स्मासु विद्येते पर प्रभुशक्तिनारित, न च तामन्तरा कार्यं सिद्धयति, सिद्धे शक्ति  
त्रितयज-यत्वात् अतो मया सुग्रीवेण सन्धि कृत्वा यद्दि प्रभुशक्तिरसादिता भवति

क्षणमेव आपकी इस वीरके सवादमें चित्रकूट वाचाके प्रति विघ्न होगा । अत मैं  
आगे बढ़कर सूर्यपुत्रको सौभाग्य सूचनासे अभिवर्द्धित करता हूँ ।

राम—यही हो ।

गुह—कुमार सुग्रीवने इतना मौखिक सवाद भा कहा था कि मैं रामका मित्र शब्दमें  
द्विषा दास्य प्राप्त करना चाहता हूँ ।

राम—( द्विषाकर ) वत्स, तुम्हारा मित्र गुह इस तरह कह रहा है । मन्त्रोत्साह  
सम्पन्न होनेपर भी सिद्धिके लिए प्रभुशक्तिकी अपेक्षा होनी है । अत मैं वालिके स्थान

१ ‘क्षण च वीरसवाद-’ । २ तदयम् । ३ ‘मन्त्रोत्साहशक्ति-’ ।

स्थाने 'सुग्रीवमभिपिच्य तत्कोपदण्डाभ्या समग्रशक्तिरपरार गन्तु  
मिच्छामि ।

लक्ष्मण—('सस्मितम् ।) यत्रैवमुपयुज्यमानमिन्द्रमूनुमुपेक्ष्य सुग्री-  
वेणोपयोद्धयमाणेन सधिरिति वक्र गत्प्रप पन्था ।

राम—( सस्मितम् ।) वत्स, 'साध्वेव प्रतीपि । किं तु ।

दृष्यत्पौलस्त्यकण्डूभिर्दुरभुजभरोष्मायमाण कपीन्द्रो

नाथ न संदर्शित वचिदपि हि त्रिधौ नैव साहाय्यकाम ।

• सोऽह 'सुग्रीवमेतद्दमनदृढतरं मित्रमिच्छामि पश्चात्

तदा मिद्धि मुल्भा निश्चिता चेति । बालिस्थाने बालिनाऽधिहिते राज्ये । तत्कोप  
दण्डाभ्याम्—सुग्रीवस्य धनेन सैन्येन च । समग्रशक्तिः पूर्णशक्तिः, मन्त्रोत्साह-  
प्रभावात्प्रशक्तिः त्रययुक्त । वरपार गन्तुमिच्छामि वैर शोधयितु कामये ।

यद्येवम्—यदि भवान् प्रभुशक्तिं लब्धुं सुग्रीवेण सन्धिं करोति तदा । उपयु-  
क्तमानम् सम्प्रत्येव प्रभुशक्तिं समपयितु क्षममाणम् । इन्द्रसूनुम्—बालिनम् । उप-  
योद्धयमाणेन लक्ष्णे राज्य प्रभुशक्तिं दातु समर्थाभिप्रेष्यता । वक्र कुटिल । बाली  
सम्प्रति महायना कर्तुं प्रभु, त विहाय पश्चात्महायता कर्तुं क्षममानेन सुग्रीवेण  
सन्धिं कुटिलो मार्गं चिरेण लक्ष्यप्रापणादिति भावः ।

दृष्यदिति । दृष्यत् सगर्वस्य पौलस्त्यस्य रावणस्य कण्डूतिभिर्दुर रण  
कण्डूतिविनाशार्थं यो भुजभर बाहुबलम् तेन उष्मायमाण तेन शाली अथ  
कपीन्द्रो बाली न अस्मान् न संदर्शित न सन्धिना गृहीयात्, हि यत् बाली  
वचिदपि त्रिधा कुत्रापि कार्ये नैव साहाय्यकाम सहायता नापेक्षते, सोऽह  
बालिन साहाय्यनिरपेक्षतया सन्धातुमशक्यत्वेन एतस्य बालिनो दमनेन  
विनाशदानेन दृढतर बलवन्तम् सुग्रीवम् मित्रमिच्छामि मित्रं कर्तुमिच्छामि,

पर सुग्रीवका अभिप्रेक्ष्य करके सुग्रीवके कोप तथा दण्डसे पूण शक्ति बनकर बैरका पार  
पाना चाहता हू ।

लक्ष्मण—यदि यही बात है तो वत्तमानमें सहायक हो सकने वाले बालीको छोड़कर  
मविष्यमें सहायक हो सकने वाले सुग्रीवके साथ सन्धि करना तो ठेका रास्ता है ।

राम—( हसकर ) वत्स तुम भी ठीक ही कहते हो, किंतु—

अपूण पौलस्त्यकी खुजलाहटकी दूर करनेवाले मुर्गेसे युक्त यह बालि हमसे सन्धि

१ 'आशय' । २ 'साध्वेव' । ३ 'दृढतरम्' ।

पारस्त्रीण्येषु पुत्रव्ययशिथिलशुच शकमाराधयामि ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण — ‘साधुदर्शिनी बुद्धिरार्यस्य । किं च विधृतशापेन दनुनापि देवभूय गतिमभिलम्भितेन सदिष्टमार्यस्य यथा ‘अस्य निपादपतेर्वचसि देवैनावघातव्यम्’ इति ।

राम — तद्गुहोऽपि प्रतिदूत्यमर्हति ।

लक्ष्मण — ( गुह प्रति । ) वयस्य, एवमस्मद्गिरा सुग्रीवो वक्ष्य —

पश्चात् सुग्रीवमैत्राङ्गारा स्वकार्यं साधिते सति पारस्त्रीण्यस्य परकीयस्त्रिया लक्ष्मण-ज-मन पुत्रस्य व्ययन विनाशेन शिथिलशुच घृताल्पशोक शकम् इन्द्रम् आराधयामि परमार्थरोधनद्वारा प्रसादयामि । रावणत्रिनयसगर्वस्यास्य बालिन इति विषये मत्साहाय्यानपेक्षतया सन्धातुमशक्यतया बालिनिग्रहं कृत्वा उल्लवत्तरी कृत कृत्वा प्रभुशक्तिसम्पत्तिमवाप्याह सम्प्रति रावणेन सह जात वैरं नियातयितुमिच्छामि, पश्चाच्च वास्तुनिपरिग्वितिवोधनद्वारा परस्त्रीगृहीतजमन पुत्रस्य बालिनो वधेन किञ्चित् कुपित शकं प्रसादयिष्यामीति भाव, ‘पारस्त्रीण्यस्तु परस्त्रिया’ इत्यमर ॥ ३२ ॥

साधुदर्शिनी यथावद्वस्तुसाक्षात्कारकरी । आर्यस्य रामस्य बुद्धिः । विधृतशापेन लक्ष्मणाश्वद्वारा निवृत्तशापेन । दनुना तदाप्यरात्रसेन देवभूयम् देवत्वम् । गतिमभिलम्भितेन मरणोत्तरकालभाविस्वरूप गतिं तां प्रापितेन । आर्यस्य भवतो रामस्य सदिष्टम् वाचिकमुक्तम् । अत्रघातव्यम् ध्यानं दातव्यम् ।

प्रतिदूत्य प्रतिदूतकर्म । यथा सुग्रीवम् इमं दूतभावेन प्रेषितवान्, तथाऽहमपि इममत्र सुग्रीवं प्रति प्रतिदूतभावेन प्रेषयामीत्यर्थः ।

नहीं करना चाहेगा, क्योंकि उसको हमारी सहायता अपेक्षित नहीं है । अतः मैं चाहता हूँ कि इसके दमनसे बृहद् हो जानेवाले सुग्रीवको मित्र बना लूँ, पीछे परस्त्री गर्भोत्पन्न पुत्रके मरणसे दुःखी इन्द्रको प्रसन्न कर लूँ ॥ ३२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, आपको बुद्धि ठीक सोचती है । शापके समाप्त हो जाने पर देवत्वको प्राप्त करके उस दनुराक्षसेन भी आपको सवाद कहा था कि आपको निषादपतिको बातोंपर ध्यान देते रहना चाहिये ।

राम—तब हमको गुहको प्रतिदूतके रूपमें भेजना चाहिये ।

लक्ष्मण—( गुहसे ) वयस्य, हमारी ओरसे तुम सुग्रीवसे यह कहना—

१ ‘आराधयाव’, ‘आराधयाम’ । २ ‘साधुदर्शिनी’ । ३ ‘गतिं लम्भितेन’ ।

‘विताऽय रेतोऽस्त्व तरणिरस्मत्कुलगुरु-

मनुर्वमात्रेयस्तदपि सहज मित्त्वमसि न ।

अथापि ज्ञातेय शिथिलयसि कापेयचपल

शरास्तन्मे वारिाक्षतजरसलोला प्रतिभुव’ ॥ ३३ ॥

राम — ( विहस्य । ) वत्स गुह, एष खलु पौलस्त्यगतेनामर्षेण धू-  
मायमानो यथा कथाचिद्वाचा सौमित्रिरभिदधातु नाम । सततसमिध्य  
मानजानकीविरहैश्चानरेण रामचेतसा पुनरग्निसाधिकमेव सुप्रीवो  
मित्त्वमभ्युपगत ।

विताऽयमिति । अस्माककुलगुरु अस्मद्वशप्रवर्तक अथ तरणि सूर्यस्तव रेतोधा  
वीर्याधानकर्ता पिता, मनु अस्मत्पूर्वपुरुष तव वैमात्रेय विमातृगर्भनो भ्राता,  
नत् त्व न अस्माक सहज स्वाभाविक मित्रम् व धु असि, समानवशाज्जातस्य तव  
मया सह दयाभाविक व धु वमस्तीति मम कार्यविषये स्वया सम्प्रयुपक्रियमाणे  
नादश्यमवधातव्यमित्यर्थ । अथापि कापेयचपल कपिस्वभावचञ्चल सन् यदि  
ज्ञातेय ज्ञानिभाव सम्प्रन्धिकर्तव्य शिथिलयसि त्यसि तत् तदा मे मम बालिन  
क्षतजस्य शोणितस्य रसे वास्वाद लोद्धा लुन्धा शरा प्रतिभुवो लगनका ।  
यदि सबश्यो मया सम्प्रयुपकृतश्च त्व कपिस्वभावोपनतचापल्येनास्मत्कार्येऽन  
वधानमाचरसि तदा बालिशो गितपानलुन्धा मम शरास्तवापि दशा बालिनो  
दशामिव विधास्यन्तीति भाव । ‘सगोत्रवान्धवज्ञातिवन्धुस्वस्वजना समा ।  
ज्ञातेय बन्धुता तेषा क्रमाद् भावसमूहयो’ इत्यमर ॥ शिशुरिणीवृत्तम् ॥ ३३ ॥

पौलस्त्यगतेन—रावणविषयकेण । अमर्षेण कोपेन । धूमायमान—धूममुद्गमन्,  
कोपवशादुद्दिक्तभाव, विवेकपथात्समावितच्युति । यथा कथाचिद्वाचा—किमपि  
वक्तव्यमत्र च वा । अभिदधातु कथयतु । सततम् अनवरतम्, समिध्यमान—  
अज्वलन्, जानकीविरह सीतावियोग एव वैश्वानर अग्निरत्र तथाभूतेन । राम  
चेतसा रामस्य हृदयेन, लक्ष्मणो रावणे कोपेन यथा तथा व्रूता नाम परमहन्तु

तुम्हारे वीर्यशता पिता हमारे कुलगुरु हैं, मनु तुम्हारे वैमात्रेय माह दुष्ट, अग  
तुम हमारे सहज मित्रोंमें हो । फिर भी यदि कपि-स्वभाव चापल्यसे तुम शानिभावको  
शिथिल करोगे तो बालिके स्वरिमे रजिन हमारे शर इसके न्यायकर्ता होंगे ॥ ३३ ॥

राम—(इसकर) वत्स गुह रावणविषयक कोपसे प्रज्वलित हृदय यह लक्ष्मण

गुह — (सहर्षम् ।) परमनुगृहीतोऽसौ देवेन विकर्तनतनय ।  
( सपरिहासस्मित च । )

सुग्रीवे यदि पक्षपातमधुरं देव त्वदीयं मन  
किं नस्तेन विदाकरोतुं भगवानम्भोजिनीवल्लभ ।  
नय्येनात्मजराज्यलाभरभसोद्भूतेन यस्तेजसा  
पूर्वस्माद्विकेन दुःसहतरौ लोकेषु वर्तिष्यते ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण — ( विहस्य । ) कथं तपनतनयस्य राज्यमङ्गीकारिता ययं  
वयस्येन ।

सीतावियोगाग्निं मनसि प्रज्वलन्तं साक्षिणं कृत्वा सुग्रीव मित्रं स्वीकृतवानित्यर्थः ।  
परमनुगृहीत अस्यनुकम्पित । विकर्तनतनय सूर्यपुत्र सुग्रीव ।

सुग्रीव रति । हे देव, त्वदीय मनो यदि सुग्रीवे पक्षपातमधुरम् स्नेहशालि,  
न अस्माकम् तेन मित्र-तत्र किमस्माभि कर्त्तव्यम्, तत् तव सुग्रीवस्नेहम्  
भगवान् सर्वसमर्थे अम्भोजिनीवल्लभ कमलिनीकुलप्रिय सूर्यं विदाकरोतु  
जानातु । य सूर्यं नय्येन अभिनयेन आत्मनस्य पुत्रस्य राज्यलाभरसेन राजपद  
प्राप्तिजन्मनात-देन उद्भूतेन सजातेन पूर्वस्मात् अधिकेन पूर्वं समधिकेन  
तेजसा दुःसहतर अतितीव्र लोकेषु वर्तिष्यते जास्यते । यदि त्व सुग्रीवे स्निग्ध-  
मन्त करण विभर्षि, तत्रास्माक किमपि नास्ति कर्त्तव्यमिद् तु पश्यतु स भास्कर-  
य पुत्रस्य राज्यलाभेन द्विगुणिततेजा सन् सम्प्रति स्वीपिष्यते, इत्यर्थं, एतेन  
रामसुग्रीवस्वरये सूर्यस्य साक्षिभावास्तत्र च सुग्रीवराज्यलाभ फलमिति वस्तु  
व्यञ्जित बोध्यम् ॥ ३४ ॥

तपनतनयस्य सूर्यपुत्रस्य सुग्रीवस्य । अङ्गीकारिता प्रतिज्ञापिता । सुग्रीवाय

चाहे जिन शब्दोंमें वहाँ, हमने तो अपने हृदयमें समत ज्वलित सीता-विरहानलको साक्षा  
वरके सुग्रीवको मित्र बना लिया ।

गुह—( सहर्षं ) आपने सूर्यपुत्रके साथ बड़ी कृपा की । ( परिहासकी हसीके साथ )

यदि आपका हृदय सुग्रीवके ऊपर प्रेमसे भरा है तो इससे हमको क्या, जाने  
भगवान् सूर्य जो पुत्रके नवीनराज्य लाभसे समृद्ध तेजके द्वाग पक्षेकी अपेक्षया अधिक  
उग्ररूपमें अब तपा करेंगे ॥ ३४ ॥

लक्ष्मण—( दसकर ) हमारे इस भिदने किस प्रकार सुग्रीवके राज्यलाभका स्वीकृति  
हमसे ले ली ।

राम — ( सस्मितम् । ) वत्स गुह, न तावत्प्रकाशमेव प्रतिशुश्रूषति मे हृदयम् ।

गुह — ( सप्रथयस्मितम् । ) स्वामिन् , इयमेव 'महता शैली । सन्तो मनसि'कृत्यैव प्रवृत्ता कृत्यवस्तुनि ।

कस्य प्रतिशृणोति स्म कमलेभ्य थ्रियं रवि ॥ ३५ ॥

( नेपथ्ये । )

भो भो बनौकस, कथयन्तु भग्नन्त । दुन्दुभिकृत्कृत्क्षेपसभाव्य मानगम्भीरापष्टम्भनिर्भरेण केनास्माकमिय चिरस्य भुजकाण्डकण्डूति-रपनेष्यते ।

राज्यदास्याम इति प्रतिज्ञा लम्बिता ॥

प्रकाशम् प्रकटम् । प्रतिशुश्रूषति प्रतिज्ञा कर्तुमिच्छति, मनसि सङ्कल्पितस्यार्थस्य प्रकटप्रतिज्ञा कर्तुं वैयर्थ्यानेच्छति ।

मत्त इति । सत्, साधवो जना मनसिकृत्य हृदये सङ्कल्प कृत्वा एव कृत्यवस्तुनि स्वकर्त्तव्ये प्रवृत्ता तत्परा भवन्ति, रवि कमलेभ्य त्रियं लक्ष्मीं कस्य जनस्य पुर प्रतिशृणोति अङ्गीकरोतिस्म । यथा सूर्यो विनैव प्रतिज्ञा कमलकुलाय लक्ष्मीं वितरति, तथैव भवानपि सुप्रोवाय विनैव प्रकटप्रतिज्ञा राज्यलक्ष्मीं वितरीष्यतीति भाव । विशेषेणात्र सामान्य समर्थितमित्यर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ३५ ॥

दु दुभोति । दु दुभे दानवे द्रस्य करङ्कविभेरेण अस्थिकूटत्रिपर्यासद्वारा गम्भीर महान् अवष्टम्भनिर्भर स्वपराक्रमविश्वस्त तेन । भुजकाण्डकण्डूति भुजस्थिता

राम — ( हसकर ) वत्स गुह, हमारा हृदय प्रकट रूपमें इस तरहकी प्रतिज्ञा नहीं करना चाहता है ।

गुह — ( नम्रताके साथ हसकर ) स्वामिन्, यही तो बड़ोंकी शैली होती है,

सज्जन, अपने कर्त्तव्यको मनमें रखकर ही काममें लगते हैं, सूर्यने कमलोंको शोभा प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा किमके सामने की थी ? ॥ ३५ ॥

( नेपथ्यमें )

हे बनवानियो, आप कहें कि दुन्दुभि कङ्कालके विशेषसे सभाव्यमान गम्भीर पराक्रम शाली बौन वीर हमारी चिरकालिक भुजकण्डूको दूर करेगा ?

१ 'वो महता' । २ 'कृत्यैव' ।

गुह — ( स्वगतम् । )

मन्ये दर्पामयाविभ्या नित्य दोभ्याममर्षण ।

'जाम्बवत्प्रेरणादीप्त प्राप्तोऽय प्लवगेश्वर ॥ ३६ ॥

तदहमपि वीरयान्नादर्शनसुख मुहूर्तमनुभवामि ।

( प्रविश्य । )

वाली — ( 'पुरोऽवलोक्य । ) अये, प्रसन्नोऽञ्जलाकृती कापेतौ । निय-  
तमाभ्यामेकेन दानवनाथरङ्कालोत्क्षेपनिमित्तेन भवितव्यम् । ( स्मृतिमभि-  
नीय । सवितर्कम् । ) आ सदिष्टमस्मासु प्रियमुहृदा लङ्केश्वरेण । यथा—

'प्रकृतकान्तारकुमारभक्तिर्दोर्भागिनेयो जनकेन मुक्त ।

रणलिप्सा । कोऽय दनुरङ्काल विपर्यस्त कृत्वा स्वभुजमार प्रकाश्य मम युद्धा-  
भिलाप पूरयितुमिच्छतीत्याशय ॥

मये इति । दर्पामयाविभ्याम् अहङ्काररूपेण रोगेण प्रस्ताभ्याम् दोभ्याम् निज  
वाहुभ्याम् नित्यम् सदा अमर्षण एतकोप जाम्बवतो नाम मन्त्रिण प्रेरणया  
अनुशासनेन दीप्त प्रचलितश्च सन् अयम् प्लवगेश्वरो वाली प्राप्त समागत इति  
मन्ये सभावयामि ॥ ३६ ॥

-वीरयान्नादर्शनसुखम् वीराणा युद्धप्रयाणावलोकनजन्यमानन्दम् ।

प्रसन्नोऽञ्जलाकृती सोम्यतेजस्विनो । नियतम् निश्चयेन । दानवनाथरङ्कालो  
त्क्षेपनिमित्तेन दन्वस्यिकृतविपर्यासकारिणा । अनयोरेवैक कोऽपि तदस्थिकृत  
विपर्यस्त कृतवानिति निश्चितमिति भाव ।

प्रकल्पनेति । प्रकृतस्य मनसि एता कातारे वने कुमारे सुग्रीवे च भक्ति अनुरागो  
येन तादृश वनवासप्रिय सुग्रीवानुरक्तश्चेत्यर्थ, दोर्भागिनेय दुर्भगाया पयुर-

गुह — ( स्वगत ) मालूम पडता कि दप रोगके रोगा अपने भुजोसे अमर्षण यह  
वानरराज जाम्बवान्ते प्रेरित होकर यहाँ आ गया है ॥ ३६ ॥

वाली — ( आगे देखकर ) प्रमन उज्ज्वल आकारवाले यह दोनों वीर हैं ? निश्चय  
यहाँ दोनोंमें से किसी एकने दनुकवधको उलटा होगा । ( याद करके, विनयके साथ )  
आ, हमारे सुहृद् अङ्गापतिने सवाद दिया था, —

'जङ्गल तथा सुग्रीवकी भक्ति करनेवाला, अभागी माताका वेग, पिता द्वारा त्यक्त,

१ 'प्रेरणात्' । २ 'अवलोक्य च' ।



मनुष्यसामन्तसुतो निषङ्गी सहानुजस्तिष्ठति दण्डकायाम् ॥३७॥

तौ चास्माक तत्र विहारिषु निशाचरेषु पाटञ्चरीं वृत्तिमातिष्ठमानौ भ  
वद्भिः प्रतिकर्तव्यौ' इति । 'तत्किमयमय च तौ स्याताम् ।

राम—वत्स लक्ष्मण, शृणु । किमय ब्रवीति । महावीर ।

लक्ष्मण—( किंचिदुपसृत्य । ) 'इत आवाम् । इत इतो भवान् ।

बाली—'भो कावेतौ युवाम् ।

लक्ष्मण—महाभाग, राघवौ क्षत्रियावायाम् ।

बाली—आयुष्मन्, आकारनिशेषा एव गमयन्ति जातिविशेषान् । तद्विशेष ब्रूहि ।

प्रियाया कौसल्याया पुत्र जनकेन पित्रा दशरथेन मुक्त परित्यक्त, मनुष्याणा  
सामन्तस्य राज्ञो दशरथस्य सुत पुत्र निषङ्गी धनुर्धरं सन् सहानुजं कनिष्ठभ्रात्रा  
सहितं दण्डकाया तदारथे कानने तिष्ठति । पृतत्सन्देशवचनम् ॥ ३७ ॥

तत्र दण्डकायाम् । विहारिषु यथारधि व्यवहर्तुसु । पाटञ्चरीम् दास्यमीम्  
वृत्तिम् । आतिष्ठमानौ कुर्वन्तौ । प्रतिकर्तव्यौ प्रतिविधेया, हन्तव्यौ ।

दशरथसुतो दण्डकावनवासिनो राजसानुत्पीडयिष्यतस्तौ त्वया मन्मित्रेण  
बालिना दमनीयादित्ययमर्थो रावणेन मयि बालिनि सन्दिग्धमासीदिति भावः ॥

राघवौ-रघुवशजातो ।

आकारनिशेषा-विशिष्टा आकारा । गमयन्ति-बोधयन्ति, अतो भवदीयजाते  
राकारेणव मया प्रतिपन्नतया न तदुक्तिर्युक्ता तत्र, विशेषेण पृष्टस्त ब्रूहि इत्याशयः ।

धनुर्धर, नरराजका पुत्र अपने छोटे भाइके साथ दण्डका वनमें वाम कर रहा है ॥ ३७ ॥

वे दोनों वहाँ रहनेवाले हमारे राक्षसोंके प्रति छुटेरेकी धृति धारण करेंगे, अत  
तुम उनका प्रतिवार करना' । तो क्या वे दोनों यही है ॥

राम—वत्स लक्ष्मण, सुनो तो, यह बीर क्या बोल रहा है ।

लक्ष्मण—( थोड़ा समीप जाकर ) हम दोनों इधर हैं, अप इधर आइये ।

बाली—भजी, तुम दोनों कौन हो ?

लक्ष्मण—महाभाग, हम दोनों रघुवशी क्षत्रिय हैं ॥

बाली—आयुष्मन्, आकार विशेष हा जानि विशेषका ज्ञान करा देते ह, विशेष कहो

१ 'अतयो' । २ 'शृणु' इति कश्चिनास्ति ।

३ 'इत इत' । ४ 'भो भो' । ५ 'अवगमयन्ति' ।

लक्ष्मण —ननूक्तमेव राघवायाम् ।

वाली—( साम्भ्यस्यमिव । ) आ ,

वपुरपि चितृणोति क्षत्रता को विशेषो

रघुषु यदभिधत्से राघवावित्यभीक्षणम् ।

परिकलयितुमिष्टं नाम सास्कारिक वा

महद्व कथमपत्यप्रत्ययान्निश्चिनोमि ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण —( 'सधैर्यसरम्भम् । ) भो , आया तौ रामलक्ष्मणौ ।

वाली—( सविमर्शनात्मगतम् । ) कथ 'तौ' इति सर्वनामपदेन प्रसिद्धावित्याह । तत्किमनयोरेवान्यतर पिनाकजन्यनो दमयिता । सोऽपि रामभद्रो राम स्यान् । भवतु । एव तावन् । ( प्रकाश वित्प्य । )

वपुरपीति । वपु अपि शरीरमेव क्षत्रताम् क्षत्रियनातिसमुच्चताम् चितृणोति प्रकाशयति, तद्वत् क्षत्रिय-बोधयेत्यर्थ । यत् अभीक्ष्यम् सततम् 'राघवौ' इति अभिधत्से कथयामि तत् पृच्छामि रघुषु को विशेष कीदृशी विलक्षणताऽस्ति ? रघुषु वैलक्षण्यविरहेण तदभिधानमपि ममाग्रे न विशेषाधायकमित्यल तदुक्त्यापी-यथ । वाम् युवयो सास्कारिक पिना नामकरणसंस्कारकाले गृहीत नाम परि कलयितु मया ज्ञातुमिष्टम् अभिलषितम्, अहमेति वेदे, अपयप्रचयात् रघोरपय भवानित्युक्तिमात्रेण कथ निश्चिनोमि अवधारयामि । विशेषप्रतिवित्साया सामान्योत्तरशाम्यत्वाभावन न शान्ता मम जिज्ञामेति भाव , मालिनीवृत्तम् ॥ ३८ ॥

तौ प्रसिद्धौ ।

पिनाकजन्यन —पिनाकालयस्य हरधनुषो, दमयिता-भञ्जक , अथवा पिनाक

लक्ष्मण—कइ तो दिया कि हम रघुवशी हैं ।

वाली—( बोधते ) आ , देहदी क्षत्रियात्क बना रही है, रघुओंमें क्या विशेषता है कि बार बार अपनेको राघव कह रहे हो ? तुम्हारे संस्कार द्वारा दत्त नाम जानता चाहता हू, उसको अपत्य प्रत्ययसंक्रमे निश्चित कर सकता हू ॥ ३८ ॥

लक्ष्मण—( धैर्यपूर्वक ) हम दोनों देखी राम-लक्ष्मण हैं ?

वाली—( सविचार स्वगत ) क्यों, सर्वनामपदके द्वारा प्रसिद्ध व्यक्तिन कर रहा है तो क्या इन दोनोंमें से ही एक पिनाक धनुषका भक्तकता है ? बहा रामभद्र राम हैं क्या ? अस्तु । ( प्रकट इमत्वा हुआ )

१ 'सभ्रमम्' । २ 'एव' इति द्विभिनास्ति ।

एको वेपपरिग्रह परिकर साधारण कर्मणा-

माकृत्योर्मधुरत्वमेव सदृशं तुल्यैव गम्भीरता ।

तद् द्रष्टु चिरमुत्सुकोऽस्मि कतरो वा रामभद्र पुन

सर्वक्षत्रवधवती भृगुपतिर्येनाचकीर्णाकृत ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण — ( सविनयमिव । ) आर्य 'साकन्दने, लक्ष्मणस्तात्रदहम् ।

वाली—'अयमप्यपरो दाशरथि कोशिकान्तेवासी राम ।

लक्ष्मण —अथ किम् ।

वाली—( सहर्षोल्लासम् । किञ्चिदुच्चै । ) भो रामभद्र,

एष त्रैवर्ण्यमात्रव्यपसितजगतो भार्गवस्यास्त्रगर्भा-

धनुर्षस्य तस्य शिवस्य दमयिता अवमन्ता तद्धनुर्भजनमत्र तद्धमनम् ।

एक इति । वेपस्य जटावलकलादे परिग्रह ग्रहण धारणम् एक तुल्य, कर्मणा धनुर्धारणादीनाम् परिकर सनाह माधारण अविभिन्नरूप, आकृत्यो शरीरा बयवसमुदाययो मधुरत्वम् मनोहरत्वम् सदृशम् तुल्यमेव, गम्भीरता दुरवगाह प्रकृतिता तुल्या समाना एव, पुन किन्तु येन रामेण सर्वक्षत्रवधवती सर्वक्षत्रिय वधवतधर भृगुपति परशुराम अवकीर्णी अष्टक्षत्रवधवत कृत स रामभद्र वा युवयोर्मध्ये कतर क ? तद् द्रष्टु विविच्य ज्ञातुम् चिरम् बहुकालात् उत्सुक उत्कण्ठितोऽस्मि सर्वथा समयोयुंबयो परशुरामविजेता राम कतर इति विशिष्य ज्ञातुमुत्सुकस्य ममोत्सुक्य शमयेति भाव । 'अवकीर्णी क्षत्रवत' इत्यमर ॥ ३९ ॥

साकन्दने सदकन्दनस्य इन्द्रस्य पुत्र ।

एष त्रैवर्ण्येति । त्रयाणा ब्राह्मणवैश्यशूद्राणा वर्णाना समाहारस्त्रैवर्ण्यं तत्र

तुम दोनोंके वेप, कार्य, आकृतिगत माधुर्य, गम्भीरता आदि सब एक-सा ही ह, अत म यह जाननेको आतुर हो रहा ह कि तुम दोनोंमें राम कौन है जिसने सबक्षत्रिय संहारवती परशुरामकी क्षत्रवत बना दिया ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण—( नम्रताके साथ ) आर्य इन्द्रपुत्र, मे लक्ष्मण ह । -

वाली—तो यह रहा कौशिकका बेटा राम ।

लक्ष्मण—और क्या ?

वाली—( हर्षोल्लासके साथ, कुछ उच्च स्वरसे ) भोजी रामभद्र,

मेरा आज सुप्रभात है कि संसारसे क्षत्रियजातिका लोप कर देने वाले मागवके अस्त्र

दाहृष्टक्षत्रजातिस्त्वमसि पथि गिरामद्य न सुप्रभातम् ।  
 कक्षोष्मस्वेदसद्य शमिनदशमुखारस्फोटकण्डूविकारो  
 'वीरश्राद्धो भुजस्त्वा परिचरतु चिर चक्षुषी नन्दतां च ॥४०॥

राम — ( शब्दा सहर्षम् । ) स एष महाबाहु सकन्दनसूनु ।

येन वीरेण गुप्तायां किष्किन्धायामिय मही ।

रावणाभिभवह्वान्ता शश्वदुच्छ्वासमश्नुते ॥ ४१ ॥

व्यवसित यवस्थापित जगद् येन तादृशस्य क्षत्रियजातिसमापनेन भुवन वर्णत्रय  
 मात्राश्रय कृतवन, भार्गवस्य परशुरामस्य अस्त्रगर्भात् कुठाररूपास्त्रभागाभ्यन्तर  
 भागात् आकृष्टा बहिर्निस्सारिता क्षत्रजाति येन तादृश भार्गवपरशुनिर्लीनक्षत्र  
 जातिसमुद्भूतां त्व राम गिरा वचसा पथि भार्गो वचसा स्वबोधयितु योग्य समीप  
 स्थ असि, अद्य न अस्माक सुप्रभातम् सुष्ठु दिन जान यत्न मिलित इत्यर्थ ।  
 कक्षस्य भुजमूलस्य उष्मस्वेद उष्मप्रवृत्त घर्मजल तेन उपशमित शान्ति गमित  
 दशमुखस्य रावणस्य आस्फोटकण्डूविकार युद्धार्थकण्डूनिरूप्या वित्रिया येन तादृश  
 रावण स्वकचे निक्षिप्य प्रशमिततद्युद्धाभिलाष वीरश्राद्ध वीरेषु श्रद्धाशाली भुनो  
 मम बाहु त्वा चिर, परिचरतु युद्धद्वारा सेवता, चक्षुषी नयने नन्दता प्रसन्नता  
 प्राप्नुता च । यो भवान् भुव निक्षत्रिया कृतवतो भार्गवस्य कुठारधारानिमग्ना  
 क्षत्रियजातिमुद्धृतवान् स मम पुरो जात इत्यद्य मम सुप्रभातम्, सम्प्रति रावण  
 भुजगर्वस्यर्षद्वेषोऽय वीरश्रद्धाशाली मम बाहुस्त्वा युद्धचर्यया सेवता नयने च त्वा  
 निरीक्षत प्रमोदमनुभवतामित्याशय ॥ ४० ॥

येन वीरेणेति । रावणाभिभवेन रात्रगहनानेकविधावमानत्रियया कलान्ता विद्रा  
 इय मही पृथ्वी येन वीरेण बालिना गुप्ताया पालिताया किष्किन्धया शश्वद

गभस्ते क्षत्रियजातिको बाह्व निकालनेवाले तुमसे बातें करनेका अवसर मिला है, ( मेरा  
 शब्दा है कि ) भुजमूलकी घनविन्दुओंसे तत्काल दशमुखके कण्डू विकारको शमिन कर  
 देनेवाला और बारोंपर श्रद्धा रखनेवाला यह हमारा भुज तुम्हारी परिचर्या करे और  
 आँसे आनन्दित हो ॥ ४० ॥

राम—( देखकर मह्य ) यही है वह महाबाहु शत्रुपुत्र बाली ।

जिस वीरके द्वारा पालित किष्किन्धामे रावणके अस्त्राणोंसे पीड़िता यह पृथ्वी निरन्तर  
 आश्वस्तमावकी पाता है ॥ ४१ ॥

१ 'वीरश्रद्ध' । २ 'किचिश्' ।

( इति परिक्रामति । )

लक्ष्मण—महाभाग, अयमार्य । इत इतो भवान् ।

वाली—( उपसृत्य । ) रामभद्र,

सुरासुराणामसुभिर्दीव्यता सभिको मुनि ।

अद्य मे नारदस्तुष्टो येनासि भुजगोचर ॥ ४२ ॥

राम—महारीर, किमुच्यते । मूर्धाभिपिक्तोऽसि समरशौण्डानाम् ।  
तथा हि ।

देव स त्वामसूत द्विषदुपमृदितस्वर्बध्रूवेणिवन्ध-

प्रेक्षाधारालघैरप्रसृमरसमरोद्दामरौजा विडौजा ।

सततम् उन्मुसम् सुखनि श्वासम् अश्नुते प्राप्नोति । अन्यदेशावच्छेदेन रावणखे-  
दितापीय धरा किंकिन्धाऽवच्छेदेन रावणभयाभावात्सुखमुच्छ्रमितीति भाव ॥४१॥

सुरासुराणामिति । असुभि प्राणैर्दीव्यताम् क्रीडताम् सततयुद्धरतानामित्यर्थं  
सुरासुराणां दवानां दानवानाञ्च सभिक युद्धरूपयूतक्रियाभ्यत्त मुनि नारद  
अद्य मे मम तुष्ट प्रसन्नो येन मे भुजगोचर बाहुविषय असि । सदा युद्धे प्राणै-  
र्दीव्यता देवासुराणां सभिर्भो द्युतकलाप्रवर्तकं देवामसुराश्च योधयन् नारदोऽहं  
मद्भुजगोचर भवन्त ज्ञात्वाऽऽयोर्युद्धमवश्यभावि पश्यन्नानन्दमनुभविष्यतीति  
भाव ॥ ४२ ॥

मूर्धाभिपिक्त शिरोमणीभूत प्रधानमित्यर्थं । सग्रामशौण्डानाम् रणप्रिय-  
वीराणाम् ।

देव स त्वामिति । य इन्द्र द्विषन्ति शत्रुभि राक्षसै उपमृदितस्य वृष्टस्य  
स्वर्बध्रूवेणिवन्धस्य देवान्नाकेशपाशस्य प्रेक्षया दर्शनेन धाराल प्रवृद्ध यद् वैर

( चलना है )

लक्ष्मण—महाभाग, यही है आज राम, आप श्वर आते ।

वाली—(समीप जाकर) रामभद्र, देवों तथा दानवोंके प्राणोंसे खेलनेकी इच्छा  
रखनेके इच्छा रखनेवाले नारद आज मुझपर प्रसन्न हुए हैं जिससे तुम हमारे भुजगोचर  
हुए हो ॥ ४२ ॥

राम—महावार, क्या कहा जाय, समरशूरोंके लिए तुम अग्रगण्य हो ।

शत्रुओंद्वारा देवान्नाओंके मृदित बेणानधको देखकर बदनवाले धारा प्रवाह वैरके  
कारण समरमें अद्वितीय ओज प्रकट करनेवाले उस इन्द्रने तुम्हें जन्म दिया है जो युवाकर

१ शौण्डोऽसि ।

यो विद्धोत्प्लातबाणव्रणनिवहनिभ निर्भरोद्भुरभ्रू-  
भीम श्रीमद्भिरङ्गैस्त्वद्वहत रूपा रज्यदक्षणां सहस्रम् ॥४३॥

अपि च—

वन्दीकृत्य जगद्विजित्त्वरभुजस्तम्भौघदु सचरं  
रक्षोराजमपि त्वया विदधता सध्यासमाधिब्रतम् ।

प्रत्यक्षीकृतकार्तवीर्यचरितामुन्मुच्य रेवा सम

सर्वाभिर्महिषीभिरम्बुनिधयो विश्वेऽपि विस्मापिता ॥४४॥

तेन प्रसुमर प्रसरणशील तथा समरे युद्धे उद्दामरम् उत्कट च ओज तेनो यस्य  
तथोक्त अत एव रूपा कोपेन निर्भरम् अत्यर्थम् उद्भुरभ्रूया वदिल्या भ्रूया भीम  
भीषण सन् श्रीमद्भि स्वाभाविकशोभाशालिभि अङ्गै शरीरावयवै पूर्व विद्धा  
पश्चादुत्प्लाता ये बाणा शरा शत्रुप्रयुक्तास्तेषा व्रणनिवहनिभ हतसमूहतुल्य  
रज्यत् रक्तीभवत् अक्षणा सहस्रम् नयनसहस्रम् उद्वहत दधार, स विद्धीना  
इन्द्रस्त्वा जगद्विदितशौर्यशालिनमसूत जनयामास । अयमाशय -राक्षसदृष्टस्वर्ग  
रमणीकेशपाशालोकनवद्धमानवैरसमेधितयुद्धोत्कटीजोयुक्त अत्यर्थकुटिलभ्रूभीषण  
मुखश्च य इन्द्र स्वाङ्गवर्ति विद्धनिस्सारितबाणसमुदयव्रणोपम कोपरक्त निच  
नयनसहस्रमवहत स इन्द्रस्तव जनक इति युज्यत एव तव समरशोण्डरमिति ।  
सन्धरावृत्तम् ॥ ४३ ॥

वन्दीकृत्येति । त्वया बालिना जगता विजित्त्वरै विजयिभि भुजस्तम्भौघै  
स्तम्भोपमैर्भुननिवहै दु सञ्चर नि स्पन्दीकृततया चलितुमशक्त रक्षोराज रावणमपि  
वन्दीकृत्य स्वकचकाराया निरङ्ग विधाय सध्यासमाधिब्रतम् सन्धयोपासनकालिक  
प्राणायामनियम विदधता सम्पादयता सता प्रायश्चीकृत दृष्ट कार्तवीर्यस्य सहस्रा  
र्जुनस्य चरित बाहुभिर्धारानिरोधरूप यया तादृशी रेवा नाम नदीमु मुच्य  
परित्यज्य सर्वाभि महिषीभि सम विश्वे सर्वेऽपि अम्बुनिधय सागरा विस्मा  
पिता आश्चर्ये निमज्जिता । बाली पुरा रावण स्वकृत्ते निधाय सप्तस्वपि भागरेषु

निकाले गये अर्द्धोके धावने समान रक्त तथा महस्र-सहस्रक नयनोंकी अपने सुन्दर  
नर्बाङ्गर धारण करते हैं, तथा जो भ्रूमद्रके कारण भीषण प्रतीत होते हैं ॥ ४३ ॥

विश्वविजयी रावणकी भी अपने भुजस्तम्भोंमें बन्नी बनाकर तुमने सध्यावदन  
कालिक समाधि धारण की, कार्तवीर्यके चरितको प्रत्यक्ष देखनेवाली रेवाको छोड़कर  
समुद्रकी सभी स्त्री नदियाँ तथा सारा सारा तुल्ल द्वारा दिये गये उम सध्या समाधिके  
दशनसे विस्मित हो बटे ॥ ४४ ॥

—बाली—( विहस्य । )

चिराय रात्रिचरवीरचक्रमाराङ्कवैज्ञानिक पश्यतस्त्वाम् ।

सुधासधर्माणमिमा च वाच न शृण्वतस्तृप्यति मानसं मे ॥ ४५ ॥

किं तु—

येनाच्छिद्य समस्तपाथिवकुलप्राणान्तक कार्मुकं

राम सप्रति लम्बितो भृगुभुवामुत्सर्गसिद्धा स्रुचम् ।

द्रष्टु वीर चिराय धाम भवतस्तद्भूर्भुव स्वस्त्रयी

हृन्मर्मघणरोपणोधमिमौ वाह वह्त्ताम्यत ॥ ४६ ॥

सन्ध्यामन्वतिष्ठत्तत्र ससारविजयगवितोरपि भुजे रावणो न सञ्जरितुमशक्त इति रात्रणो बन्दीभूत इव तत्करोऽतिष्ठत्, तदित्थ रावणमपि वदीकृत्य बाली सर्वानपि सागरान्विस्मयसागरनिमग्नानकार्षीत्, न केवल सागरा व्यस्मयन्त किन्तु सागरगृहस्थिता सर्वा अपि नद्यो व्यस्मयन्त, केवल रेवा न व्यस्मयत यतोऽगौ कार्तवीर्यस्यापि भुवनाद्भुत चरित पूर्वं दृष्टयती, सोऽपि भुवनाद्भुतमेव कृत्य कृतवानतो न व्यस्मयत रेवा तत्रेति भाव ॥ ४४ ॥

चिरायेति । रात्रिञ्चरवीरचक्राणाम् राक्षसवीरसमूहानाम् भारो वध एव अङ्क चिह्न यस्य तादृशराक्षसवीरवधचिह्नशालिन् वैज्ञानिकयुद्धविद्याविशारद रामभद्र, त्वा चिराय चिरात् पश्यत साक्षात्कुर्वतस्तथा तवेमा सुधासधर्माणममृतसमाना वाच शृण्वत निशामयतश्च मे मम बालिन मानस न तृप्यति न सन्तुप्यति ॥४५॥

येनाच्छिद्येति । येन तव धाम्ना समस्तपाथिवकुलप्राणान्तक समस्तत्रियजाति वधकर कार्मुक चापम् आच्छिद्य ( परशुरामहस्ताद् दूरीकृत्य ) त्याज्यित्वा राम परशुराम भृगुभुवाम् भृगुवशीयानाम् उत्सर्गसिद्धाम् स्वभावप्राप्ता स्रुच यज्ञपात्रभेद लम्बित ग्राहित । ( यत् तव तेज सकलस्रस्रसहारक चाप परशुरामकरादपनीय परशुराम पुनरपि स्ववशक्रमागता स्रुच ग्राहयामास ), हे वीर, भूर्भुव स्वस्त्रया-

बाली—(इत्तर) बहुत दूर तक राक्षस मण्डलाके वीर समुदायको मारनेका कलामें निपुण तुमको देखकर तथा अमृतोपम तुम्हारी बानोंको सुनकर मेरा मन उत्स नहा हो रहा है ॥ ४५ ॥

किन्तु—तुम्हारे जिस पराक्रमने सकलक्षत्रिय सहायक परशुरामको धनुष छुड़ाकर मार्गवशवा स्वभावसिद्ध स्रुच ग्रहण करवा दिया, लोकप्रयत्ने हार्दिक दुःखको मिटानेमें औषधको तुल्य तुम्हारे उसी पराक्रमको देखनेने लिये हमारे यह हाथ तडकड़ा रहे हैं ॥४६॥

राम—( सस्मितम् । )

नन्वेतदधिमौर्वीकं युद्धसर्वस्वदक्षिणम् ।

सज्जमस्त्येव मे रक्षोलक्ष्मीमूलहर धनु ॥ ४७ ॥

तन्महाभागोऽपि शस्त्रमावृत्ताम् ।

वाली—( विहस्य । ) साधु भो महाशत्रिय, यथाधर्ममभिदधासि ।

किं तु ।

नयो हि साङ्ग्रामिक एव दोषमता यदात्मजातिप्रतिबद्धमायुधम् ।

अथ कुशीभि कपयो न शस्त्रिणस्तलं च मुष्टिश्च नखाश्च सन्ति न ॥ ४८ ॥

लोकत्रया ह्यन्ममंरणरोपणोपधि लोत्रयवासिलोकेदमव्यथानिवारकम् तत् प्रसिद्ध भवतो धाम तेज द्रष्टुम् इमौ मम बाहु चिराय बहो कालात् उत्ताम्यत उत्सुकीभवत । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४६ ॥

नन्वेतदिति । एतत् अधिमौर्वीकम् आरोपितज्यम् युद्धसर्वस्वदक्षिणम् युद्धे सर्वस्व दक्षिणा देय यस्मै तांशम् अथवा युद्धमव सर्वस्वदक्षिणा यस्य तादृशम्, यथा प्रसन्नो रूप कर्मैच्छित्सर्वस्व दक्षिणारूपेण दत्ते, तथा धनुरिद प्रसय युद्ध ददातीत्यर्थ । रक्षोलक्ष्मीमूलहर रक्षसा श्रियो समूलविनाशकम् मम धनु सज्जम् अन्त्यत्र, यथा तवाभिलापस्तथाहमपि युद्धोद्यत एवास्मीति तापर्यम् ॥ ४७ ॥

आवृत्ताम् गृह्णतु । यथाधर्मम् धमात्रिरुद्धम् । अभिदधामि कथयामि ।

नयो हीति । एव हि साङ्ग्रामिक युद्धसम्बन्धी नय नीति नियमो वा यत् दोषमता बाहुबलशालिनाम् आत्मजातिप्रतिबद्धम् स्वजातिनियनम् यथाजातीयकम् आयुध प्रहरण भवेदिति । अतो मयाऽपि स्वजात्युपयुक्त शस्त्रमेव धार्यमिति, कपयो चारु अथ कुशीभि लौहविकारे युष्माभिर्बाणमत्रया व्यवहियमाणैरेभिलौह काण्डै शस्त्रिणो न भरन्ति, न अस्माक कपीनाम् तलम् करतलम् मुष्टि नखाश्च शस्त्राणि सन्ति ॥ ४८ ॥

राम—( सस्मित ) प्रत्यक्षा नन्दाये द्वये तथा युद्धरूप सर्वस्वना दान देने वाला यह धनुष तैयार है, जिसने राक्षसोंको लक्ष्मीकी जड़ काट दी है ॥ ४७ ॥

अत आप भी शस्त्र ग्रहण करें ।

वाली—( हस्तकर ) महाशत्रिय, तुमने धमानुसार ठीक ही कहा । किन्तु—

युद्धका यदी नियम है कि धीर अपनी जातिके लिए नियत अस्त्रग्रहण करते हैं, चारु लोहेकी अहुशीभि अस्त्र वाले नहीं बनते, उनके अस्त्र हैं हस्ततल, नख तथा मुष्टि ॥ ४८ ॥

१ 'सज्जम्' ।

२ 'किं पुन' ।



लक्ष्मण—आर्य, साधूक्त महाभागेन । नित्योपनतस्वाङ्गशब्धैव  
तेरश्री जाति ।

राम—( विहस्य । धनुरास्नालयन् । ) अहह ।

स्वविघ्नप्रसरेण रावणिरसौ यद्दुर्यशोभागिनं

चक्रे गौतमशापयन्त्रित<sup>१</sup>भुजस्थामानमाखण्डलम् ।

<sup>१</sup>कक्षागर्तकुलीरता गमयता वीर<sup>२</sup>त्वया रावणं

तत्समृष्टमहो विशल्यकरणी जागति सत्पुत्रता ॥ ४९ ॥

सोऽपि त्वमस्माकमधुना दैवेन<sup>३</sup> शरव्यीकृतोऽसि ।

नित्योपनतस्वाङ्गशस्त्रा सततसग्निहितस्वशरीराद्ययवग्रहरणा । तेरश्री जाति  
पशुजाति ।

स्वविघ्नप्रसरेणेति । अस्मौ रावणि रावणपुत्रो मेघनाद स्वविघ्नप्रसरेण स्वर्गो  
पद्मवमपादनद्वारा गौतमशापेन यन्त्रित कुण्ठीकृत भुजयो स्थाम रथैर्यं बल वा यस्य  
तथाभूतम् आखण्डलम् इन्द्रम् यत् दुर्यशोभागितम् अपकीर्त्तिपात्र चक्रे, हे वीर,  
त्वया बालिना रावण कक्षा भुजमूलमेव गर्तं स्नात तत्र कुलीरताम् बहुभुजशालि  
तया कर्षट्मादृश्य गमयता प्रापयता त्वया तत् अवश शत्रुस्य समृष्टम् अपसार्य  
दूरीकृतम्, अहो सत्पुत्रता सुपुत्रप्राप्ति विशल्यकरणी सकलखेदहरी जागति  
भ्रतृतीति शेष । 'इन्द्रजिता तव पिता शत्रो जित' इति स्वया तस्य पिता रावण  
कले स्थापयिष्या पराभूत इति विप्रमन्तुर्वरनिर्वातनासुपुत्रत्व त्वया प्रकटीकृत  
मिथ्याशय । पुराऽहृत्यागामिनमिन्द्र गौतम 'तव बाहुबल सप्रामे नश्यतु' इति  
शप्तयानिति पुराणविद् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४९ ॥

सोऽपि प्ततदृशो चार शत्रुपुत्रोऽपि । दैवेन भाग्यवशीन । शरव्यीकृत लक्ष्यता  
गत । भाग्यदोषादैवैतादृशमपि त्वा हन्तुमह बाधितो भूत्वा प्रवृत्त इत्यर्थः ।

लक्ष्मण—भाय, आपने ठीक कहा, सदा सचिद्विदित स्वाद्वे ही नियम् जानिके अरु  
रहते हैं ।

राम—( इससे हुए धनुष चढाकर ) स्वर्गकी मविघ्न करके मेघनादने गौतम शापसे  
अरनवल मुज ६ द्रक्षो जो अयशोभागी बना दिया था, लक्ष्मणा बदला तुमने रावणकी  
अपने बालरूप गडैका कैकटा बनाकर सधा लिया, सत्पुत्र होनेपर सभी मनोदुःख दूर  
हो जाते हैं, यह बान ठीक ही है ॥ ४९ ॥

भाग्यवश आज हमें छत्र वालीकी भी बाणका लक्ष्य बनाना पड़ रहा है ।

१ 'निजस्थामानम्' । २ 'कक्षागर्त' । ३ 'शरव्यम्' ।

बाली—( सरोधम् । ) आ काकुत्स्थ,

अस्मद्दोर्मूलकूलकपविषमभुजग्रन्थिभङ्गप्रसङ्ग-

कोशहृद्देशदत्तत्रिभुवनविजयत्याति सर्वस्वदाय ।

य कश्चिद्विक्रमोऽय स खलु करचुलिक्षत्रसाधारणत्वा

दन्तर्मन्दायमानो विजितभृगुपति त्वामजित्वा दुनोति ॥५०॥

तदेहि । विमर्दक्षमा नुमप्रतरान ।

अस्मद्दोर्मूलेति । अस्माक दोर्मूल भुजमूल कक्षदेशस्तदेव कूल तत्कषति अभि भवतीति तथोक्तौ यो विषमभुजग्रन्थिरनिभीषणभुजसमुदयरूपो यो ग्रन्थि तस्य भङ्गप्रसङ्गेन कक्ष्या सर्वत आच्छादनेन क्रोशता चीकुर्वता लङ्घनेन रावणेन दत्त त्रिभुवनविजयत्याति एव सर्वस्वदाय सर्वसम्पत्तिरूपदेय यस्मै तथाविध य कश्चित् अय विक्रम पराक्रम ( योऽय मम पराक्रम दोर्मूल न्यस्तस्य रावणस्य पिप्यमाणेषु सर्वेषु भुजभारेषु चीकुर्वता रावणेन समर्पितभुवनत्रयविजयत्याति सर्वस्व, रावणो यदा मया भुजमूले घनस्तदा पिप्यमाणेषु तद्दृष्टेषु स चीकार मारब्धवान्, तथाभूतश्चासौ मह्य नित्रा त्रिभुवनविजयत्याति समर्पितवान् एता दशस्यापि मम पराक्रम इत्यर्थ ) करचुलिक्षत्रसाधारणत्वात् कार्त्तवीर्यपूर्णक्षत्रिय साधारणत्वात् कार्त्तवीर्येणापि रावणो जितो मयापि स जित इति समत्वात् विशेषाभावादन्तर्मन्दायमान मनमि लज्जमान विजितभृगुपति पराजितपरशुराम त्वाम् अनिवा अविनिय दुनोति मा परितापयति । रावणविषये कृतेऽपि मम पराक्रमो न तुप्यति तत्रयस्य कार्त्तवीर्येणापि कृतत्वात्, अतो यावत्परशुराम विजयिन भवन्त न जयति तावदुच्छ्रानाभावान्न मम सन्तोष इत्यर्थ, शार्दूल विक्रीडित वृत्तम् ॥ ५० ॥

विमर्दक्षमाम् समा युद्धोपयुक्ताम् ।

फलितम् मिदम् ।

बाली—( सरोध ) आ काकुत्स्थ, हमारे भुजमूलमें वृत्तमान रावणने अपने बाहुओंके टूटनेके दरमे चिन्ताकर जिमे त्रिभुवनविजयी होनेकी प्रतिष्ठा प्रधानका, वह हमारा विक्रम करचुलिक्षत्रिय-कार्त्तवीर्य साधारण होनेसे भीतरसे मन्द पड गया, जब तक परशुरामके जेना हमसे मने नहीं जीत लिया है, तब तक मुझे वह अपना पराक्रम मन्नाय ही देता है ॥ ५० ॥

अत चलो, युद्धोपयुक्त भूमिमें चले ।

गुह —( स्वगतम् १ ) दिष्ट्या <sup>१</sup>फलितमस्माक मनोरथेन ।

लक्ष्मण —( नेपथ्याभिमुखमवलोक्य । ) इदमन्यतो वानरद्वयमार्यस्य  
पाणिग्राहमित्र <sup>२</sup>सभ्रमादनुप्लवते । तदहमपि धनुरारोपयामि ।

गुह —( दृष्ट्वा । सहर्षम् । ) कुमार कुमार, अलमावेगेन ! नन्वय  
सुग्रीवो <sup>३</sup>रामभद्रगुणानुरागेण बालिमत्सरेण च द्विगुणितोत्साह समर-  
सीमानमापतति ।

लक्ष्मण —दिष्ट्या स एष वैकर्त्तनि । अवापर क ।

गुह —अयमपि किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीरो भगवत प्रभञ्जनस्य  
पारस्त्रैगेय पुत्रो हनुमान् ।

लक्ष्मण —( सहर्षम् । ) कथमयमसायाञ्जनेय । अय हि

पाणिग्राहम् शत्रुमावन पृष्ठानुधावि । सभ्रमात् वेगात् । अनुप्लवते अनुसरति ।  
आवेगेन भवेन । समरसीमानम् युद्धक्षेत्रम् ।

वैकर्त्तनि सूर्यपुत्र सुग्रीव ।

किष्किन्धेश्वरस्कन्धावारैकवीर किष्किन्धेश्वरस्य बालिन स्कन्धावार सैन्य  
तत्र एकवीर अद्वितीयपराक्रमी । प्रभञ्जनस्य वायो । पारस्त्रैगेय परकीयस्त्रिया  
जात । वेसरिण स्त्रियामञ्जनाया वायोदरपुत्र इत्यर्थः ।

आञ्जनेय अञ्जनापुत्रो हनुमान् ।

गुह —( स्वगत ) भाग्यवश आज हमारा मनोरथ सफल हुआ ।

लक्ष्मण —( नेपथ्यकी ओर देखकर ) यह दो वानर रामकी बगलसे धरनेके लिए  
तेजीसे आ रहा है अतः मैं भी धनुष चढ़ाता हूँ ।

गुह —( देखकर ) कुमार, कुमार, शीघ्रता मत करो, यह सुग्रीव रामके गुणों तथा  
बालीके द्वेषसे दुगुने उत्साहके साथ युद्धक्षेत्रकी ओर दब रहे हैं ।

लक्ष्मण —भाग्यवश यही हैं वह सूर्यपुत्र, और दूसरा वह कौन है ?

गुह —यह है किष्किन्धेश्वरकी सेनामें प्रधान योद्धा, वायुदेवका परम्बी जादुपुत्र हनुमान् ।

लक्ष्मण —( सहर्ष ) क्यों, यही हैं अञ्जनाके पुत्र । यह मदावे<sup>१</sup> शापसे अपने पराक्रम

१ 'अस्म-मनोरथेन' । २ 'अनुप्लवते' । ३ 'रामदेवगुणानुरोधेन' ।

ब्रह्मशापपरिक्रिष्टस्ववीर्यज्ञानयन्त्रित ।

अन्यैरपि भुयं वीरैः कीर्यमाणामुपेक्षते ॥ ५१ ॥

नियतमनेन सत्या हृदयशल्यमस्माकमुद्धरिष्यते । इदं तु वर्तमान-  
'मैकतुलायुद्धमार्यस्य । जयलक्ष्मीपरिग्रहयौतुके यशसि वयमयं वा  
सुग्रीवो वा न केचिदशाधिकारिण ।

गुह—( सप्तभ्रमम् । ) कुमार, पश्य पश्य ।

सप्त तालानयं भित्त्वा बालिप्रहरणीकृतान् ।

हत्वा च बालिन वाणो रामतूणीरमागत \* ॥ ५२ ॥

ब्रह्मशापेति । ब्रह्मण शापेन परिक्रिष्ट व्याहत यत् स्ववीर्यज्ञान नेन यन्त्रित  
अवच्छेद सन् अन्यैरपि वीरैः कीर्यमाणाम् व्याप्ताम् भुवम् उपेक्षते दृष्ट्वापि  
नालोकते । 'पुरा हनुमतो वीर्यानिशय दृष्ट्वा समुद्रिग्नो ब्रह्माऽनेन वीर्येणोसौ'  
मम सृष्टिं सहरेदिति शङ्कमानस्य 'स्वनस्ते पराक्रमज्ञान न भवेदिति शप्तवान्'  
इति कथात्र बोध्या । तेन शापेन हनुमान् विना परोद्गोधन न पराक्रम प्रकाशय-  
तीति भाव ॥ ५१ ॥

सत्या मित्रेण । हृदयशल्यम् मनोदुःखम् । उद्धरिष्यते दूरीकरिष्यते । एक-  
तुलायुद्धम् द्वयोरेव धर्मयुद्धम्, अत्र कस्यापि साहाय्य नापेक्ष्यत इति । जय-  
लक्ष्मीपरिग्रहयौतुके-विजयलक्ष्मीवरणलभ्ये, यौतुके शशुरादिभिः प्रतिदर्शने धने,  
अशाधिकारिण भागभाज, जयलभ्ये यशसि, न कस्यापि भाग 'विद्याप्राप्त शौर्य'  
घन यच्च सौदायिक भवेत् । मैत्रमोहाहिक्रैव वायादाना न तद् भवेत्' इत्युक्ते ।

मत्तजालानिति । अयम् रामप्रहित वाण बालिप्रहरणीकृतान् बालिना रामं  
प्रहर्तुमादीयमानान् सप्ततालान् तालगुच्छान् भित्त्वा विदार्य बालिन च हत्व  
मारयित्वा रामतूणीरम् निपङ्गम् आगत परानुत्त ॥ ५२ ॥

का जान नहीं होनेके कारण पृथ्वीको और वीरोसे भी यास समझा करत ह ॥ ५१ ॥

निश्चय इस मित्रके द्वारा हमारे हृदयका काँटा निकाला जा सकेगा । आर्यका इन्द्र  
युद्ध प्रारम्भ हो गया । जयलक्ष्मी परिग्रहर्म यौतुकेके रूपमें मित्रनेवाले यशमें हमारा  
तथा सुग्रीवका अशाधिकार नहीं होगा ।

गुह—( घबडाकर ) कुमार, देखिये देखिये ।

बालि द्वारा प्रहरण बनाये गये सप्त ताल वृक्षोंको छेदकर तथा बालीको मार करक  
रामका यह वाण पुन रामके तूणीरमें आ गया ॥ ५२ ॥

१ 'पृथ्वी' । २ 'वाणिपरिग्रह' । ३ 'वा' इति वचिज्ञास्ति । ४ 'आगमद' ।

अहह—

प्राणै सम कनकपुष्करकण्ठमाला  
सूत्रेण दाशरथये विहितातिथेय ।

दिक्कूलमुद्दहयश सरिदादिशैल  
शेते स वीरशयने कपिचक्रवर्ती ॥ ५३ ॥

लक्ष्मण—( नखेदम् । ) हा त्रेय सकन्दन, क पुनरीदृश महा  
वीरप्रकाण्डमात्मज मन्त्रेणापि १लोचनैरालोकयिष्यसि ।

( नेपथ्ये दुन्दुभिध्वनिर्मङ्गलगीतिश्च । )

गुह—( नहर्षम् । ) कथमयमार्यजाम्बवदभिमन्त्रितै २शातकुम्भकल  
शैनील कुमारसुग्रीयमभिपिञ्चति । स्वय चास्य देवो दाशरथि कार्त-  
स्वरपुण्डरीकमालया ३कण्ठमलकरोति ।

प्राणै सममिति । स कपिचक्रवर्त्ता वानरराजो वाली प्राणे सम निजजीवितै  
म्ह कनकपुष्करकण्ठमालासूत्रेण काञ्चनकमलरचितकण्ठमाल्येन दाशरथये [रामाय  
विहितातिथेय कृनातिथिसत्कार दिक्कूलम् दिशारूपस्तट तदुद्गहा तत्प्रवाहिणी  
या यशःसरिव् तस्या आदिशैल उद्गमपर्वत वीरशयने रणभूमौ शेते । अय  
वाली यो निजै प्राणै सहैव रामाय स्वरपुण्डस्थसुवर्णमाल्यमपि दत्त्वा तस्यातिथ्य  
कृतवान्, यश्च दिग्गन्तविस्तारियशोरूपनद्या आदिशैल इव प्रभवभूमि, सम्प्र यत्र  
रणभूमौ निहत शेते इत्यर्थ ॥ ५३ ॥

महावीरप्रकाण्डम् वीरश्रेष्ठम् । आत्मज पुत्र वालिनम् ।

शातकुम्भकलरौ सुवर्णघटे । कार्तस्वरपुण्डरीकमालया स्वर्णकमलस्वजा,

अहह ॥ रामके आतिथ्यमें वालिने स्वर्णकमलकी मालाके साथ ही अपने प्राण भी  
उपहृत कर दिये, दिग्गन्त विस्तृत यशरूप नदीका मूलपर्वत वही बालि इस समय वीर  
शयन रणभूमिमें सो रहा है ॥ ५३ ॥

लक्ष्मण—हा देव, इन्द्र, फिर कहाँ आप ऐसे वीरश्रेष्ठ पुत्रको सहस्रनेत्रोंसे देखेंगे ।

( नेपथ्यमें दुन्दुभि वजनी हे मङ्गल-गात होता है )

गुह—( सद्दृष ) बयो, यह नील जाम्बवान् द्वारा अभिमन्त्रित स्वर्णकलशोंसे कुमार

१ 'अवलोकयिष्यसि' ।

२ 'शातकुम्भकुम्भसलिलै' ।

३ 'कण्ठकाण्डम्' ।

लक्ष्मण — 'प्रियतर न ।

( नेपथ्ये । )

भो भो वानराच्छभल्लगोलाङ्गूलयूथपतय, सर्वानेष यो महाराजः सुग्रीव समाज्ञापयति—'सज्जयन्तु भ्रान्त सर्वाणि यौवराज्योपकरणानि । अयमह सीतादेव्या प्रवृत्तिमन्वेष्टु प्रहित्य हनुमन्तमूर्ध्वमौहूर्तिके लग्ने कुमारमङ्गदमभिपेक्षामि इति ।

लक्ष्मण —

उत्सव सोऽयमस्माकं सर्वथा हृदयगम ।

किं तु वाली विलीनोऽयं व्यथयिष्यति चासवम् ॥ ५४ ॥

सज्जयन्तु प्रस्तुतीकुर्वन्तु । यौवराज्योपकरणानि यौवराज्याभिपेक्षसाधनवस्तूनि, प्रवृत्तिमन्वेष्टुम्—वृत्तात् ज्ञातुम् । और्ध्वमौहूर्तिके मुहूर्त्तार्ध्वं जायमाने किञ्चित् कालानन्तरभाविनि, लग्ने शुभसमये ।

उत्सव इति । अयम् स अद्भुतयौवराज्याभिपेक्षनिर्गमन उत्सव एवावसर-अस्माकं सर्वथा सर्वे प्रकारे हृदयङ्गम मनोरम, किन्तु विलीन मृत अय वाली चासव स्वपितरमिन्द्रम् व्यथयिष्यति पीडयिष्यति । इन्द्रस्य पुत्रवधजन्मद खेद स्यात्पर धयन्तु अद्भुतयौवराज्यदशानेन प्रमोदाय इत्यर्थ ॥ ५४ ॥

सुग्रीवका अभिपेक्ष कर रहे हैं । स्वयं राम सुग्रीवके गलेको स्वर्णकमलका मालासे अलङ्कृत कर रहे हैं ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये और सुग्रीवकी बात है ।

( नेपथ्ये )

हे वानर, अच्छमल्लक, गोलाङ्गूल, सेनापतियों, आप सभीको महाराज सुग्रीव आदेश दे रहे हैं कि आप सारे यौवराज्योपकरण प्रस्तुत करें । मैं सीताकी खोज करनेके लिए हनुमान्को भेजकर अगले मुहूर्त्त वाले शुभ समयमें कुमार अद्भुतकी युवराजपदपर अभिषिक्त करूंगा ।

लक्ष्मण—यह उत्सव हम लोगोंको अतिप्रिय है, किन्तु यह मरा हुआ वाली इन्द्रको व्यथित बना देगा ॥ ५४ ॥

१ 'प्रियात्प्रियतरम्' प्रियम् ।

२ 'गोलाङ्गूलप्रभृतयो यूथपतय' ।

३ 'सज्जयन्तु सज्जयन्तु' ।

४ 'और्ध्वमौहूर्तिके वाले' ।

( अन्तरिक्षे पुष्पवृष्टयनन्तरम् । ) जय जय जगत्पते रामभद्र,

लक्ष्म्या बालिनियर्हणप्रशमितद्वैराज्यवैराग्यया

किष्किन्धायतनैकदैवतमयं तारापतिर्दीप्यते ।

नस्तारं युवराजमद्भदमपि श्रुत्वातिहर्षाद्भू-

दस्त्राम्भ पृषतौघमौक्तिकमयो गुम्फ सहस्रेक्षण ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—प्रियाप्रियतर न । वयस्य गुह, तदेहि । आरामपि  
महोत्सवसप्रिभागिनौ भवान् । ( इति निष्कान्तौ । )

इति सुग्रीवाभिषेको नाम पञ्चमोऽङ्क ।

लक्ष्म्येति । बालिन निवर्हणेन विनाशेन प्रशमित शान्ति नीत द्वैराज्येन  
बालिसुग्रीवरूपराजद्वयेन वैराग्यम् विरागो यस्यास्तथाभूतया लक्ष्म्या राजश्रिया  
किष्किन्धायतनैकदैवतम् किष्किन्धारूपस्थानस्याप्रतिद्वन्द्वी प्रभु अय तारापति  
सुग्रीव दीप्यते समधिक प्रकाशते । सहस्रेक्षण इन्द्र अपि नस्तार स्वपौत्रम्  
अद्भदम् अपि युवराज यौवराज्याभिषिक्त' श्रुत्वा निशम्य अतिहर्षात् आनन्दाति  
शयात् अस्त्राम्भसाम् अश्रुजलानाम् पृषतौघ विन्दुनिवह स एव मौक्तिकानि  
तन्मय गुम्फ ग्रथनम् आनन्दाश्रुमुक्ताखचितशरीर अभूत् । बालिनिहते  
राजद्वयाकर्षणप्रशमनेन स्वस्थीभूता लक्ष्मी किष्किन्धाप्रभुस्तारापति सुग्रीवोऽधिक  
प्रकाशते, युवराजमद्भद श्रुत्वा हर्षाश्रुपूर्गसरुनेत्रतया अश्रुविन्दूना मुक्त्वारूपतया  
च मौक्तिकगुम्फ इवाभाति भगवान् शक्र इत्यर्थ । शार्दूलविक्कीडित वृत्तम् ॥ ५५ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराघव 'प्रकाशे'

पञ्चमाङ्क 'प्रकाश'

( आकाशमे पुष्पवृष्टिके बाद )

जय हो जगत्पति रामभद्रकी ।

बालीके मारे जानेसे जिस लक्ष्मीका द्वैराज्य समाप्त हो गया, ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त  
करके किष्किन्धाका एक अत्र सम्राट् यद् तारापति सुग्रीव अधिक प्रकाशित हो रहा है,  
और इन्द्र भी अपने पौत्र अद्भदके यौवराज्याभिषेकका बार्ता सुनकर अतिहर्षसे आनन्दानु-  
रूप मौक्तिक मास्य समान बन गये हैं ॥ ५५ ॥

लक्ष्मण—यह हमारे लिये प्रियसे भी प्रियतर है, मित्र गुह, चलो, हम भी उस  
उत्सवके समभागी बनें ।

( दोनों आते हैं )

पञ्चम अङ्क समाप्त ॥

## पष्ठोऽङ्कः

( तत प्रविशति मान्यवान् । )

माल्यवान्—( सर्वतोऽवलोक्य सखेदम् । ) अहह कष्टम् ।

दग्धा प्रदीप्तपात्रकपरिचयपिण्डस्थहेमवेशमान ।

क्षणमुत्पुच्छयमाने हनुमति लङ्कापुरोदेशा ॥ १ ॥

अपि च—

निजकिरणौघप्रमुषितनिम्नोन्नतरूपकर्मभेदेषु ।

मणिभवनेषु कृशानुज्वाला फलतोऽनुमीयन्ते ॥ २ ॥

दग्धा इति । हनुमति तन्नामके रामदूते वानरे क्षणम् अवपकालपर्यन्तम् उत्पुच्छयमाने हनुपुच्छ चालयति सति लङ्कापुरोददेशा लङ्कानगर्या सर्वेऽपि प्रदेशा प्रदीप्तस्य प्रचलितस्य पात्रकस्य बद्धे परिचयेन सम्बन्धेन पिण्डीभावमुपगतानि हेमवेशमानि काञ्चनमृदागि यत्र तथाभूता सतो दग्धा भस्मीभूता । हनुमतीप देव स्वपुच्छ चालयति सति समस्तापि लङ्कापुरी तपुच्छनिर्गतपात्रकमग्वा-ददह्यत, स्वर्णभवनायस्या पिण्डाकारमलभन्तेति महत् खेदस्य विषय इया शय । वायावृत्तम् ॥ १ ॥

निजकिरणौघेति । निजकिरणौघेन स्वकातिममुदयेन प्रमुषिता सर्वथा लुप्ता निम्नोन्नतरूपा उच्चावचा कर्मभेदा शिल्पविशेषा येषा तादशेषु मणिप्रभाभरान्तर्हितशिल्पकार्यसमुदयेषु मणिभवनेषु लङ्कानगरस्थमणिमयगृहेषु कृशानुज्वाला बद्धि दीधितय फलत दाहभस्मादिकार्यवशात् अनुमीयन्ते, न तु स्वरूपतस्तद्वगम, मणिकिरणाना बद्धिसमप्रभवात् । मणिभवनेषु लग्नो बद्धि प्रभासाम्येन पृथक् प्रतीतिविषयो न भवति, किन्तु सतापभस्मविशरणादिफलै प्रतीतिविषय क्रियते इति भाव ॥ पूर्वोक्ताविपरीत वृत्तम् ॥ २ ॥

( अनन्तर माल्यवान्का प्रवेश )

माल्यवान्—( चारो ओर देखकर सखेद ) अहा, खेद है,

प्रज्वलित बद्धिके सम्पत्तमे हेम प्रामाद पिण्डाकार होकर जल रहे हैं, लङ्काके पूर्वकी भागमे हनुमान्ने क्षणमरनें जला दिया ॥ १ ॥

और निजकिरण ममुष्यते निम्नोन्नतरूप कर्मभेदोंके द्विप जानतेसे मणिमय भवननोंमें लगे हुए आगकी ज्वाला फलसे वा अनुमित होनी है ॥ २ ॥



( विमृश्य । ) अहो दुनिवारता भ्रितव्यताया ।

दो संदोहजशयदत्रिभुवनश्रीगर्घसर्वकष

कैलासोद्धरणप्रचण्डचरितो वीर कुबेरानुज ।

यत्राय स्वयमस्ति सेयममरावत्यापि वन्द्या पुरी

नीता मर्कटकेन कामपि दशां धिग्देवमावश्यकम् ॥ ३ ॥

'न किञ्चिदेतद्वा रावणदुर्नयेन । ( सतेदमामाशे । ) आ पौलस्त्य,

भवितव्यताया - भावित्रस्तुन देवस्य वा, दुर्निवारता अप्रतिग्रह्यता, भाविवस्तु निश्चित भवत्येवेति भाव । यद्यपि भ्रितव्यमिति तव्यप्रत्ययस्य भावविहिततया ततस्तत् न प्राप्नोति, ममानाथकप्रत्ययद्वयनिषेधात्तथापि भवितव्यमित्यत्र कृद् मिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति नियमेन धर्मिपरत्वमास्थाय तत्प्रत्यय कृतो बोध्य, अत एव भवभूतिरपि प्रायुङ्क् - 'प्राय शुभ च विदधात्यशुभञ्च जन्तो सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतेव' ॥

दो म-गोहान दो सन्दोहेन भुजममुद्गायेन वक्षवदाया वशीभूताया त्रिभुवन श्रिय लोत्रप्रितयममृद्धे गर्घस्य सर्वङ्कष स्ववशीकारविधया गर्गापटारी, कैलासोद्धरणप्रचण्डचरित कैलासाचलचालनप्रकटीकृतभीषणकृत्य अयम् वीर कुबेरानुषो यत्र लङ्कायाम् स्वयमस्ति आत्मना वास करोति, अमरावत्या इन्द्रनगर्या अपि वन्द्या स्वापेक्षया गौरवशालितया प्रशसनीया पुरी लङ्कानगरी मर्कटकेन एकेन लघुना वानरण कामपि वर्णयितुमशक्या दशा परिस्थितौ नीता, आवश्यक निश्चय न भावि अवश्यम्भावि देवम् भाग्यम् धिक् । यत्र रावणो वसति सा लङ्कापि एकेन लघुना वानरणेना दशा गमितेति भाग्यायत्त सर्वम् इति भाव । शार्दूल विम्ब्रिडित वृत्तम् ॥ ३ ॥

न किञ्चिदेतद्वा रावणदुर्नयेन रावणकृतदुराचारस्य पुरतो नेद किञ्चित्, इतोऽपि भीषणामापद रावणस्य दुराचार फलिष्यतीति भाव ।

( विचार करके ) अहो, भविष्यता बड़ी दुर्निवार होती है ।

बाहु समुदायसे वशीकृत त्रिभुवनकी सम्पत्तिमें गर्घिन, कैलासको उठाकर प्रचण्ड चरित प्रकट करनेवाला यह वीर कुबेरानुज रावण, जहाँ पर स्वय वर्तमान है, ऐसी तथा अमरावतीस भी वन्दनीय यह लङ्कापुरी एक मर्कटके द्वारा इस दशाको पहुँचा दी गई, अवश्य भावा देवको निष्कार है ॥ ३ ॥

रावणकी दुर्नीतिके भावे यह कुछ नहीं है । ( मखेन आकाशमें ) आ पौलस्त्य,

१ 'न किञ्चिदेतद्वा रावणस्य दुर्नयेन', 'न किञ्चिदेव तावद्वपणस्य दुर्नयेन' ।

विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु निजाननेषु

सवाधदु स्थितप्रतीरवतोऽन्य चेज्ज ।

‘ताभ्योऽपराणि नियत दश ते मुजानि

स्वस्य प्रणतुरकरोत्स कथ जडोऽसि ॥ ४ ॥

( १११ च ‘यात्वा ’सव्यथम् । ) ३कथमेव प्रीतिर्यतीति न कुलमिदम् ।

एवरादीनप्रीतिरामो नररुमञ्च च मारति ।

स्वय निष्कामयामास दशास्यश्च विभीषणम् ॥ ५ ॥

विद्या इति । वधा प्रज्ञा चतुषु चतुस्वरूपेषु निजाननेषु स्वसुखेषु चतुर्दश  
विद्या सनाधदु स्थितप्रती मङ्गलार्थद्वारास्थानरुद्रमनुभवन्ती चतुर्दश इत्या  
ताभ्य विद्याभ्य ता विद्या सुप्र नामवितुम् नियत निश्चयन प्राप्नु स्वप्रीतस्य ते  
राजस्य दश मुजानि शत्रुगोत् स एव कथ जड स्वदितचिन्तनविषये नृप्यं थयि ।  
प्रज्ञा स्वस्य चतुषु मुखेषु चतुर्दशविद्याना राज ताया विद्याना सङ्कीर्णशेषावस्थान  
कष्ट इत्या ताया पृथक् पृथक् सुप्रज्ञामाय स्वप्राप्तू रावणस्य तव दामुल्यानि  
कृतवान्, एतादृशस्यापि तव दुर्विनातामाऽय पामव नथ जायत इति शोच्य  
तेति भाव, उज्ज्वलाऽलङ्कार, ‘अज्ञानि नदाश्चकारो मीमाया न्यायविस्तर । उम  
शास्त्र पुराण च विद्या एताश्चतुर्दश’ इति विद्या । तस्म तनिष्कृत् वृत्तम् ॥ ४ ॥

विशीरतीति नररुमञ्च ।

मरुत्तान् इति । राम स्वरादान् रावणान् मारति हनुमाश्च वारम् जश्नम्  
रावणान् पुत्रान् ऊचरीत् हनुवान्, दशास्य राजस्य स्वयम् जायता विभीषणम्  
निष्कामयामास नगदा इति प्रेषितवान् । तद्विषय न लुल लीयत इति भाव ॥ ।

बौद्ध विद्याश्रवणे अपन चारमाणसुत्र में क्लेशमूकक वास करते देवकर ब्रह्मने  
और अपने पौत्र रावणक दक्षमुत्र वना स्थि निममे समी विचार्ये अला अला मुखेमे  
अज्ञान भावने रह सकें, वही रावण हम समय क्यों जड हो रहा है ॥ ४ ॥

( बोडो देर सोचकर, मत्पेद ) हमारा यह दुष्क क्यों हम तरह खिन्न भिन्न शाना  
जा रहा है ? ।

स्वरादिकी रामने और वन्द अक्षकी हनुमान् न मार दिय, स्वय रावणने भा विभीषण  
को निष्काल दिया । \* ॥

\* अस्मत् । २ ‘सव्यथम्’ इति कण्ठविनाति ।

\* ‘मन्त्रमेव शीयन्ते न कुर्वन्’ ।

अल या 'दुर्विहितमतीतमुपालभ्य । 'सम्प्रति सिन्धोन्दीचि तीरे  
निवेशितस्कन्धावारो वाशरथि 'किमारम्भ इति कथ प्रतीम । (पुरो  
दत्त । ) कथ राघवचरितानि चरितु प्रहितयो शुक्रनारणयो' स्मरण ।

( प्रविश्य । )

स्मरण — जयतु जयतु अनिष्टमातामह ।

माल्यवान्—( अभिनन्द्य मनीषनुपवेश्य च । ) वत्स स्मरण, अवि  
दमुनेन पदेन सुश्रीयकटकात्गतोऽसि ।

स्मरण — अथ किम् ।

माल्यवान्—तत्रधानुभ्रममभिधीयता तावत् ।

स्मरण — स्मरणस्यै वनोन्मामस्मन्मुखेनैव शतश प्रतीति माता

दुर्विहितम् अनौचित्यमाचरितम् । अतीतम् भूतम् । उपाटम्य दूषयिष्या ।  
उदीचि तीरे उत्तरतट । निवेशितस्कन्धावार स्थापितकटक । किमारम्भ किंकर्मा  
कुत्र कार्ये लग्न । चरितुम् चरभावन ज्ञातुम् । प्रहितयो प्रेषितयो ।

अमुनैव पदन सम्प्रत्येव ।

यथानुभवम् यथानातम् ।

स्मरणस्यै बल गणना च । वनोकस्याम् वानराणाम् । शतश अनेकधा ।

पुरा तरह उपवन होनेवाले अनौचित्य शिक्षावत्र करना व्यर्थ है, इस समय समुद्रके  
उत्तर तटपर मैनाका पहाव किये राम क्या कर रहा है यह दैमे जाना जाय ? ( आ  
दखकर ) क्यों रामजी स्थिति जाननेके लिये भेजे गये शुक्र और स्मरणमेंसे स्मरण है ।

( प्रवेश करके )

स्मरण— गय हो, छोड़ मानामहकी जय हो ।

माल्यवान्—( अभिनन्दन करके मनापमें बैठाकर ) वत्स स्मरण, अभी अभी सुनाव  
कटवसे आ रह हो क्या ?

स्मरण— और क्या ?

माल्यवान्—तब अपना अनुभव करो ।

स्मरण— वानरोंके बल तथा स्मरणके विषयमें आपने मेरे मुल्ले सैकड़ों बार सना है

महेनालमुक्त्वा । अधुना तु सेतुप्रथनाय मिलितेषु वानरसैनिकेषु  
‘वानरमूर्तिधरोऽप्यह महाराजत्रिभीषणेन—( इत्यधाक्ते नभयम् । ) आर्य,  
चिरसत्रासेन रामराजधानीप्रजादो मामनुबध्नाति ।

माह्वयवान्—( माकृतम् । ) किमभिषिक्त कनिष्ठप्रत्नो राघवेण ।

सारण—अथ किम् ।

माह्वयवान्—( क्षणमिव स्तब्ध स्थित्वा निश्चस्य । ) यत्स, नि शङ्कम्  
भिधेहि ।

सारण—कुमारत्रिभीषणेन ज्ञात्वा मयम्य चाह रामस्य दर्शित ।

माह्वयवान्—( साशङ्कम् । ) ततस्तत ।

सारण—ततश्च राघवेण निजसच्चिन्निर्विशेषमुपगृह्य<sup>३</sup> पुरस्कृत्य  
च प्रहितोऽस्मि ।

प्रतीते भजता ज्ञाते । सेतुप्रथनाय नमुष्टे सेतुबन्धाय चिरसत्रासेन बहुकाल  
निवासेन । यतोऽह वानररूपमामाद्य चिर रामकटकं न्यवस तेन तत्र यथा  
विभीषण विशेषगतया महाराजपदमुच्चारयामि स्म, तथसत्रापि तदभ्यास  
वशादुच्चारितवानिति भाव । रामराजधानीप्रजाद् रामकटके कृतोऽभ्यास ।  
अनुबध्नाति अनुवर्त्तते । अभिषिक्त अभिषेक प्रापित ।

ज्ञाना मा परिचित्य । मयम्य उद्धवा ।

निजसच्चिन्निर्विशेषम् स्वमन्त्रिसमानभावेन । उपगृह्य स्वसमीपे उपवश्य ।  
पुरस्कृत्य सत्कार कृत्वा । प्रहित राजगनगर प्रेषित ।

अन उम दुहराना यथ हे । इम समय सतु वानरके लिइ एकत्रिन वानरोंके साथ  
वानरमूर्ति धारण करके मे काय करने लग कि महाराज विभीषणन—( इतना बड़कर  
नभय ) आर्य, राम राजधानीमें चिरकाल तक रहनेस मैंने ऐसा कह दिया है ।

माह्वयवान्—( साभिप्राय ) क्या विभाषणको रामने अभिषिक्त भी कर दिया ?

सारण—और क्या ?

माह्वयवान्—( थोडा देर स्तब्ध रहकर, निश्चान झोडकर ) निडर होकर कहे बैठे,

सारण—कुमार विभीषणने मुझे पदवान लिया और शानकर रामके पास पहुँचाया ।

माह्वयवान्—( आशङ्कके साथ ) इसके बाद ?

सारण—इसके बाद रामने अपने मन्त्राकी तरफ़ बेठाया, आदर किया और भेज दिया ।

१ 'माय, वानरमूर्तिधरोऽपि महाराज-'. २ 'स्तब्धवत्'. ३ 'उपगृह्य' ।

मात्यवान्—(सहर्षम् ।) किमुच्यते यावद्द्रव्यभावी 'गुणो हि  
त्रिजिगीषूणामुदात्तता । विशेषेण 'पुनरय रामभद्र । ३यत् ।

अभेदेनोपास्ते कुमुदमुदरे वा स्थितवतो

विपक्षादम्भोजादुपगतवतो वा मधुलिह ।

अपर्याप्त कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय

प्रबन्धे साधूनामयमनभिसंधानमधुर ॥ ६ ॥

अथ शुक किमासीत् ।

सारण —अहमपि न जानामि ।

यावद्द्रव्यभावी सर्वेषु द्रव्येषु स्थित व्यापी, विजिगीषूणाम् विजय कामय  
मानानाम् । ये त्रिजयेच्छ्रुस्ते सर्वेऽप्युदात्ता भवन्त्येवेति रामस्योदात्तता स्वाभावि-  
कीति भाव । 'न त्रिकार त्रिकारस्य हेतौ यदवगाहने, तदुदात्त गुण' इति दण्डी ।  
पुनरय रामभद्र अय राम पुनर्दिशेषेणोदात्त इति त्वदुक्त सत्यमेव स्यादिति भाव ।

अभेदेनेति । कुमुदम् उदरे स्वाभ्यन्तरभागे स्थितवत् वर्तमानान् विपक्षात्  
कुमुदशत्रो अम्भोजात् पद्मात् वा उपगतवत् सनायातान् मधुलिहो भ्रमरान्  
अभेदेन समभावेन उपास्ते परिचरति । अयम् ष्ठादश साधूनाम् अनभिसन्धान  
मधुर उपकारानुपकारपयालोचनशून्यतया ह्य कोऽपि स्वपरपरिचर्यापरिचय-  
प्रबन्ध जा मपरोपासनाप्रकार अपर्याप्त असीम इति । कुमुद यत्स्वोदरवर्तिन  
स्वशत्रुपक्षमकाशादागतान्वा भ्रमरान्समभावेनाराधयति, तत् । साधुजनानाम्  
उपकारादिनिचारराहित्येन ह्य अपरोपासनाप्रकारो निस्सीम स्थितो बोध्य ॥६॥

मात्यवान्—( हर्ष के साथ ) विजिगीषु जन्में उदारता सदा रहा करती है, खाम  
करके रामके विषयमें क्या कहना है, क्योंकि —

कुमुद अपने उदरमें बैठे हुए तथा अनुभूत कमलके पाससे आये हुए भ्रमरोंको एक  
भावसे साष्टन करता है । साधुजन बिना किसी कपटके निज परकी पहचान बिना किये  
ही आदर करते हैं, यह बात साधुजनोंमें पूरा मात्रामें रहती है ॥ ६ ॥

और शुक क्या हुआ ?

सारण—यह मैं भी नहीं जानता हू ।

माल्यवान्—( विमृश्य । ) वत्सप्रिभीषणस्य रामोपश्लेषेण मनु-  
ज्यसन्नमिति प्रसुरवोऽस्मि ।

सारण—आर्य, तथा 'धर्मवृत्तिरार्यमन्तानश्च कुमार कथं व्यायास  
भ्रातरमवधूय प्रतिपक्षवर्ती मवृत्त ।

माल्यवान्—वत्स, दशमीव पृच्छ । ( निश्चयस्य । ) 'अथवा देवम् ।

सारण—आर्य, यदि श्रवणाहोऽस्मि तदा निवेद्य ।

माल्यवान्—वत्स, केसरिकलत्रसम्भवेन प्रभञ्जनसूनुना विलुण्ठि-  
तामशोकव्रनिकामसलोक्य 'राजा तवाय विभीषणमत्रोचत् । यथा—  
वत्स, पश्य मनुष्यपोतद्वयापष्टन्धेन' दुरात्मना कपिजीटेन नथ विजृ-  
म्भितम्' इति ।

मनुज्य व्यसनम् स्वकुलोत्पन्नजनोत्पन्न दुःखम् । प्रसुरम् किङ्कतव्यविमूढ,  
धर्मवृत्ति धर्मनिष्ठ । आर्यमन्तान भद्रवशोद्भव । कुमार विभाषण । व्यायासम्  
ज्येष्ठम् । अवधूय तिरस्त्रय, विहाय । प्रतिपक्षवर्ती शत्रुसङ्गत ।

दशमीव पृच्छ केन हेतुना विभीषणो रावण विहाय राममाश्रित इति रावण  
एव वस्तुमर्हति तस्यैव तत्र कारणान्त्यर्थ । अथवा देवम् भाग्यवशादेव  
रावणो विभीषणस्य वाक्यमपमनवानिति भाग्यमेवात्र प्रष्टव्य तत्र रावण इति भाव ।  
श्रवणाह श्रोतुमधिकारी विश्वासपात्र च । निवेद्य कथय ।

केसरिकलत्रसम्भवन केसरिणो वानरभेदस्य । कलत्रे स्त्रियामजनाभिधायाम्,  
सम्भव उत्पत्तिर्यस्य तेन प्रभञ्जनसूनुना वायुसुतेन हनुमता । विलुण्ठिताम् विना

माल्यवान्—( विचार कर ) वत्स विभाषणम् रामे मिल जाना स्वकुलोत्पन्न  
वसन है, म इससे किङ्कत'वविमूढ हो रहा हू ।

सारण—उम तरह्वे धमार्ता तथा अ य आचारवाले विभीषण अपने बडे नाइको  
छोकर शत्रुस जा मिले ।

माल्यवान्—वत्स, यह बा । रावणस पूछो ( सात छोकर ) अथवा भाग्यसे,

सारण—यदि मे सुनने के योग्य होऊँ, तो बना दीजिय ।

माल्यवान्—कंसरीका खोके गभमे उत्पन्न वायुके पुत्र हनुमान्के द्वारा उजाट दी  
गइ अशक्तवाटिकाको दखकर तुम्हारे राजा रावणने विभीषणसे कइ कि वत्स विभीषण,  
देखो तो मनुष्य बालकोंके आश्रयमें रहनेवाले इम कपि जीटका वत्सय तो देतो ।

१ 'धर्मवृत्ति' । २ 'प्रतिपक्षवृत्ति सम्पन्न', 'विपक्षवर्ती सम्प्रति सवृत्त' ।

३ 'यदि वा' । ४ 'राजा ते दशास्यो', 'राजा क्तायम्' । ५ 'अवष्टम्भेन' ।

सारण — तनस्तन ।

मास्त्यवान्—ततो विभीषण प्रणम्य व्यजिज्ञपन्—देव,  
जातिं मानय मानुषीमभिमुखो दृष्ट्वा त्वया हेहय  
स्मृत्वा वालिभुजौ न सांप्रतमवज्ञातुं च ते 'वानरा ।  
तत्पौलस्त्यमहाग्निहोत्रिणमह त्वामेतदभ्यर्चये  
सीतामर्पय मुञ्च च क्रतुभुज काराकुटुम्बीकृतान् ॥ ७ ॥

सारण —( सवहृमानाश्चराम् । ) अहह, 'वालिभुजौ' इति ब्रुवता  
मातामहेन किमपि स्मारितोऽस्मि । आर्य

सिताम् । तवाय रात्रा रावण । मनुष्यपोतद्वयानष्टम्भन मनुष्याल्कद्वयबलेन ।  
कपिकीटेन वानराधमेन । विजृम्भितम् आचरितम् ।

व्यजिज्ञपत् रावण विज्ञापितवान् ।

जातिमति । मानुषां जातिम् मनुष्यान् मानय आदरेण पश्य, त्वया अभिमुख  
सग्रामे सम्मुखीभूत हेहय कार्त्तवीर्य दृष्ट स्वयमेव साक्षात्कृत, ( मनुष्यजातिरेव  
कार्त्तवीर्यस्त्वा सग्रामे दुरयस्थमकरोदतस्त्वया मनुष्यजातौ हीनताबुद्धिर्न काया )  
वालिभुजौ त्वपराभवितुवालिनो वानरभेदस्य भुजौ स्मृत्वा ध्याने कृत्वा सग्रामि ते  
वानरा भवन्नातु न तिरस्कृतुं न योग्या इत्यर्थ । तत् तस्मान् मनुष्यवानरयो  
रादरणीयवान् हे पौलस्त्य, अह तत्र श्राता महानिहोत्रिणम् अग्निहोत्रपरायण  
त्वाम् अभ्यर्चये प्रार्थय सीताम् अर्पय रामाय प्रथमर्पय, काराकुटुम्बीकृतान् कारा-  
गारनिवेशितान् क्रतुभुजो देवाश्च मुञ्च मुक्तमधनान् कुर, आभ्यामेव कर्मभ्या  
कृताभ्या तव सर्वथा सोस्थ्य नान्यथेति भाव ॥ ७ ॥

सारण—इसके बाद ।

मास्त्यवान्—इसके बाद विभीषणने हाथ जोड़कर कहा—

मनुष्य जातिका आदर कीजिये क्योंकि आपने स्वयं हेहयको दण्ड द, वालिके  
बाहुओंकी याद करके अब वानरोंका अपमान करना ठीक नहीं होगा । अतः पौलस्त्यक  
पुत्र तथा महान् अग्निहोत्री आपने मेरी प्रार्थना है कि सीता रामकी लौटाई और बन्नी  
विधे गये देवोंकी मुक्त कर दें ॥ ७ ॥

सारण—महा । 'वालिभुजौ' कहकर आपने कुछ याद करा दिया है आर्य

१ 'वानरान्' । २ 'किमपि' इति क्विन्नास्ति ।

किमाचक्षे सेतुक्षितिपरशिर ध्रेणिऋषणे  
 प्रकोष्ठे नीरोम्ण कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् ।  
 सुमेरोर्मात्सर्यादनतिचिरसरुढमृदुभि  
 शिरोभिर्विन्ध्यो यद्भरमपि न सोढु परिवृढ ॥ ८ ॥

( माण्डूम् । ) ततस्तत ।

माल्यवान्—तत्र च रोपान्धतामिक्षे' मञ्जता राक्षमराजेन तथा  
 चैष्टित यथा विषमप्याश्रित ।

किमाचक्षे इति । सेतव समुद्रे सेतु रचयितुम् क्षितिधराणा पर्वताना शिर  
 श्रेणय शृङ्गसमूहास्तासा कपयै स्वगमानयने प्रकोष्ठे कूर्पराद्धोभागे नीरोम्ण  
 रोमरहितान् पयशृङ्गसङ्घर्षणेन च्युतकेशान् कपिभटभुजस्तम्भनिवहान् वानरगण  
 हस्तमगहान् किन्नाचक्षे कथयामि सुमेरोर्मात्सयात् स्पर्धावशात् अनतिचिरम्  
 नूननम् सरुढं सजाते अत एव मृदुभि सुदुमारे शिरोभि शृङ्गे विन्ध्योऽपि  
 यद्भरम् येषा कपिभटभुजस्तम्भनिवहाना भरम् अपि सोढु न परिवृढ क्षम ।  
 अयमाशय—समुद्रे सेतुनिर्माणार्थं पर्वतद्वाहरणेन प्रकोष्ठद्वारे घृष्टरोम्ण कपिभट  
 भुजस्तम्भनिवहाना विषये किं कथयामि, तेषा भारमपि देवैः विन्ध्योऽपि सुमेरु  
 स्पर्श्या समुद्रावितेनूतो शिरोभि सोढु न क्षमते किमुत तत्रल सहेत, इत्याशय ।  
 शिपरिणी वृत्तम् ॥ ८ ॥

रोपान्धतामिक्षे कोपरूपे गाढान्धकारे, नरक च, कोपस्य नरकत्वमपि दुःख  
 मूलतया । विषमप्याश्रित विभीषण शत्रुणा सन्धाय तमाश्रित, कुपितरावण  
 दुर्बन्धहारवशाद्देव राममाश्रित इत्यर्थ ।

स्तुतं लिखे लाय गये पवतोक सवधने कश्चेपर रोमरहित वानरमुञ्ज स्तम्भोक्त  
 विषयमे कया बहू, सुमेरुको बाहसे तत्काल बढनेवाञ्च अपन नवान मस्तकक्षिपर्रोत्ते  
 विन्ध्याचल जिनके भारको भी सहन नदी कर सन' ॥ ८ ॥

( साशङ्क ) इसके बाद ।

माल्यवान्—इसके बाद रोषरूप अन्धकारमें डूबने हुए राक्षमराजन ऐसा किंवा वि  
 विभीषण शत्रुने भी आ मिला ॥

१ 'तमसि' ।



सारण—( मखेन्माकाशे । ) हा देव पुलस्त्यानन्दन, कथं भवतेय वै  
वर्म्यष्टान्तेन १मानतो मूलोच्छेदनिमित्तान्निर्मित्यते लोक । (साम्बर्धन चा)

अरिपट्वर्ग एवायमन्यास्तात पदानि षट् ।

तेषामेकमपि चिच्छन्दस्त्रय २भ्रमरीं श्रियम् ॥ ९ ॥

( मन्त्रिण प्रति । ) आर्य, यत्पत्य राघवेण व्यूढा वानररक्षिणी  
मुत्प्रेक्ष्य शङ्के—विभीषण ३एव यत्परमाक तुलतन्तुरप्रशियेत ।

माहयवान्—( निश्चय । ) वत्स, द्वयोरपि कटकयोस्तत्पत्रोऽसि ।  
तत्किमिदानीमुचितम् ।

वैधर्म्यदृष्टान्तेन विपक्षे दृष्टान्तभूतेन, यो मान रक्षति स द्विपद्यते यथा राज्ञ  
इति दृष्टान्तेन लोको मूलोच्छेदे समूलप्रिनाशे निमित्तात् कारणता यतात् मान्तोऽ  
भिमानात् निवृत्तिप्यते, यद्वा विगतो धर्मो विवर्म स एव वैधर्म्यं तेन दृष्टोऽन्तो  
यस्य तादृशेन भवतेति प्रतिपाद्योऽर्थः ।

अरिपट्वर्ग इति । हे तात अरिपट्वर्ग कामक्रोधलोभमोहमदमानरूप षट्वर्ग  
एव अस्य लक्ष्या षट् पदानि प्रयागसाधनानि सन्ति, तेषां पदानाम् एकमपि  
पदम् द्विदन् परिष्यस्य स्रग्दयन् भ्रमरी चञ्चलस्वभावा श्रियम् खलत्रय चलनेऽङ्गमा  
स्थिरा कुरु । अभिमाने त्यक्ते तव लक्ष्मी स्थिरा भवदिति तथा कुर्वित्यर्थः ।  
भ्रमया अपि षट् पादा लक्ष्या अपि कामादय षट् सञ्चरणसाधनानि इति लक्ष्मी  
भ्रमरीत्वेन रूप्यते ॥ ९ ॥

व्यूढाम् व्यूह निर्माय स्थापिताम् । वरयिनीम् सेनाम् । उच्छेद्य दृष्ट्वा । शङ्के  
संभावयामि । तुलतन्तु वशासूत्रम् । तन्तुरिव तन्तुर्वशधर सन्तानशेष इत्यर्थः ।

सारण—( सुखद भावाशने ) हा देव पुलस्त्यपुत्र क्या आपको ही विपक्ष दृष्टान्त  
बनाकर समूलोच्छेदमूल अभिमानसे लोग निवृत्त होंगे ।

काम कीवादि अरिपट्वर्ग ही इस भ्रमरीनी तरह चञ्चल दृष्टीके छ चरण ह, इनमें  
म किनी एतरो भा काटकर आप लक्ष्मीको खल बनादें ॥ ९ ॥

( मन्त्रिवरके प्रति ) आर्य । रामने वानरसेनाका जो व्यूह रचा है उसे देखकर मे  
ममज्ञता ह कि विभीषणही हमारे कुलके प्रवर्तक रूपमें बच सकेंग ।

माहयवान्—( निश्चय हीबबर ) वत्स, तुम दोनों सै-योंके तरबल हो, बनाओ अब  
क्या करना उचित है ? ।

सारण—आर्य, नन्वेव व्रीमि—राजपुरोऽङ्गोऽसौ 'बालो नव-  
'बुद्धिरामपात्रमिव यद्यनाधीयते तत्तदाच्युच्यति ।

माल्यचार—तत किम् ।

सारण—ततश्च भवत पितृवरिणां रामपुरोऽङ्गो व्यापाद्य वि-  
प्लिन्नाया भयन्तमभिपिन्य वालिसोऽदम्यात्मानमनृणमिच्छाम् इति  
'गृहप्रणिधिमुक्तेन दृगन्वरादेशमभियाय सुभ्रीरारात्रिरादपवाह्यते ।  
तरिमन्नपन्नान्ते तु स्वगृहमहिभयोपजापजर्जरमपश्रमाणो धानरपति  
शिविलितरामप्रयोजन स्यात् ।

कटकयो रामराजपसेनासन्निवेशयो । तत्त्वय यथार्थस्थिति, वत्ता । कामपात्रम्  
अपक्व शरीरादिभाण्डम् । आधीयते स्थाप्यते । आच्युच्यति पितृति, आशु  
गृहादि, यथा आमपात्रे बजलादि दीयते तेषां तदाशु गृहानि तथैव चाले राज  
पुरोऽङ्गं यदुपदेच्यते भेदबुद्धिजनक तत्सर्वमयी स्वीकरियति, तदद्द एव भेद-  
नीति प्रयुज्यापरवनीय इत्याशय । आच्युच्यतीति शुद्ध रूप वा भावम् । भयत  
अद्दस्य । पितृवरिणो वालिन्तम् । व्यापाद्य हत्वा । अनृणमिच्छामि वालिना  
मह मम या मैत्री आसीत्प्रत्युपकार कृत्वा मुक्तो भवितुं कामये । गृहप्रणिधि  
मुक्तेन गुप्तचरद्वारा । अपवाह्यते अन्यत्र नीयते । तस्मिन् अद्दे । अपकाते भिन्नेऽ  
न्यत्र गतेऽपरवते मति । अहिभयोपजापजर्जरम् स्वपक्षप्रभवभयेन उपजापेन  
भेदेन च जर्जरम् आकृतम् । 'महीभुजामहिभय स्वपक्षप्रभव भयम्', 'समौ भेदोप  
जापी च' इत्युभयग्रामर । निधित्तरामप्रयोजन । परित्यक्तरामार्थम् ।

सारण—आर्य, म यह कहता है कि राजकुमार अर्द्ध अभी नवबुद्धिमान है, उसे  
जो ममसाया जायगा वही सन्देश, जैसे कच्चे पात्रमें जो चीज रखी जाती है उन्हीं  
वह चूमना है ।

माल्यचार—आप वालिपुत्रके पास गुप्तचर भेजकर यह बतवा लिये कि राजपुत्रने कहा  
है—'तुम्हारे निवृत्ते राम अदम्यको समाप्त करके निष्क्रियता रहकर तुमको बठाकर  
म वालिके सौदरका प्रण तुम्हारा चान्ता हूँ' ऐसा कहकर अद्दरो बुद्धिविधिरसे  
निष्क्रियता जाय, उसके बल जानेपर अद्दने परका कृते अन्त हाकर सुग्राव रामके  
प्रयोजनके प्रति शिथिल हो जायगा ।

सारण—उमके मत ।

१ 'बालोऽसौ' । २ 'आममिव पात्रम्' ।

३ 'अनृणमात्मानम्', 'आनृण्यमात्मान' । ४ 'निरुद्ध' । ५ 'च' ।

( 'विमृश्य । ) वत्स सारण, वालिप्रपविशुद्धपार्ष्णैरनेकवानरानीक-  
नायकेन माक्षादुपकृतेन सख्या सुग्रीवेण महापक्षस्य हनुमच्चरितज्ञाता-  
स्मदीयवृत्तरयमेव सुविहितसकलाभियास्यत्कर्मणस्तस्याभियोगसमय ।

सारण — 'आर्य, अयमेवात्मद्रव्यप्रकृतिसपन्नो नयस्याधिष्ठान नि-  
जिगीपुरिति प्रथमोदाहरण दाशरथि ।

दित सूर्यं स्वकरस्थ कमलं विक्रासदिव्यति, किंच चन्द्रं प्राप्रावणभयात्क्षीण-  
भासादतस्तन्नामृतस्य स्वरूपतया स्वादो नासीत्, नम्रप्रति तद्भयविगमे पुनरागत  
स्वादस्य तस्य कटा दवेभ्य स्वदन्ते इत्याशय । अमृतभुजामिति नैरप्यसामान्ये  
पष्टी । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ११ ॥

वालिवधविशुद्धपार्ष्णि वालिनो वधेन समाप्तपृष्ठदेशस्थशत्रु । अनेकवानराना-  
कनायकेन बहुवानरसैन्यसनाथेन । स्वाच्छादुपकृतेन वालिवधद्वारा सपत्नोवोपकृतेन ।  
महापक्षस्य प्ररूपत्तस्य । हनुमच्चरितेन ज्ञाता अस्मदीयवृत्ति अस्माक स्थितिर्येन  
नयोक्तव्य । सुविहितसपन्नसम्पन्न सकलम् अभियास्य कर्म विपक्षोपरि आक्रमणा  
पूर्वतन कर्त्तव्य येन तथाभूतस्य । अयमेव अभियोगसमय आक्रमणकाल । वालि-  
वधेन तस्य पृष्ठशत्रोरभात्रो जात, सुग्रीवस्य सहायता कृत्वा तमृगिन विधाय स-  
तदीयमन्यशक्त्या सपन्नोऽभूत्, हनुमन्त प्रेय तद्द्वारा सोऽस्मदीया स्थितिं ज्ञात  
वान्, तदित्य सर्वाणि युद्धपूर्वकर्त्तव्यानि कृत्वा सतद्वस्य रामस्यायमेवाक्रमणोचित  
काल इति बोध्यम् ।

आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्न आत्मद्रव्याणि प्रकृतयश्च तत्सम्पन्न, आत्मद्रव्याणि  
सम्पद्, ता उक्ता यथा 'बाहुशुल्य तपस्याग श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा । भावशुद्धिद्वया-  
मत्य नियमश्चात्मसम्पद्' । प्रकृतयश्चोक्ता यथा 'अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि क्षीणो दृष्टश्च  
पञ्चम । ण्ता प्रकृतय पञ्च विजिगीषोस्दाहता' । 'ण्ता पञ्च तथा मित्र सप्तम

( विचार करके ) वत्स सारण, बालिक मारे जानेसे रामको पृष्ठमय नहीं रह गया,  
साक्षात् उपकृत तथा अनेकविध वानर सैन्यबाले सुग्रीवके साथ मित्रता हो जानेसे रामका  
पक्ष मजबूत हो गया, हनुमानके आचरणसे उसने हमारे सारे वृत्तांत जान लिये,  
इतनरह उसने आक्रमणकी सारा तैयारी कर ली है, अब रामके द्वारा आक्रमणका यही  
व्यसक्त समय है ॥

सारण — आर्य, विजिगीषुको स्वयं युगवान् नीतिनिपुण होना चाहिये इनके प्रथम  
उदाहरण राम ही है ।

माल्यवान्—( स्तम्भ नाटयित्वा । )

यत्तस्मिन्निहतेऽपि बालिनि वय क्षुद्रान्तयेषाम्महे  
‘तद्युक्त भुजया’र्षलादपि बल दुर्गस्य दुर्निग्रहम् ।

मर्त्यनापि जगद्वि’लक्षणगुणग्रामेण रामेण तु

द्वे गव्यूतिशते हि नाम कियती तीणाऽऽमणोनिधि ॥ ११ ॥

( दीर्घमुष्ण च नि श्वस्य । आनासे । )

तर्षातिन्यतिलेलिहानरसनारभ्येर्मुखैरग्रिम

पृथिवीपति । सप्तप्रज्ञात्क राज्यमित्युवाच बृहस्पति । नयस्य नीतिशास्त्रस्य ।  
अग्निष्ठानम् आश्रयो ज्ञाता । प्रथमोदाहरणम् आशो दृष्टान्त । दाशरथि राम ।

यत्तस्मिन्निधि । तस्मिन् प्रसिद्धपराक्रमे बालिनि निहते रामेण भारितेऽपि त्रय  
क्षुद्रा नीचप्रकृतय तथैव उदासीना एव आस्मह निष्ठाम, तत् अस्मारमुदासी  
नदासन युक्तम्, यत् भुजयोर्वलात् बाहुद्वयपराक्रमापेक्षया दुर्गस्य बल दुर्निग्रहम्  
अतिक्रमितु कष्टिनम् । दुर्गस्य सागरस्य दुरनिग्रमतया त्रय यद् बालिनिहतेऽपि  
रसथा अतिष्ठाम तदस्माकमाचरण युक्तमेवासीदित्यर्थ ।

तु किन्तु मर्त्येनापि मनुष्यमात्रेणापि जगद्विलक्षणगुणग्रामेण लोकातिशायि  
गुणसम्बृहद्बालिना रामेण द्वे गव्यूतिशतं चतु शतशो नाम नियती श्रियद्दूर  
नाम नयम् अर्षोनिधि सागर तीर्णं तीर प्राप्य पार गत । सागर तीर्णजला  
रामस्य कृते द्वे गव्यूतिशतं कियती उपरिमाणे अनितुच्छ इत्यर्थ, अस्तुमात्  
सम्पन्नोऽय रामो यत्सागर शतयोजनविस्तीर्णमपि ललह, नदनुना चिन्ताविषय  
इत्यर्थ ॥ १२ ॥

मर्षातीति । हे वसे नेकपि निकषाया पुत्रि रावणमात वसस्य रावणस्य

माल्यवान्—( ठिठक कर ) उस बालिके मारे जान पर भी हम क्षुद्र उम्मी तरह  
उदासीन बने बैठे रहे, फिर भी हमपर आक्रमण नहीं हुआ था इसका कारण तो यह था  
कि बाहुके बलसे भा दुर्गका बल अधिक दुर्जय होता है अतः सागर मध्यस्थ होनेसे दुर्गपर  
अधिक आक्रमण नहीं हुआ । जगद्विलक्षणगुणशाला राम मानव होकर भा दो मी  
योजन विस्तीर्ण इस सागरको पारकर लिया, अब आक्रमण होना ही चाहिये ॥ १२ ॥

( दाघ तथा उष्ण श्वास लेकर आकाशकी ओर ) रावण के दशमुखोंमेंसे दो हा मुह

१ ‘तद्युक्तम्’ । २ ‘विकित्तर’ ।

क्रन्दन्ती क्रमशः पपौ दशमुखी वत्सस्य यस्याः स्तनौ ।  
वत्से नकपि<sup>१</sup> विश्ववीरजननी सीमन्तमुक्तामणि

सा तादृग्भवती कथं गुणवत् पुत्रस्य किं द्रक्ष्यति ॥ १३ ॥

सारण —<sup>२</sup>शान्तं शान्तम् । प्रतिहतममङ्गलम् । अनर्थशङ्कीनि  
बन्धुदृष्टयानि भवन्ति । किं च आर्ये,

भुजनिवहविहङ्गिकावलम्बी निविडगुणौघधृतोऽपि राज्यभारः ।

दशमुखी दशाना मुखाना समाहार तपेन विपासया या आसि पीडा तथा  
व्यतिलेलिहाना पुनः पुनः स्तनपानाभिलाषिण्यो रसना जिह्वा ताभिः रम्यं सुन्दरं  
अष्टभिः भुग्ने क्रन्दन्ती सती यस्यास्तत्र स्तनौ क्रमशः पर्यायेण पपौ पीतवती  
( ते रावणमातुः बालस्य रावणस्य दशमुखानि युगपद्वयमातुः स्तनद्वयपातुमि-  
च्छन्तिस्मिन्, तत्र द्वयोरवमुपयो पानेऽप्रसरलाभसम्भवः, शेषाणि मुखानि तृणया  
जिह्वा प्रसार्य रोदितुं प्रावर्तन्त ) एतादृशस्थालीकिकस्य पुत्रस्य जननी भूवा  
विश्ववीरजननीसीमन्तमुक्तामणि लोकेऽवीरसुतजनकतया सकलवीरप्रसूबदनीया  
सा तादृक् भवती गुणवत् पुत्रस्य रावणस्य किं मरणरूपमनिष्टं कथं द्रक्ष्यति ?  
एतादृशस्य पुत्रस्य मरणरूपमनिष्टं भवत्या द्रष्टव्यमिति महत्कष्टमिति भावः ॥ १३ ॥

अनर्थशङ्कीनि अनिष्टसम्भावनापराणि, अतिस्नेहस्य पापशङ्कितया बन्धव-  
स्वप्नधूनामनिष्टमेव शङ्कन्तेऽत एव मयाऽर्पात्थमाशङ्क्यते, वस्तुनस्तु वयमहितमा-  
पतद्धारविष्याम एवेत्याशयः ॥

भुजनिवहनि । भुजनिवहो बाहुसमूह एव विहङ्गिका भारवहनसाधनकाष्ठम् (यत्र  
शिक्यद्वारा भार आत्मज्य तिष्ठति 'गह्वरी' इति भाषायाः प्रसिद्धा) तदप्रलम्बी

स्तनपी मकते ये, कर्षोक्तिं तेरे दोहो स्तनधः, शेषं भाठं मुलं तृण्यते उत्तरं न आसिक्के  
कारणं लपन्ती जाभौसे सुन्दरं वनं गये ये, रो रहे धः, इस प्रकार तुम्हारा वहां पुत्र  
क्यामे क्या होने जा रहा है, हे विश्ववीरजननी शिरोमणि वत्से नैकपि ! तुम इन दशाको-  
क्तिं प्रकार देख सकोगी ? ॥ १३ ॥

सारण—शान्तं शान्तं, अमङ्गलका नाश हो, बन्धुजनके दृश्य अनर्थकी शङ्का किश-  
करते है । आय,

बाहुसमूहायरूपं गह्वरीपर लटकना हुआ निविडगुणराशिधृत होकर भी यह राजः

मध्यमपि दशकधरे धुरीणे स्वलति यदि 'स्वलन तदास्य रूपम् ॥१४॥

माध्यवान्—( अश्रूणि स्तम्भयन् । ) उत्स्र्ण,

विद्वानपावृत्तमिध 'म्यनास्य न तावदात्माननह प्रसीमि ।

महामुनेविश्वधमस्तपोभिनिजापरीज यदि न कुल म्यान् ॥ १५ ॥

( प्रविश्य पटानेपेण सन्नात शुक्र )

तदाप्रित्त, निविडगुणौघ घनतया स्थितो गजुभर शिष्यरूप तेन धृत अवल-  
म्बितोऽपि रायभार स्वय दशकधरे रायण धुरीणे धूर्वहे सन्त्यपि यदि स्वलति  
पतति तदाऽस्य राज्यभारस्य स्वलन पतन रूपम् प्रकृति ( पूर्वति मन्तय स्यात् )  
भारपतने कारणत्रय विहङ्गिकादोष, शिष्यदोष, बाहकदोषश्च तदत्र रायभारे  
रायणस्य निशतिर्भुजा एव विहङ्गिकारूपा इति न तदोष, शिष्यदोषोऽपि नास्ति  
रावणीयघनगुणभाररूपशिष्योत्तमिमतत्वादस्य भारस्य, बाहकदोषस्तु वस्तुम  
शक्य एव स्वय दशकधरस्य रायणस्य धूर्वहवाटथापि यद्यप रायभारो नश्यति  
तदाऽस्य राज्यस्य पतन स्वाभाविकमेव न कारणसापेक्षमिति मन्तय भवतीति  
तापर्यम् । एतदन्धरण धृतो भार कदाचित्स्वलत्यपि दशकधरधृते तु भारे न  
तरसम्भव इत्यपि व्यज्यते ॥ १४ ॥

विद्वानिति । स्वभास्यम् निनशुभादष्टम् अपावृत्तम् अपगतम् इत्य विद्वान् जानन्  
अहम् तावत् आमान न द्रवीमि स्वभास्यपिपर्यय जाननप्यह तमर्थं स्वमासान्  
नाभिदधे, स्वामनोऽपि निजभास्यविपर्ययमह गोपयामीयर्थ । महामुनेर्विश्वधो  
रायणपितु तपोभि यदि न कुल निजापरीज जलात्लिदाननिमित्त स्यात्,  
विश्वस्तप प्रभावादेव न कुले कोपि जलात्लिदानायावशिष्येत, न तस्मात्  
भास्येनेत्यर्थ । उपनानिर्घृत्तम् ॥ १५ ॥

यदि स्वय दशकधररूप भारबाहक स्पलित हो जायेंगे तो स्पलित होकर रहेगा ॥ १४ ॥

माध्यवान्—( आम्हो रोकर ) उत्स्र्ण, अधने भास्यको अपगत जानना हुआ भी  
मैं इस बातकी सबसे नहीं कहना हूँ, यदि हम वशमें कोई पाती देनेवाला शेष रह जायगा  
तो हमे विश्वा मुनिके तपका माहात्म्य समझना ॥ १५ ॥

( पदा ह्यङ्क घवहावे ह्य शुक्रा "वेश )

१ सलितम् । २ 'स्वभास्यात्' ।

शुक्र —

प्रहस्तं भूमाक्षमद्वोडरादीन्व्यापाद्य सेनाधिपतीन्मात्स्यान् ।

स एष लङ्कामुपरध्व राम शाश्वामृगैर्णवमातनोति ॥ १६ ॥

मात्स्यवान्—( सविषादम् । ) पुरस्तादेव दृष्टमिदमस्माभिः । देशकालव्यवहितस्यापि प्रमेयग्रामस्य यथामुत्तानमादर्शतल हि स्थविरबुद्धिः । ( किञ्चिद्व्य । आकाशे । ) माधु रामभद्र, माधु । विनिगीपोरनीर्घसूत्रता चि कार्यासिद्धेस्वरस्यम्भावः ।

प्रहस्तैः स एष राम प्रहस्तभूमाक्षमद्वोडरादीन् तत्तत्पत्तनान् सेनापतीन् अमात्यान् सेनानायकान्मन्त्रिण व्यापाद्य हत्वा शाश्वामृगै वानरै लङ्काम् उपरध्व समततो वधयित्वा अर्णवम् समुद्रम् आतनोति विस्तारयति, रामसन्निधेः वानरेषु समुद्र ताम्बु वैशद्वज्र नागर स्वल्प इव सङ्कुचित इव प्रतीयतस्मिन्, सम्प्रति तेषु सैनिकवासेषु लङ्का परितो वैद्ययित्वा स्थितेषु सागरस्य दिग्भ्रम प्रकटीभूत इति मन्ये रामो वानरैर्लङ्कामुपरध्व सागर विस्तारयतीवत्यर्थः ॥ १६ ॥

पुरस्तात् पूर्वम् । दृष्टम् ध्यानदृष्टयाऽवगतम् । देशकालव्यवहितस्य दूरदेशकालान्तरं च स्थितस्य, दशव्यवहितस्य काटव्यवहितस्य च । प्रमेयग्रामस्य वस्तुसमुदायस्य । यथामुत्तानम् समुत्तस्थयस्तुप्रादि । आदर्शतलम् दर्पणतलम्, यथा दर्पणे सन् वस्तुत्तान प्रतिफलति तथा स्थविरबुद्ध्यापि सर्वत्र दूरस्थित भूतमन्त्रिणेषु वस्तुनात् प्रतिफलतीत्यर्थः । स्थविरबुद्धिः बुद्धिजन्यता । एतेन पुरस्ताद्वेददृष्टमिदमस्माभिरिति समर्थितम् । विनिगीपो विनयकामग्रमानस्य । अर्घसूत्रता चिप्रकारिता । कार्यासिद्धे प्रारिप्सितविनयसिद्धे, अवश्यमात्र निश्चयन सिद्धिः, विनिगीपुयति चिप्रकारभते कार्यं तदा तस्य कार्यमवश्यमातीति भावः ।

शुक्र—प्रहस्त, भूमाक्ष, मृगैः पशुनि सेनापति मन्त्रिणां मार वरध्व रामन लङ्काको वेर निया है और वानरासे सागरको पास ध्व रणा ॥ १६ ॥

मात्स्यवान्—( विषा से ) नैवे नह पहल का समस्त लिया था । बुद्धिजन्य बुद्धिने दश कालन व्यवहित रहनेके हे मा पदार्थ स्पष्ट ज्ञाना करत है । ( विचारकर, आकाशमें ) माधु रामभद्र, माधु, विनिगीपुने विनयसूत्रनाम नाम अवश्य होना मगधना नापि है ।

सारण—सखे शुक, अथ किमिमानो यातुमानेश्वर ।

शुक—( सखेदस्मितम् । ) सखे, किं नम्य विधानम् ।

ध्रुवा दाशरथी सुबेलरुटके साटोपमर्धे धनु  
 प्रकारै १परिपूरयन्ति ककुभ प्रोञ्छन्ति कौक्षेयज्ञान् ।  
 अभ्यस्यन्ति तथैव चित्रफलके लङ्कापतेस्तत्पुन  
 वैदेहीकुचपत्रवह्निरचनाघातुर्यमर्धे करा ॥ १७ ॥

मात्यवान्—( नि श्वस्य । ) हा वत्स रावण, कथमप्यापि सैनं हृद

किविधान किमाचार, यातुधानेश्वर राजसरातो रावण । रावण किमाचर  
 तीनि प्रनाशाय ।

तस्य किं विधानम् न किमपि विशिन्याचरति रावस इत्युत्तरम् ।

श्रुत्वा दाशरथा इति । लङ्कापते रावणस्य अर्धं करा त्रिंशत्तिमत्यङ्केषु भुजेषु  
 दशभुजा सुबेलरुटके सुबलनामरुपर्वतस्य नितम्भभागे ( समागतौ ) दाशरथी  
 रामलक्ष्मणौ ध्रुवा दूतमुवाचिदशम्य धनुष्टङ्कारे ककुभ द्वित्र परिपूरयन्ति भरति,  
 कौक्षेयज्ञान् ग्वह्णान् प्रोञ्छन्ति मार्जनादिना मन्वायन्ति । पुन अर्धे अवशिष्टाश्च  
 रावणस्य दशकरा चित्रफलके साताया सम्भुवाप्रस्थापिते चित्र तत् पूजाभ्यस्तम्  
 वैदेही सीता तस्या कुचयो स्तनयो पत्रवरल्या पत्रावल्या रचनाया निमाणस्य  
 चातुर्यम् पाण्डित्यम् अभ्यस्यन्ति गुणयन्ति । सीताया कुचयो कर्तुमिष्यमाणस्य  
 पत्रावलीविरचनस्याभ्यास कुर्वन्तीत्यर्थः । शार्ङ्गलत्रिकीटित वृत्तम् ॥ १७ ॥

हृदयपरिस्पन्दमुद्रा मनसस्तत्र चपला गतिदशा, समस्तवपि वय पूर्वददर

सारण—सखे शुक, अब रावण क्या कर रहे है ?

शुक—( सखेदकी इसीके साथ ) सखे, उनके करनेका क्या पूछ रहे हो ?

राम-लक्ष्मणको सुबेल तटमें आये सुनकर रावणके आये हाथ घमण्डके साथ धनुष्टङ्कारमे  
 दिशाओंको निनादिन कर रहे हैं, तलवारको पौछ रहे हैं और आये हाथ पूवका तरह  
 चित्रफलक पर वैदेही कुच-वृम्भों पर पत्ररचना चतुर्यका अभ्यास कर रहे हैं ॥ १७ ॥

मात्यवान्—( नि श्वस्य छोडकर ) हा वत्स, क्यों, आन भा सुम्हार हृदयकी चलि

१ प्रविशरयन्ति । २ सैन ते हृदयपरिपन्थिनी परिस्तरदमु १ ।

२२ अ० रा०



यपरिस्पन्दमुद्रा । ( शुक्र प्रति । ) वत्स, अथ गोपुरगौलिमकवलाध्यक्षेण वत्सेन नरान्तकेन कि प्रतिपन्नम् ।

शुक्र—( निश्वस्य । ) 'मातामह, कृतैव कुमारेण द्वारमर्यादा । परमद्भवेन 'सोऽपि । ( इत्यर्थोक्ते साहसमधोमुखस्तिष्ठति । )

माह्वयवान्—हा वत्स दशग्रीवनन्दन, कथमिदं तव द्रष्टुमेता वन्त कालमस्माकमायु ।

( नेपथ्ये । )

भो भो महापार्ष्णप्रभृतय सैनिका,

व्यावर्तध्वमुपाध्वमुद्धुरशरज्वालामुखीं मातरं

देवीमस्त्रमर्यां प्लवङ्गपशव पश्यन्ति पृष्ठानि च ।

चपल हृदय वहसीति तात्पर्यम् ।

गोपुरे पुरद्वारे यानि गोलिमकवलानि सैनिकवीरास्तदध्यक्षेण पुरद्वारावस्थित सैन्यसमुदयप्रधानेन । प्रतिपन्नम् आचरितम् ।

द्वारमर्यादा द्वारप्रतिष्ठा, द्वाररक्षकोचित युद्धमित्यर्थ, अद्भवेन सोऽपि नरान्तकोऽपि हत इति शप । दशग्रीवनन्दन रावणतमस्य नरान्तक । इदं तव मरणम् । पृतावती मम दीर्घजीविता कथं तव मरणं द्रष्टुमेव सृष्टा विधात्रेति खेदध्वनि ।

व्यावर्तध्वमिति । व्यावर्तध्वम् निवर्तध्वम् युद्धान्मा पलायध्वम्, उद्धुरा उत्कटा या शरज्वालामुखीम् उत्कटशस्त्रज्वालाप्रकटनसमर्थाम् अस्त्रमयीम् देवीं मातरम् उपाध्वम् आराधयत, प्लवङ्गपशव नीचा जमी वानरा च युष्माक

पुरानी ही है । ( गुकसे ) वत्स, गोपुरस्थित सेनाकी डुकडीके अध्यक्ष नरान्तककी क्या स्थिति है ?

शुक्र—( निश्वात छोडकर ) मातामह, कुमार नरान्तकने द्वारकी प्रतिष्ठा रखी, परंतु अद्भवन उसे भी ( इतना ही बहकर रोना हुआ सिर झुका लेना है )

माह्वयवान्—वत्स रावणपुत्र, क्यों तुम्हारी बड़ी दशा देखनेके लिये मेरी इतनी बड़ी आयु हुई ।

( नेपथ्यमें )

अबे महापार्ष्ण प्रभृति सैनिकों,

लौटो, रणो-मुद्र नाण-ज्वालामुखी देवी माताकी उपासना करो—ये अभागि वानर

१ 'मातामह इति कचिनास्ति । २ 'सोऽपीत्यम्' । ३ 'तव' इति कचिनास्ति ।

चेत शक्रजितोऽपि लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवं मध्यम

पौलस्त्य स्वयमायुधविभृतवानद्यापि रामाद्भयम् ॥१८॥

सारण — ( श्रुत्वा सहर्षम् । ) आर्य, 'जात जातमप्रलम्बनम् । यद्व प्रतिबुध्य कुमारकुम्भकर्ण पुरस्कृत्य च मेघनादमभ्यमित्रीण सवृत्त ।

माल्यवान्—( निश्चस्य । ) स्वस्ति विजयेता रामलक्ष्मणौ कुम्भ-  
कर्णमेघनादौ<sup>१</sup> ।

शुक —( सविषादमागतम् । ) शान्त शान्तम् । कप्रमप्रिशिष्ट-  
कर्मभाप्रमुभयत्र द्विवचन प्रयुक्तमार्येण ।

युद्धापलायमानानां पृष्ठानि पृष्ठेषान् पश्यति नैतद्युक्तमतो निवर्तध्वमिति भाव । शक्रजित मेघनादस्यापि चेत लक्ष्मणवधे बद्धोत्सवं धृतमहोत्साहम्, मध्यम पौलस्त्य पुरस्कृत्य मध्यम पुत्र, कुम्भकर्ण स्वयम् आयुधम् अस्त्र धृतवान् युद्धोद्यत जात, अद्यापि रामात् भयम् । लक्ष्मणप्रधायेऽत्रिति धृतवते कुम्भकर्णे चरणोमुखे रामाद् भयस्यानुचितत्वेन भवता युद्धापलायन नितरा निरर्थक दुर्यक चेति भाव ॥ १८ ॥

प्रतिबुध्य निद्रा त्यक्त्वा । पुरस्कृत्य अग्रेकृत्वा, प्रशसादधने सत्कृत्य वा । अभ्यमित्रीण शत्रुसम्मुखीन ।

अविशिष्टकृतकर्मभावम् विशिष्य कत्तार कर्म वाऽवोधयत् । 'विजयेता राम लक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ' इत्यत्र रामलक्ष्मणौ कुम्भकर्णमेघनादौ च' इत्युभयो पदयुगलयो द्विवचनान्ततोक्ता, कर्त्तारि कर्मणि च सा समा, तत्र कस्य कत्तृता कस्य वा कर्मतेति कथं ज्ञायतामित्याशय ।

पन्तु तुम्हारा पीठ देख रहे हैं, इन्द्रजित्का हृदय भा लक्ष्मणाका मारनेके लिये उन्नाहित हो रहा है, और कुम्भकर्णने भी स्वयम् अस्त्र पकड़ लिया है, आज भी रामसे भय ? ॥१८॥

सारण—( सुनकर सहर्ष ) आर्य, हम लोगोंको अबलम्बन मिल गया, अब कुम्भकर्णकी नींद खुल गई है और वह इन्द्रजित्को आगे करके शत्रुओंसे मिलने चले हैं ।

माल्यवान्—( मांस लेकर ) राम लक्ष्मण ( पर ) कुम्भकर्ण मेघनाद ( के ऊपर ) विजयी हों ।

शुक—( सविषाद स्वगत ) शान्त शान्त, आर्यने कर्त्ताकर्मका भेद नहीं करके सामान्यत द्विवचनका प्रयोग कैसे कर लिया ।

१ 'जातम्' इत्येकवारमेव उचित । = 'मेघनादौ च' ।

मात्यवान्—( सखेदम् । ) यत्सौ शुक्रसारणौ, 'अथ रात्रिवयं' राक्षस  
लक्ष्मी सर्वथा कुम्भकर्णमवलम्ब्य वर्तते । इदं तु न विद्म ।

अग्रजं वा दशग्रीवमनुजं वा विभीषणम् ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वीरं कमभिपेक्ष्यति ॥ १९ ॥

( नेपथ्ये । )

मा भैष्ट कम्ठेन्द्रपद्मगपती कश्चिन्न वैशेषिकां

भूमेरद्य भर पति पलभुजामाज्ञापयत्येव वाम् ।

शुक—( सदर्पम् । ) नूनमस्मदीयैविशेषेण, किमपि त्रिणात्तम् ।

( मात्यवानवधते । )

कुम्भकर्णमवलम्ब्य वर्तते तदधीना, यदि कुम्भकर्णो जयति तदा राजलक्ष्मी  
रचयतेऽन्यथा गतेयमिति तापर्यम् ।

अग्रजमिति । वीरं कुम्भकर्णं अग्रजं यद्येष्टम् दशग्रीव वा अनुजं कनिष्ठं विभीषण  
वा वाम् अवयव्यतिरेकाभ्याम् विजयपराजयाभ्याम् अभिपेक्ष्यति योजयिष्यति ?  
स्वजये दशग्रीव रजपराजये विभीषणं वा कमय वीरो युध्यमानं कुम्भकर्णो योजयि  
ष्यति विजयश्रियति न निर्विनाशोर्भावार्थं ॥ १९ ॥

मा भैष्टमिति । हे कम्ठेन्द्र कूर्मराज प नगपति शेषनागश्च तौ, एव पलभुजा  
रक्षसापति राज्ञे वाम् युवाम् आज्ञापयति, युवाम् मा भैष्टम् भयं कुरुतम्, अद्य  
भूमे पृथिव्या भर भारं कश्चित् वैशेषिकं अधिकं न, कुम्भकर्णशरीरपातेन

मात्यवान्—( सखेद ) वत्स शुक और सारण, आज राक्षस लक्ष्मी सर्वथा कुम्भ  
कर्णपर अवलम्बित हो रही है । यह नहीं समझमें आ रहा है कि—

वीर कुम्भकर्ण अपनी विजयके द्वारा अग्रज रावणको अभिषिक्त करेंगे या अपन  
पराजयके द्वारा अपने अनुज विभीषणको गद्दीपर बैठावेंगे ॥ १९ ॥

( नेपथ्यमें )

हे कूर्मराज तथा शेषनाग, आप भय न करें, पृथ्वीपर अब ( राक्षसोंका ) अधिक  
भार नहीं रहा, तुम्हारे मालिकका यही आदेश है ।

शुक—( इसके साथ ) निश्चय हमारे सैनिकोंने कुछ विशेष विजय प्रदर्शन किया है ।  
( मात्यवान् मनोयोग देता है )

( पुनर्नेपथ्ये । )

दा शैलौ हरता पृथक्पृथग्यो मूर्धानमुत्क्षिप्नुना

रामेणापि लघूकृत पतति यत्तत्कौम्भकर्णं वपु ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स । ( इति मूर्च्छित पतति । )

उभौ—( नाहम् । ) आर्य, समाश्रयिणि समाश्रयिणि ।

माल्यवान्—( आश्रय । ) <sup>१</sup>वत्सो, जीवतो रामभद्रस्य मैथिलीहरणादेतदस्माभिरान्तरेण चक्षुषा त्रिपयीकृतमेव । त्रिमिदानीं <sup>२</sup>समाश्रयिण्यव्यमस्ति ।

शुक—धिक्कष्टम् । ‘कौम्भकर्णं वपु पतति’ एतदपि देवेनाज्ञापयितव्यम् ।

—अधिको भार स्यादिति युवाभ्यां न भेतव्यमिति भावः, भाराधिन्याभावकारणमाह—ने शैलादिति । यह यस्माद् पृथक् दो शैलौ पर्वतोपमा कुम्भकर्णस्य नुजो अयो पृथक् मूर्धानम् शिर उक्षिप्नुना ऊर्ध्वं क्षिपता रामेण अपि लघूकृतम् अत्र भारता नीतम् तत् कौम्भकर्णं वपु शरीर पतति । पृथि या भारस्वदा वधेत यदि समग्र कुम्भकर्णशरीर पतेत्, तदत्र नास्ति, कुम्भकर्णस्य बाहु शिरश्च राम पृथक् पृथक् उपरि क्षिप्तवान्, अतश्च भारवृद्धरसम्भवः भवतोर्भयेनेति तात्पर्यम् ॥२०॥

जीवतो रामभद्रस्य जीवत रामभद्रमनाहत्य । मन्त्रिणीहरणात् सीतापहारात् । आतरेण चक्षुषा भावतादृष्ट्या । त्रिपयीकृतम् ज्ञातम् ।

देवेन महाराजरावणेन । आज्ञापयितव्यम् आदेश्यम् । रावण कुम्भकर्णशरीरपानत्रिपये कथमाद्दण्डमशक्यतानिदु सहतयाऽस्य दुःखभारस्येति भावः,

( फिर नेपथ्यमें ) बाहुरूप पर्वतोंको पृथक् तथा मल्लकको पृथक् फेंकनेवाले रामने शिरको हट्का बना दिया है वह कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है ॥ २० ॥

माल्यवान्—हा वत्स, ( कहकर मूर्च्छित होकर गिरता है )

दोनों—( रोते हुए ) आर्य, धीरज धरिये, धीरज धरिये ।

माल्यवान्—( आश्रय होकर ) रामके जीते रहनेपर रावणने जब सीताका अपहरण किया उन्नी समय में मनमें यह बात जान ली थी, अब क्या धीरज धरना है ? ॥

शुक—हाय, कष्ट, कुम्भकर्णका शरीर गिर रहा है, यह आज्ञा भी रावणको देनी पड़ गी ।

१ ‘वत्स शुक’ । २ समाश्रयितम् । ३ ‘आज्ञापितव्यम्’, ‘अज्ञापि’ ।

मात्यवान्—वत्स, अद्यापि 'रावणस्थाज्ञा । नूनमन्योन्येषा वैहा-  
मिका कपयो दशरुण्ठमुल्लुण्ठयन्ति' ।

सारण—आ क्षुद्रा,

यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति ।

मेघनादमजित्वैव धिक्प्रहासविभीषिकाम् ॥ २१ ॥

( नेपथ्य । )

भो भो यूथपतय, विलुम्पन्तु भवन्तो लङ्कागोपुरप्राकारतोरणानि ।

संनद्धेन्द्रायुधमविरलारम्भिर्गीर्वाणव्राण

अन्योन्येषाम् परस्परेषाम् । वैहासिका उपहासपरायणा । उल्लुण्ठयन्ति उपह-  
सन्ति, केचन वानरा आकाशे स्थिता पक्षप्रतिपक्षभावमास्थाय रामपक्षगा रावण  
मेव रावणपक्षगाश्च राममुपहसन्तः क्रीडन्ति, तेषामेव रामपक्षगा रावणपक्षोपहा-  
सायैरथमादंशमुद्धीपयन्ति इति तात्पर्यम् ।

यद्यस्तीति । यदि वीर्यम् अस्ति अस्ति एव, तत् वीर्यं कर्म क्रियमाणं पराक्रमति  
शय कथयिष्यति प्रकटं प्रत्याययिष्यति, अलमुपहस्य, यदि अस्मान् पराक्रमोऽस्ति  
तदा त पराक्रममस्माकं कार्यं प्रशशयिष्यत्येव, कृतमुपहासादिनेति भावः । मेघनाद-  
मजिवा अपराभूय एव प्रहासविभीषिकाम् उपहासद्वारकं भयप्रदर्शनम् धिक् ।  
यावन्मेघनादो न जीयते तावद् भयप्रदर्शनं नितान्तमनवसरदुःस्थ तस्य सर्वत्रि-  
धाशास्थानत्वादिति ॥ २१ ॥

संनद्धेन्द्रेति । येन दुष्टप्रहेण शनैश्चरादिना दुष्टं ग्रहो जान यस्य तादृशेन

मात्यवान्—वत्स, ७७ रावणकी आशा क्या ? आकाशमें उड़नेवाले कपिगण परस्पर  
रावणका मजाक कर रहे हैं ।

सारण—धिक्कार है तुम क्षुद्रोंको,

यदि वीर्य है तो है हा, कतन्य ही उसे कहेगा, जब तक मेघनाद विजित नहीं होता है  
तब तक इसना तथा डराना ठोक नहीं है ॥ २१ ॥

( नेपथ्यमें )

हे सेनापतिथो, लङ्काके गोपुरद्वार-तोरणोंको उगार लें,

जिस दुष्टप्रहरूप मेघनादने द्वायुधते प्रसून अनारत वषारम्म करनेवाले देवगणोंकी

श्रेणीवर्ष तद्वज्रगृहे येन दुष्टग्रहेण ।

माल्यवान्—(सोद्वेगम् ।) आ, किमनेन श्रावयितव्योऽस्मि ।  
( इति ऋणो पिदधाति । )

( पुनर्नेपथ्ये । )

इष्ट्वा काञ्चित्प्रहरणमयीं वीरयज्वानमिष्टिं

दिष्ट्वा सोऽय समुपशमित शक्रजिह्वमणेन ॥ २२ ॥

माल्यवान्—सन्वोऽयम् ‘अतिदुःखो’ निर्दुःख’ इति लोकप्र  
वाद । यदस्मिन्नपि समूलघानमभिर्नानि १व्यतिकरे तथैव ३श्वसिम ।

इन्द्रजिता च तत् सन्नद्धन्द्रायुधम् समुद्यतशक्रचापम् अविरलारग्नि सततसक्रियम्  
गीवाबाणश्रेणीवर्ष देवाना बाणवृष्टि अवज्रगृहे प्रयत्नयत, यथा शनैश्चरादिदुष्टग्रहेण  
सशक्रचाप सक्रिय च वर्ष प्रतिवध्यते तथा यत्न दुष्टज्ञानेन इन्द्रजिता शक्रचापे  
उद्यते सक्रिये च सत्यपि भ्रमह्य देवाना बाणवृष्टि प्रतिवध्यते, यत्पुरत सेन्द्रा  
अपि दश बाणवृष्टि कर्तुं न प्रभवति इति भाव । इष्ट्वेति । सोऽय समस्तमुवन  
ग्यात् शक्रजित् काञ्चित् प्रहरणमयीम् अस्त्रस्वरूपाम् वीरयज्वानम् शूरयानिकाम्  
इष्टि यागम् इष्ट्वा कृत्वा दिष्ट्वा भाग्येन उपशमित शमित, यथा वृष्टिप्रतिबध  
करस्य दुष्टग्रहस्य यागेन उपशमन क्रियते तथा वीरयाज्ञिकाम् शक्रमयीं काञ्चित्  
इष्टि कृत्वा लघमणेनासो मेघनाद शान्ति नीतो हत इति हृदयम् ॥ २२ ॥

अतिदुःख अतिदुःखभाक् । निर्दुःख दुःखशून्य, मतत दुःखेऽनुभूयमाने दुःख  
साम्यतयाऽनतिव्यथक्त्वापत्तेरिति भाव । समूलघातमभिर्नानि मूलमुच्छिद्य

बाणवृष्टिको प्रतिबद्ध कर दिया था,

माल्यवान्—( उद्वेगसे ) हाथ यह क्या सुनाता है ?

( वान बन्द करता है )

( फिर नेपथ्यमें )

बाणप्रहारमय कुञ्ज यश करके वीरयाज्ञिक लक्ष्मणेने उस प्रतिबधक मेघनादको  
प्रशमित कर दिया ॥ २२ ॥

माल्यवान्—अतिदुःखा निमुक्तदुःख हो जाता है यह लोगोंका कहना सत्य है  
क्योंकि समूलघिनाश करनेवाली इस विपत्तिमें भी म जी रहा हूँ ।

१ ‘अतिदुःखोऽतिदुःख’ । २ ‘व्यतिकरे’ । ३ विश्वमिम’ ।

शुक — ( ऊर्ध्वमवलोकन । ) यथा 'समन्तादम्बरचरविमानवीथय  
ककुभा मुत्तानि पर्यवष्टभ्नन्ति तथा शङ्के दुर्वारदारुणकोपवद्वानल  
निपीयमानशोकसमुद्रो दाशरथिप्रियया सनह्यते देव ।

सारण — ( सविषादमात्मात्म् ) कष्टम् । कथं दाशरथिप्रिययाये  
त्यविशिष्टोपपत्तिकर्तृकर्मकारकार्यप्रिय वयस्यवचनम् ।

मात्यवान् — ( अत्याय । ) तदस्माभिरपि जरत्ना दूषितस्यात्मनः प्र  
त्यालनाय प्राप्त शस्त्रधारातीर्थम् । ( इति मशुक्सारणो निष्क्रान्तः । )

विनाशकरे । व्यतिकरे विपत्तौ, इन्द्रजिद्विधनरूपायामित्यर्थः । समन्तात् सर्वतः ।  
अम्बरचरविमानवीथय इत्ययानपङ्क्तयः । ककुभा मुत्तानि दिगन्तरालानि । पर्यवष्ट  
भ्नन्ति आगृष्वन्ति । दुर्वारं चारयितुमशक्यो यो दारुणो भीषणो क्रोध एव बद्धवा  
नल औवाग्निस्तेन निपीयमानः शोष्यमाणः शोकसमुद्रो यस्य तथोक्तः दुर्वारकोप  
ज्वालन्तग्भिमतपुत्रमृत्युजन्यदुःखावेग इत्यर्थः । दाशरथिप्रियया रामजयाय सन्नह्यते  
परिकरं चघ्नाति ।

'दाशरथिप्रियया' इत्यत्र दाशरथेर्विजयायेति पठ्येति समासः । सा च पृथ्वी कर्त्तरि  
कर्मणि चोभयत्र सम्भवति, तथा च दाशरथिकर्मस्यो विजयं दाशरथिकर्तृको वा  
नित्यं हृत्युभयधार्थं शक्यं कर्त्तुम्, अविशिष्टा सामान्या उपपत्तिर्युक्तिर्यत्र  
तादृशम्, कर्त्तृकारकविषयकर्मकारकविषयश्च वयस्यवचनम्, अत्र वयस्यवचनं  
कर्त्तरि पृथ्वी विवक्षिता कर्मणि चेति त्रिदिव्योपपत्तिर्नोक्ताऽस्तौ रामस्य जयो रावणेन  
रामेण वा रावणस्य जयो विवक्षित इति सन्दिह्यत इत्यर्थः ।

जरसा दृष्टारस्थया । दूषितस्य अनेकान् दोषान् प्रापितस्य । प्रचालनाय  
मार्जनाय । शस्त्रधारातीर्थम् अस्त्रधारास्वरूपम् जलाशयामकम् पुण्यस्थानम्, यथा

शुक — ( ऊपर देखकर ) वह जो नाकाशचारियाके विमानगण दिशाओंका आवृत्त  
कर रहे ई उससे समावना करता हू कि दु मई क्रीधाग्निबी ज्वालासे रावणका शोक  
मागर शुक हो गया है और वह र म विजयके लिए तैयार हो रहे हैं ॥

सारण — ( सविषाद स्वगन ) हाय, 'राम विजयके लिये' इस कत्ता कर्मका स्पष्टीकरण  
विना किये हो वयस्यने यह शब्द कैसे कह दिया ।

मात्यवान् — ( शठकर ) इमलिष्ट इम भी बाधनयदूषित इम आत्माकी शुद्धिके  
लिये शस्त्रधारा तीर्थ या गये है । ( शुक सारणके साथ प्रस्थान )

१ 'अम्बरान्तरचर्यो' । २ 'पर्यवष्टभ्नन्ति', पर्यवष्टभ्नन्ति' ।

३ 'कष्ट कष्ट दाशरथिः' 'कथं दाशरथिः' । ४ 'इति निष्क्रान्तः' ।

विष्कम्भक ।

( ततः प्रावशति <sup>१</sup>विद्याधरद्वयमाकाशयानेन । )

एक—अहो, बहो कालादनया गगनवीथ्या निरातङ्गमित्र  
मचराग्रहे । ( <sup>२</sup>अधोऽवलोक्य । )

देवेन्द्रोपनिवेशनन्दनवनस्रकोरणश्लाघिनी

लङ्घ्ये दशकण्ठविक्रमसखी यस्या समन्तादिमा ।

युद्धालोकनकौतुकान्मुखधूसंज्ञीर्णकर्णारथा

रथ्या किं कथयामि यान्ति यदमी न व्योम्नि वैमानिका ॥

दृष्टिनस्य प्रत्यादे शुद्धय वप्रचन तीर्थे प्रसालन त्रियते तथाऽहमस्य याधक्यदृषित  
स्यात्मनोऽत्र युद्धे प्राणत्यागेन शुद्धि करोमीत्यथ ।

अहो कालात् चिरकालानन्तरम् । अनया गगनवीथ्या अनेनाकाशमार्गेण ।  
निरातङ्गम् निभयम् । इतः पूर्वं तु रावणभयाद् भीतभीता अत्र वर्तन्ति सम  
शराम इत्यथ ।

<sup>१</sup>देन्द्रोपनिवेशिनि । देवेन्द्रेण प्राप्तेऽपनिवेशेन रावणप्रसादनाय समर्पणीया या  
नन्दनवनस्रम् नन्दनवनप्रसूनमाला तस्यान्तोरणेन तन्निर्मितशोभितेन बहिर्द्वारेण  
श्लाघिनी आत्मनि श्लाघाशालिता दशकण्ठविक्रमसखी रात्रापराहमसङ्गिनी इय  
पुरोदश्या लङ्घ्या, यस्या लङ्घ्याया समन्तात् सर्वत इमा युद्धालोकनकौतुकेन युद्ध  
दर्शनोत्कण्ठया उन्मुखीभिः दधूभिः राक्षसप्रणिताभिः सङ्गीणा वृक्षा कर्णारथा  
मरिथा यामु तथोक्ता रथ्या प्रनोही किं कथयामि? यत् जमी वैमानिका व्योम्नि

( विष्कम्भक )

( आकाशमार्गे विद्याधर युगलका प्रवेश )

एक—अहो बहुत दिनोंके बाद इस आकाशमार्गमें निर्भय होकर चक रहा हूँ ।

( नीचे देखकर ) देवेन्द्रद्वारा निवेशित नन्दनवनके पुष्पोंकी तोरणमाला धारण करके  
फूली न समानेवाला तथा रावणकी विक्रमसखी यही लङ्घ्या है, जिसमें युद्धदर्शनो  
त्कण्ठित वनिताओंके रथोंसे गलियाँ भरी हुई हैं किन्तु कइ, देवगण अमा भी रावणके  
भयमें युद्धवो देखने आकाशमें नहीं आ रहे हैं ॥ २३ ॥

१ 'आकाशयानेन विद्याधरद्वयम्' ।

२ 'अधोऽवलोक्य' ।



( मखेदाहृतम् । ) मखे हेमाङ्गद,

एता पश्य पलादपत्तनभुज सौत्रामणीना दशा

१मस्त्राम्भोभिरदेवमातृकगृहारामाभिरामश्रिय ।

एतासु २प्रतिघातिविक्रमकथोपालम्भवेतण्डिकै

क्लृप्तेन्द्रध्वजिनीजयानुकृतिभिर्दिम्भैरपि क्रीडितम् ॥ २४ ॥

द्वितीय — सखे रत्नचूड, किमुच्यते ।

न यान्ति, रावण प्रसादयितुमिन्द्रो या पुष्पम्बनोऽर्पयति ताभिरेव लङ्कायास्तोरणो भूष्यते, रावणस्य पराक्रममाणा खेय सङ्गिर्नाति लङ्कापुरी नितान्तविलक्षणोऽस्ति, अस्या हि पुर्यां रथ्यासु युद्धदर्शनोत्काना राक्षसगर्भना रथा व्याघ्रा, अतस्तेषु रथेषु स्थिता राक्षसत्रियोऽस्मान् दृष्ट्वा कुपिता स्फुरिति भयेन वैमानिका अपि न निर्भय व्योम्नि चलन्तीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

एता पश्येति । एता सौत्रामणीनाम् इन्द्रमवन्धिनीम् दशा नेत्रसहस्रस्य अस्त्राम्भोभि अश्रुचलै अदेवमातृकं नद्यम्बुसिक्तै गृहारामे अभिरामश्रिय रम्य-शोभा पलादपत्तनभुज राक्षसनगरीभूमी पश्य एता राक्षसनगरीस्थलीरालोक्य यामु ३-द्विन्द्रनयनसहस्रम्बद्धम्भ प्रवाहे सिच्यमाना गृहारामा रमणीया श्रिय धारयन्तीत्यर्थ । एतासु राक्षसनगरीस्थलीषु दिम्भै बालकै अपि क्लृप्तेन्द्रध्वजिनी-जयानुकृतिभि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकरणं अत एव प्रतिघातिना विपक्षाना विक्रमकथामु उपालम्भे अधिष्ठेपे वेतण्डिकै विवादपरै क्रीडितम् खेलितम् । यत्र राक्षसपुरीस्थलीषु बाला अपि कृत्रिमेन्द्रसैन्यविजयानुकृत्या शत्रुपराक्रमकथानिन्दया च क्रीडन्ति स्मेति भावः । एतेन रावणस्य पुर्यां लोकोत्तरत्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

( खद तथा आश्वयसे ) सख हेमाङ्गद,

इन्द्रकी दृष्टियोंसे बराबर गिरते हुए अश्रुप्रवाहसे अदेवमातृक होकर सतत तिक्त होते रहनेसे रमणीय उद्यानबाला इन रावणपुरी भूमियोंको देखो, इन भूमियोंमें परस्पर आक्रमणकी वधामें निपुण इन्द्रसेना विजयकी अनुकृतिमें दस राक्षस बालक खण्ड करत रहे हैं ॥ २४ ॥

दूसरा—सखे रत्नचूड, क्या क्या आय,

१ 'स्त्राम्भोभि' । २ 'प्रतिपक्ष' ।

रक्षासीति परापि सशृणुमहे वीरस्तु कस्तादृशो

जागर्ति स्म जगत्त्रयीविपदलङ्घनींणदोविक्रम ।

शश्वद्द्वारभुवि प्रशस्तिरचनावर्णायमानेक्षण

श्रेणीसंभृतगोत्रभिन्मयजयस्तम्भो यथा रावण ॥ २५ ॥

रत्नचूड — सवे हेमाङ्गद, पर्य पर्य । पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीपु  
दीयमाने सनाहपटहे

दिग्दन्तावलदन्तमोक्तिकमयद्वास्तोरणस्त्रग्विणो

गीर्वाणाधिपतिप्रतीश्रनिगडोन्मृष्टान्यवन्दीशुच ।

रक्षासीति । पुराऽपि पूर्वमपि रक्षासि मन्तीति सशृणुमहे परस्परमार्ज्जयाम  
तु किन्तु जगत्त्रय्या लोकत्रयस्य त्रिपदि पराभयरूपापत्तौ अलङ्घ्यमाण ममर्थं  
दोविक्रम बाहुबल यस्य स तथोक्त लोकत्रयविजयिवीर्यं क तादृशो वीरो यथा  
यादृश शश्वत् सर्वदा द्वारभुवि रावणभवनद्वारदेशे प्रशस्तिरचनाया प्रशसापद्धतौ  
वर्णायमाना अक्षरभाव गता या ईक्षणश्रेणी नयनपङ्क्ति नया समृत्त युक्त य-  
गोत्रभित् इन्द्रस्तम्भ तत्स्वरूप विजयस्तम्भो यस्य तथोक्त रावण अस्ति ।  
अयमाशय — राक्षसा सन्तीति पूर्वमपि श्रुत पर लोकत्रयपराभयकरदोविक्रमशाली  
तादृशो वीर को यथाऽयम् स्वद्वारस्थितस्येन्द्रम्य नयनैरक्षररूपेर्लिनितप्रशस्ति  
रचनम् तमेवेन्द्र विजयस्तम्भता नयन् रावणो वीरोऽस्तीति । राक्षसेषु रावणसमो  
वीरो न कदापि जात इति भाव ॥ २५ ॥

पौलस्त्यपत्तनप्रतोलीपु रावणनगररध्यासु । सनाहपटहे सप्रामवादित्रभेदे ।  
दीयमाने धायमाने सति ।

दिग्दन्तावलेति । दिग्दन्तावलाना दिग्गनाना दत्ता कुम्भोधितानि मोक्तिकानि  
गजमुक्ताश्च तन्मय तन्निमित्तम् द्वारम् तोरणम् च बहिर्द्वारमात्य च तद्वन्  
दिग्गजद्वारचितद्वारा दिग्गजकुम्भमुत्तारचिततोरणस्त्रग्विणो, गीर्वाणाधिपतिना  
दवेन्द्रेण प्रतीष्टा सोडा निगडोन्मृष्टानाम् शृङ्खलानियन्त्रितानाम् अन्यवन्दीनाम्

राक्षसोंके विषयमें तो परले ही दुनता रहा हू, परन्तु त्रिलोकको विपदमें डाल देने  
वाले विक्रान्त बाहुओंसे युक्त रावणके समान बौन हुआ है, द्वारदेशपर प्रशस्तिवर्णायकी  
ममान नयनोंको धारण करनेवाले इन्द्रको ही निम्ने विजयस्तम्भका रूप दे लडा था ॥२५॥

रत्नचूड—सवे हेमाङ्गद, देखो देखो, रावण नगरीकी गलियोंमें मारू राजेक बनाके  
जाने पर

दिग्गजोंके मरत्कोंसे निकले मोक्तिकोंकी व दनवारको धारण करनेव ल तथा इन्द्रके

वीरश्रीसहपासुकेलिसुहृदो मन्दोदरीचन्द्रुता

'शौटीरासुरसुन्दरीसुरभय क्षुभ्यन्ति रक्षोगृहा ॥२६॥

हेमाङ्गद — ( विहस्य । ) 'नृनमिदानीमत्र

दृष्ट्वा राघवमेकराक्षसवनस्वच्छन्ददावानल

जानक्या निजवह्निभभ्य परम प्रेमाणमालोक्य च ।

काङ्क्षन्ती मुहुःपक्षविजय भङ्ग च मुग्धा मुहु

ध्यायन्ती ध्रुवमन्तरालपतिता मन्दोदरी वर्तते ॥ २७ ॥

स्वातिरिक्तहृदयतर्ज्ज्वाणाम् शुच शोकोच्छ्वासामा येषु तथोक्ता, देवेन्द्रोऽपि वन्दी भूत अन्या अपि हठहृता स्त्रियो चन्दोभूतास्तत्र अन्या स्त्रियो यच्छोकोच्छ्वास मुत्सृजन्ति तत्रत्र स्थितेनेन्द्रेण सततौ सङ्गते अर्थात् देवेन्द्रेण सम यत्र बहवोऽया वन्दीस्त्रिय स्तीदन्तीत्याशयेनेद विज्ञापयम् । वीरश्रिया वीरलक्ष्या सह पासुकेलि धूलिर्भाडा तत्सुहृद नित्यासुररक्तवीरलक्ष्मीका इत्यर्थ, मन्दोदरी नाम रावणमहिषी तथा चन्द्रुता मन्त्रीभावस्तया शौटीर गर्वा यासा तथाभूता या असुरसुन्दर्य राक्षसस्त्रिय ताभि नुरभयो रमणीया रक्षोगृहा राक्षसभवनानि क्षुभ्यति चञ्चलता यान्ति । रणराघे वाद्यमाने सति रक्षोगृहा सञ्चरद्दीरराक्षसपादचारै चञ्चलता गच्छन्तीत्यर्थ । 'शौटीरस्तु मतो गर्वे' इति शाश्वतकोष । शार्दूलवि नीडित वृत्तम् ॥ २६ ॥

इध्वेति मन्दोदरी रावणमहिषी राघवम् रामम् एके अद्वितीया राक्षसा एव घनानि तेषा कृते स्वच्छन्ददावानल निरगल वनवह्नि दृष्ट्वा निजवह्निभभ्य स्वप्रियस्य राघवस्य जानक्या सीताविषये परम प्रेमाणम् अतिप्रवृद्धामासक्ति च आलोक्य दृष्ट्वा मुहु आत्मपक्षस्य स्वीयराक्षसपक्षस्य विजय काङ्क्षन्ती मुहुश्च नङ्ग राक्षसपक्षपराजय ध्यायन्ती चिन्तयन्ती सती मुग्धा मूढबुद्धि ध्रुवम् अन्तराल

एष देहाको देकर अ य वन्दोजनके वेडी कष्टको छुडानेवाले, वीरलक्ष्मीके साथ धूलि काटा करनेवाले, तथा मन्दोदरीके साथ स्नेह हानसे गबलुन राक्षसियोंसे पूर्ण राक्षसोंके गृह क्षुभित हो रह है ॥ २६ ॥

हेमाङ्गद— ( एकर ) निश्चय ही इस समय यहाँ,

राक्षसरूप वनके लिए स्वच्छन्द दावानल सङ्घर्ष रामको देखकर तथा जानकी के लिए अपने पति रावणके हृदयमें परम प्रेम देखकर अपने पक्षका विजय चाहनेवाले तथा पराजय भी चाहनेवाली मन्दोदरी कीचर्म पडो होगी ॥ २७ ॥

१ 'शौटीर' । २ 'दानीम्' इति क्विन्नास्ति । ३ 'एव' । ४ 'मुहु' ।

रत्नचूड — ( सवस्त्रणस्मितम् । ) वयस्य, विबुधराजप्रियप्रियमन्त्रीत-  
चेतना वृद्धपितामहेन स्वयं परमेष्ठिना प्रतिष्ठितेन्द्रजिज्ञामधेयशेषस्य  
ताजस्य तनूजस्य शुचा विचेष्टमानामरातिगृहिणीमपि नैत्रमुपक्रोडुम-  
हंसि । ( पुरोऽवलोक्य च । ) हस्तदक्षिणेन कथमयं द्विधा विभज्यते महा-  
जन । ( निरूप्य च समहाकौतुकम् । ) सरसे, पश्य पश्य ।

न्यञ्जन्यञ्चरित्री वृतचरणभरश्चन्द्रहासैकदृष्टि

पतिता द्विधाभावमाश्रयती वर्तते । रामस्य राक्षसवधप्रवृत्ततया स्वपत्न्यस्य  
जयमिच्छति, रामस्य पराजये राजपतेन सीताया लब्धाया मा परित्यज्य राज्ञः  
सीतावश एव भविष्यतीति मास्तु तथेति स्वपत्न्यपराजयमिच्छति, तदित्य रामजये  
राक्षसवधनाश रावणजय स्वीय सापत्नवष्टचेति अभयत विष्टा दक्षामभुवर्ता  
मदोदरी नितरा सचिता दिद्यत इत्याह । ‘प्रेमानाप्रियताहार्दम्’ इत्यमर ॥२॥

विबुधराजेति । विबुधराजप्रिये इन्द्रविजये यो विक्रम पराक्रमातिशयस्तेन  
क्रीत वशीकृत चेतो यस्य तथोक्तेन, इन्द्रजिता शत्रुपराभवकाले प्रशितेन परा-  
क्रमेण यदाभूतेनेयर्थ । परमेष्ठिना द्रव्या । प्रतिष्ठितेन्द्रजिज्ञामधेयशेषस्य ग्रह  
विहितेन्द्रजित्विभधानमात्रावशिष्टस्य नाममात्रशेषस्य मृतस्येन्द्रजित इत्यर्थ ।  
तनूजस्य शुचा पुत्रशोकः । विचेष्टमानाम व्याकृलीभवन्नाम् । अरातिगृहिणीम्  
विपक्षिण्यम् । उपक्रोडुम् निद्रितुम् । शत्रोरपि स्त्रिया पुत्रविपत्तौ विह्वलता गताया  
निद्रा न सञ्जिराचरणया भाग्यदोषोपगतत्वासाहानुभूतियोग्यत्राप्तेति भावः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिविभागेन । विभज्यते विभागवान् भवति । दक्षिण  
हस्तभागदिग्वस्थितो लोह कथं भागद्वय विभक्तो भवतीत्याशयः ।

न्यञ्चरिति । न्यञ्चती पुन पुननिम्नना भजती या धर्मिणी पृथ्वी तस्या गत-

रत्नचूड—( वस्त्रा तथा इमके साथ ) मित्र, इन्द्रको जान लेनवाल पराक्रमने कान  
हृदय वृद्ध पितामह मरुने स्वयं जिसका नाम इन्द्रजित् रखा उस पुत्रके शोकमें अथार  
शेकर रोनेवाला शत्रु काका भी हम तरह उपहास करना उचित नहा है, ( आगे देखकर )  
दाहिने हाथकी ओर जन्-समुदाय क्यों दो भागोंमें विभक्त होता जा रहा है ? ( देखकर  
आजयके साथ ) देखो देखो—

नीचे जाना हुआ पृथ्वीपर चरण ररकर चन्द्रहासको एक टक देखता हुआ, एक मा-

१ ‘प्रतिष्ठापित-’ २ ‘कथमय’ । ३ ‘चित्त’ ।

हेमाद्रद् — ( समयम् । ) कथमय परापतित एवासमसमर<sup>१</sup>हर्षहेप  
माणयनायुजत्राजिनिवहवितीर्णकीनाशकासरकर्णञ्जरेण प्रजविना रथेन  
कामुकपाणिर्महावीर<sup>२</sup> ।

रत्नचूड — ( समयद्वयम् । )

कल्पान्तनूरसूरोत्करविकटमुखो मानुषद्वन्द्वयुद्ध  
क्रीडाकण्डूयदूर्जस्वलासकलभुजालोऽभूयोविलक्ष ।

रावणाय स्वन्योपनेयान् स्वन्यवाहान् अतिस्थूलान् मजीन् रत्नानि परिसोधयति  
समर्पयति । इन्द्रोऽस्मै रावणाय कल्पतरुदम्बवानि माल्यादिभूषणानि ( येषु  
परपुष्पमाल्यादिसमर्पणद्वारा चञ्चलमपि कर्तुमशक्यन्तादृशानि ) समुद्रोऽपि कदाचि  
दितोऽपि प्रवर दण्ड दद्यादिति दीन सन् स्थूलान् मजीनर्पयति, सूचयति च  
यदितोऽधिका भणयो न मदाकरेषु मन्तीति अनुसुद्धर्नयाज्ञोऽय रावण इत्यर्थः ॥३०॥

परापतित समागत । असमे अनुपने समरे सप्रामे यो हर्ष उल्साहातिगय  
तेन हेपमाणो हेपाशान् कुर्वन् यो वनायुजत्राजिनिवह वनायुदेशोत्पन्नाश्चन्द्र  
तेन वितीर्ण कीनाशकासरस्य यमराजमहिपस्य कर्णञ्जर अर्बुसन्तापो येन  
तथोक्तेन प्रजविना अतिनीग्रगामिना । कामुकपाणि चापहस्त । अत्राश्वशब्देन  
यमनटिपकर्णद्वरोत्पत्तुक्त्या यमराजस्य तत्र रणक्षेत्रे सन्निधानेन च रणस्यानि  
भीषणवसुक्तम् ।

कहगात्रेण । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूर अतिप्रबण्डो यः सूरोत्कर सूर्यनिवह  
तद्वद्विकटानि मुखानि यस्य तथाविध मानुषेण मर्त्येन रामेण यत् द्वन्द्वयुद्ध परस्पर  
सममग्राम चैत्र क्रीडा तथा कण्डूयन्त चर्जूला ऊर्जस्वला बलवन्तो ये सकला  
मुक्ता विशतिश्राहव हेपाम् आलोकेन भूयोविलक्ष अधिकलजित, गीवांगगोष्ठीना  
नैवसमानानाम् गुल्महान् य मद्रो गर्व तस्य निकष परीक्षास्थानभूत नैकपेय

हेमाद्रद् — ( समय ) अद्वितीय युद्धसदृशे शुद्ध करनवाल अरवा घोडों द्वारा  
यमराजके भैमोंना कणञ्जर उत्पन्न करनैवाला तेन रथपर आरुढ धनुधर यह रावण  
आ ही गया ।

रत्नचूड — ( मय तथा आक्षर्यके साथ )

प्रलयकालिक प्रवर सूर्य सदृश मुखवाला, मानुष युगले युद्ध क्रीडान। इच्छा रखने  
शान्ते हार्थोंको देखकर अति लज्जित देवागके मदको दूर करनैवाला यह रावण युद्ध

सम्भूयोत्तिष्ठमानस्यपरप्रलमहाशस्त्रसम्पातभीमा

मुर्धा गीर्वाणगोष्ठीगुह्रमदनिकपो नैकपेय विधत्ते ॥ ३१ ॥

हेमाद्रद — ( सकौतुकम् । ) सखे, दक्षिणत पश्य ताम् ।

अगस्त्याज्ञासद्य शमितविपुलोच्छ्रायविषमा

नुदम्यन्त सेतावलगितवतो विन्ध्यशिखरान् ।

शिर सत्यासत्याकृतदशमुखालोकरभसा

दुपेत्यातित्रस्ताश्चपलमपसर्पति कपय ॥ ३२ ॥

निकपागर्भमभवो रावण सम्भूय भिक्षिवा उत्तिष्ठमानानाम् उद्यम कुर्वताम् स्वपर-  
वलानाम् निजस्य विपक्षस्य च सेनानाम् महद्भि शस्त्रसम्पातै भीमाम् भीषणाम्  
उर्ध्वं पृथ्वीं विधत्ते आच्छादयति । प्रलयकालिकप्रचण्डसूर्यवद् भीषणमुखो द्विभुजेन  
मानयेन महाह कथं त्रिंशया भुनैर्युद्धये इति बाहून् सलज्ज वीरुमाणोऽयं रावण  
स्वपराक्रमेण देवानां भुनदपं शमयन् स्वस्य शत्रोश्चेत्तिष्ठमानानां सैन्यानां शस्त्र  
सम्पातेर्धरणीमातुषोतीति भावः ॥ ३१ ॥

अगस्त्याज्ञेति । अगस्त्यस्य मुने आज्ञया सद्यःशमिता तत्कालसमाप्ता विपुले  
च्छ्राया महोद्यतयो येषां ते तथोक्ता अत एव विषमा तीक्ष्णमुखा तान् सेतौ  
रामनिर्मितसमुद्रमेतौ अलगितवत अलग्नान् समुद्रे सेतुं निमातुमानीतानपि  
प्रयोजनाभावात्परित्यक्तान् विन्ध्यशिखरान् विषयाद्विभ्रङ्गानि उदस्यन्त रावण  
सैन्योपरि क्षिपत शिरसत्याग मस्तकगगनया सत्याकृतस्य रावणोऽयमिति  
निश्चयित्वा वशमुखस्य आलोके दर्शने यो रभस औत्सुक्ये तत तस्मात् उपेत्य  
समीप गत्या तददर्शनादतित्रस्ता सान्निशप्रभीता कपय चपलम् सत्वरम् अप  
सर्पति पलायन्ते । ये विन्ध्यशिखरा अगस्त्याज्या तत्कालमेव स्वमुन्नतस्य  
परिहृतव तस्तेऽत्र सेतुनिमागार्थमानीता पर कपिभिरेव सेतो सम्पन्नतया अव

दृष्टको एक माय स नष्ट स्ववज तथा परदले द्वारा महापावनान किये जानेसे मोषात्म  
बना रहा है ॥ ३१ ॥

हेमाद्रद — ( उल्लूकाने ) सखे, दक्षिणा ओर देखो—

अगस्त्यकी आज्ञासे निर्धोने अपने मननको तत्काल रोक लिया ऐसे तथा सेतुमें  
नहीं काम आये विन्ध्य शिखरोंकी प्रहृष्टके रूपमें फैकनेवाले बानर सैनिक शिखरी  
सामने प्रमाणित दशमुखोंकी देखकर अतिमग्भान हो नेचामे दूर भाग जाने हैं ॥ ३२ ॥

१ 'मदनिकपो' । २ 'वैकनेयो विधत्ते' ।

२३ अ० ग०

रत्नचूड — ( दृष्ट्वा सहासम् । )

शस्त्रीकृतान्कपिभिरापततो 'मुदैव

विक्रम्य चन्दनतरुन्दपते पलादा ।

तत्सङ्गिनस्तु भुजगा क्षणपाशान्ध

दुःखासिकामवयवेषु दिशन्त्यमीषाम् ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद — ( विहस्य<sup>१</sup> । ) इतोऽपि तावत् ।

रक्ष स्वयवरविडम्बपराङ्मुखीभि

पुष्पोत्करे सुरवधूभिर्नुज्जितेऽपि ।

शिष्टान् विन्ध्यगिरिशिखरान् रावणमेयमुद्दिश्य लिपन्तो वानरा शिरानि गणयित्वा रावणोऽयमिति निश्चित्य तद्विहसत्या रावणममीष गत्वा जतिव्रता सन्न सत्वर ततो दूरमपसरन्तीनि तात्पर्यम् । शिल्परिणीवृत्तम् ॥ ३२ ॥

शस्त्रीकृतानिति । पलादा राक्षसा कपिभि वानर शस्त्रीकृतान् प्रहरणभावना दीयमानान् आपतत सम्मुखागतान् चन्दनतरुन् विक्रम्य उत्प्लुय मुदैव हर्षणैव दधते धारयति, तु किन्तु तत्सङ्गिन चन्दनतरस्थिता भुजगा सर्पा जमीषा राक्षसानाम् अवयवेषु अङ्गेषु क्षण पाशान्धेन दुःखासिकाम् दुःखस्थितिं दिशन्ति जनयन्ति, यद्यपि वानरक्षिप्तेश्च इतरभि र्ष्पीना क्लेशो न जायते तेषा कपिभि-रुत्प्लुय धारणात्तथापि चन्दनतरुत्तिभिर्भुवनगे कण्टपाशीभवद्भि पलादानामङ्गेषु दुःखस्य स्थान त्रियते इत्याशयः । 'आनिका' पद भावबुद्धन्तम्, स्थितिप्राप्ति । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३३ ॥

रक्ष स्वयवरेति । रक्षसाम् स्वयवर एव विडम्ब महितो व्यापारस्तत पराङ्मुखीभि विमुपता गताभि सुरवधूभि सुराङ्गनाभि पुष्पोत्करे पुष्पसमूहे अनुज्जिते अवृष्टेऽपि ( सद्गामहताना रक्षसा परणे लज्जामनुभवन्तीभिर्देवबालाभिरुत्तेषा

रत्नचूड — ( देवकर सहास )

वानरों द्वारा शस्त्रके रूपमें प्रहृत चन्दन तरुओंको यह राक्षस आनन्दसे ऊपर ही लोक लेते हैं, उन चन्दन तरुओंमें लिपटे हुए सर्प इन राक्षसोंको पाशबन्धका कष्ट कुछ देर तक अवश्य देते हैं ॥ ३३ ॥

हेमाङ्गद — ( इसकर ) श्वर भी —

राक्षसोंके स्वय वरणसे पराङ्मुख्य सुराङ्गनायें यद्यपि पुष्पवृष्टि नहीं करती हैं तथापि

१ 'मुदैवम्' । २ 'सहासम्' ।

शस्त्रीकृतेन तरुणा हरिणा हतोऽसौ

नक्तञ्चर स्वपिति तत्कुसुमावकीर्ण ॥ ३४ ॥

रत्नचूड —( चिर विभाव्य । ) सखे, पश्य पश्य ।

स्वतनुचिभिर्दीर्घाह्नीं घामित सृजता निजै

रथ विदधत कायाभोगैरकाण्डतमस्विनीम् ।

दधति नितरा<sup>१</sup>मुद्दीप्राणाम<sup>२</sup>धश्छिदुरश्रियो

हरिहुतभुजा धूमच्छायाममी रजनीचरा ॥ ३५ ॥

सत्काराय पु-पृष्टिकर्मण्यक्रियमाणेऽपि ) हरिणा वानरेण शस्त्रीकृतेन प्रहरणतः प्रापितेन तरुणा वृक्षेण हत ताडितोऽसौ नक्तञ्चरो राक्षस कुसुमावकीर्णं पुष्पाच्छन्नं स्वपिति रणभूमौ शेते । देवगलाभिः पु-पृष्टावकृतायामपि वानरप्रहरणीकृतं तरच्युतकुसुमानि रण हतं तं राक्षसमाच्छादयतीत्यर्थः । वसन्तनितकवृत्तम् ॥३४॥

स्वतनुभिरिति । छिदुरा भङ्गुरा पराचयेन विनश्वरा श्रीं कान्तिर्येषा तादृशा अमी रजनीचरा राक्षसा निज स्वाये कायाभोगैः देहविस्तारं अकाण्डे अममस्य एव तमस्विना रात्रिं विदधत कुर्वत, स्वतनुचिभिः निजदेहकान्तिभिः इत अत्र दशे दीर्घाह्नीम् चिरस्थायिदिवसाम् घाम् आकाश सृजताम् कुर्वताम् अध निम्नदश भुवि नितरामुद्दीप्राणाम् अत्यर्थं दीप्यमानानाम् हरिहुतभुजां वानर रूपाग्नीनाम् धूमच्छाया धूमकान्तिं दधति धारयन्ति । वानरा स्वपित्तप्रभयाऽथो विषय दीर्घदिवसं कुर्वते नक्तञ्चराश्च ख्यामनाया रथस्थतयोपरि विवश समर्प रात्रिं मुपस्थापयन्ति, तद्विषयं प्रतीयते यद्दीप्रातीना वानराग्नीनामुपरि राक्षसानां वह-कातिधूमलेखा विद्यत इति । उपमाऽलङ्कारः ॥ ३५ ॥

वानरोद्गारा फेंके गये चन्दन महशोसे आहत राक्षस उम चन्दनतम्के फूलत ढका हुआ जुद्धक्षेत्रमें लो रहा है ॥ ३४ ॥

रत्नचूड —( देर तक विचार कर ) सखे, देखो देखो,

वानरगा आकाशमें उड़कर अपना देहधुनिम आकाशको आलोकित कर रहे हैं उनका नाचे राक्षस अपनी देहोंके विस्तारसे अधका फैला रहे हैं, इस तरह उन प्रभावित वानरोंके नीचे अप्रकाशमय यह राक्षसगण वानररूप अग्निवी धमराशिके समान प्रतीत होने हैं ॥ ३५ ॥



हेमाङ्गद —( सस्मितम् । ) मरुते, पश्य पश्य ।

किमपि कपय कर्माश्रयं महातरुशस्त्रिणो

विदधति यथा दिक्कूलेभ्यस्तथापसरन्त्यमू ।

ध्रुवमवपतद्रक्ष श्रेणीविमुक्तनभोन्तर

प्रतिभरणिकानि स्थामानो दशाननकीर्तय ॥ ३६ ॥

रत्नचूड —( सप्तभ्रमम् । ) अहह, दारुणमुपस्थितम् ।

रक्षोनिपिष्टकपिमुक्तमहीध्रचूर्ण

पूर्णान्तराभिरिपुवृष्टिभिरज्जिह्वान ।

शोषाट्टहासदहनप्रसरेस्तडित्वा

लङ्काधिप किमपि सन्तमसं तनोति ॥ ३७ ॥

किमपीति महानरुशस्त्रिण विशालवृक्षप्रहरणा कपय किमपि विशिष्य वक्तु मनर्हम् आश्रयं रिस्मयजनक कर्म यथा विदधति कुर्वते तथा अमू दशाननकीर्तय रावणयशासि अवपतन्तीभि भूमौ निपतन्तीभि रक्षसा श्रेणीभि समुद्रायै विमुक्त त्यक्तम् यत् नभोऽन्तरम् आकाशमध्य तस्य प्रतिभरणिकया पूर्या नि स्थामानो निर्बला दिक्कूलेभ्यो दिग्गन्तेभ्योऽपसरन्ति । रावणस्य कीर्तयो नभोमध्यस्य राक्षसायासत्वात् दिशामन्ते स्थिता, वानरैर्महातरुप्रहारिभिर्निपातिपु शोमचारिपु राक्षसेषु पुन शून्यस्य नभोदेशस्य पूर्तिं कर्तुं वाधिता सत्यो रावणकीर्तयो दिग्गन्तेभ्योऽपसृत्य नभोम य श्रयतीत्यर्थ । स्थाम वलम् । ध्रुवपदसु प्रेक्षायाह ॥ ३६ ॥

रक्षोनिपिष्टेति । रक्षोभि निपिष्टा निरशेषचूर्णीकृता कपिभिर्मुक्ता प्रहता ये महीक्षा पर्वता तेषा चूर्णेन रजोरूपेण पूर्णं व्याप्तम् अन्तर यासा ताभिरिपु वृष्टिभि याणवर्षणं उज्जिह्वान उद्यन् लङ्काधिपो रावण रोपेण ये अट्टहासा घोर हसितानि त एव दहनप्रसरा अग्निविस्तारास्तैस्तडित्वान् त्रिद्युद्युक्तो मेघ किमपि

हेमाङ्गद—महानरुश्रीभो शस्त्र बनानवले ये वानरगण कुड रेता आनयजनक क य वरुते हं निमम गिरत हुए राक्षसोंके द्वारा त्यक्त आकाशदेशको भरनमें व्यस्त रावणकी वात्तियों दिग्गन्तस अपसृत हो रहा ह ॥ ३६ ॥

रत्नचूड—( पवनाकर ) अहह ॥ बड़ा दारुण युद्ध हो रहा है ।

राक्षसद्वारा चूण रिये गये वृक्षोंके चूर्णसे पूर्ण अन्तगलवाला वाणवधाके साथ आता हुआ यह रावण वापटहन अट्टहासरूप अग्नि क प्रसारक एक प्रकारका गाढाधकार फैला रहा है ॥ ३७ ॥

हेमाङ्गद — ( सा निर्वर्ण्य । ) अतो, क्षुद्ररपि सम्भूय भूयोभिरेको  
मान्मुम्बर कर्धयितुम् । यत ।

दृष्यद्दिक्पालश्चताजलमद्वलमदायग्रहोप्राभिरक्षणा

ताराभिर्दीप्यमान दिशि विदिशि दशग्रीवमुद्ग्रीवयन्त ।

एते नि शेषसेतुप्रथनसनप्रिय शस्त्रिण शंलपाद्वै-

रुद्धामान कपीन्द्रा रजनिचरपुरीमुत्तरेण प्लवन्ते ॥ ३८ ॥

रत्नचूड — ( सविनादम् । ) हन्त मद्द्विपममिष पत्रामि । यन्मी

अवर्णनीयम् सन्तमस गाढाधरार तनोति विस्तारयति । अन्यो भेषो यथा  
वृष्टिमाननोति नडित्यान् भवति तमश्च विस्तारयति तथाऽप्य रात्रगो प्रागवृष्टि  
करोति कोपाट्टहामदहनैर्विद्युद्गुटीपित , तमश्च विस्तारयतीत्यर्थ ॥ ३७ ॥

क्षुद्रैरिति । क्षुद्रैरपि भूयोभि सम्भूय णको महान् कर्धयितुं मुक्तर इति  
योजना । महान्तमप्येक मिलिता बहवः क्षुद्रा अपि क्लेशयितुं शक्नुवताऽर्थ ।

दृष्यदिति । नि शेष समाप्त यसेतुप्रथन सेतुप्रथन तस्मान् समर्पिकं अथ  
शिष्टैः शैलपादैः पर्वतखण्डैः शस्त्रिण आयुधवत सेतुर्वरितशिलाखण्डप्रहारिणः  
एते उद्धामान वीर्याद्धता कपीन्द्रा महाकपय दृष्यता दर्पशालिना दिग्दता  
वलाना दिग्गजानाम् बहवः प्रभूतो यो मद् दानवारि तस्य अवग्रहे वृष्टिप्रनिबधे  
उप्राभि क्रूरभीषणाभि अक्षगा नेत्रागा ताराभि कर्नीनिशानि दिशि विदिशि  
दीप्यमानम् दशग्रीव रात्रणम् उद्ग्रीवम् उत्थापितकधर कुर्वत लङ्कामुत्तरेण  
लङ्काया उत्तरदिशि प्लवन्ते उत्पतति । समुद्रसेतुर्वरितशिलाखण्डप्रहरणा अमी  
घानरा लङ्काया उत्तरभाग परापतन्ति तान् प्रष्टुं रात्रण उद्ग्रीवा भूजा कुपि  
तानि स्वनत्राणि दिशि दिशि व्यापारयति रत्नचूर्णतदशितारावीक्षणेन दिग्गजा  
विभ्यति येन तेषा दानवारि मद्य शुष्यतीत्यर्थ । रजनिचरपुरीमुत्तरण इत्यत्र  
'प्राया द्वितीया' इति द्वितीया, अक्षरावृत्तम् ॥ ३८ ॥

हेमाङ्गद — ( धाटा देर इल्लर ) बडुतम क्षुद्र भी विलकर एक महार्को र्नायन  
कर सक्ने इ, कर्षोदि —

दशग्रीवो के मरुतो ह्यग देनेवला आँचोको पुनलिजोसे दिशाभोंमें पक्काशिन  
होनेवाले रात्रणको उद्ग्रीव वन, देनेकाले यह मनुकधते बचे हुए पर्व-रत्नचूर्णको शिलाखण्डों  
प्रयुक्त करनेवाले दृष्ट वानराण लङ्कापुरीके उत्तरभागमें दौट मचा रह ई ॥ ३८ ॥

रत्नचूड — ( थोडा देर देलकर ) हन्त, कडा मयङ्कर मालूम पट रहा है, वर रात्रण

१निष्कृपकृपाणपाट्यमानप्रतिभटनिरुटोर कृपाटकण्टकिनकपोलभित्तय  
 २सन्तानपातिनीभिरनीकरुधिरधाराभिरतिप्रवृद्धवीरपानगोष्ठीमहोत्सवा  
 समन्तादाभिद्रवन्ति यातुधाना ३प्लवङ्गमयूथपतीन् ।

हेमाद्रद् — ( महर्षम् । ) सखे, कृत विषादेन । यत्रेप —

दशमुखशरपीडितापयानोद्यमपरिपुच्छ्यमानवानराणि ।

सरभसमभिसान्त्रयन्वतानि द्विपमभियोधयति प्लवङ्गराज ॥३९॥

रत्नचूड — ( दृष्ट्वा सखेदहासाद्भुतम् । ) अहह,

निष्कृपेति । निष्कृपै कटोरै कृपाणै खड्गै पाट्यमाना विदार्यमाणा प्रति  
 भदाना विपत्त्याणा विकटा य उर कपाटा कपाटवद् विस्तीर्णान्युर स्थलानि तै  
 दृश्यमानैस्तै कण्टकिता सरोमाञ्चा कपोलभित्तय गण्डस्थलानि येषा तथोक्ता,  
 सन्तानपातिनीभि प्रवाहरूपेण स्यन्दमानाभि । अनीकरुधिरधाराभि सैन्यशो  
 जितप्रवाहे अतिप्रवृद्ध बहुलीभवन् वीरपाणगोष्ठीमहोत्सवो येषा ते तथोक्ता,  
 'युद्धे यत् क्रियते पान वीरपान तदुच्यते' समन्तात् सर्वत । अभिद्रवन्ति आक्रा  
 मन्ति । प्लवङ्गमयूथपतीन् वानरसैन्यमुत्पान् । कृत विषादेन खेदो मा कारि । -

शमुयेति । प्लवङ्गराज सुग्रीव दशमुखस्य रावणस्य शरै पीडिता आहता  
 अपयाने युद्धक्षेत्रा पयाने य उद्यम उद्योगस्तेन उत्पुच्छ्यमाना स्वान् पुच्छान्  
 परि क्षिपन्तो वानरा येषु तादृशानि बन्धानि स्वसैन्यानि सरभसम् स्वरया अभि  
 मान्वथन् समयाचितवचनैरसाहयन् द्विपम् दातुम् अभियोधयति शत्रोरभिमुख  
 युद्धाय गच्छति । शत्रुवधाणाहततया पलायनायोत्सिध्यमाणपुच्छान् वानरान्  
 सान्त्रयन्नेर साहयन् सुग्रीवो रावणेनाभिमुखयुद्धमारभते इत्यर्थ ॥ ३९ ॥

निदय खड्ग उभित्त शत्रुपक्षी दशना दक्षकर कपोलको रोगाञ्जित करत इष वारा  
 प्रवाह रूपमे दहनेवात्ता सै य रधिर धारामे वोरपान गोष्ठीको आयोजित करके वानर  
 राजकी आक्रमणका लक्ष्य बना रहे है ।

हेमाद्रद्—( महर्ष ) सखे विषाद करना व्यथ है, यह वानरराज रावणके शरोंसे  
 आहत होकर भा । उडे होनेके लिये पुँछ उड़ाये हुए वानर सैनिकोंको साँवना देते हुए  
 गडुमे लड रहे हैं ॥ ३९ ॥

रत्नचूड—( देवका सेर हास तथा आश्रयके साथ ) अहह ॥

१ 'प्रतिमटोर', 'प्रतिभटविकटार' । २ 'सन्तान' । ३ 'प्रधानयूथपतीन्' ।

'अस्त्राणि प्लवगाधिपेन विहिता पौलस्त्यवक्ष'स्थली  
सद्यद्वानलदत्तदावधिपद् सीदन्ति भूमीरहा ।  
उत्पाटय प्रहितश्च शैलशिखरो लङ्केन्द्रहस्ताप्रली-  
निष्पिष्टो निजकुञ्जनिर्झरजलैर्जम्बालपिण्डायते ॥ ४० ॥

हेमाङ्गद — ( विहस्य । ) सत्ते, दशकन्धरमधिकृत्य न किञ्चिदेतत् ।  
तथैतेनोद्भृत्य स्फटिकशिखरी सोऽपि विदधे  
समन्तादामूलवृष्टितवसुधायन्धविधुर ।

अस्त्राणीति । प्लवगाधिपेन वानराणेन सुग्रीवेण अस्त्राणि विहिता अस्त्रवेन  
व्यवहृता भूमीरहा वृक्षा पौलस्त्यस्य रावणस्य वक्ष स्थलया हृदयदेशे सङ्घट्टेन  
सङ्घट्टेन ( उद्यितो योऽ ) नल तेन दत्ता उत्पादिता दावधिपद् दग्नि यमन  
येषा तथोक्ता मत्त सीदन्ति अवसानता यानि, प्लवगाधिपेन उत्पाटय प्रहित  
रावण मनि निक्षिप्तश्च शैलशिखर पर्वतशृङ्गम् लङ्केन्द्रस्य हस्तावलीभि भुवसमुदये  
निष्पिष्ट निरवशेष चूर्णाकृत सन् निचस्य पर्वतशिखरस्य यत् कुञ्ज तत्र ये निक्षरा  
जलप्रवाहास्तै जम्बालपिण्डायते कदमपिण्डस्वरूप भवते । रावणमुद्दिश्य सुग्री  
वेण क्षिप्ता वृक्षास्तदुर शिलापट्टे सहस्रं प्राप्य तदुधितदावानलेनावसीदन्ति  
पर्वतशिखराश्च तद्भुवननिनि पथा स्वकुञ्जप्रवाहिनिर्झरलै कर्दमपिण्डाकार  
दधतात्यर्थ । जम्बाल कर्दम । निचशब्दनात्र शिखरो गृह्यते । शार्दूलविक्राडित  
वृत्तम् ॥ ४० ॥

दशकन्धरमधिकृत्य दशकन्धरविषये । न किञ्चिदतत् त्वयोच्यमानमतिमुच्छ्रम्  
स हि सर्वं तदुक्त कर्तुं ततोऽप्यधिक च बल दशयितु क्षम इत्यर्थ ।

तथैतेनेति । एतेन रावणेन सोऽपि स्फटिकशिखरी कैलासपर्वत उत्पृम्य  
उत्थाप्य तथा समन्तात् सर्वत आमूल वृष्टितेन लिङ्गेन वसुधायन्धेन पृथ्वीमन्ध  
न्धेन विधुर विरहित विदधे कृत येन अद्यापि सम्प्रयपि त्रिपुरहरनृपयनिकर

वानरराजक द्वारा अस्त्र बनाय गये वृक्ष रावण वा क्षान्ति टकराकर दावानलवा  
विपत्ति प्राप्त करके साहित हो उठते हैं ज्वालकर चलाये गये शैलशिखर रावणके हाथोंसे  
चूर्णित होकर निकुञ्जस्थित निक्षर-जलसे कदम पिण्ड बन जाता है ॥ ४० ॥

हेमाङ्गद — ( ईसकर ) सख रावणके लिये यह शब्द नहीं है,

इम रावणने कैलास पर्वतको उठाकर इम प्रकारसे सर्वाज्ञा पृथ्वीमन्धरदित

अमुं येनाद्यापि त्रिपुरहरनून्यव्यतिर  
पुरस्तादन्येषामपि शिखरिणामुल्ललयति ॥ ४१ ॥

किं च तर्कयामि ।

शस्त्रीकृतमन्तवरो हरिपुद्गवेन लङ्केन्द्रवक्षसि मृणालमृदु पपात ।  
तत्र स्थितैस्तु कुसुमै कुसुमेपुरेन सीतावियोगविधुरं दृढमाजयान ॥ ४२ ॥

रत्नचूड—( विहस्य । ) सखे, किमुच्यते 'महासत्त्वतामुपरि  
खल्वसौ रावण । तथा हि ।

शङ्करस्य नृचलीला अन्यथा शिखरिणाः पर्वतानां पुरस्तात् पूर्वम् अमुं कलासम्  
उल्ललयति चालयति । अयं रावणं क्लेशमपर्वतं सवधोत्थाप्य तथा पृथ्वीसम्प्र-  
हीनमकरोद्ययाऽद्यापि शिवस्य नृचलीलायां प्रारब्धायां सर्वेषु पर्वतेषु स्थिरेषु  
पृथ्वीसम्प्रन्धस्य रावणेन शिथिलीकृतनयाऽयं क्लेशम एव खलिमु प्रारभत इत्यर्थः,  
शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

शस्त्रीकृत इति । हरिपुद्गवेन वानरप्रधानेन सुग्रीवेण शस्त्रीकृतं प्रहरणना प्रापित  
तरवरो महावृक्षं लङ्केन्द्रवक्षसि रावणस्योरसि मृणालमृदुं कमलनालकोमल  
पपात पतितः, तत्र स्थितैः प्रहरणीकृतवृक्षवर्तिभिः कुसुमैः पुष्पैः कुसुमेषु वन्द-  
र्षस्तु एतन्म सीतावियोगविधुरं सीताऽप्राप्तियुक्तं रावणं दृढम् आजयान बलवत्  
पीडयामास । वृक्षप्रहारजन्यव्यथाऽभावेऽपि पुष्पवाणव्यथा समधिकाऽभूदिति  
भावः । वमन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४२ ॥

महामत्त्वताम् यत्कालिपु मूर्धयानाम् । उपरि ऊर्ध्वम् । वन्शालिष्वपि  
सहावन्शाली रावण इत्यर्थः ।

वना दिया है कि अभी भा गिबजो अपने नृत्यके समय सभी पर्वतोंके सामने इसी  
पर्वतको नचाने हैं ॥ ४१ ॥

मे तब करना हूँ,

वानरराज द्वारा शस्त्र बंनाना गया नन्दन रावणकी छाती पर कमल कोमल बनकर  
गिरता है, परन्तु सीताके वियोगमें दुखी इस रावणको कामदेव उभा वृक्षपरके फूलोंसे  
पूगें आड़न कर देना है ॥ ४२ ॥

रत्नचूड—( इमंकर ) सखे क्या कहा गया रावण सभी बलवानोंमें बढकर है ।

१. महामत्त्वतायां रावणं सत्त्वयन्?, 'महामत्त्वतामुपरि रावणं खल्वसौ' ।

तेषूत्कृत्य हुतेषु मूर्धसु जवाद्गने स्फुटित्वा वहि-  
व्याकीर्णेषु लिङ्गेषु दैवतिविभिर्दृष्टाऽपि रामायणम् ।

चिन्नेनास्त्रलितेन यस्तदधिक ब्रह्माणमप्रीणय-

त्कस्तस्मै प्रथमाय मानिषु महावीराय वैरायते ॥ ४३ ॥

हेमाद्रद — लगे पश्य पश्य भयानकमद्भुत च वर्तने ।

विशिखोऽविकीर्णगण्डशेले नरसंचूणितशक्तिसोमरे च ।

स्वपूतकृत्येति । स्वेषु शिरस्सु निजमस्तकषु उत्कृत्य हुतेषु स्फुटित्वाऽग्ने मत्र  
संस्कारपूर्वकं दत्तेषु मन्त्रु जवान् बंगान् स्फुटित्वा विदीर्य वहि याकीर्णेषु इतस्ततो  
विकीर्णेषु अलिङ्गेषु स्त्रकपालेषु देवलिपिभि भाग्याक्षर रामायण रामरक्तकरा  
वगवधात् रामचरित दृष्ट्वा प्रयत्नमालोक्यापि अस्त्रलितेन उत्साहभङ्गमनायादप्रता  
चित्तेन तदधिक पूजापञ्चयाऽधिरूपेण यो रावणो ब्रह्माण स्माराभ्य द्वयम् अप्रीण  
यत् तोषितवान्, मानिषु अभिमानशालिषु प्रथमाय श्रेष्ठाय महावीराय रावणाय  
क वैरायते शत्रुवमाचरति ? यो रावण स्वानि शिरासि हुत्वा ग्लान्णप्रसाद  
यितुमारभत, जिह्नहुतेषु शिरस्सु वह्निमन्तापात्रिदार्य वहिर्विकार्यमाणे यद्रामो  
स्वभाल्लिप्या रामरक्तक भाविन स्ववध पठितवास्तदाप्यस्त्रलितधेयं पूजापञ्च  
याऽप्यधिकमोसाहन ब्रह्माण प्रीणयितु प्रवृत्तस्तेन रावणेन सह क स्पर्धितुमर्हति ?  
न कोऽपि वीरस्तत्पद्ममधिकुरत इत्याशय । ‘रामण रावणवधो रामायणमिति  
स्मृतम्’ इति त्रिकाण्डशेष । ‘ललाटमलिक गोधि’ इत्यमर ॥ ४३ ॥

विशिखीधेति । विशिखीधन शरसमूहेन रावणन विकीर्णा निराकृता गण्डशेला  
सुग्रीवप्रहता पर्वतगिरा यत्र तादृश, अथ च तद्गण सञ्चयिता शक्तय तोम  
राश्रास्त्रभेन यत्र तादृशे च सुग्रीवप्रहिनतश्चारा यत्र रावणप्रहृतयो शक्ति

रावणने अपने मभा मस्तक काटकर होम कर दिये, वे मस्तक फूटकर आपसे बाहर  
आकर बिखर गये, रावणने अपने ललाटों पर भायलिपिके रूपमें लिखी सारा रामकथा  
दख ला, फिर भा अदिचित्रि नावसे ब्रह्माक्ष आराधना करता रहा, तम नभानिमाना  
बार रावणके साथ कौन वैर करेगा ॥ ४३ ॥

हेमाद्रद—मजे देखो देखो, भयानक तथा आचयनक दान हो रही है ।

रावणने सुग्रीव द्वारा प्रहृत गिराखण्डको दार्गोसे विकीर्ण कर दिया और सुग्रीवने  
रावण द्वारा प्रहृत रक्ति, नोमर नामक अर्खोंको बृह्मघनसे चुर्ण कर दिया, त्व शोनोंने

कपिराक्षसराजयोरक्षं तुमुले भान्ति तलातलिप्रपञ्चा ॥ ४४ ॥

नृनभिगनी

श्वासोभिप्रतिबन्धतुन्दिलगलप्रच्छिन्नहारावलो-

रत्नैरापतयालुभि वृतफणप्राग्भारभङ्गभ्रम ।

श्रोत्राभावनिरन्तरालमिलितै स्तब्धै शिरोभिर्भुव

धत्ते वानरवीर विक्रमभराङ्गनैर्भुजद्वाधिप ॥ ४५ ॥

तोमरयो चूर्णन क्रियते तादृशे च, कपिराजराक्षसराजयो तुमुले भीषणे युद्धे  
अक्षय बहुलीभवन् नष्टालिप्रपञ्चा परस्परचपेटापातविस्तारा भान्ति शोभन्ते ।  
यदा युद्धे सुग्रीवप्रहिता पर्वतशिला रावणो बागधैर्यंवारयद्यदा च रावणप्रहि-  
तयो शक्तिनोमरयो सुग्रीवस्तरद्वारा चूर्ण कृतवान्, तदा तौ परस्पर तलातलि-  
युद्धमारब्धवन्तावियर्थ, तलंश्च तलंश्च प्रहस्यंद् युद्ध प्रवृत्तमिति तलातलि, तस्य  
प्रपञ्चा विस्तारा ॥ ४४ ॥

शामोर्मेति । भुजद्वाधिप मरुतरान वानरवीरस्य सुग्रीवस्य विक्रमभरात् पाद  
विन्द्यासभारवशात् आपतयालुभि पुन पुनर्नम्रीभवद्भि, श्वासोर्मेणा निश्वासतर  
द्वाग प्रतिबन्धेन तुन्दिलात् स्थूलता गतात् गलात् कण्ठनालात् प्रच्छिन्नाया  
द्वित्वा स्वलिताया हारावल्या रत्नै कृत फणप्राग्भारस्य सहस्रसत्यकफण  
समुद्दयस्य भङ्गस्य श्रुदनस्य भ्रमो भ्रान्तिर्यस्य तथाभूत मन् श्रोत्राभावेन कर्ण  
न्द्रियरहितत्वेन निरन्तरालम् अव्यवधानेन मिलिते स्तब्धे भाराधिक्यनिश्चले  
भुग्ने अवनतेश्च शिरोभि भुव धत्ते धारयति । वानरराज युद्धे पादप्रक्षेपेण चलति  
सति तदीयभारेण पृथ्वी गुर्वा जायते, ता धारयन् दीपस्य फणा अवनमन्ति,  
धारणप्रयासाय श्वायनिराध कृते गलस्योत्पृणतया श्रुतिता रत्नावली भूमा  
विद्धागा भवति येन लोक शङ्कते यदस्य फणा एव श्रुतिता पन्तिताश्च, शङ्कध्व  
न्नया श्रोत्राभावेन शिरास्य व्यवधानेन मिलितानि सन्नि स्तब्धानि च, तदित्य  
महता भ्रमण फणिनायको भुव धारयति ॥ ४५ ॥

तलातलि द्वारा भयङ्कर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

निश्चय ही इन समय,

वानर वारोंके विक्रमभारमे लुके हुए शेषताके श्वाभ जटुडे मोट गलेने हारके  
रत्न हार विचार जाते हैं विनमे ऐसा भन होना है नानो फणराशि गिर गई हो,  
वानके नहीं रहनेमे शेषतागके सिर निरन्तराल भावमे मट जाते हैं ॥ ४५ ॥

१ प्रहारा । - 'विक्रमभराभुग्ना' ।

( सविवादम् । ) अहह, बाहुयन्त्रेणापीडय<sup>१</sup> 'वानरराज सुग्रीव किमाह<sup>२</sup> राजण ।

<sup>३</sup>अस्मद्बाहुयन्त्रेणान्दोलसुलभ फलमाप्नुवन् ।

नियुद्धलाघवकान्त शास्त्रामृग सुखी भव ॥ ४६ ॥

रत्नचूड — ( सदर्पम् । ) सत्ते, करणकौशलमोचितारत्ना विपक्ष-  
दुर्गचनव्रुट्यमानहृदयो हृदयङ्गममभिदधाति वानरेन्द्र ।

विशत्या युगपत्क्षमैरपि भुजैराकर्षणच्छेद्यो

'श्च्छिन्न दशम शिर कथयति छिन्नानि यानि क्रमात् ।

बाहुयन्त्रं बाहुबन्धनेन । आपीडय शलालिङ्गनविधया पीडयित्वा ।

अस्मदिति । ह शास्त्रामृग वानर, नियुद्धे बाहुयुद्धे क्लान्त सञ्जातश्रम, अस्माक  
बाहुबन्धनेन भुवनिवहेन य आन्दोल कम्पन तेन सुलभ फल मृत्युरूपम् आप्नुवन्  
लभमान सुखी भव । अन्योऽपि श्रान्तो वृक्षारोहणाक्षमो वानर घन कम्पयित्वा  
प्राप्तेन फलेन सुखीभवति, अयमपि युद्धप्राप्तो रावणबाहुनिपीडनसुलभेन फलेन  
मृत्युरूपेण शाश्वत सुखमरनुतामि याराय ॥ ४६ ॥

करणकाशलेन क्रियालाघवेन करपादादीन्द्रियचेष्टया । मोचित रावणभुन-  
पीडनान्मुक्तकृत आत्मा स्वदेहो येन तयोक्त । विपक्षस्य शत्रो रावणस्य वचनेन  
उत्पन्नान् विद्यमान हृदय यस्य तयोक्तश्च । हृदयङ्गमम् अतिमनोहरम् ।

विशत्येति । तव विशत्या भुज विशतिसरयैर्बाहुभि युगपत् एककाले आरूपण-  
च्छेद्यो दशाना तत्र शिरसामाकषण छेदने च क्षम समथाभवद्विरपि अश्च्छिन्नम्

( सविवाद ) अहह " बाहुयन्त्रेण पीडित करके रावणन सुधावत्त बना कहा ।

हमारे बाहुबन्धने आन्दोलनसे सुलभ फलको प्राप्त करके तुम सुखी हो जाओ, क्योंकि  
तुम लड़ने लड़ने थक गये हो ॥ ४६ ॥

रत्नचूड—( मर्दव्य ) मछे अपनी चतुराईसे अपनेको मुक्त करके शत्रुके वचनोंसे  
त्रुणित हृदय वानरेन्द्र बहुत अच्छा कह रहा है ।

आपके वीर हाथ एक ही साथ आपके मस्तकोंको योंच बीचफर काट रहे थे, तथापि  
आ दशम शिर अश्च्छिन्न ही बना रह गया, आपके शिरसामाकषण उन दश मस्तकोंको

१ 'वानरराजम्' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'दशमराज' ।

३ 'अस्मद्बाहु' इत्यादिश्लोकात्पूर्वं क्वचिद् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति । ४ 'अश्च्छिन्नम्' ।



तान्याराद्धमहेश्वराणि भवतः शीर्षाणि तुल्यं दश

च्छिद्रानो दशभिर्नगैर्यदि पुनः शास्त्रानुष्ठान् मुखी ॥२९॥

अपि च रे रे रामन,

दशमुखधरनाटवसूत्रधारो रघुपतिरन्यत्र च पारिपार्श्वकोऽहम् ।

प्रकरणफलवीजनायकानाममृतमुखां मनुष्याम्बहे नमाजम् ॥ २९ ॥

अवगच्छते तत्र रावगम्य दशान् शिरानि तत्र नत्र शिरामि क्रमादच्छिद्रानि  
कथयति, आराद्धमहेश्वराणि आराधितशिवानि तानि सर्वाणि दशानि तत्र शीर्षाणि  
तुल्यम् समकालम् दशभिर्नगैर्यच्छिद्रान् खण्डयन् शास्त्रानुष्ठाने वातरराणे  
यद्यहं मुखी स्याम् । तत्र विद्वान्मुखा एवैव तत्र दशानां शिरसां छिद्रं आकष्यन्  
च दनां धामन्, परन्तु ते नवेन शिरामि क्रमादच्छिद्रम्, इह गन्तुं नवान्छिद्रं  
मात्रं दशान् शिरानि कथयति, मन्त्रयह यद्वि तत्र दशानि शिरामि समकालमेव  
निवेदंशभिर्नगैर्यच्छिद्रं प्रभवेय तदैव मुखी म्यामि यथं । इदम् शिरो तानि च्छिद्रानि  
कथयति तानि दशान् शीर्षाणि कथयति कथयितुम्, नवशीर्षाणि कथयन्,  
तदत्र ग्रन्थहृत प्रनाद इव प्रतीयत इति जीवानन्दटीका । दशान् शिरो दशानि  
छिद्रानि कथयति तानि नत्र, कथयितुं च दशान् शिरानि इति दशानि तत्र शीर्षाणि  
त्येव विलष्ट व्याख्यानमपि ग्रन्थलापनाय कर्तुं शक्यम् ॥ २९ ॥

दशकुटीरि । रघुपतिं रामं दशमुखधरम्य नाटकम्य अभिनेयवन्मुनः सूत्रधार  
प्रधाननट, अहं मुखांश्वरस्य रघुपतेः सूत्रधारस्य पारिपार्श्वकः 'सूत्रधार' इति  
नलाप प्रकरोति च । सूत्रधारसमो वासि न भवेत्पारिपार्श्वकः इत्युक्तद्वय-  
लक्षितं, तौ आवात् प्रकरण नाटकम् तस्य फल प्रतिपाद्य चन्द्रवीज तकारणतेषां  
भावका अनुभवितारो येऽमृतमुखा देवान्तेषां मनापम् परिपद्यन् मनुष्याम्बहे  
आराधयाव । अभिनयं प्रकरणदीपले मानाजिकाराधननेन सूत्रधारपारि-  
पार्श्वकयो कर्त्तव्यं तदत्र दशमुखधरे नाटकअभिनेतव्ये राममुखी सूत्रधारपारि

एव हा माध अफन दश मूर्च्छे जड काट महुगा, दनी नै वातरराव ग्रन्थनाका अनुभव  
कर महु गा ॥ ४० ॥

करे राक्षस,

रामचन्द्र राम रूप नाटकके सूत्रधार है, और नै उन्का पारिपार्श्वक है, इन  
दोनों प्रकरण फल नाटके अनुभव करनेवाले देवोंके मनाप वी परिपद्यन् "है है" ॥ ४० ॥

'इत्यभिधानेनैवोत्प्लुत्य निर्दय शिरसि ताडितो रथध्वजदण्डाय  
लब्धो रथघिटाश्वसिति रायण । ( सर्वतोऽवलोक्य सहर्षम् । ) सत्वे,  
पश्य पश्य ।

यन्माल्यग्रथनावशेषत्रिकलैः सन्तानकैर्नाकिनां

भर्त्रे 'गर्भगमेव दाम' निभृत स्वमालिकैर्गुम्फितम् ।

तस्मिन्नद्य दशास्यमूर्धनि नवप्रस्ताथनामापदा

पश्यन्तो रभसौघभर्त्सितभिय क्रोशन्ति न स्यन्दना । ४९॥

पार्श्वकौ रावणवध फलम्, तदन्यायादिर्वाजम्, तत्सर्वममाहार प्रकरण देवाश्च  
तदानन्दोपभोगिन सामाजिका इति बोध्यम् ॥ ४८ ॥

यन्माल्येति । यस्य रावणस्य मूर्ध्नि शिरसो माल्य दाम तस्य ग्रथेनात् गुम्फितात्  
अवशेषाणि उर्वरितानि विकलानि घटितपत्राणि वितातसौरभ्याणि च यानि  
सन्तानकानि देवतहकुनुमानि तैः नाकिना भर्त्रे शत्राय स्वमालिकैः देवलोक  
मालाकारैः गर्भगम् केशपाशान्तरगम् एव दाम माल्यम् निभृत प्रच्छन्नभावेन  
गुम्फितम् रचितम्, तस्मिन् दशास्यमूर्धनि अद्य सप्रति आपदा विपत्तीना  
नवप्रस्ताथना नवीनमवतरण पश्यन्तो नोऽस्माकं स्यन्दना रथा रभसौघभर्त्सित-  
भिय आनन्दतिरेरनिभाका सत् क्रोशति घर्घरशब्दं कुर्वते । पूर्वं रावणमाल्य-  
निमाणावशिष्टकुमुदैर्देवमालाकारा इन्द्रस्य कृते स्वल्पपरिमाणं माल्यं प्रच्छन्नभावेन  
निमान्तिस्म एतान्शौ यस्य रावणस्य विभीषिकाऽऽसीत्, सप्रति तमेव रावणमा  
पद्गत पश्यन्तो हृत्पातिरेकापसारितभियोऽस्मान्ममो रथा आनन्दभयाभावाद्दि-  
द्योतकं घर्घरशब्दं कुर्वत इत्यर्थः । 'केशमध्ये तु गर्भकम्' इत्यमरः । शालू-  
विक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४९ ॥

यह करने हुए बानररानने कूदकर रावणके मिरपर निदय प्रहार किया, जिनमे  
आहत होकर रावणने रथध्वज दण्डका अवलम्बन करके क्रिया प्रहार अपने-ने ममाला ।  
( जाने और इलकर ) सब दसो देखो,

पहले रावणके लिये माल्य बनानेन कपडधुके समी पूल मनस हो जाने थे, तब  
देवमाताकार गण चुपके चुपके कलियोंका माला इन्द्रको अर्पित करने थे उनी रावणके  
मिर पर नबोन आपसिका प्रस्तावतीको देखनेवाले हमारे रथ उम विषयमें निन्दा कर  
रहे हैं ॥ ४९ ॥

१. 'इत्यभिधानेन' ।

२ 'गमकम्' ।

३ 'निभृते' ।

हेमाङ्गद — ( सविषादम् । ) अहह, 'सोऽप्याश्वस्य दशकण्ठेनापि मुष्टिना ताडितो मूर्च्छित कपीन्द्रो नीलहनुमद्भवामाश्रास्यमानोऽप सार्यते ।

रत्नचूड — सरसे, प्रथमस्य 'हि प्रथमे परंपि शतकृत्वो रिज यन्ते पराजीयन्ते च 'वीरा । तत्र को विषाद ।

हेमाङ्गद — ( अन्यतोऽवलोक्य । ) सरसे रत्नचूड, दिष्टया वर्धसे यद्दय मनुप्राप्त

कुशिकसुतसपर्यादृष्टदिव्याम्बतन्त्रो

भृगुपतिसद्वयुधा वीरभोगीणबाहु ।

दिनकरकुलकेतु कौतुकोत्तानचक्षु

वहुमतरिपुक्रमां कामुकीं रामभद्र' ॥ ५० ॥

आश्रास्यमान धैर्यं प्राप्यमाण । अपमार्यतेऽन्यत्र नीयते ।

कुशिकसुतेनि । कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य सपर्याया आराधनेन दृष्ट साक्षात् कृत दिव्याम्बतन्त्रम् जृम्भकादिप्रयोगशास्त्र येन तादृश, भृगुपतिना परशुरामेण सह युधा सह युद्ध कृतवान्, वीरभोगीणबाहु वीरोचितभोगार्भुनक्षाली दिन करकुलकेतु सूर्यवशपताकास्वरूप, कौतुकोत्तानचक्षु युद्धदर्शनो मुख्यादिस्तारित नेत्र बहुमतरिपुक्रमां आहतशस्त्रणशैलत् कामुकीं धनुधरश्च रामभद्र उपगम इति पूर्वार्त्तेनान्वय । 'केतुश्चिह्नपताकयो' इत्यमर ॥ ५० ॥

हेमाङ्गद — ( सविषाद ) रावगने आश्रय होकर वानरराजपर मुष्टि प्रहार किया, वानरराज उम प्रहारसे मूर्च्छित हो गये, उनकी नाल तथा हनुमान् समाज रह हैं ।

रत्नचूड — उदके मग्न पर्वमें वीर हजार बार हारते आने हैं, उम्में विषाद कैसा ?

हेमाङ्गद — ( दूसरी ओर देखकर ) तुम्हारे सौभाग्यसे यह आये,

विश्वामित्रके चरणोंमें जिन्होंने अस्त्र विद्या भीसी, जो परशुराममें लड़े, जिनके बाहुओंकी वीर योग प्राप्त है वह उत्सुक बननोंवाले तथा रावणके युद्धकी प्रशंसा करनेवाले सूर्यकुलकेतु धनुधर राम ॥ ५० ॥

१ 'सोऽपि' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'दि' इति क्वचिन्नास्ति ।

३ 'महावीरा' । ४ 'रामदेव' ।

रत्नचूड — ( महर्षे राममवलोक्य रावण प्रति । ) १ रावणसराज,

वाल्लेनापि विलूनधूर्जटिधनु स्तम्भेन बाहूष्मभि  
येन स्वेदयता मनोहरमृजुचक्रे मुनिभार्गव ।

सम्प्राप्तो रघुनन्दन किमपर तेनाधुना नेष्यते  
धन्यो वालिसमानकर्तृकवधश्लाघातिभूमि<sup>२</sup> भवान् ॥५१॥

हेमाङ्गद — ( कर्कतुकम् । ) सग्ने, तूष्णीमाम्बहे तापत् । शृणुत कि  
व्रतीति रावण । ( रणं दत्त्वा । ) कथमेवमाह । साधु र क्षत्रियडिम्भ, साधु ।

यत्कन्यामभिलष्यता निमिपतेर्न स्थाणवीय मया

वाल्लेनेति । येन वालेन अत्राप्ययोऽनावग्धनापि विलून खण्डितो धूर्जटे शिवस्य  
धनुस्तम्भौ येन तादृशेन हरधनुर्भवकेन बाहूष्मभि भुजशौर्योष्मणा स्वेदयता  
स्वदाक्षीकृपना मुनिभार्गव परशुरामो मनोहर रभ्य यथा स्यात्तथा मृजुचक्रे  
सरलता प्रापित, स रघुनन्दन सम्प्राप्त समागत, अपर किम् अन्यत् किमुच्य  
ताम्, तेन रघुनन्दनेन ध य भाग्यवतामप्रगण्यो भवान् रावणो वालिनो वरम्य  
कत्रा समान क्त्वा यस्य तादृशेन वधेन श्लाघातिभूमिं प्रतिष्ठातिशय नेष्यते  
प्रापयित्वात्, यो शर एव हरधनुर्भवयत्, यश्च यथा वशाद्यनृजु वह्निस्वेदनादृजु  
क्रियते तथा स्वभुपर्जयोष्मणा स्वदयित्वा भगवत् परशुराममृजुचकार, असा  
रामो युद्धभूमिमागत, असा भवत् वालिनमिव हत्वा ‘वाल्लिघन्त्रा रावणो  
हत’ इति प्रतिष्ठातिशय प्रापयिषतीत्यर्थ । अत्र रावणस्तुत्या रामप्रकपो व्यञ्जित,  
विपेतव्योऽरूपप्रकाशनस्य विजेन्नुत्सर्पप्रदानस्वाभाव्यादिनि बोध्यम् ॥ ५१ ॥

तूष्णीम् आस्वह मानमाश्रयत्र । क्षत्रियडिम्भ क्षत्रियशिशो ।

यत्कन्यामभिलि । यत् निमिपते चतकस्य कन्या सीता नाम अभिलष्यता काम

रत्नचूड — ( सत्य रामके देखकर रावणसे ) वालक होकर भी निमने शिवधनुष  
नोटा, जिसने अपने बाहु कीर्यको गर्भमे स्वेदिन करके—परशुरामको मोवा कर दिया,  
वहा राम आगया है और क्या कहूँ, वह तुमको भी बालिके हन्ता द्वारा मारै जानेका  
गौरव प्राप्त करायेगा ॥ ५१ ॥

हेमाङ्गद — ( कर्कतुकसे ) मित्र अब हम चुन हो जाय । सुनैकी यह रावण क्या  
कहता है । ( कान देखर ) क्यों, यहां तो वह रहा है—साधुरे क्षत्रिय वालक, साधु,  
बाहुकी लीलामे तौल कर नीचे रज दिया है कैलामकी जिसने ऐमा मने निमिराविकी

१ ‘र रावणसराज’ । २ ‘श्लाघातिभूमिम्’ । ३ ‘आस्वह’ ।

दोर्लातातुलितारितहरग्राणापि रगण वनु ।

तद्द्रक्ष्यन्त्यधुना कियन्तमवधिं यावद्भवानित्यमी

देवेन्द्रद्विपदानदुर्दिनभिद्रो रौद्रार्चिषो मार्गणा ॥ ५२ ॥

( मविस्त्रयम् । ) कथमद्यापि तृणीकृतजगत्त्रय म एवास्य तापान-  
हङ्कारग्रन्थि ।

रत्नचूड — ( मोक्षप्राप्तस्मितम् । ) 'सखे कथमिदमेव भजन्त विस्मापयते ।

मानाध्मात म्वा किलोत्कृत्य तावन्मूर्धश्रेणीमेकशेषोत्तमाङ्ग ।

यमानेन मया रावणेन दोर्लात्या भुवविहासेन तुलित भारमवधारयितुमु यापित  
पश्चाद्भवतारित हरग्रावा कैलासपर्वतो येन तथाभूतेनापि कैलामोऽथापनरुमेणापि  
स्याणवीय धनुर्हरधनुर्न रगम् न भग्नम्, तत् तस्मात् अधुना देवेन्द्रद्विपस्य  
पेरावनस्य दान मद्वारि तस्य दुर्दिन वृष्टि तद्विद् तच्छोपिग रौद्रार्चिप तीत्र  
प्रतापा अमी मार्गणा मम शरा कियन्तम् अवधि काल यावत् भवानिति  
द्वच्यन्ति । सीतेच्छ्या मया कैलामोत्तोलनसमथनापि शाम्भव धनुर्यत्र पण्डित  
तदधुना मम सुरगजदानवारिशोषणपटिष्ठा अमी तीन्द्रालावर्षिगो वागा भवान्  
कियन्त काल यावमम पुरस्तिष्ठतीति द्रष्टुमिच्छन्ति, अचिरेणैव भवतमिमे  
मम वागा महरिप्यन्तीति यावत् । 'ग्रावाणौ शैलपापाणौ' इत्यमर । शार्दूल  
विक्रीडितम् वृत्तम् ॥ ५२ ॥

तृणीकृतजगत्त्रय लोकास्त्रीनपि तृणाय मन्यमान । अहङ्कारग्रन्थि अभिमान  
बन्ध । विस्मापयते आश्चर्ये निमज्जयति ।

मानाध्मान इति । मानेन आध्मान पूर्ण अतिमानी अथ रावण किल स्वा निजा  
मूर्धश्रेणी शिर परम्पराम् उत्कृत्य द्विपदा एरुदोषोत्तमाङ्ग इतिष्टेकमस्तक

कन्याको नाइ करके भी शिवधनुमङ्ग नहीं किया, सो जान हमारे यह इन्द्र दिपके  
मन्वारिको गुप्त कर देनेवाले यह हमारे वाण देखेंगे कि तुम कितनी दूर तक हम दिशामें  
आमके हो, कितना शस्त्र-वीक्षण तुमने हासिल किया है ? ॥ ५२ ॥

( मविस्त्रय ) क्यों अमी भी त्रिनगद तृण समझनेवाला हमारा अभिमान पूर्ववत् है ।

रत्नचूड—( महाम उलाहनके स्वरमें ) क्यों आप इतनेहीमे विस्मित हो गये ?

मम अभिमानी रावणने अपने सभी मन्त्रकोंको वावर जब पक मस्तक शेष रह

१ 'सखे' इति क्वचिन्नारित ।

स्त्रीमर्जादे वञ्चयित्वा मुखेन प्रीत शम्भोरेरुपादे पपात ॥ ५३ ॥  
( ऊर्ध्वमवलोक्य च भवितुम् । ) भगवतो दिवस्पतेरिय रथो दाशरथि  
मुपतिष्ठत ।

हमाङ्गद — ( दृष्ट्वा महर्षम् । ) सत्ते, स एनाय कि न पश्यन्ति ।  
लोचनामार्गमहत्त्वचन्द्रकस्तवप्रितमाहेन्द्रप्रचहस्तो मातलि । ( सण  
निर्वर्ण्य विन्स्य च । )

त्रिप्रियमणिमयूषमजरीभि कृतसुरचापसहस्रसनिगते ।

अधिसममहारयद्विमाने निजमपि नार्भुममत्र देवराज ॥ ५४ ॥

द्विनाशशिरा, अध हरगारीरुण्य शिवस्थार्वभागे स्त्रीम् गौरीम् वद्धयित्वा  
त्यक्त्वा प्रीत प्रयत्न सन् शम्भो एरुपात् दक्षिणधरणे मुखेन निपपात मस्तकेन  
प्रगतवान् रावणेन दशसु नय शिरामि द्विनाशि, एकेन शिरसा अर्धागारीधरस्य  
शम्भो पादद्वयप्रणामस्य युगपदशन्यक्रियतया पार्श्वस्था पादम् विहाय महादेवस्य  
पादम् शिर स्थापयामास तेन च प्रसादमन्वभूदित्यर्थ ॥ ५३ ॥

दिवस्पते इन्द्रस्य ।

लोचनेति । लोचनाग नेत्राग मार्गमहस्त्रे सहस्रसङ्ख्यानामिन्द्रनेत्राग सहस्र  
सयस्य मागे अत्रके रन्ध्रे स्तवप्रित गुच्छीकृत माहेन्द्रप्रचो हस्त यस्य  
तादृश । मातलि इन्द्रसूत ।

विविधेति । देवराज इन्द्र अधिममर युद्धक्षेत्रे विविधाना विवित्रागा मर्जाभा  
मयूषमजरीभि क्रिगनिग्रह कृत आरोपित सुरचापसहस्रस्य सहस्रसुरनेन्द्र  
धनुषा सतिपात सनावेशो यत्र तादृग अत्र विमान निज कामुङ् धनुरपि अहार  
यत् प्रेषयामास । इन्द्राऽत्र रथ स्व चापमपि प्रेषयति न अत्रचमात्रमि चथ ॥ ५४ ॥

गया तत्र मन्दादशके अर्धाङ्गमे वत्तमान पार्श्वीको अग्नि करके रावणे अपना दशम  
मस्तक शिवके चरणौपर रथ लिया ॥ ५३ ॥

( ऊपरका जोर देखकर दिवसके साथ ) मातुलम पटना है इन्द्रका रथ रामके पास  
आरहा है ।

हैमाङ्गद — ( देखकर सब ) सत्ते, बडा तो है क्या तुम नहीं देखा रह हो ? मातलि  
अपन हाथोंमें इन्द्रके हजार नेत्रोंके लिये बनाये गये हजार द्विद्रोमे युक्त इन्द्रका कवच  
लिये हुए हैं । ( योहीदेर देखकर महाम )

नानाप्रकार का मणिमयूषमजरीयोंसे महत्त्व इन्द्रचापोंके युक्त प्रतीक होने बाल  
अपने इस रथ पर इन्द्रने अपना धनुष भी युद्धमें भेजा है ॥ ५४ ॥

( आश्रमे कर्णं दत्त्वा । ) किमाह रावणप्रतीहारः—<sup>१</sup>अरेरे पुरहूतमूत  
द्वयौऽयं भवत सुरासुरचमूदोऽकाण्डकण्डूयिद

ज्जालाजाङ्गलिकेन जङ्गलभुजां पर्यापि न त्याजित ।

येनेन्द्रे रथवर्मणी रघुशिशोरम्योपनीते त्वया

राजद्विष्टमिदं विधाय न कथं शक्नोऽपि वर्तिष्यते ॥ ७७ ॥

रत्नचूड — ( श्रुतिभभिनाय । ) किमाह राम —<sup>२</sup>सत्यमिदं भो

यच्छीलं त्वामी तच्छीलास्तस्मिन्प्रवृत्तः ।<sup>३</sup>यद्येवमपि न्यामिनो मूलो  
च्छेदिना दुर्नयेन विरत्यन्ते ।

रावणप्रतीहार — रावणद्वारपागे रावणमृतो वा । पुरहूतसूत-देवेन्द्रसारथे ।

रथौयमिति । सुरासुराणां देवदानवानां याश्रम्य सेनास्तामा ये दोःकाण्डा  
भुवन्का तेषां कण्डू एव विपज्जाला तस्या जाङ्गलिकेन विप्रसप्तमविधाविदा  
जङ्गलभुजां मामाशिना पर्याप्य रावणेन अपि अयं भवती दर्पं अहङ्कारं न त्याजित  
न शमितं, यथा त्वया ऐन्द्रे रथवर्मणी स्पन्दनं कवचं च अन्यं रघुशिशो रामस्य  
उपनीते उपायनीकृते, इदं राजद्विष्टम् राजद्रोहं रावणस्य शत्रवं रथवर्मप्रदानरूपं  
विधाय शक्नोऽपि कथं वर्तिष्यते जाविष्यति, देवदानवर्मन्मयमुज्ज्वीर्यदर्पप्रसननपरेण  
राजमराजनेनापि त्वं दर्पो न शान्तिं नीतो यद्वा रामाय त्वमिदस्य रथवचनं  
चान्तवानिमि, आस्तां नाम तव कथा, एतादृशं राजद्वेषं विधाय शक्नोऽपि कथं  
मात्मानं रक्षिष्यतीति भावः । 'जाङ्गली विपरिधावान्' इति मेदिनी । 'नद्वल  
पिशितेऽस्त्रियाम्' इति च ॥ ७५ ॥

यच्छीलं यादृशस्वभावः । तच्छीला तादृशस्वभावाः । प्रकृतयः प्रजाः । मूलो-

( आकाशमें वानं दूरं ) रावणका द्वारपाल कया कहरा इ ? अरे इदमूत,

देवदानव सैन्यके बाहु-दण्डके विष भी दबा करने वाले वैद्य राजसराजसे ना  
तुम्हारा यह दण्ड शमित नहीं हुआ, कि तुमने यह इन्द्रके रथ, कवच हम रावणशिशुके  
पाम एतन का साधन किया है, हम राजद्वेषको करके तुम्हारा माटिके टुक किसे प्रकार  
हमकेगा ? ॥ ७५ ॥

रत्नचूड — ( सुननेका अभिनय करके ) रामने क्या कहा ? ठाक है यह, जिन  
स्वभावके राजा हों—उनके मूल मो वसी स्वभावके होते हैं, जिनमे यह रावणके  
द्वारपाल स्वामीकी अट्ट काटनेवाले दुनयसे अभिमान दिखा रहे हैं ।

१ 'अरर' इ यस्मात्पूर्व क्वचित् 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति ।

२ 'मत्यम्' इ यस्मात्पूर्व क्वचित् नास्ति 'अनुवदति' इत्यधिकमस्ति प्रथमप्रदेशे ।

३ 'प्रसु' । ४ 'तदेवम्' । ५ 'मूलोच्छेदन' ।

हेमाङ्गद — ( आकाशे ऋणं दत्त्वा । ) किमाह रावण — अरे ताप  
मयतो,

क्रोधेन 'ज्वलिता नुहर्तमनु' च स्वरेव निर्वापिना  
ह्यधैरश्रुमहोमिभिर्मवभुजा पत्यु सहस्रं दश ।  
यदृष्टा भुवनत्रयीत्रियिभि सर्वकषा सन्त्यमी  
ते सम्प्रत्यपि मे नयापनययोर्निर्वाहमूल भुजा ॥ ५६ ॥

रत्नचूड — ( ऋणं दत्त्वा विद्वस्य । ) किमाह राम —  
छित्त्वा मूर्ध्ने किमिति स घृतो वूर्जदिर्यमीषा  
दो स्तम्भाना त्रिभुवनत्रयशौरियं वाम्नामी ते ।  
मूर्धाना वा न खलु भयता दुर्लभा नम्भयेयु

चङ्गेदिना समूलविनाशकारिणा । विकल्पन्ते आत्मशलाघा उप्रति ।  
क्रोधेनेति भुवनत्रयीत्रियिभि त्रिभुवनविजेतृभि न भुने सुहृत्तं क्षणम्  
क्रोधेन ज्वलिता दीपिता, अनु तपश्चात् स्वरेव निज एव क्लीबे फलानुत्पादक  
तया वाय अश्रुमहोमिभि नयावारिधाराभि निर्वापिता निरुन्धीकृता इन्द्रस्य  
सहस्र दश नेत्राणि दश, सबद्धया सर्वत्रिडावणा तस्मी मम भुजा नयापनययो  
सुनातिदुनात्यो निर्वाहे सम्पादने मूल कारणम् इदानीमपि नन्ति । ये मम वाह  
वोऽयमाने क्रोध कृ वापि किमपि कर्तुमशक्तनया रदन्तमिन्द्र दृष्टवत्, सधविद्रा  
वणा ममामी ते भुजा नीत्याऽनोत्या वा वर्सितु क्षममाणा सन्त्वेव, तरेव त्वा हनि  
ष्यामीति भाव ॥ ५६ ॥

छित्त्वेति । अमीषा ते तव रावणस्य दा स्तम्भानाम् बाहुदण्डानाम् इय त्रिभुवन  
नयध्री वास्तवी सत्या स्वसामथ्यसिद्धा, तदा मूर्ध्ने स्वशिरामि छित्त्वा स  
घूर्जटि किमिति घृत किमर्थं प्रार्थितो वरदानान्प्रति शप, भवतो रावणस्य मूर्धानो

हेमाङ्गद — ( आकं शर्मे जान इतर ) रावण क्या कहना है — रे तापमयट्ट

अिदोने इन्द्रके हजार नयनोको कोपने प्रज्वलित होत तथा अपने अकार्य मापक  
अश्रु जलसे बुनने भा देता है वे हजारो त्रिभुवनत्रियिभि तथा नामि अनोनिके मूल सह  
हाथ ममी ग अक्षुण्ण है ॥ ५६ ॥

रत्नचूड — ( कान लकार सहान ) रामने क्या कहा ?

यदि तु 'हारे हाथोंने वस्तुन वेइ विचयत्रो धी तौ तुमने शिवकी आराधनामें अपने  
भिर चढाकर क्यों वर मांगा था ? अथवा भिर नो तु'हारे लिन रह्य होन नहीं है

१ 'ज्वलता' । २ 'अपि च' ।



यद्देवस्य त्वमसि जगतां शिल्पिनोऽपि प्रपौत्र ॥ ५७ ॥

यत्पुनर्त्रयीपि 'नम्रप्रत्यपि ते भुजा नन्ति' इति तदधुनैव ज्ञास्यन्ते ।  
हेमाद्रद —( कर्णं दत्त्वा । ) किमाह रावण —अरेरे राजन्यडिम्भ,  
भयत पुराणपितामहेन बहु तापदनरण्येनैव ज्ञातम् । इदानीं भयानपि  
जाम्यति ।

रत्नचूड —( कर्णं दत्त्वा विदस्य' । ) किमाह राम 'अरेरे राज्ञस्तीपुत्र,  
न दूये न पूर्वं नृपतिमनरण्य यदवयो-  
र्जयो वा मृत्युर्वा युधि भुजभृतां क परिभव ।

मस्तस्मानि वा न दुर्लभा दुरापा सभवेषु स्युः, यद् यस्मात् त्वं जाता शिल्पिनो  
जगत्प्रदुर्मह्यग प्रपौत्रोऽसि । यदि तवेयं त्रिभुवनविजयलक्ष्मीर्यथार्था स्वमानर्थं  
मिद्धा चास्ति तत्किमर्थं स्वशिरसि शिवायोपहृत्य धरमद्याचथा, स्वसामध्येनेदं  
प्रार्थ्यमानार्थप्राप्ते सम्भवात्, अथवा तवाम शिरश्छेदनव्यापारो न साहसिकता  
मूलो यत्तस्मिन् शिरसि अतायामरभ्यानि मन्ति यत्त्वं ब्रह्मप्रपौत्रो भवसामर्थ्यं ।  
महादेवप्रातय न त्वया शिरानि चिच्छानि, किन्तु शिरसा सुलभतयेति सोऽलु-  
प्टनोक्तिः । मन्दाशान्तावृत्तम् ॥ ५७ ॥

राजन्यडिम्भ क्षत्रियशिशोः । पुराणपितामहेन दृढबृद्धनितामहेन पूर्वजनेन । बहु  
ज्ञातम् मन भुजबल साधुपरिचितम् । अनरण्यो नाम रामपूर्वजो रावणेन हत  
इति प्राचीनवाक्ता ।

न दूये न इति । न अस्माकं पूर्वं पूर्वपुरुष नृपतिम् अनरण्यं तत्रामान राजानम्  
यत् त्वम् अवधी हतवान्, तत् ततो न दूये न मन्नापमनुभवामि, जयो वा  
मृत्युर्वा युधि युद्धे भुजभृता वाहुबलशालिना क परिभव कौटलोऽपमान युद्धे  
जयं मृत्यौ वा न परिभवत्य स्थान तत्रान्यतरनिश्चयात्, अतोऽनरण्यवधो न मम

क्यों कि तुम विश्वनिमात्रा मल्लकं हा प्रपौत्र ठहरे ॥ ५७ ॥

हेमाद्रद—( वान लगाकर ) रावाने क्या कहा ? अरे क्षत्रिवकुमार दुम्हारे पुत्रान  
पितामह अनरण्यने बहुत बृद्ध समझा था, अब तू भी समझ जायाग ।

रत्नचूड—( वान लगाकर सहास ) रामने क्या कहा ? अरे राज्ञस्तीपुत्र,

मुझे इस्का ताप नहीं है कि तुमने हमारे पूज अनरण्य नामक नृपका दध किया,  
युद्धमें जय हो अथवा मृत्यु बीरोंका इमने अनाप्य नहीं होना है । मुझे इस्का खेद

१ 'विदस्य' इति क्वचिन्नास्ति । २ 'ररे' ।

जित तु त्वा शारागृहविनिहित इहयपते

पुलम्ब्यो यद्विद्वामकृत कृपणन्तद् व्यथयति ॥५८॥

हेमाद्रु — ( कर्णं दत्त्वा । ) विनाह रावण — आ क्षत्रियपटो

याचाट, अग्रमपूर्वशिल्पी रजनीचरे-द्रचरितचन्द्रेऽपि लम्ब निग्रमि ।

नन्य न भवमि । ( मन्मन्त्रममवलोकन । ) कथमुपयन्तमेव नरसह-

स्रदुदिन मन्तोऽरोत्थितेन ।

रानचूड — कथ मैथिलीरत्नभेनापि प्रत्युपक्रीन्ते मेरा । ( विन्म्य । )

पतन्ति रामभद्रेण खण्डिता रावणेश्वर ।

पूर्वार्ध फलिभिर्वगात्पश्चार्धे पृथ्विभिश्चिरात् ॥ ५९ ॥

परितापमूलनियर्थ । तु किन्तु पुत्रस्य तत्र विनामह कृपणो दीन मन् इहयपे  
 एते कात्तवीयस्य शारागृहविनिहित शारागागनिदिपेतेविपरिभूतं त्वा भिद्वाम  
 कृत भिद्वामा याचितवान् तत् पुलम्बकृतक तत्र भिद्वण स्मयमाण समम  
 परिताप चतयर्तनि मोल्लुप्यत वचनम् ॥ ५८ ॥

याच ट, बहुगद्यभाषिन । अपूर्वशिल्पा—नूतनविग्रनिमाता । रानचिचन्द्र  
 चरितचन्द्रे राक्षसराचरावगद्गीत्तिदासिनि ।

शरमहस्रदुदिनम् नरसहस्रवर्षम् ।

पतन्ति रामभद्रे खण्डिता रावणेश्वर रावणस्य शरा फलिभि लोहा  
 प्रवृद्धि पूसाद् वगात् चवान् पञ्चवद्वि पार्धेश्च चिरात् विन्म्यान् पतन्ति ।  
 यो भाग ए इन्द्रैततत्र भारमान् न प्राग लघुश्च पश्चाद्विपतति, वागम्य विगटित  
 नया तत्तत्रभाषाया पृथक्पतनमिति वाच्यम् ॥ ५९ ॥

वि. इ. ५९ इ. ५९ - तुमहा चतुश्च व... वा था त्व तुम्हार पितामह पुलम्बयन  
 ताव भा... म्मे तुम्हे मया था ५९ ॥

हेमाद्रु — ( जान लोकर ) विणन क्या क्या ? आ क्षत्रियदु, वानाक क्यो,  
 नूना अपूर्व शिल्पी है वा राव के कात्ति न्द्रमे भा कलङ्क चित्रित कर रहा है ?  
 अत एव तत्र चारित्र्य रहा मर्को ( वरदाहक माथ लोकर ) क्यो, इम रावण  
 वा इष्टि करना प्रारम्भ कर लिया ।

रानचूड—कथो रामने मा चवान देना प्रारम्भ कर लिया ।

राम द्वारा खण्डित रावणसे वाग पूर्व अन्तर् भागन पहल गितत इ गौ... चार्धपक्ष  
 नाम्ने वाग्मे गित रह है ॥ ५९ ॥

१ प्रकाशमेव । २ रामचन्द्रा । ३ पश्चिभि ।

किं च—

अक्षेपु केतुदण्डे च सारथो च हयेषु च ।

'तेलन्ति राक्षसेन्द्रम्य स्यन्दने रामपत्रिण ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद—( भयम् । ) अहह ।

अन्धकारीकृतव्योमा बाणवर्षेण रावण ।

रामारूढ तिरोधत्ते शताङ्गं शतमन्यवम् ॥ ६१ ॥

( चिर दृष्ट्वा मविस्मयम् । ) सरसे

नानाविधानि शस्त्राणि शस्त्रैर्नानाविधैरपि ।

इमौ हि प्रतिकुर्वाते न ऋद्धितिरिच्यते ॥ ६२ ॥

रत्नचूड—एतमेतत् ।

अक्षेपति अक्षेपु चक्षेपु, केतुदण्डे ध्वजवशे, सारथो भूते, हयेषु अक्षेपु च राक्षसेन्द्रस्य रावणस्य स्यन्दने रथे रामपत्रिणो रामस्य प्राणा खेलन्ति, रामप्राणा रावणस्य स्यन्दन सर्जत जातृष्वन्तीत्यर्थे ॥६० ॥

अधकाराति । बाणवर्षेण शरासारवर्षेण अन्धकारीकृतव्योमा आच्छादितान्शरा रावण रामारूढ रामप्राणता गतम् शतमन्यव शक्यमस्मिन्धशताङ्ग रथ तिरो धत्ते आच्छादयति, 'शताङ्गं स्यन्दनो रथ' इत्यमर । शतमन्योरिदं शतमन्यवम्, 'शतमन्युर्दिवस्पति' इति चामर ॥ ६१ ॥

नानाविधानान् इमौ रामरावणौ नानाविधानि बहुप्रकाराणि शस्त्राणि नाना-विधे शस्त्रैः प्रतिकुर्वाते निवारयन्त कश्चित् तयोरेक कश्चन न अतिरिच्यते न विशिष्यते ॥ ६२ ॥

और—रावण रथकं धुरा, ध्वजदण्ड, सारथि तथा अश्वौ पर रामके बाण म्बु रदं हं ॥ ६० ॥

हेमाङ्गद—( भयके साथ ) अहह ॥ अपनी बाणवृष्टि मकाशको अधकाराकीण बनानवाला यह रावण रामाभ्यासिन द्रुप रथको छिपा दे रहा है ॥ ६१ ॥

( बड़ी देर तक देखकर माक्षय ) सख,

ये दोनों नानाविध शस्त्रोंका उत्तर नानाविध शस्त्रोंसे दे रहे हैं, हममें कोई भी षट् षट नहीं रहा है ॥ ६२ ॥

रत्नचूड—यह ऐसी बात है ।

यद्रावणो बहुभिरेप भुजै करोति  
 तद्राघव प्रतिङ्करोति भुङ्क्ष्वयेन ।  
 कर्म द्वयोर्यदपि तुल्यफल तथापि  
 रक्षोभटादृशगुण नरवीरशिल्पम् ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गद —( 'वि'स्य । ) सखे

विंशत्यापि भुजैरेप द्वौ भुजावभियोधयन् ।  
 अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादा दशमन्धर ॥ ६४ ॥

( मखेदभय च । ) कथमय रावणे, माहेन्द्रस्यन्दनात्  
 तस्यारिजलभीमस्य<sup>१</sup> व्यज्रदण्डस्य लाङ्गुतम् ।

“द्रावण इति । एष रावण बहुभि भुजै विंशत्या भुजै यत् करोति अत्र  
 प्रहारादि निबन्धे राम तत् सर्वमपि रावणकृत भुजङ्क्ष्वयेन प्रतिकरोति निजारयति ।  
 यद्यपि द्वयो रामरावणयो कर्म व्यापार तुल्यफल समानफलम् , तथापि रक्षो  
 भटात् रावणात् नरवीरशिल्पम् रामस्य युद्धकौशलम् दशगुणम् । रामस्य द्वौ ग्राहू,  
 रावणस्य च विंशतिस्ते, रावणो यद्विंशत्या भुजै करोति रामस्तदेव द्वाभ्या भुजा  
 भ्यामिति सिद्धमेव रावणशिल्पापेक्षया रामशिल्पस्य दशगुणत्वमिति भाव ॥ ६३ ॥

विंशत्याऽपीनि । एष दशमन्धरो रावण विंशत्यापि भुजै रामस्य द्वौ भुजै  
 अभियोधयन् युद्धे प्रवर्त्तयन् अदूषितद्वन्द्वयुद्धमर्यादा अक्षतद्वन्द्वयुद्धमिति  
 दशमन्धरो वर्त्तत इति शेष । द्विभुजो रामो विंशतिभुजश्च रावण इति द्विभुजेन  
 विंशतिभुजस्य युद्ध कथं द्वन्द्वयुद्ध कथयितुं शक्य, तथापि स्व युद्ध द्वन्द्वयुद्ध कथयन्  
 रावणो न लज्जत इति चित्रमित्यर्थ, परिहामोक्तिरियम् ॥ ६४ ॥

माहेन्द्रस्यन्दनात् इन्द्ररथात् ।

तस्याग्निवर्त्तति । दर्पदास अभिमानसभिद्ध रावण सुरप्रेण तदाप्येन शस्त्रेण

रावण जा कार्य बीम हाथोंस करता है राम उसका उत्तर दो हाथोंस देने हैं, इस  
 प्रकार यद्यपि दोनोंके फल तुल्य हैं तथापि रावणका रणकुशलतामे रामकी रणकुशलता  
 दशगुणो प्रमाणित हो रही है ॥ ६३ ॥

हेमाङ्गद—( सहान ) सखे,

रावण अपने बीस हाथोंसे दिभुज रामके साथ युद्ध करता है फिर भा उमने द्वन्द्व  
 युद्धकी मर्यादा नहीं नष्ट की है ॥ ६४ ॥

( खे तथा भयके साथ ) गज-सैन्यको भयभीत करनेवाले रामके घ्वजदण्ड पर

१ विहस्य<sup>१</sup> इति वचिन्नास्ति । २ अरिमयभीमस्य<sup>२</sup> अरिमयभूतस्य<sup>२</sup> ।

दर्पदीप्त क्षुरप्रेण मायूर पिच्छमच्छिनत् ॥ ६५ ॥

रत्नचूड — ( सहर्षम् । ) मग्ने, पश्य पश्य कुलिशकेतुकेतनप्रिमा-  
ननाविलक्षकृद्धेन —

दिकपालद्विपदर्पदानलहरीसौरभ्यगर्भानिलै

पक्षरेव समस्तराक्षसक्रयाकल्पान्तरुर्णजपा ।

दीयन्ते रघुपुङ्गवेन कतिचित्पौलस्त्यमौलिष्वमी

पोलोमीनयनाम्बुसीकररुणावग्रहिणो मार्गणा ॥ ६६ ॥

तस्य प्रमिद्धस्य अरिवलभीमस्य शत्रुसैन्यभयङ्करस्य रामस्यन्दनस्य ध्वजपण्डस्य  
लान्द्रनम् चिह्नम् मायूर पिच्छम् वर्हम् अच्छिनत् खण्डितवान् ॥ ६५ ॥

कुलिशेति कुलिशकेतो इन्द्रस्य केतन ध्वजपण्डस्तस्य प्रिमानना लान्द्रन  
मयूरपिच्छच्छेदनामकोऽपमानस्तत विलक्ष लज्जित क्रुद्धश्च तेन ।

दिकपालेति । रघुपुङ्गवेन रामेण दिक्पालद्विपानाम् पेरामतादिदिग्गजाना दर्पेण  
वलगयेण या दानलहरी मदवारिधारा तस्या सौरभ्य सुगन्धो गर्भे अभ्यन्तर  
गर्भे यथा तादृशा अनिला वायवो यथा ते तथोक्ता ( यथा प्राणपञ्चाणा प्रयोगे  
जाते दिग्गजाना धिरशुष्काणि दानवारीणि प्रवर्तितानि भविष्यति, तन्मन्ये  
तद् प्राणपक्षेषु दिग्गजदानवारिसुगन्धपूर्णा वायवो निहिता स्यु ) तादृश पक्षै  
पुङ्गवे समस्तराक्षसक्रयाकल्पान्तरुर्णजपा सम्पूर्णराक्षसेतिहासावसानसूचका  
समस्तरक्षोत्रिख्य सूचयन्त पौलोमानयनाना शर्चनेत्राणा येऽम्बुसीकररुणा  
अश्रुविन्दवस्तेषामग्रहिण प्रनिबन्धकरा राक्षसविनाशेन पोलोमीरदननिवर्तका  
कतिचित् मार्गणा वागा रघुपुङ्गवेन रामेण पौलस्त्यमौलिषु रागशिरस्सु दीयन्ते  
निक्षिप्यन्ते । रामेण रावणस्य मस्तकेषु कतिचिद् वाणास्तादृशा पहियत य  
निचपुङ्गवान् दिक्पालगजानवारिसुगन्धानिलपूर्णां धारयति, ये च 'राक्षसवृत्त'  
प्रलयस्य सूचनामिव ददति, य च पाळोमीनयनाम्बुवृष्टिं प्रतिश्रानन्ति इत्याशय ।

वत्तमान मयूरपिच्छ रूप चिह्नो रम दर्पो रावणने क्षुरप्र नामक अम्बसे काट टाला ॥६५॥

रत्नचूड — (मह्य) मखे, देहो, इन्द्रके ध्वजपण्डवे अपमानसे लज्जित तथा कुपित—

रघुनायकेन रावणके मस्तकोपर कुछ देते वाण रख दिये जो वाण दिक्पालसब भी  
गर्जोके दानवारिसे सुगन्धिपूर्ण पब सप्रसन्न रामस समूहके प्रलयकी सूचना अपने पक्षोंमें  
देनेवाले हैं तथा जिन बाणोंने इ द्राणीके नयनोंके अश्रु प्रवाहको बन्द कर डाला है ॥६६॥

हेमाङ्गद—( मन्वेदाद्गतम् । ) कथं किरीटपरम्परापरिभवमसृष्ट्यमा-  
ख्येन बाणप्रपादितमातन्वता राक्षसराजेन

विदेहकन्याकुचमुम्भकोटिप्रद्वोरनासाक्षिणि सायकोऽयम् ।

रामस्य जन्मान्तरमेलकारश्रीकोस्तुभे वक्षसि हा निखात ॥६७॥

( मन्मगवलोक्य । ) मन्त्रे,

एकेनैव निजातरुद्धभिदा लङ्कापते पत्रिणा

त्रिदोऽयं यदि नाम कोऽपि जगतामुल्लाघनो रात्रय ।

चक्षुर्वर्मसहस्रानि सरदसृग्पारौघनाद्धारिणा’

कणजप सूचक स्यात्’ इत्यमर । ‘मालिर्मूर्धकिराटयो’ इति धरणि । शार्दूल  
वित्रीडित वृत्तम् ॥ ६६ ॥

किराटेति किरीटानां मुकुटानां परम्परा श्रेणिस्तम्या परिभव प्राग्ग्रहाररूप  
मनादरम् । अमृष्यमाणेन असहमानेन । बाणवधाद्गतम् मर्त्यो बाणवृष्टिम् ॥

विदेहकवनि विदेहकन्याया सीताया वृद्धा स्तनो कुम्भा इव तयो कोटे  
अग्रभागस्य साक्षिणि प्रयत्नानुभविनरि चमान्तरे त्रिष्णुरूपचमनि मेलकारी  
मन्त्रिनो श्रीकास्तुभो तदाद्यमणी यस्य तादृश त्रिष्णुरूपचमनि धिया दोस्तुभेन  
च युक्ते रामस्य वक्षसि हृदय ( रावणेन ) अयम् सायको बाणो निखात  
निचित । हा रोद ॥ ६७ ॥

एकेनैवेति एकेनैव निजातरुद्धभिदा अतिरुद्धवचभेदिना लङ्कापते पत्रिणा  
बाणेन जगतामुल्लाघन राक्षगान्निरासविनाशद्वारा लोकाग्रयनेरज्यकारी वाऽपि  
राघवोऽयं यदि नाम त्रिद्व, तु त्रिनु चक्षुषा वर्त्मसहस्रात् इन्द्रस्य दृशाम् अवाध  
प्रयत्नजायतामिति विचार्य तद्गर्भगि निमिनाऽग्रमहस्रात् नि मग्नुं निर्गच्छन् य

लमाङ्गद—( सदा तथा आश्रयस ) कपो, किरीट समुदायके अपमानसे कृपित तथा  
अनन्तरत बाणवृष्टि करनेवाले राक्षसराजने—

हाय, विदेहकयाके कुचकुम्भोकी कठोरताके साक्षी तथा चमान्तरे लक्ष्मी तथा  
कौस्तुभसे मिलन करनेवाले रामके हृदय पर अपना बाण रोव दिया ॥ ६७ ॥

( अच्छा तरह देखकर ) सदा इन्द्रवचभेदा रावणके एक ही वाग्ने यदि जगदको  
नीरव बनावाले राम विद्व होगये तब वर इन्द्रके वचने बने महस्र नेत्र मार्गसे  
खूनकी धार बहाकर हजार वर्षोंकी त्रिवृत्त कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

१ सात्कारिणा’ ।

भाहेन्द्रेण तु वर्मणा विष्णुने वीर नहरु ब्रणान् ॥ ६८ ॥

रत्नचूड — ( महर्षम् । ) राघवेणापि

सीतास्तनस्तन्यधरुक्कुम्भपङ्कलोप<sup>१</sup>-

सङ्कल्पपातकिनि वक्षसि रावणस्य ।

न्यस्त शरो विबुध<sup>२</sup>कुञ्जर<sup>३</sup>दन्तघात

रुढव्रणार्जुदचतुष्टयमध्यवर्ती ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद — ( कर्णं दत्त्वा सविस्मयम् । ) एकेन सव्यपाणिना विगि-  
खमुत्तमय किमाहं रामेण — साधु रे मनुप्रदिम्भ माधु ।

असुगधारीय रक्तप्रवाहसमुदायस्तेन झाङ्गारिणा झाङ्गारशब्दकरेण भाहेन्द्रेण वर्मणा कवचेन वीरो राम सहस्र ब्रणान् विष्णुते प्रकाशयति । [यद्यपि रावणबाणेन राम एकत्रैव विद्ध इत्येकमेवासी ब्रग धत्ते परन्तु शत्रुवर्मण सहस्रच्छिद्रतया प्रतिच्छिद्र रक्त वहतीति रक्ताक्तच्छिद्रसहस्रयुक्तनुरय राम महस्र ब्रणान् प्रकाशयतीत्युक्तम् । 'उररुद्ध कङ्कटक', 'उरराघो निर्गतो गदात्' इत्युभयत्रामर ॥ ६८ ॥

सीतास्तनेति । सीताया स्तनौ स्तवकाविव पुष्पगुच्छाविव तयो कुङ्कुमपङ्कस्य कारमीरद्रवस्य लोपे अपस्वारणे रामप्रधद्वारा वैधय विधाय तामालिङ्ग्य वा तत्तु चस्थ कुटकुम्भपङ्कापसारणे य सङ्कल्प दृढेच्छा तत्पातकिनि मनसा पापपरे रावणस्य वक्षसि ( राघवेणापि ) विबुधकुञ्जर ऐरावतस्तस्य चतुर्भिर्दन्तै घात प्रहारस्तेन रुढस्य जातस्य ब्रणार्जुदानाम् ब्रणचिह्नभामपिण्डानाम् चतुष्टय तन्मध्य वर्ती मध्यस्थ शरो न्यस्त क्षिप्त । रामोऽपि गवणस्य दृश्ये बाण क्षिप्तवान्, यत्र हृदये सीतामालिङ्गितु राम हत्वा सीता विधवा क्तु वा सङ्कल्पेन पाप सक्त्रान्तम्, यत्र चैराघतदन्तचतुष्टयप्रहारकृतव्रणार्जुदचतुष्टय विद्यमान तत्रैति बोध्यम् । वसन्ततिलकवृत्तम् ॥ ६९ ॥

रत्नचूड—( महर्ष ) राघवने मा—

सीताक स्तनौ पर किये गये कुङ्कुमपङ्कको उक्त करनेके सङ्कल्पसं पातकयुक्त रावणके हृदय पर देवगजके दन्तघातसे उत्पन्न ब्रणचिह्न चतुष्टयके मध्यमें बाण रख दिया ॥ ६९ ॥

हेमाङ्गद—( कान लगाकर ) एक ही वामहस्तसे बाण उखाडकर रावणने क्या कहा ? माधु अरे नरशिशु, साधु,

१ 'लेप-' । २ 'वारण-' । ३ 'दन्तपात-' ।

४ 'एकेनापि स वैन पाणिना' एकेन संबन्धेन' 'एकेन सव्यपाणिना तमुत्त्वाय' ।

त्रैविक्रम सकलदानप्रजीवितव्य-  
विद्यासमाप्तिलिपिरेष सुदर्शनो मे ।  
यन्मिन्निपत्य हृदये दत्तितारजाल-  
ज्योतिस्तुषारमयमाभरण बभूव ॥ ७० ॥

तस्मिन्नपि मधिरदर्शन कुर्वाणेन भवता वशितेय सुरासुरवीराति-  
शायिनी हस्तवत्ता ।

रत्नचूड —अहह, विपद्गिरामुद्गारेण मयमन्थिगुण्णा दूर दीप्य  
मानस्य—

सुविनिहितचन्द्रहासवणकिणवल्लयोपहसितहारेषु ।

त्रैविक्रम इति । सकलानां दानवानां जावितव्य जीवनम् एव विद्या तस्या  
समाप्तिलिपि अवसानलेखरूप एव त्रैविक्रम विष्णुमन्थी सुदर्शन चक्र नाम  
यस्मिन् मम हृदये निपत्य पतित्वा दलित खण्डशो भूत मदीयवज्रोत्तरसङ्घर्षेण  
द्रुतितम् आरजाल चक्रमा तसमूहो यस्य तथाभूतम् अत एव ज्योतिस्तुषारमय  
भास्वरशीतलम् आभरण बभूव । यद्भक्त राक्षसजीवनसमापक प्रथते तदपि वेष्णव  
सुदर्शनाभिध चक्रममोरेणि प्रहृत सत् वज्रोत्तरसङ्घर्षेण द्रुतितारजाल भूत्वा यत्र  
मम हृदये भास्वरवर्णमतिशीतल चाभरण जात तत्रापीत्यग्निमेण समन्ध ॥७०॥

मधिरदर्शन कुर्वाणेन—शोणित प्रजटयता । सुरासुरवीरातिशायिनी त्वेदान  
वातिक्रमणी । हस्तवत्ता—प्रशस्तहस्तशालिता ।

विपद्गिराम्—शत्रुवचसाम् । उद्गारेण उच्चारणेन । सर्वमन्थिगुण्णा-  
सर्वमन्थिभिर्महता । दूरम्—अतिमात्रम् । दीप्यमानस्य—प्रकाशमानस्य ।

सुविनिहितेति । सुविनिहित शिषाराधनावसरे स्वशिररद्धेद्वनार्थं सुष्ठु धृतो  
यश्चन्द्रहासो नाम निजखट्गमनस्य वणकिणवल्लयेन शुष्कवणचिह्नसमुदयेन उप

सकल दानवोंके जीवन लेखको समाप्त करनेवाला विष्णुका सुदर्शन चक्र जिस  
हमारे वक्षपर गिरकर सकल दानोंके टूट जानेम नेत्रपूण शीतल आभरण बन  
गया था ॥ ७० ॥

वत्सीपत् तुमने रत्नदर्शन कराकर सकल देवदानवजयिना वीरता प्रकट काई ।

रत्नचूड—अहह ॥ शत्रुको वचनोंसे अत्यन्त कुपित—

रामके वाण-समुदाय अच्छी तरह विन्यस्त व द्रुताम व्रणचिह्नोमे कारण उपहान्त

१ 'वाहिनी' । २ 'ददाप्यमानस्य' कम्पमानस्य' ।



रामस्य मार्गगणा पतन्ति दशकण्ठकण्ठेषु ॥ ७१ ॥

हेमाद्रद—( मचम शरम् । ) मत्से, पश्य पश्य—अनुरूपगीरस  
'वान्प्रमोदभरद्विगुणितान्प्रमोदभरमक्षोभितभुवनत्रयस्य निरन्तरप्रहीयमाण  
'वाणपञ्जरमध्यवर्तिता रामभद्रेण क्रीडाशकुन्तकौतुकं पूर्यते राक्षसरा  
जस्य । नूनमिदानीम्

उदञ्चन्तश्चद्रुविवृतनिभृतानामनुफणं

गणीना त्रियुद्धि क्षणमुपितपातालतिमिर ।

हमित स्वरूपशोभया निन्दितो हारो येषु तादृशेषु—गिररद्वेदघृतचन्द्रहासघृत  
समुत्पन्नगणित्प्रलयविरसृतहारशोभेषु—दशकण्ठकण्ठेषु रावणगलेषु रामस्य  
मार्गगणा वागसमूह पतन्ति ॥ ७१ ॥

अनुरूपेति अनुरूपो योग्यो यो वीरस्वाद सुभटमिलन तेन य प्रमोदभर  
आनन्दविरस्य तेन द्विगुणित द्विगुणीभूत योऽवष्टम्भ गर्व तेन सक्षोभित  
सञ्जातित भुवात्रय यत्र तयोक्तस्य । राक्षसराजस्य राजस्य । निरन्तरप्रहीय  
माणानाम् अनन्तरत लिप्यमागानाम् वाणाना पञ्जरस्य मध्ये वर्णते तच्छीलेन—  
राजसमुक्तवागवगरूपपञ्जरमध्यस्थितेन । क्रीडाशकुन्तकौतुकम्—क्रीडापवित्रिनोद् ।  
पूर्यते—सम्पाद्यते । अन्योऽपि क्रीडापक्षी पञ्जरमध्ये तिष्ठति, तद्द्वय रामोऽपि  
वागपञ्जरमध्यस्थतया राजस्य क्रीडाशकुन्तकौतुकं करोतीत्यर्थः ।

उदञ्चदिति । भुजगानामभिपति शेषनाम उदञ्चन्ती रावणे स्थिरे तत्पद यास  
जनितभाराधिभयविरहं उपरि गच्छन्ती न्यञ्चन्ती राजसकृते यदन्वामे भारा  
धियेषा अधोगच्छन्ती च या भू पृथिवी तथा विवृतानाम् प्रकाशिताना ऽ उन्नमने  
प्रकाशिताना तथाऽधोमने निहृतानाञ्चेत्यर्थः । अनुकरण प्रतिभोग मणीना  
मूर्खस्यरागाणा त्रियुद्धि प्रभाभि क्षणमुपितपातालतिमिर कियत्कालापहृताधो

नरनेत्राले रावणके कण्ठामे गिर रहे ह ।

हेमाद्रद—( चम इत होकर ) सत्से देखो देखो, अनुरूप वीरस्वादज य आनन्दसे  
द्वयुन उत्साह द्वारा भुवनको सक्षोभित करनेवाले रावणके निरन्तर घृत वाणोंसे राम  
'अरगत पक्षी की तरह गान्धुम पद रहे हैं । निश्चय ही इस समय—

ऊपर नाचे होती है पक्षीके द्वारा प्रकाशित तथा गोपिन पणशाली भुजगोंके

१ 'प्रमोदद्विगुणित' । २ 'पञ्जरवर्तिता' । ३ 'आयुयते' ।

भुजकीडाबलगद्दशमुखपदन्यासगरिम

प्रगल्भैर्नि श्वासैरजनि भुजगानामप्रिपति ॥ ७२ ॥

रत्नचूड — ( सभयमवलोक्य । ) सखे, एतमेतत् ।

रक्षोविक्षोभवेगोच्छलितजलनिधियक्तमन्त्रवचः

क्रुध्यद्दिङ्नागमुक्तोद्धारण’गुरभरामद्य नागाधिराज ।

अङ्गैरङ्गेषु मग्नैरधिरत्नवलिना वामनेनातिपीत्ता

भुवनाधरार, भुजकीडया बाहुलीलया बहगन् सञ्चरिष्युया दशमुखो रावणस्तस्य पदयासगरिम्णा पादपुत्रप्रभयगौरवेण प्रगल्भैर्दीर्घिता गतेर्निधाम् अजनि जात । अयमाशय - रावणे बाहुलीलप्रदर्शनरमिन्ने तत्पदन्यामनितगौरवेण यदा पृथ्वी नमति तदा शेषफणामणय पृथ्वीया सत्रिहितया निहृद्यन्ते तदा शेष स्वफणामणि प्रभामि पातालवत्तितमोऽपाकर्तुं न प्रभुभुर्भवति, यदा च रावण स्थिरीभवति तदा पृथ्वीयामुन्ताया शेषफणामणयो त्रिभृता भवति तदा शेषस्तत्प्रभाभि पातालस्थित तमो नाशयति, तद्विथ शेषनागो रावणपदन्यासगौरवप्रसूतनिश्वासानुसार पातालवत्तितम कदाचिनाशयति कदाचिन नाशयतीत्यनित्यप्रशाशता गत इति ॥ ७० ॥

रक्षोविक्षोभैर्नि अथ अधुना नागाधिरानो वामुकि रक्षसा पित्रोर्नञ्चलन तज्जयवगेनोच्छलित उच्चितनलराशि अत एव च तुच्छीभूतो यो जलनिधि सागरस्तत्र व्यक्ता एकदन्भूता य मातङ्गचापा गनसमूहा तेभ्यो विपक्षशङ्कया क्रुध्यन्तो ये दिङ्नागा दिग्गजास्तेमुक्त व्यक्तमुद्धारणमुपरिधारण तेन गुरभरामनि भारवतीम् उर्ध्वम् पृथ्वीम् अतिरत्नवलिना निरन्तरमाससङ्कोचरूपत्रिवलीसयुक्तेन वामनेन स्वयण अतिपीत्ता अतिस्थूलेन दहेन फणफलप्रपरीणाह फणाम्मूट्पिस्तारम् अपह्वयान गोपयन् अङ्गेषु लयन निलीने अङ्गै दिभक्ति धारयति । युद्धे चलत्सु

फणामणियों द्वारा पातालके अन्धकारको शेषनाग दूर करत है, क्योंकि बाहुलील नाम गविन रावण अपने पदन्यासने गौरवसे उनके श्वाभवी बुद्धि कर रहा है ॥ ७२ ॥

रत्नचूड—( सभय देखकर ) सखे, ठीक वैसे ही,

रावण पक्षयन राक्षसोंके सचरण वेगसे उछलने हुए मारमें मातङ्ग समुदाय प्रकट होता है जिससे क्रुपित होकर दिग्गज पृथ्वीका भाग छोड देते हैं, तब वैश्वल शयके ही ऊपर पृथ्वीका सारा भार आ पडता है अत उनके अङ्ग अङ्गोंमें समाने लगत ह, वन्धियों निकल आती हैं गन् वामन तथा योगी ही उठता ह, इस प्रकार किमी नर

१ 'गुरभराम'।

देहेतापहुधान फणफलकपरीणाहमुर्वी विभर्ति ॥ ७३ ॥

( ऊर्ध्वमवलोक्य । ) ऋषमितरततो वैमानिकैरपक्रम्यते<sup>१</sup> गगनतलान् ।  
हेमाङ्गद — ( सचमत्कारम् । ) अहो त्रिभुवन<sup>२</sup> भयङ्करमायोधनमुपक्रान्त  
महाग्रीराभ्याम् । तथा हि ।

ध्यायत्यथ गाधिसुताद् ग्रीतान्दिव्यास्त्रमन्त्रान्मनुवशरीर ।

ब्रह्मोपदिष्टामिह 'शस्त्रविद्यामनो' तदाकाङ्क्षति राक्षसेन्द्र ॥ ७४ ॥

'तदाजामग्रपसराव । ( इ यपसृयामाते । )

राक्षसपु समुच्छलति सागरजलं प्रवाशीभवत्सु मातृचक्रेषु प्रतिपक्षशङ्कया कुप्य  
द्विदिङ्नागैः परित्यक्ते उपरिधारणव्यापारे प्रवृद्धभाराया भुवि भारोऽधिको नेति  
प्रोधयितुं भाराधिक्येन विस्तीर्यमाणमपि पगसमूहं निरन्तरवलयुक्तेन सर्वेण  
म्यूल्न च दहनं गोपयन् जय शपनागोऽङ्गेषु स्वार्द्रानि मज्जयन्महता क्लेशेन पृथ्वीं  
धारयतीत्यर्थः । 'पीवा च स्तूलपीवरे' इत्यमरः । सन्धरावृत्तम् ॥ ७३ ॥

वैमानिके ध्योमयानस्थितं । अपक्रम्यते अपघ्नियते ।

त्रिभुवनभयङ्करम् लोकात्रयभयजनकम् । जायोधन युद्धम् । उपक्रान्तम् प्रारब्धम् ।

ध्यायत्ययमिति । अथ मनुवशरीरं मनुवशश्रेष्ठं रामं गाधिसुतात् विश्वामित्रात्  
अधीतान् शिञ्चितान् दिव्यास्त्रमन्त्रान्, जृम्भकादिप्रयोगोपनिषदं ध्यायति स्मरति,  
असौ राक्षसेन्द्र इह रणक्षेत्रे तदा रामेण दिव्यास्त्रमन्त्रेषु समयमाणेषु ब्रह्मोपदिष्टाम्  
ब्रह्मणा पूर्यं शिञ्चिताम् शस्त्रविद्याम् आकाङ्क्षति आलोचयितुमिच्छति, तदित्थं  
मुभावपि भीषणं युद्धं प्रक्रमेते इत्याशयः ॥ ७४ ॥

फणमण्डलो विस्तारितं करकं बद्धं पृथ्वीका धारणं करोति ॥ ७३ ॥

( ऊपरकी ओर देखकर ) क्यों, वैमानिकगण आकाशसे इधर उधर भाग रहे हैं ।

हेमाङ्गद—( चमत्कृत होकर ) दोनों महावीरोंने त्रिभुवन भयङ्कर युद्ध प्रारम्भ  
कर दिया है । क्योंकि—

रामचन्द्र विश्वामित्रके पाप पढे गये दिवास्त्रमन्त्रोंका ध्यान कर रहे हैं, और  
रावण ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट शस्त्रविद्याका स्मरण करता है ॥ ७४ ॥

अतः हमलोग भी यहाँ से चलें । ( हटकर खड़े हो जाते हैं )

१ 'आक्रम्यते गगनतलम्', 'अपाक्रम्यते' । २ 'मङ्गभयकरमुपक्रान्तम्' ।

३ 'नास्त्रविद्याम्' । ४ 'तदाभ्यस्यति' । ५ 'तदावापुसृत्वास्वहे' ।

हेमाङ्गद — ( समन्तादवलोक्य । ) मत्से, 'यथा भुवनसलोभस्तथा तर्कयामि—तामिह भानवीयेन, भानवीय राहवीयेन, राहवीय वैष्णवीयेन, वैष्णवीय पौष्पकेतवेन, पौष्पकेतव च' पाशुपतेनास्त्रमखेण प्रतिकुर्माणयो ३ पुनस्त्यक्तुत्स्थकुलैकरीरयोस्तुमुलमायोधन वर्तते ।

रत्नचूड — 'सत्से, कृतिप्रतिकृतीनामत्रिशेषेऽपि जेतव्यमिति रामस्य मर्तव्यमिति रावणस्य निर्णयनिर्भरोऽय सर्वास्त्रमोक्ष । विशिखमुसोपस्थायिनीना च पुनर्देवतानामबलीयानाटोप ६ कल्प्यते । तथा हि ।

यदैवत क्षिपति पत्रिषु राक्षसेन्द्र

भुवनसलोभ भुवनाना सभ्रम । तामिहम् रात्रिदेवतान्म् । भानवीयेन सूर्य देवतेन । राहवायेन राहुदेवतेन । पौष्पकेतवेन कन्दपद्मताकेन, पिण्डु स्वपुत्रे नक्षत्र इति ध गवास्त्रप्रतीकाराय कामद्वयताक्रमेण प्रयुज्यते । प्रतिकुर्माणयो प्रति प्रहरतो । पुनस्त्यक्तुत्स्थकुलैकरीरो रामश्च तयो । तुमु लम् अतिभाषणम् ।

कृतिप्रतिकृतीनाम् अस्त्रप्रयोगप्रत्यक्षप्रयोगागाम् । अत्रिशेष ताव्ये निर्गम्य निमय निश्चयाधीन । सर्वास्त्रमोक्ष सर्वप्रहरणप्रयोग, रामो जेतव्यमिति निश्चिन्व दम्बाणि प्रयुङ्क्ते, रावणश्च अत्र शरे रामेण मन्त्रयमिति निश्चयेन तथा नारीयाशय । विशिखमुसोपस्थापिनीनाम् शरसपाताप्रवर्त्तिनीनाम् अबलीयान् दुर्बल । आटोप गवा रोपो वा ।

यदैवमिति । राक्षसेन्दो रावण पत्रिषु शरेषु मध्ये यदैवतमस्त्र क्षिपति

हेमाङ्गद — ( चारा भार देखकर ) सत्र, भुवनके सशोभको देखकर १ मौचता हैं तामिह अस्त्र मानवान् अस्त्रस भानवीय राहवीयस राहवीय वैष्णवीयस, वैष्णवीय पौष्पकेतवायस, पौष्पकेतवाय पाशुपत अस्त्रम्, श्म प्रकार अस्त्रसे अस्त्रका प्रतीकार करनेवाले रावण तथा रामका भाषण सुद्ध हो रहा है ।

रत्नचूड — अस्त्र प्रयोग तथा प्रति प्रयोगके समान होने पर राम जातनेना निश्चय करके सवाल प्रयोग कर रहे हैं और रावण इतलिये सर्वास्त्र प्रयोग कर रहा है कि मरना है । बाणके आग चलनेवाले अविद्यातुरैवोंमें किसी प्रकार का मर भ नहा देखा जाता है । क्योंकि—

किम् नेवनाके बाणका प्रयोग रावण करता है वह स्वता स्नेहते रामके पाम धीरेसे

१ 'यथायम्' । २ 'च' इति क्विन्नास्ति । ३ 'पौष्प'त्यक्ताकुत्स्थकुलनयो' ।

४ 'सत्से' इति क्विन्नास्ति । ५ 'देवता ग पुन' । ६ 'कल्पयति' ।

स्नेहेन तद्रघुपतेर्मृदु मनिधत्ते ।

या देवतामुपद्राति च गमभद्र-

ग्रास्तादसा दशमुघ्नस्य शनैरुपैति ॥ ७५ ॥

( नेपथ्ये । )

यत्कृत्त दशमुघ्नशिरस्तस्य तस्यैव कान्ता

सक्रामन्त्यामनिशयवती शेषवक्त्रेषु लक्ष्मी ।

यो य कृत्तो दशमुघ्नमुजस्तस्य तस्यैव वीर्यं

लब्ध्या हृष्यन्त्यग्निमधिकं वाहय शिष्यमाणा ॥ ७६ ॥

( नेपथ्ये क्लृप्त । )

उभा—( मत्पर्रोभाशमाकर्ष्य । ) अये, शब्दोपलम्भसर्वतर्केन<sup>३</sup> कर्मणा निर्मितानि<sup>४</sup> त्रिभुवनशेषस्य क्रोड्यमिन्द्रियाणि प्रीणयति ।

प्रयुक्ते तद् रघुपते रामस्य स्नेहेन प्रेम्णा मृदु कोमल मनिधत्ते उपमरति । राम भद्रश्च या देवताम् उपद्राति वागऽभिमन्थयति, अग्नौ श्रवता प्रास्तात् रावणभयात् शनैरुपैति रावणस्य ममीप याति । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ७५ ॥

यदादति । यत् यत् दशमुघ्नस्य रावणस्य शिर कृत्त रामराजंरिद्धन्न तस्य तस्य ण्य द्विनस्य शिरस कान्ता दीर्घा सक्रामन्त्या लब्ध्याया मत्याम् शेषवक्त्रेषु अत्राग्रेषु भुवेषु लक्ष्मी कान्ति अतिशयवता पूर्वापक्षयाऽधिक्य दृश्यते इति शेष, यो य दशमुघ्नमुजं रावणराहु कृत्त रामेण रिद्धन्नस्तस्यैव वीर्यं बल लब्धा शिष्यमाणा दिग्गजशिष्टा गह्वर अधिक हृष्यन्ति पूर्वापक्षयाऽधिकं गर्व प्रकट यन्ति । मन्दाक्रान्तावृत्तम् ॥ ७६ ॥

गम्भीरलम्भेति । 'क्रोड्य त्रिभुवनशेषस्य शब्दोपलम्भसर्वतर्केन कर्मणा निर्मि

थाना ई और राम जिम देवताक वागका प्रयोग करने ई बह देवता परसे रावणके पास धारे धारे पहुँचना ई ॥ ७५ ॥ ( नेपथ्यसे )

रावणक जो मिर कट गद्य उनकी कान्ति शेष सिरोंमें आजाती है अत शेष सिरोंका शोभा बढ जाती है । इभा प्रचार श्रे वाहु कट जाते ई उनका बल शेष वाहुओंको मिल जाता है अत शेष वाहु अधिक गर्वित हो उठते हैं ॥ ७६ ॥

दीर्घा—( हृष्यन्त रोमाशमे सुनकर ) अये, शब्दज्ञानजनक अपने भीषण कर्मसे यह तीन त्रिभुवन श्रोत्रेन्द्रियको तप्त कर रहा है ।

१ 'तस्यैव' । २ 'नेपथ्ये क्लृप्त' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'सर्वतर्ककर्मणा' ।

४ 'क्रोड्यमिन्द्रियाणि प्राणयति त्रिभुवनस्य' ।

( पुनर्नेपथ्ये क्लृप्तम् । )

उभौ—( सभयाद्भुतम् । ) अये, कथमय कपटकण्ठीरवप्रैकुण्ठकण्ठ-  
कठोरकोलाहलकाहलो महानिर्घोष 'प्रजाकोपभङ्गमर्षणि' प्रक्रमते । नून  
चेदानीं कालकूटोपदिग्धैरिव कण्ठध्वनिभिरेव मूर्च्छयता भुवनानि  
भैरवस्य स्मरति सभयमद्य परमेष्ठी ।

( पुनर्नेपथ्ये । )

दिव्यास्त्रैर्भूर्भुव स्वस्त्रितयडमरणोद्दामरैर्यौधधित्वा  
तूनोत्क्षिप्तै शिरोभिर्दशभिरभिनभो दशितैःशदशार्क ।

तार्नान्द्रियाणि प्रीणयति इत्येवमन्वय, त्रिभुवनकोपस्य लोकत्रयस्य शब्दोपलम्भ  
स्वर्त्तकैः शब्दप्रयत्नकारणीभूतेन शब्दश्रवणशक्तिजनकेन कर्मणा प्रागाचरितेन  
शुभकर्मणा अदृष्टेन निर्मितानि इन्द्रियाणि श्रोत्राणि कोऽय प्रीणयति हर्षयति, यस्य  
शब्दश्रवणजनकमदृष्ट भवति तस्यैव श्रोत्रमुत्पद्यते इति श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्दोपल  
म्भककर्मनिर्मितत्वं कथितम् ।

कपटेति । कपटेन ह्यलेन कण्ठीरव सिंह एतादृशो वैकुण्ठो नारायणस्तस्य  
कण्ठादिर्गत कठोरो मटान् कोलाहलस्तद्वत् काहल कटुध्वनि, महानिघोष  
प्रचण्डशब्द अपर्वाणि असमय प्रजाकोपभङ्गम् त्रिलोकसंहारम् प्रक्रमते आरभते ।  
नून निश्चयेन अद्य सग्रति परमेष्ठी ब्रह्मा सभय कालकूटोपदिग्धे विषलिप्ते इव  
कण्ठध्वनिभि स्वकण्ठनादै एव भुवनानि लोकान् मूर्च्छयत मूर्च्छां प्रापयत भर  
वस्य संहारदेवस्य हरस्य स्मरति । ब्रह्मा संहाराय हर स्मरति तन्मयाय कण्ठ  
ध्वनिराकर्ष्यते इत्याशय ।

दिव्यास्त्रैः । काङ्करस्थेन रामेण भूर्भुव स्वस्त्रितयस्य मूरादिसङ्गलोकत्रयस्य  
यत् डमरणचमत्करण तत्र उड्डामरै अतितजरिविभि दिव्यास्त्रै ब्राह्मादिभिरायुधै

( फिर नेपथ्यमें कोलाहल )

दोनौ—( मय तथा आश्चर्यके साथ ) अये, क्यों यह कपटिने वने हुए नारवानके  
कण्ठ-कोलाहलकी तरह मीषण निर्घोष असमयमें प्रजाभोका प्रलय करनेको उचन  
होरहा है । निश्चय ब्रह्माने बरकर हम समय विषदिग्ध-कण्ठ ध्वनिमें जादूकी मूर्च्छित  
करनेवाले भैरवकी यादकी है ।

( फिर नेपथ्यमें )

त्रिभुवनको कम्पित करनेवाले दिव्यास्त्रैमे लहर करणकर करनेवाले अपने

\* 'ब्रह्माण्डकोश-' । २ 'क्रमते', 'अर्थात्' ।

कास्तुत्येनायज्ञीर्णो निजविशिराशिन्नायोगपीठोपहत

ग्रहास्त्रेणाधिसेते रजनिचरपतेर्धारशय्या करन्ध ॥ ७७ ॥

उभौ—(शुक्ला मर्तृमघ्नममूर्ध्वमवलोक्य 'सविस्मयमन्धोन्यम् ।) पर्य पर्य प्रलयकालकरालकालानलज्वालापुञ्जपिञ्जराणि रावणशिरामि । ( सत्व रमुपसृत्व 'चापस्तात्परयत । )

हेमाङ्गद —( मरुणम् । ) हा महावीरप्रकाण्ड लङ्केश्वर, 'पर्यवसि तोऽसि ।

बोधनि-या युद्ध कारयित्वा निजविशिराशिन्ना रज्याणां भाग एव योगपीठ योगा सा तत्र उपहृतम् आतन्त्रित यद् ग्रहास्त्रेण तेन लूनोत्क्षिप्ते सण्डितै उर्ध्वं तिस्रैश्च दशभि शिरोभि अभिभक्त आकाशे दर्शितैकादशार्कं प्रवटावलोकितैकादशभानु विम्ब अरक्षीर्ण भूमौ पातितो रजनिचरपते रावणस्य कव-ध छि-नमस्तकवपु वीरशय्याम् रणभुजम् अधिसेते वाप्रिय रजपिति । 'कण्ठोऽस्त्री त्रियायुक्तमप मूर्ध्ववलेत्र' इत्यमर । दशरावणशिरास्येकश्च प्राकृत सूर्य इत्येकादश सूर्यं दर्शाम् । रामो भूरादित्योक्तप्रियचमत्कारकतेजोधारिभिस्तैस्तैरस्य चिर बोध यित्वा भग्प्रति स्वज्याणां भागं पथोगासनामन्त्रितग्रहास्त्रो रावणस्य दशापि शिरामि चिञ्जरा विद्यत्युचितवान्यैर्वियत्येकादश ( दशरावणशिरासि युक्श्च वास्त निर सूर्य ) सूर्या अदृश्यन्त । एतादृशोऽयं जिन्वशिरा रावणकण्ठो रणभूमि माधित्य शेत इति । स्रग्धरावृत्तमेतत् ॥ ७७ ॥

प्रलयकाले सृष्टिसंहारसमये करालो भीषणो य कालानल प्रचण्डाग्नि तस्य ज्वालापुञ्जयत् प्रभामण्डलवत् पिञ्जराणि पिङ्गलवर्णानि वीर्यकाण्ड प्रशस्तवीर । 'प्रवाण्डमुद्धतरजौ । प्रशस्तवाचनान्यमूनी' इत्यमर । पर्यवसित समाप्त ।

दस मस्तकोसे आकाशमे एकादश सूर्यका दशन कराकर, अपने बाणके अग्रभागमें ब्रह्मास्त्रका आवाहन करनेवाले रामके द्वारा बिखेर दिया गया यह रावणका कव-ध द्वार शय्यापर पड़ा है ॥ ७७ ॥

दोनों—( सुनकर हृष सभ्रमके साथ ऊपर देखकर साश्चर्य परस्पर ) देखो देखो, प्रलयकाल कराल कालाग्निकी ज्वालाकी तरह पीताम रावणके सिर, ( समीप आकर नीचे देखने हैं )

हेमाङ्गद—( वरुण स्वरमें ) हा महावीर लङ्केश्वर, समाप्त हो गये,

भिन्नेरावणगन्धमिन्दुरशिर सम्पातिभिर्मौक्तिके

शश्वद्विभ्वजयप्रशस्तिरचनार्णोपल्लीशिल्पिने ।

नाकान्त पुरिशाकपोलविलसत्शश्रीपत्राङ्कुर

'श्रीविन्यासविलासभीषणभुजम्तम्भाय तुभ्य नम ॥७८॥

( निर्बर्थ । ) सखे रत्नचूड,

ध्रुव पतितपङ्क्तिक्वन्धरकधन्वपीडाभरा

निजावगमनक्रमोत्तमितचक्रवालाचलम् ।

भिन्नैरावणोपि । ( हे रावण, ) भिन्न युद्धे विदारित यत् ऐरावणगन्धमिन्दुरस्य ऐरावतारवणप्रगणस्य शिरो मस्तक तत सम्पातिभि स्पर्शद्रिमौक्तिके मुक्ताफलै शश्वत्सतत मिश्वनयस्य त्रिभुवनत्रिजयम्न या प्रशस्तिरचना प्रशस्तारिपि तस्या वणावलीनाम् अक्षरपङ्क्तिनाम् शिल्पिने निमात्र नाकान्त पुरिशागा स्पर्श रमणीना कपोटेषु विलसन् शोभमान य काश्मीरपत्राङ्कुर उद्धमद्रवकृतपत्रावली प्ररोह तस्य श्रीविन्यासेन शोभासमर्पणन यो व्रिताम जाडा तस्य भीषणो भयङ्करो भुजस्तम्भो षाहुदण्डो यस्म तथाऽन्ताय तुभ्य नम । अयमाशय — ऐरावतकुम्भविदारणविकीर्णमुक्तावलिना निजत्रिबन्धिनवप्रशस्तिरचनयामत्तराणि लिङ्गि, यश्च ह्यत्रगाङ्गानाम्पोलेषु कृते काश्मीरपत्राङ्कुरे श्रियो विलास भयनननेन निवर्त्तयति, अर्थाद्यद्भयेन स्वर्गादना म्प्रकपोलेषु पत्रावलीर्न रचयन्ति, तादृशाय तुभ्य शवणाय नम । इति ॥ ७८ ॥

ध्रुवमिति । कठो तदारयाया दक्षकन्याया कश्यपस्त्रिय अपत्यानि काद्रवेया सर्पास्तेषामधिप जातुकि अर्थं लुडलित सङ्कोचित विग्रहो दह पव आधारक आश्रयस्तेन प्रतीष्टम् अवलम्बितम् फणमण्डल फणमहम्न यस्य तथोक्त मन् पतित भूमौ गत पङ्क्तिक्वन्धरस्य दशश्रीवस्य य कबध शिर शून्यशरीरम् तेन पीडाभरात् व्यथातिशयात् निषेन स्वकीयेन अवनमनक्रमेण उत्तमिता चक्रवाला

विदारित ऐरावत मस्तकमे गिरनेवाले मौक्तिकोत्त विश्वविजय प्रशस्तिवी रचना करनेवाले स्वर्ग रमणियोंके कपोलों पर निघमान काश्मीर पत्राङ्कुरकी शोभाविन्यामको भीषण करनेवाले मुक्तोंसे युक्त तुझ रावणको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

( देखकर ) सखे रत्नचूड,

पङ्क्ति-क्रमसे पतित गदगदवाणी देहके भारसे पृथ्वी नाचें झुकती जा रही है जिससे दिक् चक्रवाल उन्नत होते जा रहे हैं इस पत्रार गेपनागके ऊपर पृथ्वीका भार बढ़ता

१ 'विन्यास' ।



महीचलयमर्धकुण्डलितविभ्रहाधारक

प्रतीष्टफणमण्डलौ वहति काद्रवेयाधिप ॥ ७९ ॥

रत्नचूड —सखे, सर्पमतिशायि रावणस्य । पुरापि खलु

चलति 'जगतीजैत्रे यत्र स्वभोगिचमूभट्टै

र्धलयितमहादेहस्तम्भो विभर्ति भुवस्तलम् ।

प्रचलदखिलक्ष्माभृन्मूलोपलव्यतिघट्टितो

ल्यणमणिशिलाजटपाकीभि फणाभिरहीश्वर ॥ ८० ॥

चला कुलपर्वता यस्मिन् तद् यथा तथा महीचलय भूमण्डल वहति धारयति । शेषनाग अर्धकुण्डलिते निजे देहे फणमण्डलमवलम्ब्य रावणशरीरपातेन भाराधिक्येन यथा यथा शेषस्य फणा नमन्ति तथा तथा कुलाचला ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, पृथ्वीमण्डले शेषफणानमने सत्यधो व्रजति कुलाचला उपरि भवति यत्र तादृश भूचलय धारयतीत्यर्थ । रावणस्य अधभरेण महीचलयस्याधोगमने कुलपर्वताना मुञ्चत्व जानमिति भाव । पृथ्वीवृत्तम्—'जसौ जसयला वसुप्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति तत्त्वज्ञानम् ॥ ७९ ॥

अतिशायि लोकोत्तरम् ।

चलतीति । यत्र यस्मिन् जगतीजैत्रे त्रिश्वभिजयिनि रावणे चलति स्थानास्थानान्तर गच्छति सति अहीश्वर सर्पराजो वासुकि स्वभोगिचमूभट्टै स्वीयसर्पसैनिकै बलयितमहादेहस्तम्भ वेष्टितविशालदेह सन् प्रचलतां रावणचरणवियासभरात् अधोगच्छताम् अतिलक्ष्माभृता सन्तुलपर्वताना मूलोपलै मूलदेशस्थप्रस्तैरव्यतिघट्टिता सङ्घृष्टा अत एव उलवणा तीव्रप्रकाशा मणिशिला फणस्थमणिरूप शिलास्तासां जटपाकीभि कथयित्रीभि फणाभिर्भुवस्तल विभर्ति । रावणे चलति सति भीता सर्पभटा स्वमधीश वासुकि परिवृत्य तिष्ठन्ति, किञ्च रावणचरणभारात्मवै पर्वता अधो गच्छन्ति, तन्मूलपर्वतशिलासङ्घर्षवशात् तीव्रप्रकाशा भवन्ति

जारहा है जिसे वह अर्धकुण्डलित शरार होकर फण मण्डलके द्वारा धारण करते हैं ॥७९॥

रत्नचूड—मित्र ! रावणका सब कुछ लोक विलक्षण ही रहा, पहले भी,

जब रावण विजय यात्रामें चलता था, तब शेषनाग अपने वीर नाग सैनिकोंसे अपने शरीरको वेष्टित करके पृथ्वीका भार बढान करते थे, उस समय उनकी फणायें प्रचलित ममस्त पर्वतोंके मूल देशोंसे घर्षित होकर मणि शिलाकी तरह प्रतीत होने लगती थीं ॥८०॥

इदानीं 'पुनरुत्क्रान्तवायुरतिदुर्बहो देहबन्ध ।

हेमाङ्गद —( अन्यतोऽत्रलोक्य । ) कथमिय दशकन्धरस्य कनधाभि-  
मुप्री शोकविह्वला मन्दोदरी निशाचरीभिरपकृष्यते । ( कर्णं दत्त्वा ।  
आकाशे । ) कष्टम् । चपलरूपिकुलानुक्रियमाणरुणकाकुप्रकार<sup>१</sup>कातरस्वरा  
<sup>२</sup>मन्दोदरी किमाह महावीरवरवर्णिनी—

भूयिष्ठानि मुखानि चुम्बति भुजैर्भूयोभिरालिङ्गयते  
चारित्र्यतदेवतापि भवता कान्तेन मन्दोदरी ।

वासुके फणामगय, तादृक्तीक्ष्णगिधराभि फणाभिरमौ वासुकि पृथ्वीं विभति  
इति भाव ॥ ८० ॥

उत्क्रान्तवायु दहत्रिनिगतप्राणवायु । देहबन्ध क्वथ ।

कनधाभिमुखी शरीराभ्युपितदेशगामिनी । शोकविकल्पा शोकविह्वला ।  
अपकृष्यते अन्यतो नीयते ।

चपलेति । चपलेन स्वभावचञ्चलेन कपिकुलेन वानरसमूहेन अनुक्रियमाण  
अनुकृत्यावर्त्यमान करण दु खोद्रेकशाली काकुप्रकार अतिदीनरूप कातर  
आत्तिथश्चरुश्च स्वरो यस्या सा तथोक्ता । महावीरवरवर्णिनी महावीरस्य राव  
णस्य धर्मभार्या ।

भूयिष्ठानाति । ह लङ्केन्द्र रावण, चारित्र्यतदेवता पातिव्रत्यनियमाधिष्ठात्री  
सती सत्यपि मन्दादरी कान्तेन स्वपतिना दशमुखशालिना विंशतिभुजेन च भवती

इस समय तो प्राणवायुके निकल जानेसे रावणकी देह और मारी हो गई,

हेमाङ्गद—( दुमरी और देखकर ) क्यों, यह शोकमग्ना मन्दोदरी रावणका लाशका  
ओर बट रही है । ( वान लगाकर )

हा कष्ट ! चपलकण्ठिण मन्दोदरीके फुटनको नकल कर रह हैं, महावीर भावा  
मन्दोदरी क्या कहना है—

आपके कान्ठ होनेसे पत्रिणा रद्दकर भी मन्दोदरी बहुत बाहुने आलिङ्गन तथा  
दहन मुर्खोका चुम्बन प्राप्त करती थी आपने मुझ मन्त्रीको बचन दिया था कि म

१ 'अपक्रान्तदेहवासुदुर्बहोऽयम्' । २ 'कातरतरस्वरा' ।

३ 'मन्दोदरी' इति कचिन्नास्ति ।

हा लम्बोदरकुम्भमौक्तिकमणिस्तोमैर्ममैकावली

शिल्पे त्रागर्णिकम्य भवतो लङ्केन्द्र निन्दारस ॥ ८१ ॥

उभो—( सखेदम् । ) इदमशस्यानुभय चक्षु श्रोत्रस्य । प्रतिष्ठताता  
त्रिद्विषामपि व्यसनामतिमा दृश्यमर्माणि स्थिनत्ति । ( मनिमर्शम् । )  
अहह न त्रिचिदनीपत्कर नाम वृत्तान्तस्य ।

वन्दारवृन्दारकवृन्दान्दीमन्दागमालामकरन्दबिन्दुन् ।

हतुभूतेन भूयिष्ठाणि बहुनि दशमुत्तानि चुम्बति भूयोभि विशत्या भुज आलिङ्गयते  
आश्लिष्यते । यद्यपि सत्या बहुमुत्तुम्बान्दानेकभुजालिङ्गनम्य वा सुप्त दुर्लभ  
तथापि दशमुत्तेन विशतिभुजा च पत्या तया सा त पुत्र प्रापितव्यथ । हा  
खेद, लम्बोदरस्य गजाननस्य कुम्भे ये मौक्तिकमणयस्तापा स्तोमे सञ्जुह मम  
एकावली एकसर माह्वयम् तस्या शिल्पे निरचने प्राचा वचनम अधर्माणिकस्य  
श्रण वारयतस्तत्र रानगरस्य निन्दारस निद्रायामनुरक्ति कथमभूदिति शेष । गजा  
नन विजित्य तत्कुम्भनिर्गतमौक्तिके एकावली विरचय्य तत्र कण्ठे परिधापयिष्या  
मीति वचसा स्वीकृतैकावलीसमर्पणरूपमृणमपरिशो य तत्र निद्रागुता निद्रा  
रूपायाद्गनासक्तिर्वा खेदस्य त्रिपय । प्रिय बहुमुखचुम्बन बहुबाहुकृतालिङ्गन च  
दत्तप्रता त्वयैकमिदमेकावलीप्रदान कथ विस्मर्यते इति खेदस्य विषय इत्याशय ।  
'एकावलीकथयिष्ठा' इत्यमर । 'गार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अशक्यानुभवम् ज्ञानुमशक्यम् । चक्षु श्रोत्रस्य चक्षु श्रणर । चक्षुषा द्रष्टु  
श्रोतु च न शक्यतेऽतोऽतीव व्ययकमिदमिति व्यज्यते ।

प्रतिष्ठतानाम् पराजितानाम् । त्रिद्विषाम् शत्रूणाम् । व्यसनम् विषम् ।  
हृदयमर्माणि हृदयस्थकोमलतमभागान् । स्थिनत्ति विदारयति । अनीपत्करम्  
कण्ठसाध्यम् ।

वन्दारवृन्दारकेति । वन्दारश्च चरणपतिता या वृन्दारकवृन्दवन्द्य देवसमूहाना

तुमवो गणेशके मस्तकस्थित मौक्तिकवा एक सूत्रधार वना दूगा, उसे पूरा किये बिना  
आप क्यों सो गये ॥ ८१ ॥

दोनो—( सखेद ) भाँखें तथा कानोंके लिए यह दर्शना तथा सुनना कठिन है ।  
परास्त किये गये शत्रुओंके मो व्यसनसे हृदय छिद्र जाना है, अहह, यमराजके लिए कुछ  
भी करना कठिन नहीं है ।

यही म दोदरी चरणपर गिरनेवाली देवबलिनियोंके मस्तकस्थित म दारपुष्प सवारी

मन्दोदरीय चरणारविन्दरेणुत्तरे ऋक्तरामेर्णात् ॥ ८२ ॥

( नेपथ्ये । )

नीयन्ते वनदेवताभिरमरक्षोणीरहो नन्दनं

नीतो बह्मभवात्तरेण च निजामुच्चैश्च श्रवा मन्दुराम् ।

रक्षोभिश्च विभीषणप्रणयिभिः करारगृहान्मोचितं

स्वर्गन्दीवदनावलोकनिविडग्रीडो विडौजा वृत् ॥ ८३ ॥

ठहता अद्भुता तान्मा मदारमालाया वक्षस्थितमदारपुष्परचितमालयस्य वे  
मनरन्दविद्वद्व पुष्परसकणा तान् चरणारविन्दरेणुत्तरे स्वपादमलमूलीपट्टे  
इय मन्दोदरी ऋक्तराम् कठोरताम् अनेपीव, यस्या मन्दोदया पतन्तीना  
देवमालाना शिरोमदारमन्त्रद्विद्वो नन्दोदरीचरणमलपरामिमिलिता सत  
कठोरता प्राप्ति तादृश्यपीय मन्दोदरी कालचक्रेण चरणं निलपीति नास्त्य  
साध्य यमराजस्येति भाव । ‘ऋक् कठिनेऽयवत्’ इति मेदिनी ॥ इद्वज्रा  
वृत्तम् ॥ ८२ ॥

नायन इति । वनदेवताभिर्वनाधिष्ठागृन्वतानि अमरक्षोणीरहो वनतरव  
नन्दन देवोद्यान नीयन्ते प्राप्यत, बह्मभवात्तरेण प्रियमन्दुरापारलेन उच्चैश्च श्रवा  
नाम इन्द्रास्व निजा मन्दुरा घातिशाला नीत प्रापित, विभीषणप्रणयिभिः विभी  
षणसुदृङ्घि रक्षोभिः विडौजा इन्द्र कारागृहान्मोचितानाम् स्वर्गन्दीनाम् स्वर्ग  
स्थहठहृतमहिलानाम् वदनावलोकनेन मुवनाञ्चणेन निविडा अधिरा प्राडा  
लजा यस्य तथाभूत पूना मया न मोचिता इति एज्जायुत कृत इत्यर्थ ॥ ८३ ॥

मकरन्द विडुओन्तो स्वचरणमलका धूलिनासे कठोर वना दिक् वरता धो । ८२ ॥

( नेपथ्ये )

वनदेवता देववृक्षोको नन्दनवन लिये जा रह डे, इन्द्रकी अशशालोके अ यशने लन्वे  
श्रवाको अपना अशशालामे पहुँचा दिया है । विभीषण अक्षुपानी राक्षसों देवर्षिद्वोंकी  
कारावांस मुक्त कर दिया है और जब वे स्वर्ग पहुँचे तब उनके मुँह देरकर इन्द्रकी  
अपने पराक्रमराहित्यके स्मरणसे लगे लगे लगी ॥ ८३ ॥

१ बह्मव-’ ।

२ प्रमृतिभिः ।

३ ‘मोचिन’ ।

रत्नचूड — ( सहर्षम् । ) सखे, तदेहि । 'लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्र  
वास्तव्य बन्धुवर्गमीत्यावहे' । ( इति 'परिक्रामन्तो विलोक्य सहर्षमन्योन्यम् । )

सखे पश्य पश्य । 'प्रहारजर्जरेवलीमुत्तान्छभल्लगोलाङ्गूल' 'ग्रामस  
वल्गनप्रलितसुग्रीयो लक्ष्मणनिहितधन्वा' विभीषणभुजावलम्बी विजय  
श्रिया किमपि प्रदीप्ररमणीयो 'रामभद्र । अयं हि सम्प्रति

पौलस्त्यन्यस्तशक्तिघ्नकिणकणिकालक्ष्मणो लक्ष्मणोर

पीठान्निर्मुक्तलज्जो विबुधपुरवधूवल्लसपुष्पाभिषेक ।

लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवास्तव्यम् रावणस्य वारागृहे बहुकालाश्रितवसन्तम् ।  
बन्धुवर्गम् स्वजनसमुदयम् । इच्छावहे पर्याव ।

प्रहारेति प्रहारे रावणनाराघतैर्जर्जरा अनिव्यथिता ये वलीमुत्ता वानरा  
अच्छभल्ला भल्लका गोलाङ्गूला वानरभेदा तेषां ग्रामस्य समूहस्य सबल्गने  
सान्त्वने वलित सचेष्ट सुग्रीवो यस्य तथोक्त, लक्ष्मणनिहितधन्वा लक्ष्मणार्पित  
कामुक । प्रदीप्ररमणीय प्रसरतेजा रम्यश्च ।

पौलस्त्येति । पौलस्त्येन रावणेन न्यस्ता प्रहृता या शक्ति अस्त्रभेद तथा यो  
घ्न सतस्य किणकणिका किणलेश लक्ष्म चिह्न यत्र तस्मात् लक्ष्मणोरपीठात्  
लक्ष्मणस्य वल्लस्थलात् निर्मुक्तलज्जा अपगतत्प ( शक्तिविद्ध लक्ष्मणोरो विलो  
क्य लक्ष्मणोज्जीवनेऽपि रामस्य लज्जा न गता इदानीं रावणे हते सा लज्जा गतेति  
भाव ) विबुधपुरवधूमि सुराग्रनाभि वल्लस कृत पुष्पैरभिषेक स्नपन यस्य

रत्नचूड—मख, नी गला रावणके वारागृहमे बहुत तिन रहकर आये हुए  
बन्धुओंको देखे । ( चलते हुए गेवकर सहर्ष ) सखे देखो देखा,

प्रहारेति क्षत्रिक्षेत्र वानर अच्छभल्ल गोलाङ्गूल समुदायसे युक्त सुग्रीवके साथ  
लक्ष्मणके हाथोंमें अपना धनुष देकर विभीषणका हाथ पकड़ हुए राम विजयलक्ष्मीसे  
बुद्ध अधिक रमणीय हो गये हैं, सम्प्रति यह—

पौलस्त्य प्रहृत शक्ति नामक अस्त्रके निहते निहिन लक्ष्मणकी छातीसे लज्जाको दूर

१ 'लङ्केश्वरराधिवामचिरप्रवास यमम्' 'लङ्केश्वरकारागृहाधिवासचिरप्रवासवास्तव्यम्',  
'लङ्केश्वरकाराधिवासचिरप्रवासन्यग्रवन्धुवर्गम्' । २ समीक्षावहे' ।

३ 'परिक्रामन्त' । ४ 'प्रहारविद्ध' । ५ 'सदृग्णव्यथित' ।

६ 'निनिहित' । ७ 'रामदेव' ।

सद्यो नक्षारमन्य रजनिचरपुरीभद्रपीठप्रतिष्ठं

दृष्ट्वा तुष्यत्पुलस्त्यो जगति विजयते जानकीजानिरेक ॥८४॥

( इति 'निष्कान्तौ । )

इति 'दशश्रीनिग्रहो नाम पद्योऽङ्क ।



तथोक्त, मद्य तत्संगात् अन्य नक्षार पोत्र विभीषणम् रजनिचरपुर्या लङ्काया  
भद्रपीठे सिंहासने प्रतिष्ठा यस्य तादृश लङ्काराज्याभिषिक्त दृष्ट्वा हृष्यन् प्रसन्न  
पुलस्त्यो यस्य तयोक्तश्च एक अद्वितीयो जानकीजानि जानकी जाया यस्य नादशो  
रामो जगति विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । 'नृपासन यत्तद् भद्रासनम्' इत्यमर ।  
स्यधरातुलम् ॥ ८४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रशर्मप्रणीते अनर्घराधव 'प्रकाश'  
पद्याङ्क'प्रकाश'



भगवन् देववाण्डो द्वारा पुष्पवृष्टिसे अभिषिक्त होकर, दूसरे नाग्य विभावणको राक्षस  
पुरी राज्यपर प्रतिष्ठित हुए देखकर पुष्पवृष्टिद्वारा प्रसन्न यह अदिनाय बोर रामचन्द्र  
विजयश्री सम्पन्न हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

पद्य अङ्क समाप्त ॥



१ 'निष्कान्ता', 'निष्कान्ता सर्वे' । २ 'दशास्यनिग्रहो नाम' ।

## मल्लमोऽङ्कः

( नेपथ्ये । )

तमिस्रामूच्छालत्रिजगद्गदकारकिरणे

रघूणा गोत्रस्य प्रसवितरि देवे सवितरि ।

पुर स्थे दिक्पालै सह परगृहावासवचना-

त्प्रविष्टा वेदेही दहनमथ शुद्धा च निरगात् ॥ १ ॥

अयमपि—

पकैकानि शिरासि रादासचमूचनम्य हुत्वा निजे

तस्मिन्नेति । तमिस्रा तामसी रात्रिरेव मूच्छां निश्चिद्यतासम्पादिका तद्वत्  
यत् जगत् तस्य अगदङ्कारा नेत्रज्यसम्पादका किरणा यस्य तादृशे तामसी  
निशानिष्क्रियजगत्रिभेष्टाहर् किरणोरपेते रघूणा गोत्रस्य वशस्य प्रसवितरि  
प्रसक्तं देवे सवितरि सूर्ये दिक्पालै इन्द्रादिभि सह पुर स्थे अग्रगतिनि पश्यति  
सति परगृहे राक्षसराजभग्ने य आवास स्थित्यन्त काल यावत् स्थिति तद्वचनात्  
तत्रिमिक्तवनि दावान्यात् हेतो वैदेही सीता दहनम् अग्नि प्रविष्टा । अथ प्रवेशा  
नन्तर शुद्धा पवित्रा निरगात् बहिर्गता । यस्य सूर्यस्य करा तामसीरात्रिनिष्क्रि  
यस्य जगद्वयस्य सत्रियतासम्पादनेन मूच्छांमिव निवर्त्तयन्ति, यश्च सूर्यो रघुवश  
स्यादिपुत्र, तस्मिन् सूर्ये दिक्पालै सह साक्षिणि सति परगृहावासप्रभवचरित्र  
निन्दामल्लङ्घ प्रचालयितु सीता बहिर् प्रविष्टा तत्र शुद्धा च ततो निरगादिः अर्थ ।  
'सिध्मादिभ्यश्चे'ति लधि मूच्छालपदम् । अगदङ्कारो भिपक्, 'कागे सत्यागदस्य'  
इति मुम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १ ॥

पकैकानि । राघवो राम राक्षसचमूचकस्य राक्षसेनासमुदायस्य पकैकानि

( नेपथ्ये )

अधकारम दृढ हुए लाकवयको प्रकाशन करनेवाला किरणोंसे युक्त भगवान् सूर्यके  
उदित होनेपर जो मूय रघुवशके आदि पुत्र हैं उनके प्रकाशित होते ही, समस्त दिग्  
पालोंके सामने, सूर्यके साक्षी रखकर राक्षसगृहासरूप पि दा वचनसे मुक्ति पानेके  
लिये वैदेहाने आगमें प्रवे । किया और शुद्ध होकर निकल आइ । अग्नि परीक्षामें अपनको  
शुद्ध सावित करने प्रमाणित कर दिया कि उनके प्रति प्रचारित बलङ्ककी बात केवल  
कल्पनामात्र थी ॥ १ ॥

रामने राक्षमोंकी सेनाके मस्तकोंद्वारा एक एक करके प्रतापनिर्गमों डोम किया, जिसमें

तेजोग्नौ दशरुण्डमूर्धभिर जे निर्माय पूर्णाहुतिम् ।  
अद्य स्वस्त्ययन समाप्य जगतो 'लङ्केन्द्रवन्दीकृता  
सीतामप्यवतोऽय शोकरभसत्रीडाजडो रावव ॥ २ ॥

क्रमेण च—

सहैव सुग्रीवविभीषणाभ्या सौमित्रिरीतापरिपूर्णपार्श्व ।  
उपैति वैवस्वतवशशृत्तमेध्यामयोध्यामय पुष्पक्रेण ॥ ३ ॥

दिगसि निव नजोग्नौ स्वप्रतापानले हुत्वा हाम कृता अथ तदनन्तर दशरुण्ड-  
मूर्धभिर्दशभी रानाशिरोभि पूणाहुति पूर्णहोम निमाय समाप्तिरालिङ्गी पूणाहुति  
च कृत्वा जगत स्वस्त्ययनो मन्त्रलक्ष्य समाप्य लङ्केन्द्रवन्दीकृता राजेन कारागृहे  
स्थापिताम् सीताम् अत्र अयलौक्य दृष्ट्वा अद्य सम्प्रति शोकन-व्यर्थनिमे निर-  
पराधा राक्षसा मया हता इति दुःखेन, रभनेन विशुद्धाया सीताया लाभान्नाय  
मानेन प्रमोदेन, व्रीडया निष्करणेन मया स्वतः शुद्धापि सीता जानतापि  
वह्निप्रवेशरुष्ट प्रापितेति लज्जया च जड विमुग्ध अस्तीति दाप । शार्दूलवि-  
न्दीकित वृत्तम् ॥ २ ॥

सहैवेति । अथ सीता वह्निप्रवेशकृतशुद्धयनन्तरम् एव सुग्रीवविभीषणाभ्याम्  
सह सौमित्रिलक्ष्मण सीता च ताभ्या परिपूर्णा समृत्तौ पार्श्वो सन्नेतरभागो  
यस्य तयोक्त राम वैवस्वतवशस्य सूर्पकुलस्य वृत्तेन चरित्रैग मेध्याम् पत्रिग्री-  
कृताम् अयोध्याम् पुष्पक्रेण तदारयेन कुन्नेरस्य वायुयानेन उपैति आगच्छति ।  
उपजातिवृत्तम् ॥ ३ ॥

रावणके दशमस्तकीकी पूर्णाहुति पडा आज उमका स्वस्त्वयन समाप्त हुआ, निपटे  
जगत्का कल्याण होगा, भावान् रामने इस प्रकार सभी कार्य म पत्र करके रावण द्वारा  
बन्दी बनाइ गइ सीताको भी देला, इस समय उनके हृदयमें शोक, अतन्द्र और लज्जाका  
भावनासे अडतामी पैदा हो रही है । सकुल राक्षसोंके बधते शोक आनाप्राप्तिये हव तथा  
विशुद्धा सीताको भी अग्निप्रवेश करानेके कारण लज्जा हुआ ॥ २ ॥

क्रमशः मगवान् रामचन्द्र सुग्रीव और विनायकके साथ लक्ष्मण तथा सीताके युक्त  
होकर सूयवशी राजगणके सचरितोंसे पावन इस अयोनागुरीकी ओर पुष्पक विमान  
द्वारा आ रहे हैं ॥ ३ ॥

१ 'वन्दीकृता' ।



( युग्मम् )

( तत प्रविशति विमानयानेन विजयाभिरामो राम सीतालक्ष्मणौ सुग्रीव-  
विभीषणौ च । )

सुग्रीव —( राम प्रति । ) देव,

किं कुर्याणपयोधिसेवितगृहोद्यानाधुनालोक्यता

लङ्केय रघुवशचिक्रमकथाबीजप्ररोहस्थली ।

देवेनात्र दशाननस्य दशभिश्छिन्नै शिरोभि क्रमा

देकैकेन शत शतं शतमखस्यामोदिता दृष्टय ॥ ४ ॥

राम —देवि वैदेहि, दृश्यतामितो लङ्का पूर्वेण सुवेल पश्चिमेन ।

किङ्कुर्वाणिति । किङ्कुर्वाण किङ्कर आनानुवर्त्तीय पयोधि सागरस्तेन सेवितानि  
गृहोद्यानानि यस्या तादृशी तथा रघुवराविक्रमकथाया रघुवशपराक्रमगाथाया  
प्ररोहस्थली उपचित्त्रेणम् इय लङ्का अतुना सम्प्रति देवेन भवता रामेणालोक्यता  
दृश्यताम्, अत्र भवता छिन्नैर्दशाननस्य दशभि शिरोभि एकैकेन शिरसा  
शतमखस्य इन्द्रस्य शत शत दृष्टय क्रमात् आमोदिता प्रसञ्जीकृता । इन्द्रस्य  
प्रथमा शत दृष्टय एकेन छिन्नेन शिरसा आनन्दिता, तदनन्तर द्वितीया शत  
दृष्टयो द्वितीयेन शिरसा छिन्नेनेत्येवमेण सहस्रमपि दृष्टयो दशभि शिरोभि  
छिन्नरामोदिता इति विवक्षितोऽर्थ । शार्दूलविक्रीदित वृत्तम् ॥ ४ ॥

लङ्का पूर्वेण—लङ्कात पूर्वस्या दिशि । सुवेल पश्चिमेन सुवेलपर्वतात् पश्चिमाया  
च दिशि दृश्यतामित्यर्थ ।

( विजयश्रीसम्पन्न भगवान् राम, सीता, लक्ष्मण और सुग्रीव तथा विभीषणका  
विमानद्वारा प्रवेश )

सुग्रीव—( रामसे ) देव,

यद् मागर किङ्करकी तरह जिस लङ्काके गृहोद्यानकी सेवा किया करता है, जिस  
लङ्कामें रघुवशके विक्रमका बीज अद्भुत हुआ, यह बड़ी लङ्का है, आप कृपया देख लें ।  
आपने इसी लङ्कामें रावणके एक एक शिरको काटकर प्रत्येक शिरसे शत्रुकी सौ सौ आँखोंको  
आनन्दित किया ॥ ४ ॥

राम—देवि वैदेहि शहर देखो, लङ्काके पूव तथा सुवेल पर्वतके पश्चिममें लुम्बिं चाहने

त्वदर्थायक्रव्यात्कपिकुलकबन्धज्यतिकरै  
करालैर्यं भूमिर्भुवनभयमद्यापि तनुते ।  
अभूवन्नम्बोधेरिह रुधिरमच्यो युवतय  
सहस्रं साहस्रास्त्रिदिवयुवतीनां च पतय ॥ ५ ॥

अपि च—

उद्यम्य दृष्टनिजपन्नगरत्नमात्रा  
नस्त्राणि चन्दनतरुनुपरि भ्रमन्तः ।  
द्यां ज्योतिरिङ्गणमयीमिह मेघनाद-

त्वदर्थायेति । त्वम् सीता एव अर्थः प्रयोजनस्य स त्वदर्थायो रावण रामश्च  
तयोर्मे क्रव्यात्कपिकुले राक्षसवानरसमुदायी तयोः समुदाययोः कव-ध-यनिकरै  
द्विद्विशिरोदेहराशिमिश्रणैः कराला भीषणा इयः समरभूमिः अद्यापि युद्धेऽपि निवृत्ते  
ऽपि भुवनभयं त्रिलोकीभीतिं तनुते करोति, इह अत्र समरभूमौ रुधिरमच्यं  
शोणितरचिता सहस्रं सहस्रसख्याका अम्बोधैर्युवतयः सागरस्य स्त्रियोऽभूवन्  
अजायन्तः, त्रिदशयुवतीनां देवाङ्गनानां च साहस्राः सहस्रपरिमाणाः पतयोऽभूवन् ।  
सीतामर्थयमानानां कपीनां क्रव्यादानाञ्च मृतानां तनवोऽत्र युद्धक्षेत्रे सह मिलिता  
मन्तीति युद्धसमाप्तावपीदं युद्धक्षेत्रं त्रिभुवनभयं जनयति, किञ्चात्र रणक्षेत्रे  
सहस्रं शोणितनद्यः सहस्रं युद्धे मृता देवाङ्गनानि पतित्वनः वृताश्चानायत  
वीरा इत्यर्थः । ‘शतमानविंशतिकसहस्रादणुः’ इति अणुप्रत्यये महस्रमेऽसाहस्रा  
शिखरिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

वद्यम्येति इह अस्मिन् समरक्षेत्रे कपयो वानरसेनिका मायातमोभिः माया  
कल्पितान्धकारैः अपल्पिता इक्ष्णाम् घाम् आकाशम् इष्टम् निजः स्ववर्तिपदरा  
रत्नमात्रम् सर्पफणामणिमात्रम् यत्र तादृशान् दृश्यमानमणिमात्रप्रकाशान् चन्दन-  
तरुन् वस्त्राणि चन्दनवृक्षरूपप्रहरणानि उद्यम्य उत्थाप्य उपरि आकाशे भ्रमन्त-  
सन्त ज्योतिरिङ्गणमयीम् स्वद्योतव्याप्ताम् वितेनुः कृतवन् । अत्र रणक्षेत्रे मेघनादने

वाले रावण तथा रामक पक्षसे लडनेवाले कपिगण एव राक्षसोंका लाशोंके परस्पर सम्मिलित  
हो जानेसे अति भयङ्कर बनी यह भूमि अब भी सतारकों भयमीन कर रही है, यहाँसे  
सैकड़ों रुधिर की नदियाँ प्रवाहित होती रही हैं, और देवशाशनों द्वारा वृत्त होनेवाले  
दुनारों वीर यहाँ वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

और—मेघनादने जब युद्धमें मायाद्वारा अन्धकार फैला दिया था, तब हमारे कपि  
गण चन्दनतरु रूप प्रहरण हाथमें ले लेते थे चन्दनतरु पर लिपटे हुए सर्पोंकी फणामणियों

‘मायातमोपलपिता कपयो वितेनु ॥ ६ ॥

सीता—अत्र उक्त, अपि इव जैव्य भुजङ्गपाशबन्धन सीताए अणुहातवा तुल्ये । [ आर्यपुत्र, अपि इवैव भुजङ्गपाशबन्धन सीतयानुभाविता यूयम् । ]

राम—आ मैथिलि आम् ।

चरितपीनाडिगणष्टणिति<sup>१</sup> निनिष्ठयूतफणिमणिरभीक्षणम् ।

घनबन्धनवैधुर्यं व्यधुनादिह<sup>२</sup> नौ स विहगेन्द्र ॥ ७ ॥

मायातमसा व्योम्नि आत्रते सति यदा किमपि उग्रपि नादृश्यत तदा घानर सनिका च द्वातस्त्रासृष्टयोपरि भ्रमितुमारभत, तत्र चन्दनतरपु स्थिताना सर्पाणा फणामगद्य एव केवला नादृश्यन्त, तदित्य व्योम्नि सर्पमणिप्रकाशा खद्योता इव प्रतीयन्ते स्मेति भाव । यसन्ततित्क द्रुत्तम् ॥ ६ ॥

इहैव । अत्रैव समरक्षेत्रे । भुजङ्गपाशबन्धनम् नागपाशबन्धनम् सीतया अनुभाविता सीताहेतुनैव यूयमपि नागपाशबन्धनमिति भाव ।

जामिति स्मरणस्वीकृत्योरभिव्यक्तकमव्ययम् ।

नर्बितेति । इह अत्र प्रदेशे चरित पीन स्थूलोऽहिगणो नागसमुदायो येन तथोक्त, अभीक्षणम् पुन पुन ठणितिश्चानुवृत्ति तादृशशब्दपूर्वकम् विनिष्ठयूत-फणिमणि उद्गोर्णसर्पफणरत्न स विहगेन्द्रो गट्ट नौ आवयो रामलक्ष्मणयो घनबन्धनवैधुर्यं दृढनागपाशबन्धनवैधुर्यम् व्यधुनात् दूरीकृतवान् । अत्रैवावयोनागपाशबन्धनोर्निरस्तसमस्तव्यापारयोश्च सतोर्विह्वलतामालोक्य सखर

ही केवल उस अथकारमें प्रकाश देती थी, वह ऐसा लगता था मानों जुगजुओंका प्रकाश मय हो, उन फणमणियोंके प्रकाशसे आकाश प्रकाश दीखने लगता था ॥ ६ ॥

सीता—आर्यपुत्र, क्या यहीं पर सीताके कारण आप लोगोंको नागपाशमें बँधना पडा था ।

राम—हाँ सीते हों,

उस समय गड्डने हमारे बांधनेवाले सर्पोंको मोठी देहोंको धवा डाला, उनके फण मणियोंको उगल दिया, इस प्रकार उस पञ्जिराजने हमारे महान् बन्धन बंधोंको दूर किया ॥

१ 'तमोदलयिताम्' ।      २ 'ठणिति' ।      ३ 'अद्विषन-' ।

४ 'ना विहगेन्द्रे' । 'न स विहगेन्द्र' ।

( विमृश्य <sup>१</sup>सस्मितम् । ) अहो वेपन्यमस्या जाते ।

द्वे तावत्करणे रसान्तरस्यितु शब्दाश्च रूपाणि च  
श्रोतु द्रष्टुनैकमिन्द्रियमुरोगत्यै निगूढ पदम् ।  
अन्येष्वप्यशक्तेषु सस्त्रु जगत् प्राणा स्वदन्तेतरा  
मात् कद्रु यदि प्रसौति भवती भूय सुतानां दृशान् ॥८॥

मुपगतो गहडो वधनरज्जुभाय गतान् सपान् चरिं वा तदीयफगामगीन् भव  
यितुमयोपपन्थेऽगीर्न चात्रा वधनमुक्तान्हापीद्वित्यर्थ । आर्याभेदः वृत्तम् ॥ ७ ॥

द्वे तावत्प्रिति रसान्तरस्यितु रसयितुनास्मादयितु तावत् द्वे करणे  
जिह्वाद्वयरूपे स्थायने, अथ शब्दान् श्रोतुम् रूपाणि श्वेतपीतादीनि च द्रष्टुम्  
एकम् एकम् इन्द्रियम् चक्षुरूपम्, उरोगाय उरसा पुर प्रसूताय निगूढ  
प्रच्छन्न गुप्त पदम् चरणम्, अन्येषु अशक्तेषु भोज्यज्वरपु मन्थयि जगत  
प्राणा वायव्य स्वदन्तेतराम् अस्त्रिदादिष्ठा प्रतीयते, मात् कद्रु, यदि भूय  
पुन भवती इदृशान् सुतान् प्रसौति जनयति, ( नान्या माता ईदृशान्सुतान्  
प्रसौति ) धन्यामि मात् कद्रु, यदिदृशान् पुत्राप्रसूय नान्या मातेदृशान्सुत्रान्  
प्रसौतुमर्हति, त्वया हि ये पुत्रा प्रसूतास्तेषा द्वे निह्वे अन्येषामेकम् रसना, तव  
सुताना सपाना चक्षु श्रवस्तया शब्दान् श्रोतु रूपाणि द्रष्टु चैवमेवेन्द्रिय चक्षू  
रूपम्, अन्येषा तु शब्दान् श्रोतुमपर श्रोत्रम् रूपाणि द्रष्टु चापर चक्षुरिन्द्रियम्,  
अन्येषा शक्ये पाद् प्रकटदृश्यस्तत्र पुत्रास्तु प्रच्छन्ने पादेष्वरसा मपन्ति, अन्ये  
विविधानि इन्द्रियाण्यश्नन्ति तव पुत्रास्तु तानि तानि इन्द्रियाणि परित्यज्य जान्  
प्राणमात्राशिनस्तदित्थ लोकविलक्षणास्तव सुतास्तेन त्व धन्येति तापर्यम्,  
शार्दूलविनीडित वृत्तम् ॥ ८ ॥

( सोचरर मुस्करादृष्टके साथ )

हे मात् कद्रु तुम् हा ऐसे पुत्रोंको उत्पन्न कर सकता हो, दूसरी माता ऐसे पुत्रोंको  
नहीं बना कर सकती है, समाके समा प्राणियोंको एक रमनेन्द्रिय होता है तुम्हारे  
पुत्रोंको छे रसनेन्द्रिय होते हैं, समाके अन्धाय प्राणो शब्द तथा रूपका प्रत्यक्ष अलग-  
अलग इन्द्रियों द्वारा किया करते हैं परन्तु तुम्हारे पुत्र शब्द और रूप दोनोंका प्रत्यक्ष  
चक्षुरूप एक इन्द्रियसे ही करने हैं । आद्यान्य मध्य द्रव्योंके रहनेपर भी तुम्हारे पुत्रोंको  
जाप्राण ( वायु ) ही अन्ते जाने हैं इस तरह तुम्हारे पुत्र लोक विज्ञा हैं ॥ ८ ॥

१ 'मदिरिमितम्' ।

( सचे हसन्ति । )

सीता—( सस्नेहस्मित लक्ष्मणमवलोक्य राम प्रति । ) अज्जउत्त, सौमि  
त्तिकित्तिकन्दलीए उप्पत्तिसेत्त कदरो उण सणित्तेसो । [ आर्यपुत्र, सौमि  
त्तिकित्तिकन्दल्या उत्पत्तिक्षेत्र कतर पुन मन्निवेश । ]

राम—( सहर्षरोमाघम् । ) देवि मैथिलि अयमितो हस्तदक्षिणेन  
दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैरुप्रवीरयोर्लक्ष्मणमेघनादयोर्द्वन्द्वयुद्धं व्यतिक  
रसात्मी सुवेलपाद ।

सीता—जहिं एव

अणुराभरोमकण्ठअसेअजलेहिं णिसाअरी कावि ।

उद्दीविअणिल्वाविअदइदचिदाणलमनु मरेदि ॥ ९ ॥

[ यत्रैव, अनुरागरोमकण्ठस्वेजलैर्निशाचरी कापि ।

सौमित्रोति । सौमित्रेण लक्ष्मणस्य कीर्त्तिर्यशस्तस्या या कन्दली अङ्कुरस्तस्या,  
उत्पत्तिक्षेत्रम् उद्भवस्थानम् । सन्निवश स्थानम् । कुत्र स्थाने लक्ष्मणो मेघनाद  
विक्रित्य स्व यश प्रसिद्ध चकारेत्यर्थः ।

हस्तदक्षिणेन दक्षिणहस्तदिशि । दशरथदशकन्धरस्कन्धावारैरुप्रवीरयो दश  
रथस्कन्धावारो रामसैन्यम्, दशकन्धरस्कन्धावारश्च तत्सैन्यम्, तयो एक  
वीरयो अद्वितीयशूरयो लक्ष्मणमेघनादयो । द्वन्द्वयुद्धं व्यतिकरसात्मी द्वन्द्वयुद्धस्य  
साक्षाद् दृशा । सुवेलपाद सुवलात्पर्वतस्य प्रत्यन्तदेशः ।

अनुरागतिः । कापि निशाचरी राक्षसस्त्री अनुरागात् प्रेमप्रकर्षात् यानि रोम-

( सभी हसते हैं )

सीता—( स्नेहपूर्वक मुस्कुराहटके साथ लक्ष्मणकी ओर देखकर रामसे ) आर्यपुत्र  
लक्ष्मणवा कीर्त्तिलताका उत्पत्तिस्थान कित्तर पडता है ?

राम—( हर्षसे रोमाञ्चिन होकर ) देवि मैथिलि, इधर दायें दायवी ओर दशरथ  
तथा रावणके सेना सन्निवेशोंके पक्षान कीर लक्ष्मण एव मेघनादके द्वन्द्वयुद्धका साक्षी  
सुवेलगिरिवा यह उपत्यका है ।

सीता—जहाँ पर,

एक राक्षसा अनुरागसे उत्पन्न रोमाञ्चोंसे चित्तानलको प्रज्वलित करता है और अश्रु  
जलमे बुताती है इस प्रकार वह रामकी उस चित्तानलमें सुलपुलकर जल रही है ॥ ९ ॥

उद्दीपितनिर्वापितदयितचित्तानलमनु त्रियते । ]

राम—आ जानकि, आम् । इदमेव तल्लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वययव-  
कौतुकागारम् । इह हि

आनीतद्रोणशैलेन सौमित्रे शल्यहारिणा ।

अक्रियन्त जगन्त्येव निःशल्यानि हनूमता ॥ १० ॥

सीता—( स्मृतिमभिनय साधुरागम् । ) अज्जउत्त, किक्किन्धेश्वरकन्या  
वारधुरन्धरो रहुउल्लुडुम्भविहुरधन्नु मो कर्हि हणमन्तो । [ आनन्दुन,  
किक्किन्धेश्वरकन्यावारधुरधरो रघुकुलकुटुम्भविहुरधन्नु म कुन हनूमान । ]

कण्टकानि रोमाञ्च स्वदृगलानि सात्स्विरभावा मकधर्मविन्दवश्च तै उद्दीपितो  
निर्वापितश्च यो दयितचित्तावह्नि तम् अनुत्रियते अनुप्रविश्य त्रियते इत्यर्थ ।  
प्रेमप्रकर्षाद्द्विजरोमाञ्चक्षितानलो ज्वलनि स्वेदनेन च निवाति तादृश चित्तानल  
मनुप्रविश्य त्रियत इत्यर्थ , पशु सह मरगमत्र विवक्षितम् ॥ ९ ॥

लक्ष्मणवीरलक्ष्मीस्वयवकौतुकागारम् लक्ष्मणन यत्र विक्रम्य वीरलक्ष्मी  
परिगृहीता तत्स्थानम् ।

आनानेति । आनीत द्रोणशैले पर्वतविशेषो येन तथोक्तेन सौमित्रे लक्ष्मणस्य  
शल्यहारिणा शल्यास्त्रयया निवारितवता हनूमता जयन्ति त्रयो लोका एव नि  
शल्यानि उद्घृतदुःखशल्यानि अक्रियत कृतानि । लक्ष्मणस्य शल्यमुद्घृतय  
जगत्प्रयसु जीवित हनूमतेति भाव ॥ १० ॥

किक्किन्धेश्वरस्य सुग्रीवस्य स्वन्धावारधुरधर सेनिकाग्रणी । रघुकुलकुटुम्बे  
रघुवशापरिवारे यो विधुर विपत्रस्तस्य वन्तु सुहृत् ॥

राम—हो जानकि, हो यही है वह स्थान जहाँपर लक्ष्मणे वीरलक्ष्मीका वरग  
क्रिया था । यहाँपर,

हनूमन्ने द्रोणदि नामक सुश्रीवनी औषधिका आधारपर्वत उत्तर लक्ष्मणको  
अपनीतशस्य क्रिया था, लक्ष्मणको अपनातशस्य करके हनूमन्ने समारको ही विशस्य  
कर दिया था ॥ १० ॥

सीता—( स्मरणका अभिनय करके ) आयपुत्र, किक्किन्धेश्वरकी मेनाके नायक  
तथा रघुवशके डु व्यापदर्ता वह हनूमन् कहां है ?

राम — देवि निमिराजनन्दिनि,  
 क्षुण्णे निशाचरपतौ रविविम्बवर्ती  
 तातो मया दशरथ स्वयमेव दृष्ट ।  
 तस्याज्ञया रघुपुरीं प्रहितं पुरेध  
 राज्याभिषेकविधिसभृतये हनूमान् ॥ ११ ॥

( विमानवेगनादितकेन । ) देवि<sup>१</sup>, प्रणम्यतामयमितो भगवान्मवुराशि ।  
 लक्ष्मीरस्य हि याद् कृष्णोरस्थाऽपि सुभटभुजवसति ।  
 इन्दु स च मृडचूडामणिरपि जगतामलङ्कार ॥ १२ ॥

निमिराजनन्दिनि विदेहतनये ।

क्षुण्णे इति । निशाचरपतौ राक्षसेन्द्रे रावणे क्षुण्णे क्षय प्रापिते सति रविविम्बवर्ती सूर्यमण्डलस्थस्तातो दशरथो मया रामेण स्वयम् एव दृष्ट साक्षात्कृत, तस्य तातदशरथस्याज्ञया राज्याभिषेकविधिसभृतये राज्याभिषेकोपकरणसम्पादनाय हनूमान् पुरा पूर्वम् एव रघुपुरीम् अयोध्यां प्रहितं प्रेषित । अतोऽसौ दर्शयितुं न शक्य इत्यर्थः ॥ ११ ॥

लक्ष्मीरिति । कृष्णोरस्थापि कृष्णहृदयवासिनी अपि सुभटभुजवसति । वीरजनभुजदण्डनिवासिनी लक्ष्मी सम्पत्, स च मृडचूडामणि शङ्करशिरोभूषणम् अपि जगताम् अलङ्कारी भूषणम् इन्दुश्चन्द्रश्च अस्य सागरस्य यादो जलजन्तु । अत्र सागरे जलजन्तुसाधारण्येन वसन्तावेव लक्ष्मीचन्द्रौ लोके तावतीं प्रतिष्ठागतावित्यहो श्लाघ्यानुभावोऽयं सागर इत्याशयः ॥ १२ ॥

राक्षसराजके मारे जानेपर मैंने स्वयं पूज्य पिताजीको रविविम्बमें देखा, उनकी आज्ञासे राज्याभिषेककी सामग्रियोंकी प्रस्तुत करनेके लिए हनुमान्को पहले ही अयोध्या भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

( विमानकी गतिमें वेग देखकर ) देवि, स्वर देखो, यह सागर है, इसे प्रणाम करो, इस सागरकी कन्या लक्ष्मी भगवान्के हृदयमें रहकर भी वीरोंके भुजदण्डोंमें वास किया करती है, और इसका चन्द्रमा शिवशिरोभूषण होकर भी सत्तारको अलंकृत किया करता है ॥ १२ ॥

( मविमर्शं च । ) -

म्यादेव तोयममृतप्रकृतिर्यदि स्या  
 न्नैकान्तमद्भुतमिदं पुनरद्भुत न ।  
 लक्ष्मीतुषारकरकौस्तुभपारिजात  
 धन्वन्तरिप्रभृतयो यद्वा विवर्त ॥ १३ ॥

अपि च देवि,

आकण्ठदृष्टशिरसाप्यग्निभाव्यपृष्ठ  
 पार्श्वोदरेण चिरमृग्भिरेपास्यमान ।  
 नाभीसरोरुहजुषा चतुराननेन

स्यादेवेति । यदि तोय जलम् अमृतप्रकृति अमृतसमानगुणम् स्यात् स्यादेव युक्तमेव तस्यामृतसमानगुणत्वम्, इदम् जलस्यामृतप्रकृतिवम् न एकान्तमद्भुतम् अत्राश्चर्यम्, पुन किन्तु न अस्माकमद्भुतम्, केवल ध्यमेव जलस्यामृतप्रकृतित्व माश्चर्यं मन्यामहे न पुनरिदं वस्तुतस्तथैत्यर्थं । यत् यस्मात् लक्ष्मी श्री तुषारकरश्चन्द्र, कौस्तुभो मणिभेद, पारिजातो देवद्रुम, धन्वन्तरिवैद्यकविद्याप्रवक्तक, पृतप्रभृतय अस्य सिन्धोरपा विवर्त जलस्य परिणाम, यदि लक्ष्म्यादीना जनक जलं तदा तस्यामृतममगुणव नायुक्तमिति भाव । 'प्रकृतिगुणम्यामे स्यादिति' विश्व ॥ धमन्ततिलक वृत्तम् ॥ १३ ॥

आकण्ठेति । अत्र समुद्रे अरविन्दनाभ पद्मनाभो विष्णु आकण्ठदृष्टशिरसा कण्ठपर्यन्त दृष्टमस्तकेनापि अविभाव्यपृष्ठपार्श्वोदरेण चतुर्मुखतया शिरस्तु कण्ठ पर्यन्त दृश्यमानेष्वपि सकलशिरोऽनुरूपपृष्ठपार्श्वदेशोदराद्यवयवा यस्य न शक्यन्ते विभावयितु तादृशेन नाभीसरोरुहजुषा नाभिकमलस्थितेन चतुराननेन ब्रह्मणा चिरम् बहुकालपर्यन्तम् अग्नि वैदिकमन्त्रै उपास्यमान वन्द्यमान सन्

( थोडा सोचकर ) पाना यदि अमृतके समान गुणवाला है ता वह बेसा ही सकता है, हममें हमको आश्चर्य नहीं होता है, आश्चर्य तो हमको तब होता है जब हम देखते हैं कि लक्ष्मी, चन्द्रमा, कौस्तुभमणि, पारिजातवृक्ष तथा धन्वन्तरि आदि भी पानासे ही पैदा हुए हैं ॥ १३ ॥

और, देवि सीते,

महा भगवान्क नाभिकमलमें रहते हैं भगवान् मन्नाकी गदन तक देख सकते हैं परन्तु पृष्ठ, पार्श्व, उदर आदि अङ्ग भगवान्को दृष्टिमें नहीं आते हैं, हम प्रकार अर्बुद



शेते किलात्र भगवानरविन्दनाम ॥ १४ ॥

( सीता वन्दते । )

लक्ष्मण — यत्सत्यमुत्सर्पिणी<sup>१</sup> धर्मोत्तराणा सिद्धि

जरयतु जगत्कल्पोच्छ्रित्तौ पिपर्तु पयोधरा-

न्वहतु वडवावक्त्रज्योतिर्दधातु सुधाभुज ।

भवतु वपुषा यावांस्तावानगम्यरुघुवा पुन

निर्विरयमपोमीपत्पानस्तपासि नमोऽन्तु व ॥ १५ ॥

शेते निद्राति । अस्मिन् सागरे ब्रह्मणा स्तूयमानो विष्णु शेते, ब्रह्मा हि तत्राभि स्थित, विष्णुना ब्रह्मणो मुग्धानि दृश्यन्ते पर तदनुकूला अन्ये पृष्ठाद्यवयवा न दृश्यन्ते, तत्र कारणद्वय सम्भवति, तत्रैक तावत्तेषा पृथग्भाव एव, भावेऽपि नाभि स्थितस्य वस्तुन शयानो जन केवलमुपरितन भागमेत्र साक्षात्कर्तुमीशो नाघस्त नमपि भागमिति । शेष सुगमम् । वसन्तनिलक वृत्तम् ॥ १४ ॥

उत्सर्पिणी उर्ध्वमाना । धर्मोत्तराणाम् धर्मप्रधानानाम् धर्मनिष्ठानाम् ॥

जरयत्विति । अयम् अपानिधि समुद्र कल्पोच्छ्रित्तौ सृष्टिसंहारममये जगत् जरयतु पयसा प्लावयित्वा गहरतु, पयोधरान् पिपर्तु जलप्रदानेन पालयतु, वडवावक्त्रज्योति वडवानलम् वहतु धारयतु, सुधाभुजो देवान् दधातु अमृतप्रदा नद्वारा पुष्पातु, वपुषा यात्रांस्तावान् यत्परिमाणस्तत्परिमाणो वा भवतु, पुन किन्तु अगस्त्यरुषा अगस्त्यमुनिकोपेन अय सागर ईषत्पान अनायास पातु शक्य, हे तपासि व युष्मभ्य नम, तद् धन्य तपो यत्प्रभावेण विस्तीर्णमपि जगत्संहारसमर्थमपि सागरमगस्त्यकोप पातुमक्षमत, तदस्तु नमस्तपस इत्यर्थ हरिणीवृत्तम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मा जि हें ऋचाओं द्वारा आराधित किया करते हैं, वे पद्मनाभ भगवान् विष्णु इस सागरमें सोते हैं ॥ १४ ॥

( सीता प्रणाम करती है )

लक्ष्मण—यह ठीक बात है कि 'धार्मिक पुरुषोंकी सिद्धि उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, यह सागर प्रलयकालमें जगत्को अपनेमें खिपाके, देवोंको पूर्णकाम किया कर, वडवानलको पोसे, अमृत पिलाकर देवोंको पुष्ट करे, और चाह जैसा आकार क्यों न बनाके, किन्तु कुपित होनेपर अगस्त्यने उसे सरलतासे पी लिया, हे तपस्ये तुम्हें नमस्कार है ॥ १५ ॥

राम—( सप्रहमानम् । ) वत्स किमुच्यते—

मुने कलशजन्मनो जयति कापि गम्भीरता

यया चुलकमम्भसामपि निधि समुत्पद्यते ।

अमुष्य पुनरीशमहे न विवरीतुमुत्तुङ्गता

मया भवति नोच्चकैरहह साऽपि विन्ध्याचल ॥ १६ ॥

अपि च वत्स, दुरवगाहगम्भीरस्वभावानि महता चरितानि ।  
तथा हि ।

जगद्विगमघञ्जघस्मरसहस्रभानुप्रभा-

परिकथितपिण्डितो लवणकूटमेवाण्य ।

मुनेरिति । कलशात् कुम्भात् जन्म यस्य तथोक्तस्य मुनेरगस्त्यस्य कापि अनि  
दांच्या गम्भीरता जयति यया अगस्त्यगम्भीरतया अम्भसानिधि सागरोऽपि  
चुलुक गण्डूपमात्र करपटजट समुत्पद्यते, अतिशायिनी गम्भीरताऽगस्त्यस्य  
यत्समीपे समुद्रोऽपि चुलुकमात्रस्वरूपो जात इत्यर्थ । पुन अस्यागस्त्यस्य उत्त  
ङ्गता विशालताम् विवरीतु वर्णयितु न ईशमहे न प्रभवाम्, यया उत्तुङ्गताया मोऽपि  
सुमेरुस्पर्धयोत्तिष्ठमानोऽपि विन्ध्याचल उच्चकै उन्नतो न भवति, यदीयोत्तुङ्गता  
विन्ध्यमपि नमयामानेत्यर्थ ॥ पृथ्वीवृत्तम् ॥ १६ ॥

जगदिति । अयम् अर्णव सागर जगत ससारस्य विगमस्य नादास्य य  
घञ्ज दिन तत्र घस्मर सर्वसंहारक सहस्रभानु सूर्यस्तस्य प्रभया तेजसा परि  
क्वथित अतितरा पाक प्रापित ततश्च पिण्डित पिण्डाकारता नीत मन् लवण

राम—( आदरके साथ ) वत्स लक्ष्मण, क्या कहना है

कलशजन्मा अगस्त्यमुनिमें कुल्ल इम प्रकारकी गम्भीरता है जिससे उनके आगे  
समुद्र उनके गण्डूपके रूपमें हो गया, उनका उत्तुङ्गताका भी वर्णन करोगे हम असमर्थ  
हैं, जिसके आगे विन्ध्याचल भी ऊंचा नहीं हो सका ॥ १६ ॥

और भी देखो वत्स, मदान् जनके चरितकी गम्भीरता स्वभावतः दुर्बोध हुआ  
करती है, क्योंकि—

प्रत्येकदिनमें ससारकी दग्ध करनेवाले हजार सूर्योंकी किरणोंसे पक होकर  
तथा क्वथित होकर समुद्र लवणका पहाड़ बन गया, और महादेवके मालनेप्रवी भाग

१ वत्स' इति क्वथिनास्ति ।

अथ क्षणमभूद्य ज्वलति कालरुद्रानले

चटश्चटदिति स्फुटन्न भवति स्म यावत्क्षणात् ॥ १७ ॥

सीता—अज्जउत्त, जलणिहिमग्गप्रट्टिणो लङ्कापोदअस्स जम्बूदी  
प्रेयमजमणसिद्दनेह्य को एसो पट्टिहासदे । [ श्रार्यपुत्र, जलनिधिमध्य-  
चातनो लङ्कापोतस्य जम्बूद्वीपोपसयमनश्रहलव क एष प्रतिभासते । ]

राम—येदि भेदिनीनन्दिनि, पतितपौलस्त्यजगद्विजयकेतुदण्डा  
मुनारी कडुत्स्थकुटुम्भुदु समरिभागदायादस्य धानरपते कर्तनम-  
योऽत्र महासेतु ।

कूटम लवणराशिरेव क्षणमभूत् अथ कालरुद्रानले सहारकरुद्रान्तौ ज्वलति सति  
चटश्चटत् इति पतादशशब्दपूर्वकं स्फुटन् यावत् न भवतिस्म अदृश्यता गताऽभूत् ।  
अथ सागर प्रलयदिने प्रागत्युत्सर्गप्रभया कव्यमान सन् लवणपिण्डाकार लभते  
अथ सोऽपि लवणपिण्डो रद्रनेत्राग्नौ ज्वलति सति चटचटशब्द कृत्वा समाप्ति  
याति, इत्यर्थ । पृथ्वीवृत्तम् ॥ १७ ॥

जलनिधिमध्यवर्तिन सागरमध्यस्थस्य । लङ्कापोतस्य लङ्कारूपवहिनस्य ।  
जम्बूद्वीपेन भारतैन उपसयमन बन्धन तत्र शृङ्खला लौहरज्जु इव ॥

भेदिनीनन्दिनि पृथ्वीतनये ।

पतितपौलस्त्ययति : पतित भूमौ गत य पौलस्त्यस्य रावणस्य जगद्विजयकेतु  
दण्ड विश्वविजयपताका तदनुकारी तत्तुल्य यात्रपौलस्त्यो जीवतिस्म तावत्तस्य

जब जलने लगे तब वह लवणरूपमें परिणत समुद्र चटचट शब्द करके, न जाने, कहा  
चला गया, अदृश्य हो गया ॥ १७ ॥

सीता—समुद्रके बीचमें बत्तमान इस लङ्कारूप जहाजको जम्बूद्वीपके साथ बाधनेकी  
बन्धीके समान लगनेवाला यह क्या दिखलाई दे रहा है ?

राम—हे धरतनय गिरे हुए रावण विजयध्वजके समान प्रतीत होनेवाला, यह  
महासेतु है जो कडुत्स्थ वंशके हुए समान भाग लेनेवाले सुग्रीवकी कीर्ति है ।

१ अस्माच्छ्लोकान्द्रो र्कवचित्तुस्तवपु 'अपि च, अचि त्या पन्थान किमपि महता  
मन्धकरिपोर्यदक्षणेऽभुज्ज्योतिस्तदकृत कथामप्यमदनाम् । मुनेर्नेत्रादन्नेर्यदजनि पुतज्जोति  
रदह प्रतेने तेनेद मदतमयमेव त्रिमुवनम् ॥' अथ श्लोको वतने । २ 'वरित्रीनन्दिनि' ।

३ 'दु खविभाग-'. ४ 'वानरपते सुग्रीवस्य कीर्तिमयीऽय' ।

सीता—( सहर्षम् । ) दिष्टिआ अज्जउत्तदसणपञ्चासाए वन्धप्परोह-  
णमहोमह् सेदुबन्धो दीसइ । ( अञ्जलिं बद्ध्वा । ) भअय, णमो दे ।  
[ दिष्टया आर्यपुत्रदर्शनप्रयाशाया वन्धप्ररोहणमहोपव सेतुबन्धो दृश्यते । ]

राम —देवि विश्वम्भरासम्भवे, पश्य परय ।

यथा दूरापातित्रिदिव युवतीनेत्रसुलभा

मपा भर्ता हारावलिबलयलक्ष्मीं वितनुते ।

तथाय माणिन्यस्फटिककनकप्रावशिशखरै

रशून्यात्मा सेतु प्रभवति महानायक इय ॥ १८ ॥

केतुदण्डोऽप्युन्नत आमीन्मृते तस्मिन्नसौ पतित इत्याशयेनेद विशेषणम् । ककु-  
त्स्थकृद्गुणो रघुकुलम् तस्य यद् दु ख सीताहरणज तस्य सविभागे तुलयाशविभागे  
दायादस्य भाग्याहिण अशहरस्य । रघुवशसमदुःखस्य तन्मित्रतया सुग्रीवस्य  
विशेषणमिदम् । कीर्त्तनमय कीर्त्तिस्वरूप ।

वन्धप्ररोहणमहोषधम् स्थापनोत्पादकम् । अत्र सेतो बध्यमान एव मम हृदये  
भवद्दर्शनप्रयासा जातेति भाव ।

विश्वम्भरासम्भवे धरातनये ।

यथा त्रेनि । अपा भन्ता समुद्र यथा दूरापाति दूरागतम् यत् त्रिदशयुवती  
नेत्रम् व्योमचारिदेवाङ्गनानयनम् तेन सुलभा सुख प्रमेयाम् हारावलिबलय  
लक्ष्मीम् धरित्रीकण्ठगतस्रगुपमा वितनुते, तथा अय सेतु माणिक्यशिशुरै स्फटिक  
शिशुरै कनकप्रावशिशुरैश्च अशून्यात्मा पूरितावयव महानायक मध्यमणिरिव  
प्रभवति । अयमाशय—यथामु सागर सुदूरस्थोमदशसञ्चारिण्यो द्वेजाला दूर  
पातिना नेत्रेण पृथिव्या हारबलय प्रतियन्ति तथाऽय महासेतुरपि तत्त मणिमय

सीता—( सुग होकर ) माण्यवश आपको देखनेकी आशाकी मजबूत बनानमें  
मणौषधिका काम करनेवाले इन सेतुके दशन हो रहे हैं । ( हाथ जोड़कर ) भावन्,  
आपको नमस्कार करती हूँ ।

राम—हे पृथ्वीपुत्रि, देवि, देखिये—

जैसे दूर देशमें रहनेवाली देवाङ्गनाओंकी आसों सागरको हारके रूपमें देखना है,  
वसा तरह यह सेतु माणिक्य, स्फटिक तथा सुवर्णके शिखरोंसे बना हुआ होनेके कारण  
उम हारका सुमेरु मा प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

१ 'त्रिदशयुवती' । २ 'विभवति' ।

अपि चास्मिन्वध्यमाने

शैलप्रवेशात्प्रचलीभवद्भि कल्लोलकूटैरभिताडितानाम् ।

आसीद्विपुल्याचलगामिनीनामम्भोधिरेव प्रभवो नदीनाम् ॥ १९ ॥

( सुप्राव प्रति । ) सखे,

तथा सेतुध्रुवात्कलितकपिनिक्षिप्तशिखरि-

प्रतिष्ठावर्धिष्णु क्षणमथ नदीभि प्रतिचहन् ।

प्रस्तरघटितावपवतया हारचलयगतमध्यमगिरिब प्रतीयत इति । 'नामको नेतरि  
ध्ये हारमध्यमणावपि' इत्यनेकार्धध्वनिम-वरी । शिखरिणीवृत्तम् ॥ १८ ॥

शैलप्रवेशादिति । शैलानां सेतुनिमाणायाहृतानां पर्वतानां प्रवेशात् समुद्रवारि  
मध्ये प्रवेशात् प्रचलीभवद्भि चञ्चलता गतै कल्लोलकूटै तरङ्गराशिभि अभिताडि  
तानाम् आहतानाम् अत एव निवृत्त्य पराङ्मुखीभूय अचलगामिनीनाम् यत एव  
पर्वताद्यातास्तास्तपर्वताभिमुखमेव गच्छतीनाम् नदीनाम् पर्वनोद्भवानामपि  
अम्भोधि सागर एव प्रभव उद्गमस्थानम् आसीत्, नदीनां पर्वता प्रभया  
समुद्रश्च गम्य इति नियम, परमत्र सागरे शैलप्रशात् कल्लोलताडनेन परानुय  
नय सागरात्पर्वतानेव प्रस्थिता इति सागर एव उत्पत्तिस्थानतया प्रतीयत  
इत्यर्थ । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १९ ॥

तथेति । तथा सेतुध्रुवया तादृशेन सेतुनिर्माणानुरागेण उत्कलितं उत्कण्ठा  
परवशै कपिभिर्नलादिभिर्वा नरै तिक्षितानां यत् कुतश्चिदानौय घृतानां शिखरिणा  
पर्वतानाम् प्रतिष्ठया स्वान्तरवस्थानेन वर्धिष्णु वर्धनशील, क्षण क्रियन्त काल

जब समुद्र बाधा का रद्द था तब,

पर्वतोंके गिरनेसे चञ्चल होनेवाले तरङ्गसमूहोंसे ताडित होकर उठती नदियाँ फिर  
पर्वतोंमुखी होकर बहने लगीं, उस समय वे नदियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों  
उनका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही हो ॥ १९ ॥

( सुप्रीवके प्रति ) सखे सुप्रीव,

वानरोंको समुद्रमें सेतु बाँधतेवो बड़ी उत्कण्ठा थी वे पर्वतोंको ढा-ढाकर सागरमें  
घालने लगे जिसमें सागरका जल फूलने लगा, और सागर नदियोंके साथ उनकी धाराओं  
में भी बहने लगा, इस प्रकार उसकीप्रतिष्ठा बड़ी, परन्तु जब उखाड़े गये पर्वतोंकी मूल

समुत्खातक्षोणी प्रकुहरप्रतिव्यतिकर

प्रमृष्टाहकार स्मरति तदवस्थो निविरपाम् ॥ २० ॥

सुग्रीव—देव, भवच्चरितचित्रशालिकायामस्माक चेत्सि किं किं नाम न लिपितमस्ति । अपि च ।

‘सेतुद्योगे सपदि’ लवणादन्यमन्तस्तिमिभ्य

कालेनापा मधुत्सपि हि म्यादमुद्भेदयन्त्य ।

शैलक्षेपोच्छलितसलिलव्यूहत्तुच्छे समन्ता-

द्वारा पत्यौ पटुतररय निम्नगा सनिपेतु ॥ २१ ॥

थावत् नदीभि सह प्रतिबहन् प्रतिवृत्तिदिशा गच्छन् अथ अनन्तर समुत्खाताना सनुकरणाय उपाटिताना क्षोणीधराणा पर्वताना विवराणा पूर्त्तं च्यतिकरेण सम्बन्धेन प्रमृष्टाहकार अपगनजलव्यूहिव्रव अपानिधि सागर तटनस्थ प्राचीना दशा गत इति स्मरसीत्यर्थ । पर्वतागमेन जले वर्धमाने समुद्रो नदीभि सहेव प्रतिवृत्तप्रवाहो जात, परन्तु यदोत्पाटितपर्वतमूलस्थलविवरभरणे तदीय जल शोषितं तदासौ पुनरपि प्रकृतिं प्रपन्न इति स्मरसीत्यर्थ । वाक्यार्थं स्मरते कर्म । ‘कुहर सुपिर विलम्’ इत्यमर ॥ २० ॥

भवच्चरितचित्रशालिकायाम् भवकीर्त्या चित्रिताया भवव्यस कथाभृतायामस्मि दन्तवृत्तौ । भवकीर्तिकथापूरित इत्यर्थ ।

मत्स्याग इति । सेतोर्यधस्य उद्योगे उपक्रमे सपदि तत्क्षणात् शैलानाम् पर्वता नाम् चेषात् पातनात् उच्छलितं सलिलव्यूहे जलराशिभि । तुच्छे स्वल्पजले वारापत्यौ सागरे निम्नगा नद्य कालेन उपयुक्तसमयेन अतस्तिमिभ्य अन्तर्गते भ्यस्तिमिमरस्यभ्य लवणादन्यम् क्षारभिन्नम् मधुर मिष्टम् अपा स्वादमुद्भेदयन्त्य प्रकटीकृत्य पटुतररय महता वेगेन सञ्चिपेतु पतिता । सेतुनिमाणपर्य

स्थली-रूप स्मार्योको पूण करते करते उसका सारा जल खप गया तब उसका जलकृन् अहकार समाप्त हो गया और वह सागर फिर पूबदशाको प्राप्त हो गया ॥ २० ॥

सुग्रीव—देव, हमारे हृदय आपके चरितरूप चित्रोको चित्रशाला है, उसमें क्या-क्या न लिखा है ? और—

सेतु बाँधनेके सिलसिलेमें पानीका स्वाद खारा था, उसे जब पर्वतोंके ढाले जानेपर समुद्रका सारा जल ऊपर उठल गया तब जगह खाली देखकर नदियाँ वेगसे भा गईं, और मत्स्योंको मधुर पानी चखनेका मौका मिया ॥ २१ ॥

१ ‘सेतुद्योगात्’ ।

२ ‘अन्यमन्य’ ।

३ ‘पटुतरमम्’ ।

विभीषण — देव मनुप्रशमौत्तिकमणो,  
 सद्य पीत्वा दूरीभिर्जलधिमथ चिराद्दृष्टमैनाकरन्धु  
 प्रीतिप्रौढाश्रुपूरद्विगुणमहिमभिर्निर्झरैः पूर्यन्त ।  
 ये विन्यस्ता पुरस्ताच्चिदि निशि निवहैरोषधीना ज्वलद्भि-  
 स्ने दृश्यन्ते तदात्सोपितकपिशिविरस्मारिण सेतुशैला ॥२२॥  
 सीता—( सस्मितम् । ) अज्जउत्त, गौरीगुरुणो गिरिन्दस्स जुवराओ

तेषु चिप्यमाणेषु च्छलति जलराशौ सागरस्य स्वदवावशिष्टजलतया तिमयो यावह  
 षण्मय जलम्पादमनुभवति तापदेव हि तेभ्यो मधुर सागरजलम्बादमुद्भेदयन्त्यो  
 नद्य सागरे न्यपतन्निवर्ध । यावत्पूर्यशो दारिद्र्यकृत वर्धते तावत्तल्पन्य  
 स्वर्णस्तप्रतिष्ठा रक्षन्तीति च्यन्ते । मदाक्रान्तावृत्तम् ॥ २१ ॥

सद्य शत । पुरस्तात् सेतुनिमाणप्रथमप्रहरे विन्यस्ता सागरे धिस्ता ( सेतु  
 शैला ) सद्य पातसमकालम् दूरीभि गुहाभि जलधि सागरजल पीत्वा अथ  
 जलधिपान कृते दृष्टे मैनाके नाम चन्दौ समुद्रगर्भस्थमैनाकरूपस्वसुहृद्दर्शनेन  
 य प्रीतिप्रौढ आनन्दोत्थ अश्रुपूर नेत्रजलप्रवाहरस्तेन द्विगुणितमहिमभि द्विगुणी  
 भूतमहावशालिभिर्निर्झरैः पूर्यन्त सागर समेधयन्त सेतुशैला सेतुधृता  
 पर्वता, ते निशि निशि प्रतिरात्र ज्वलद्भिर्द्विप्यमाने ओषधीना निवह समूहे  
 तदात्से सेतुन्धकारे उपितामा वास कृतवताम् कपीना वानराणा शिरिरस्य  
 सेनासन्निवेशस्य स्मारिण स्मारका दृश्यन्ते । ये पर्वता सेतवे समुद्रे चिप्यमाणा  
 स्तत्कालमेव सागरस्य जल स्वदूरीभिर्निपीय तद्गुणमभिश्रितस्वसुहृद्मैनाकदर्शन  
 जातान दाश्रुप्रवाहद्विगुणीभूतस्वनिर्झरजले सागर पुनरप्यपूरयन्, निशि निशि  
 ज्वलद्भि स्वावन्धितौषधिभिश्च ये तत्कालतरोपितवानरसैन्यस्मारिण पिङ्गलवर्णस्व  
 प्रभया कारयति, ते पर्वता विलोक्यन्त इत्यर्थ । सन्धरा वृत्तम् ॥ २२ ॥

गौरीगुरो पार्वतीपितु । गिरीन्दस्य पर्वतराजस्य हिमालयस्य । युवराजो

विभीषण—हे देव मनुवशभूषण,

समुद्रमें जो पवन डाल जाते थे व समुद्रका पानी अपनी क रराओंमें भर लिफा  
 करते थे, फिर समुद्रको उद्दर(र)में जब उ हैं अपने मित्र मैनाके दर्शन होते थे तब उनके  
 आनन्दानु प्रवाहकृत झरनोंके बहनेसे समुद्र भर जाना था । उन पवनोंपर बहुत सी  
 ओषधियां रातमें अभा भी प्रवृत्त होती हैं और उन्हें देखकर उस समय वहाँ रहनेवाले  
 कपियोंकी याद हो आता है ॥ २२ ॥

सीता—आयुध्व, गौरीके पिता पर्वतराजके युवराज मैनाका पथ नहीं क्या फिर भी

जलनिधिगर्भवमती मेणात्रो जाणामि पक्षच्छेदं अपि पिणा धावरीभूदो ।  
[ आर्यपुत्र तौरीगुरोर्गिरीन्द्रस्य युवराजो जलनिधिगर्भवमतिमेनात्रो, जानामि  
पक्षच्छेदमपि विना स्थावरीभूत ' । ]

राम — ( 'विहस्य । ) आ जानकि, आम् ।

क्रौञ्चं विमुच्य पुत्रं च पितरं च हिमालयम् ।

प्रविश्य जलधिं पक्षो रक्षणाग्नेन किं कृतम् ॥ २३ ॥

सीता — ( ह्यन्ता पुण्यं प्राण । ) विमानराज, गणपत्तमगचक्रमण  
कोदूहलुल्लसितमाणसास्मि । ता उष्णमेहि दास । [ विमानराज, गगनमार्ग-  
चक्रमणकोदूहलुल्लसितमानसास्मि । तदुन्नम तावत् ' । ]

राम — (सकौतस्मितम् ।) देवि रत्नगर्भागर्भरत्नशालाने, पश्य पश्य ।

ज्येष्ठो युवा च पुत्र । जलनिधिगर्भवसति समुद्रगर्भस्थ । स्थावरीभूत जन्मता  
चरितो जात । पक्षेषु सस्वपि स्थावर मवृत्त इत्याशय ।

क्रौञ्चमिति । क्रौञ्च तन्नामप्रसिद्ध पुत्रम् हिमालय नाम पितरञ्च विमुच्य विहाय  
जलधौ सागरे पक्षो स्वीयौ रक्षताग्नेन मेनाकेन किं कृतम्, पक्षच्छेदरूपापद्युप  
स्थिताया पुत्रस्य पितुश्च रक्षा विहाय स्वमात्ररक्षा कुर्वतोऽस्य मेनास्य किं  
गारवम्, स्वाभितरक्षापूर्वकाररक्षाया एव धीरजनादरणीयत्वात्प्रमाणरक्षामात्र  
कापुष्पकार्यनननाचरितमिति भाव ॥ २३ ॥

गगनेति गगनमार्गं आकाशपथे चङ्क्रमण तिर्यग्भ्रमण तत्र कोतुकम् उत्कण्ठा,  
तेन उल्लसितमानसा पूर्णहृदया । उन्नम उपरि भय । रत्नगर्भा पृथिवी तस्या  
गर्भस्य रत्नशलाकामगिद्युतिस्तद्रूपे, पृथ्वीपुत्रीतिविवक्षा ।

यह स्थावर ना हा ग्ने, यह आप जानत ह ?

राम — ( हम्कर ) हों जानकी हों,

हम मेनाकने पुत्र क्रौञ्च तथा पिता हिमालयको छोड़कर अपनी रक्षा यदि कर दो तो  
तो क्या किया ? उचित तो यह था कि अपना रक्षा भी करते साथ ही पुत्र तथा पिताकी  
रक्षा भी करत ॥ २३ ॥

सीता — ( ह्यन्तो दुः, पुष्पकने प्रति ) विमानराज, आकाशमार्गसे चरनेकी उत्कण्ठा  
हो रक्षा है, थोड़ा ऊपर उठिये ।

राम — ( उन्मुक्तदाके माथ हम्कर ) हे पृथ्वीकी पुत्री सीते, दे-यो—वैमे जैसे यह

१ विहस्य इति कचिन्नास्ति । २ विहस्य' । ३ दान' ।

४ 'रत्नगर्भागर्भरत्नशालाने' इति क्वचिन्नास्ति ।



यथा यथा परं व्योम विमानमधिरोहति ।  
तथा तथाऽपसर्पन्ति परत परितो दिश ॥ २४ ॥

किं च—

आसन्नतपनाश्यानत्वञ्च पुष्पकपीडिता ।  
गगनार्णवयादासि स्तिम्ब्यन्ति स्तनयित्तर ॥ २५ ॥

अपि च—

अमो ते गम्भीरस्तनितरवरौद्रा नयनयो-  
रनायुष्य पुष्यन्त्यवतमसमुच्चैर्जलमुच ।

यथा यथेति । यथा यथा विमानम् पुष्पकार्यमिदं व्योमयानम् परं व्योम उपरितनमाकाशदेशम् अधिरोहति गच्छति उपरि सर्पति, तथा तथा तत्त्वमेव दिश परितोऽपसर्पन्ति चतुर्दिश पलायमाना भवन्ति विस्तारं लभन्त इत्यर्थः ॥२४॥

आसन्नेति । आसन्नेन ममीपवत्तिना तपनेन सूर्येण तत्तेजसा आश्याना शुष्कश्यामीकृतास्त्वच इव त्वच उपरितनभागा येषां ते तथोक्ता पुष्पकपीडिता अनेन वायुयानेन खण्डिता गगनार्णवयादासि समुद्रोपमे सागरे जलचरन्तु चक्ष्मणीयमाना स्तनयित्तरवो मेघा स्तिम्ब्यन्ति आर्द्राभूता शब्दायत्ते । यद्यपि दैवादिक स्तिम्भु धातुरार्द्राभावमात्रार्थकस्तथाप्यग्रार्द्राभावपूर्वक शब्दे प्रयोग प्रसङ्गोपादानार्थो बोध्य इति रक्षिपति । जीवानन्दस्तु अन्तर्भावितग्यर्थत्वमास्था यार्द्राकुर्वन्तीत्यर्थमाह ॥ २५ ॥

अमो त इति । गम्भीरधीरस्तनितम् गजितम् एव स्वस्तेन रौद्रा भीषणा उच्चैर् महान्तश्च अमी मेघा तव नयनयो अनायुष्यम् अनायु प्रयोजकम् दर्शनं व्याघातकरम् अवतमसम् अल्पमन्धकारम् पुष्यन्ति जनयन्ति, मेघान्तव इत् शक्तिप्रतिबन्धकरं तम सृजन्तात्यर्थं, इदोश्चन्द्रस्य उपरि उर्ध्वं परम् अधश्च

विमान ऊपर आकाशमें उठता जा रहा है, वैसे वैसे दिशायेँ दूर भागती चली जा रही हैं ॥ २४ ॥

और, समीपस्थित सूर्यकी विरणोसे जिनकी त्वचा सूख गई है, जिन्हें हमारा यह पुष्पक विमान पीडित कर रहा है, जो आकाशरूप सागरके जलज तु-सदृश प्रवात होते हैं, ऐसे मेघ कुछ गीला ना स्वर निकाल रहे हैं ॥ २५ ॥

और, जिन मेषोंके ऊपर एडनेवाली चन्द्रिकासे आकाशमें आमा तथा अन्धकारमय

विसर्पद्भिर्वेषामुपरि परमिन्दो परिमलै

रसबाधज्योत्स्नातिमिरचयचित्र वियद्भूत् ॥ २६ ॥

सुग्रीव — ( अगोऽवलोक्य सनेतुक राम प्रति । ) देव, 'दूरादवागल-  
लोक्य तावत् ।

निह्नोत्तनतप्रविभक्ति म्प्रस्ववर्णविनिधिप्रपदार्था ।

अम्बुराशिपरिवेषवती भूश्चित्रकुट्टिममिव प्रतिभाति ॥ २७ ॥

अपि च देव,

विमर्षद्भिः प्रमारिभिः येषां मेघानां परिमलैः विमद् असम्बाधा प्रमारशालिनी  
ज्योत्स्ना दीप्ति तिमिरचयश्च तमय चित्र वियद्भूत्, येषां मेघानां चन्द्रस्योपरि  
नीचैश्च प्रचारेण वियति क्वचिच्चन्द्रप्रभाकृत धावल्य क्वचिच्च तम कृत मालिन्य  
तद्गुभ्यसम्पर्ककृत चित्र व विजृम्भत इत्यर्थः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २६ ॥

निह्नोति । निह्नोता गोपिता उन्नतनतयो उच्चनीचयो प्रविभक्तिर्विभागो  
यत्र तादृशी अविभाष्यमाननिम्नोन्नतविभागा सर्वत्र समेव प्रतीयमानेत्यर्थः,  
स्वम्बवणपु निचपीतक्षेतादिरूपेण विनिविष्टा अवस्थिता पदार्था यत्र तादृशी  
दूरतया वर्णभेदमात्र प्रतीयते न पदार्थानां जाति, श्वेत पीत इत्येतावन्मात्र  
व्यवच्छिद्यने न घटपटत्वादिषु यत्र तथोक्तेति भावः । अम्बुराशिपरिवेषवती समुद्र-  
वेष्टिता भू पृथिवी चित्रकुट्टिममिव त्रिचित्रवर्णन्यास कुट्टिम भूमिकर्म इव प्रतिभाति ।  
दूराद् दृश्याया भुवि उन्नतनतविभागो न नायते पदार्थाश्च वर्णमात्रेण ज्ञायन्ते न  
पृथग् जात्या, तदित्यमिय समुद्रपरिवेष्टिता धरा विचित्र कुट्टिममिव प्रतीयत  
इत्युपमा ॥ २७ ॥

चित्र उरस्थित हो रहा है इस दे मेघ गम्भार गर्जनसं माषणता धारणकरके आखोंका  
शक्तिको कम करनेवाले अधिकारकी सृष्टि करते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीव — ( नीचे देखकर, कुतूहलसे रामके प्रति ) देव, दूरसे तनिक नाचेका  
और दूरसे

पृथ्वीपर ऊंच नीच स्थलका विभाग सनाप्त हो रहा है, सभी पदार्थ केवल अपने  
वर्णमें रह गये हैं आकारभेद लुप्त हो रहा है, राम प्रकर यह समुद्रवेष्टिता पृथ्वी चित्रमय  
पकी भूमि-मो दाख रही है ॥ २७ ॥

और, देव

१ 'दूरादवागलोक्य', 'दूरादवलोक्य' ।

अयमनेन महोदधिभोगिना चलयितो वसुधाफणमण्डल ।

जगदनर्गमवाप्य भवादृश किमपि रत्नमहङ्कुरतेतराम् ॥ २८ ॥

सीता—( पुरो दर्शयन्ती । ) को एमो रूपानलज्वालाकलावन्दि  
ज्जमाणजलणितिलरणत्यक्वणिम्मलअम्भलिहसिहरमहस्ममहुरो मही-  
हरो पलोइज्जदि । [ क एप कम्पानलज्वालाकलापक्वथमानजलनिधिलवणस्त  
क्वनिर्मलाभ्रलिट्टिणिखरमहस्रमधुरो महीधर प्रलोक्यते । ]

विभीषण —देवि,

पुर प्रालेयशैलोऽय यस्मिन्मकरकेतवे ।

अयमनेनेति । अयम् वसुधाफणमण्डल पृथ्वीरूप फणसमुदय महोदधि  
भोगिना समुद्ररूपसर्पेण चलयित वेष्टित जगदनर्गम् ससारेऽमूल्यम् भवादृश  
किमपि रत्नम् अवाप्य अहङ्कुरतेतराम् नितरा गवायते । यथा कोऽपि सर्पफण  
स्वरनेन गर्गमुद्रहति तथैव वसुधारूपोऽय समुद्ररूपसर्पेण चलयित फणमण्डलोऽ  
मूल्य स्वादृश रत्नमासाद्य गर्भं धारयतीत्यर्थं । 'द्रुतविलगितमाह नभौ भरी' इति  
लक्षितद्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥ २८ ॥

कल्पानलेति । कल्पानलस्य प्रलयान्ने ज्वालाकलापेन शिखासमुदायेन वध्य  
मानस्य समधिज ताप्यमानस्य जलनिधे समुद्रस्य लवणस्तक्व लवणपुञ्ज तद्वत्  
निर्मलेन अभ्रलिट्टेन ध्योमचुम्बिना शिखरसहस्रेण शिखरसमुदयेन मधुर मनोहर ।  
महीधर पर्वत । प्रलोक्यते दृश्यते, कोय पर्वतो दृश्यते य प्रलयान्निद्रयित  
सागरोत्पन्नलवणराशिरिव धवलं शिखरगणै प्रतीयत इत्यर्थं ।

पुर इति । पुर अग्रेऽय प्रालेयशैल हिमालयो नाम पर्वतो वर्त्तते यस्मिन्  
हिमालये मकरकेतवे कामदेवाय मृतसञ्जीवनी पुन प्राणदायिनी ओषधि कामस्य  
पुनर्जन्मकारिणी दुर्गा पार्वती अजायत जाता, सोऽय पर्वतो हिमालयो यत्र  
पार्वती जाता यया हरकोपानलदग्धोऽपि काम महादेवद्वारा पुनर्जीवित, मही

यह समुद्ररूप नागराज द्वारा वल्यित वसुधारूप फणमण्डल ससारमें अनुपम अमूल्य  
आप सरीखे रत्नको प्राप्त करके अनिर्वचनीय अहङ्कार प्रकाशित कर रहा है ॥ २८ ॥

सीता—( आगे दिखलाकर ) यह कौन सा पर्वत दीख रहा है जो प्रलयानलकी  
ज्वालावलीसे बचयित होनेवाले सागरके जलसे प्रस्तुत लवणकी तरह स्वच्छ तथा ऊचे  
शृङ्गोंसे आकाशकी छूटा हुआ मालूम पड़ता है ।

विभीषण—देवि, यह वही हिमालय पर्वत है जिसपर कन्दर्पको पुनरुज्जीवित करने

मृतसजीवनी दुर्गा महौषधिरजायत ॥ २९ ॥ --

सीता—( नकोतुक्म् । ) अपि इध ज्जेय चन्द्रसेहरणअणाणले आहुदीभूदो भअय मन्महो । [ धधि ईरव चन्द्रशेखरनयनानले आहुतीभूतो भगवान्मन्मथ । ]

विभीषण—आ 'दधि, आम् । इयमुत्तरेण त्रेदस्त्रनलेखा विपमशरदुरन्तसाक्षिणी ।

पुरा पुरा भेत्तुरिह त्रिनेत्रीशृङ्गाटके तुल्यरुषि स्थितेऽपि ।

धग्धग्धगित्यज्वलदेकमन्ये तद्ध्यूमपीडामपि नासहेनाम् ॥ ३० ॥

पधिरपि मृतसजीवनी भवति, नयनानलद्ग्ध कामो महादेवेन गौर्यां परिणीताया देहीकृत इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

धन्द्रशेखरनयनानले महादेवनेत्रवह्नौ । आहुतीभूत हवनीयद्रव्यमभूत् ।

उत्तरेण उत्तरस्या दिशि । देवदारुवनलेखा देवदारुवारियवृक्षधेणी । विपमशरदुरन्तसाक्षिणी कामदेवदहनस्य साक्षिभूता प्रग्यञ्चदशिका ।

पुरा पुरामिति । इह अस्मिन् देवदारुनाने पुरा भेत्तु त्रिपुरारे त्रिनेत्रीशृङ्गाटके नेत्रत्रयरूपवारिकण्टके वह्निस्थापनप्रणवाल्नाद्युचितपात्रभेदे तुल्यरुषि समानकोपाबलम्बिनि स्थितेऽपि एकम् नयनम् धग्धग्धग् इति पुनदानुपूर्वाक्रमाद्पूर्वकम् अज्वलत् ज्वाल, अन्ये ज्वलतो नयनात् त्रिनेत्रे नयने तस्य ज्वलतोऽग्ने धूमपीडाम् धूममग्न्यर्कज कष्ट न असहेताम् न सोढुमश्मेताम् । महादेवस्य त्रिपुनेत्रेषु एक कोपकलुषमपि जान परमपरे पूर्ववदव ध्यानमग्ने अतिष्ठतामित्यर्थ ॥३०॥

वाली मृतसजीवनी महौषधिके रूपमें पावनीने जन्म लिया ॥ २९ ॥

सीता—( कुतूहलके साथ ) यहाँ ही महादेवको नेत्राग्निमें कामदेव आहुति बन गया था ।

विभीषण—हाँ देवि, हाँ, यही उत्तरी ओर दीखनेवाली देवदारुवनपरम्परा उस भीषण बटनाकी साक्षिणी है ।

यहाँ पूर्वकालमें महादेवकी गीतों आलैं एक रूपमें कुपित हो गए थीं, परन्तु उनमें एक ही आँत धक् धक् धक् करके जलने लगी, और दो आलैं उस आगके धूमकी व्यथाको भी नहीं सह सकी ॥ ३० ॥

१ 'वानकि' । २ 'धग्धगित्यज्वलदेक' ।

राम — किमुच्यते ।

नीललोहितललाटलाञ्छने लोचने जयति कोपपावक ।

रक्षितस्य जगदन्तहेतवे यम्य सञ्जलनमात्मभूरभूत् ॥ ३१ ॥

सीता—( राम प्रति । ) अञ्जउत्त, तथा णिरणुक्कोमो कथ उण पटि णिवुत्तो महादेवो देवीए । [ आर्यपुत्र, तथा निरनुकोश क्य पुन प्रतिगित्तो मदादेवो देव्यै । ]

राम --

स्मरपरिभवनि सहायदीर्घैरथ सुभगङ्गरणैरियं तपोभि । -

तद्वहन यदसौ निजेऽपि देहे जयति जगत्पतिरात्मना द्वितीय ॥ ३२ ॥

नीलेति । नीललोहितस्य हरस्य ललाटलाञ्छने भालभूषणभूते लोचने कोप पावक क्रोधाग्निर्जयति, जगदन्तहेतवे त्रिभुवनसहाराय रक्षितस्य यस्य कोपाग्ने आत्मभू कामदेव सञ्जलनम् सम्बुद्धणकाष्ठम् अभूत् यथा वह्निना पश्चात् कार्य करिष्यन् केनापि काष्ठेन न रक्षति तथैव जगत्सहाय रक्षितस्य कोपाग्ने काम देव एव सम्बुद्धणकाष्ठनामभजतेत्यर्थ ॥ ३१ ॥

निरनुकोश निर्दय । प्रतिनिवृत्त कोपान्निवृत्त ( यत्पावती प्रत्यग्रहीत् )

स्मरपरिभवेति । स्मरस्य कामदेवस्य परिभवेन वह्नात्मनाऽपमानेन असहायै सहायकरहितै दीर्घमहद्भि सुभगङ्गरणैरसुभगा अपि सुभगा कर्तुं समर्थं तपोभि तद् प्रताडश कटिन कर्म अकृत कृतवती यत् यस्मान् जगत्पति निजेऽपि देहे स्ववपुष्यपि आत्मना द्वितीय सद्वितीय अर्धनारीश्वर जयति । यदा पार्वती तप-प्रारेभे तदा तस्या कामोऽपि सहाय आसीदित्यसौ अकटोरतया अवर्त्तत, यदा पुन कामो दग्धस्तदाऽसहायतया सा तपोमानमवलम्बनमालोक्य दीर्घं तपश्चक्रे, तेन

राम—क्या कहा जाय, महादेवके ललाटपर वतमान नेत्रकी कोपानिकी जय हो, जिससे प्रलयकालके लिये सुरक्षित रखनेके लिये ही महादेवने उसमें कामदेवरूप इधन टाल दिया था ॥ ३१ ॥

सीता—( रामके प्रति ) वस प्रकार निर्दय होकर भी फिर महादेव पार्वतीको मिल कैसे गये ?

राम—कृदपके जला शिथे जानेपर असहाय होकर पार्वतीने अपना तप बड़ा दिया, और कुछ प्रेता कार्य किया जिससे उसकी तु दरता बढ गई और बाध्य होकर महादेवकी वसे अपना अर्धाङ्गिनी बनाना ही पडा ॥ ३२ ॥

विभीषण — ( 'सपरिहासम् । )

चिरमनया तपसितया कपालविपविषधरेकचित्तम्य ।

चक्रे हरम्य मूर्ति फलमर्ष फलदमर्ष च ॥ ३३ ॥

सीता—( वित्तस्य त प्रति सकौतुकम् । ) कर्त्तरिस्त् उण सणिवेसे भञ्ज-  
वदीए सम्पमङ्गलाए पाणिगहणमङ्गल आसी ।

विभीषण — इदं पुरस्तादोपधिप्रस्थ नाम नगराजनगरम् । अत्र हि-  
सम्प्रदातरि महौषधीमये भूधरे सुखमुवाह पार्वतीम् ।

<sup>१</sup>मूढकङ्कणफणी द्रनिर्भया तारकेश्वरकिशोरदोषर ॥ ३४ ॥

तत्तपसा शिवस्तथा प्रीतो यथा पार्वतीमर्धाङ्गभानमकरोत् इत्यहो धय तत्तप  
इत्यर्थ । पुष्पिताम्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

चिरमनयेति । अनया पार्वत्या चिर मुदीर्घकालपर्यन्त तपसितया तप कृत्वा  
कपाले नरशिर कङ्काले विषे विषधरे च एकम् अनन्यभावानुरक्त चित्त यस्य  
तादृशस्य कपालधारणविषपानविषधरालङ्करणमात्रानुरागिण हरस्य मूर्ति शरीरम्  
अर्धं फलम् लभ्यम् अर्धं च फलद फलप्रद चक्रे । तपस्याप्रसन्नेन शिवेन पार्वती  
स्ववपुषोऽर्धे निवेशिता, तथा च तपस्याफलमर्धं शरीरमजनि, अर्धं चावशिष्य  
माण शिवाशभूत वपु फलदानरूप स्थितम्, तदित्यमर्धस्य फलात्मकरवमर्धस्य  
फलदानरूपमकल्पयदित्याशय ॥ ३३ ॥

सम्प्रगन्तरोति । महत्स्य ओषधय लताप्रियोपास्तमये तद्बहुले महौषधिगण  
पूर्णे भूधरे हिमालये पर्वते सम्प्रदातरि दानकर्त्तरि सति तारकेश्वरश्च द्र स एव  
किशोरो बाल स दोषर शिरोभूषण यस्य तादृशो बालचन्द्रभूषण शिव मूढ  
ओषधिसान्निध्यवशाद् भीततया किमपि चेष्टितुमदाक्तो य कङ्कणफणी द्र शिवकर-

विभीषण—( परिहासके साथ ) कपाल तथा विषधरके साथ रमनेवाले शिवको  
भी चिरकालक तपस्या करके पावतीने इस प्रकार अपनाया कि उन्हें अपना आधा अङ्ग ही  
तपस्याके फलके रूपमें पावतीको देना पडा, आधा अङ्गसे ही बड़े तप फलदायक रहे ॥३३॥

सीता—( मुस्कराकर-विभीषणके प्रति ) बड़े कौन सा स्थान है जहाँ पावतीका  
विवाह सम्पन्न हुआ था ।

विभीषण—यह आगेवाला ओषधिप्रस्थ नामक हिमालयका नगर है, यहीं पर  
महौषधियोंसे भरे हुए हिमालय कन्वादान कर रहे थे, इसीमे महादेवके साथ डरकर  
छिप गये, पार्वती निभय बैठी रहीं, अत महादेव पावतीका पाणिग्रहण कर सके ॥ ३४ ॥

१ 'सदासन्' । २ 'मूढ', 'मुग्ध' ।

राम — आ देवि, इहैव

पितरि निजतुहिनसंपत्कल्पितहेमन्तविभ्रमे गौरी ।

निर्मदभुजङ्गभूषणमभीषणं प्रियकरं भेजे ॥ ३५ ॥

सीता—( सस्मितम् । ) अज्जउत्त, अबि एदस्सि जेठ्व मअणत्तणु-  
दहणप इअणिरत्पणो फुडमविस्ससन्तीए गोरीए चन्दचूडो सघट्टिदो  
णिअसरीरेण । [ आर्यपुत्र अप्येतस्मिन्नेव मदनतनुदहनव्यतिकरनिरात्मीय स्फु-  
टमविध्वंसन्या गौर्या चन्द्रचूड सघट्टितो निजशरीरेण । ]

राम —( विहस्य । ) आ देवि,

वलयीभूतसर्पस्ततो निर्भयाम् अभयभीताम् पार्वतीम् सुगम् अक्लेशम् उवाह  
पाणौ गृहीतवान् । महादेवेन पार्वत्यां पाणौ गृह्यमाणाया शिवकरस्थे सर्पे सव्यापारे  
वदाचित् पार्वती निभियात्ततश्च तत्पाणिग्रहणम् सुखसाध्यं न स्यात्, पर  
महीपधिमये हिमालये दातरि सन्निहितमहौपधिनिवहप्रभावात् निश्चेष्टकल्पे वलय  
सर्पे पार्वत्या भयोदयस्याभावेन शिखस्ता सुख पर्यणैपीदित्यर्थः । रथोद्धतावृत्तम्,  
'स्यान्नराविह रथोद्धता लगी' इति तल्लक्षणम् ॥ ३४ ॥

पितरीति । निजतुहिनसम्पदा स्वप्रालेयसमृद्ध्या कल्पित कृत हेमन्तविभ्रम  
हेमन्तर्तुविलासस्तद्भ्रमो वा येन त्वादशे पितरि स्थिते सति गौरी पार्वती निर्मद  
शीत्याधिक्येनोपशमितत्रिपगर्वो यो भुजङ्ग सर्पं न भूषण कङ्कणो यत्र तादृश  
हृत् । पितृसम्बन्धिहेमन्तसम्पादक  
ति अभयङ्कर प्रियतमस्य हस्त

राम—हाँ देवि सीते, यहाँपर—

पार्वतीके पिता हिमालयने अपने बर्षके प्रनापसे हेमन्तका समय ला दिया, अत  
महादेवके सर्पोंका विष उतर गया, फलतः पार्वती निभयभावसे अपने प्रियतमका हाथ  
पकड़ सकी ॥ ३५ ॥

सीता—( मुस्कुराकर ) आर्यपुत्र, क्या रसी जगह कदपकी देह जलाकर महादेवने  
जो निर्भयता प्रकटकी थी उसीपर विश्वासरहित होकर गौराने महादेवको अपने शरीरसे  
जोड़ लिया ।

राम—( मुस्कुराकर ) हाँ देवि,

एतस्यां हि तुषारभूधरशिर सीञ्चि प्रियार्धेन च  
 स्वेनार्धेन च तादृशे पशुपतौ वृत्तेऽर्धनारीश्वरे ।  
 शोपेणार्द्युगेन सप्रहसनं गौरीमखीभिस्तदा  
 चक्रे दक्षिणवामयोर्विनिमयादन्योऽर्धनारीश्वर ॥ ३६ ॥

अपि च—

'सभोगानतिरिच्यमानविभवो यद्विप्रलम्भो रस

एतस्यानीति । एतस्याम् अत्र तुषारभूधरस्य हिमालयपर्वतस्य शिखरसीग्नि  
 शृङ्गप्रदेशे ( अत्रच हिमालयशृङ्गे ) प्रियार्धेन गौरीदहार्धभागेन स्वेन अर्धन स्त्रीय  
 देहार्धभागेन च तादृशे स्वतपोरुचार्थं काममन्त्रिज्वालाया होम कृतवति अपि  
 पशुपतौ अर्धनारीश्वरे अधःङ्गतपार्वतीस्वरूपे वृत्ते जाते सति तदा तत्र समये  
 सप्रहसन सोपहामम् शोपेन अवशिष्टेन अर्धयुगेन पार्वत्या शिवस्य चाधाध  
 भागाभ्याम् दक्षिणवामयोर्विनिमयात् व्यत्यास कृत्वा अन्यो द्वितीयोऽर्धनारीश्वर-  
 श्वक्रे । सोऽय शिवो, य पूर्वमाननस्तपसि स्त्रिय मनिधानमपि विघ्नममन्यत,  
 सप्रति प्रियार्धघटितनिन्दहार्धधर सम्पद्यन इति सोपहाम्या गौरीसख्य शिवयोरेव  
 शिष्यमाणेहाऽद्वयेनापरमर्धनारीश्वर व्यधात्, पर पूर्वतनेऽर्धनारीश्वर पार्वती  
 वामार्धे शिवश्च दक्षिणार्धे स्थित, पश्चान्मर्ग्याभि कृते चाधनारीश्वरे गौया दक्षिणार्ध  
 रूपता तदृशस्त्वेव शिष्यमाणत्वात्, शिवस्य वामार्धमागता, तस्यापि तदशमात्र  
 शिष्टादिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

सभागेति यत् यस्य द्विव्यमिथुनस्य विप्रलम्भो रस शृङ्गारप्रभदभूतविप्र  
 लम्भारयो रस सम्भोगानतिरिच्यमानविभव सभोगापेक्ष्यानतिरिक्तरूप अर्ध  
 नारीश्वरस्य यस्य वियोगामभवेन विप्रलम्भोऽपि सभोगातिरिक्तया वक्तुम-

इसा हिमालय पर्वतका सामाने अपना जना शरीर और पावनाके आधा शरीरको  
 मिलाकर एक महादेव अधनारीश्वर बन गये तब पावनाका सखियोंने शय आधे आधे  
 शरीरोंको मिलाकर एक दूसरा अननाराश्वररूप प्रस्तुतकर दिया था, परन्तु परिहासाथ  
 सखियों द्वारा प्रस्तुत उस अधनारीश्वर शरीरमें पावनीका दक्षिण भाग तथा शिवका  
 वाम भाग था ॥ ३६ ॥

और—जिम अधनारीश्वरको विप्रलम्भ रस भी सभोग स्वरूप ही हुआ करता है  
 अर्थात् जिसके लिये शृङ्गार रसका दूसरा विप्रलम्भामक भेद अस्पष्ट है, परस्पर मिलित



स्तद्विष्य मिथुन परस्परपरिस्यूतं नमस्कुरुमहे ।  
 एकस्या प्रतिप्रिम्बसंभृतविपर्यासे मुहुर्दर्पणे  
 सव्याङ्गस्थितिकौतुकं शमयति स्वामी स यत्रापर ॥३७॥

विभीषण—देव,

स्वच्छन्दैकस्तनश्रीरुभयमतमिलन्मौलिचन्द्र फणीन्द्र  
 प्राचीनाचीतवाही सुखयतु भगवानर्धनारीश्वरो व ।

शक्यस्तत् परस्परपरिस्यूतम् अन्योन्यमिलित तत् दिव्यम् विलक्षण मिथुनम्  
 स्त्रीपुद्गन्दम् नमस्कुरुमहं प्रणता स्म, एकस्या गौर्या प्रतिप्रिम्बसंभृतविपर्यासे  
 प्रतिप्रिम्बे स्वस्य वामभागेऽप्रस्थितिं दृष्ट्वा कथमय मा वामभागे गोण स्थापयतीति  
 प्रतिप्रिम्बदर्शनकृतद्विप्रिपर्यये जाते सति मुहु चारवार दर्पणे सव्याङ्गस्थिति  
 कौतुकम् वामाङ्गस्थितिजन्मोत्सुक्यम् अपर स स्वामी शमयति निवर्तयति, यदा  
 पार्वती स्व वामभागावस्थान दृष्ट्वा कुप्यति तदा मग्मुखस्थे दर्पणे परस्य तत्र  
 स्व व दृश्यसे ? इत्येव वद्वयित्वा तस्या औत्सुक्य शमयति शिव इत्यर्थ । दर्पणे  
 वामभागस्थ वस्तु दक्षिणभागे दृश्यत इति पार्वत्यपि तत्रात्मान दक्षिणभागस्था  
 प्रतीत्योत्सुक्य जहातीति बोध्यम् । शार्दूलविश्रीडित वृत्तम् ॥ ३७ ॥

स्वच्छ देवि । स्वच्छन्दा स्वतन्त्रा द्वितीयस्तनकृतस्थानसङ्कीर्णतारहिता एक  
 स्तनश्री एककुचशोभा यत्र तादृश, उभयमत उभयसाधारण मिलन् मौलि  
 चन्द्र यस्य तथोक्त फणीन्द्रप्राचीनाचीतवाही दक्षिणस्कन्धे तिर्यग्वर्त्तमान यज्ञसूत्र  
 प्रधान भगवान् अर्धनारीश्वर व सुम्नान् सुखयतु आनन्दयतु । यस्य अर्धे  
 देहार्धे विश्वस्य जगतो दाहे व्यसन यस्य तादृश विसृमर ज्योतिर्यस्य तादृश च,

उम दि य स्त्री पुरुषको नमस्कार करना है । जब पावती अपनेको दपणमें विपरीत  
 दिशा ( दक्षिण भाग ) में अवस्थित समझने लगती हैं तब उन्हें महादेव यह कहकर वस्तु  
 स्थितिसंभवगत कराते हैं कि तुम ठीकही हो, दपणमें उल्टा ही दिखाई देता है ॥ ३७ ॥

विभीषण—देव,

स्वच्छ द रूपमें एक स्तन है, दोनों भागमें मस्तक पर चन्द्रमा विद्यमान है, दायें  
 कंधे पर संपराङ्गरूप यज्ञोपवीत लटक रहा है, ऐसे अर्धनारीश्वर आपकी आनादित्र करें  
 जिनके अर्धाङ्गमें समारको जलानेवाली ज्योतिसे युक्त नयन, और आधेमें विश्वसंहार

यस्यार्धं विश्वदाहृद्यसमविष्ट<sup>१</sup>मर-ज्योतिरर्धं कृपोद्य  
द्वाप्य चान्योन्यवेगप्रहृतिस्मिसिमाकारि चक्षुन्वृतीयम् ॥३८॥

अपि च—

स्वेदाद्र्वामकुचमण्डल<sup>२</sup>पत्रभङ्ग  
मशोषिदक्षिणकराङ्गुलिभस्मरेणु ।

स्त्रीपुनपुसकपद्व्यतिलङ्घनी<sup>३</sup> व

शमोस्तनु सुखयतु प्रकृतिश्चतुर्थी ॥ ३९ ॥

अर्धे अपरदेहाध कृपोद्यद्वाप्य विश्वदाहृददर्शनजनितकृपाप्रसूताधु च, नयनम्,  
अत एव अन्योन्यवेगप्रहृतिभि परस्परवेगममाप्तिभि परस्परवगसमाप्तिकृतस्मि  
सिमाकारि तृतीय चक्षुरस्ताति शेष । अर्धनारीश्वरो व सुखयतु यस्यैक पुर  
स्तन उभयो साधारणश्चन्द्र शिरसि, दक्षिणस्केध निर्यग्लम्बमान यज्ञोपवीत  
च विद्यते, द्विज यस्यैकत्र नयने विश्वदेहनयासक्त प्रभुमर च ज्योति, अपरत्र  
नयने च विश्वदाहृददर्शोदितवर्णानन्य दाप्यम्, आभ्यामग्निवाप्पाभ्या परस्पर  
रयाहृतशक्तिभ्या तृतीय नयन स्मिसिमिनाद्भ्युत चास्तीत्यर्थ । मिमसिमेति  
शदानुकरणम्, अग्नो जलमयागे परस्परशक्ति-यावातजमा तादृश शब्दो जायते,  
तद्विद तृतीयनेत्रस्य स्मिसिमाकारितोक्ता ॥ ३८ ॥

स्वेदाद्वेति । स्वेदाद्र्वामकुचमण्डलपत्रभङ्ग  
चामस्तनस्थितपत्रावलीविरचना तस्य सगोपी तदार्द्रताहर दक्षिणकराङ्गुलिभस्म  
रेणु दक्षिणकराङ्गुलिस्थविभूतिधूलिर्वत्र तादृश ।

वामार्धे पार्वती दक्षिणार्धे शिव इत्यर्धनारीश्वरस्य मूर्त्तिस्तत्र शिवे पार्वतीकुचे  
पत्रावली रचयति सति वामभागस्थकुचमण्डले सात्त्विकभावरूपो य स्वेद उदयते  
तस्य शिवकरस्थाङ्गुलिभस्मरेणुना शोषण क्रियत इत्यर्थकमिद विशेषणम् ।

स्त्रीपुनपुसकपद्व्यतिलङ्घनी सत्तल्लिङ्गत्रयव्यतिगिक्ता धत पुर चतुर्थी  
प्रकृति शमोस्तनुर्व सुखयतु, सा हि तनुर्न स्त्रीरूपा पुरपल्लिङ्गधारणात्, न

इत्यनेमे उत्पन्न दवाके आसू, एव एन दोर्गोके परस्पर मिलनस वृत्ताव न्त्रमे स्मिसिमाइट  
व्यपन्न हुआ करती है ॥ ३८ ॥

और—अधभागस्थ सात्त्विकभावोरितन वामकुचमण्डल पर वर्तमान पत्रावलीको  
निमके दक्षिणभागस्थ अङ्गुलिमें लग्न भस्म सुजाता है, ऐसे महादेवकी वह देह जो  
स्त्रीपुनपुसकके विलक्षण चतुथ लिङ्गकी है, आपको आनन्दित करे ॥ ३९ ॥

१ विस्मरज्योति ।

२ ‘पत्रभङ्गा-’ ।

३ ‘लङ्घनीना’ ।

( 'अन्यतश्च दर्शयन् । )

आधत्ते दनुसूनुसूदनभुजाकेयूरवज्राङ्कुर-

व्यूहोल्लेखपदावलीत्रलिमयैरङ्गैर्मुदं मन्दर ।

आधारीकृतकूर्मपृष्ठकपणप्रक्षीणमूलोऽधुना

जानीम परत पयोधिमथनादुच्चैस्तरोऽय गिरि ॥४०॥

राम -- ( निर्बर्ण्य सस्मितम् । )

तत्तादृक्फणिराजरज्जुकपणं संरूढपक्षच्छिद्रा

धुरूपा खीचिह्वयुचादिसम्भात्, नापि नपुंसकरूपा उद्भूतस्त्रीवपुस्त्वव्यञ्जकचिह्न  
गालित्वात्तद्वियमिय चतुर्थी प्रकृतिरिति बोध्यम् ॥ ३९ ॥

आधत्त इति । मन्दर गिरिविशेष दनुसूनुदानवस्त सूदनो तिहन्ता विष्णुस्तस्य  
भुजासु चतुर्षु ग्राह्यु ये केयूरा अद्भुता तेषा वज्राङ्कुरव्यूहै हीरकाङ्कुरनिचयै  
उल्लेखेन घर्षणेन या पदावली रेखाममूह स पदावली उदरस्थरेखात्रिंशत्पा  
तमयैरङ्गैर्मुदम् दर्शयन्जननयनानन्दम् आधत्ते जनयति, समुद्रमन्थनसमये  
मन्थानभूतोऽय मन्दराचलो विष्णुना ग्राह्यभिर्धत्त इति तस्य त्रिणुवाद्भुस्थितकेयूर  
सञ्चितहीरकैः सङ्घर्षणं जातं येन तत्र रेखा जाता यास्तदुदरस्थरेखाव प्रतीयमाना  
भवन्ति, एतादृशोऽय मन्दराचलो नयनान्यानन्दयतीत्यर्थः । अय गिरिमन्दर  
आधारीकृत समुद्रमथनकाले आधारता नीत यत्कूर्मपृष्ठं तेन कपणात् घपणात्  
प्रक्षीण मूल यस्य तथाभूत, अतश्च पयोधिमथनात् समुद्रमथनात् पूर्वम् उच्चैस्तर  
अस्तिमहान् आसीदिति अधुना जानीम । अयमाशया-विष्णुना समुद्रमथनसमये  
कूर्मपृष्ठपात्रीकृत तत्र मन्थानभूतस्य मन्दरस्य मूलं घृष्टसत् क्षय गतम्, अत  
सम्प्रतीदं धनुः शस्य यन्मन्दरो यत्परिमाणं सम्प्रति विलोक्यते, समुद्रमथनात्पूर्वं  
ततो महानासीदिति । तादृक् विक्रीडितं वृक्षम् ॥ ४० ॥

तत्तादृगिति । अय मन्थाचल मन्दर तत्तादृक् तथाविधम् फणिराजरज्जुकपण

( दूसरी ओर दिखाकर ) शानबोक सहर करनवाल मगवान् विष्णुक भुजमें वत्तमान  
केयूरमें खचित हारेकी रगडसे चिह्नित यह मन्दराचल आंखोंको आनन्दित कर रहा है,  
इसके नाचे जो कूर्मरान हैं उनकी पीठमें किन्ते रहनेसे इसका जड बिल गइ है, मैं  
समझता हूँ, समुद्र मथनसे पूर्वकालमें यह मन्दराचल बहुत ऊंचा पहाड रहा होगा ॥४०॥

राम -- ( देखकर तथा मुस्कराकर ) उस तरहके सर्परूपरज्जुके घपणको पिससे  
पक्षच्छेदवाली जगहमें ममान्तिक पीडा होती होगी, इस मन्दराचलने कैसे सहन किया ?

घातारंतुदमप्यहो कथमय मन्धाचल सोढवान् ।

एतेनैव दुरात्मना जलनिप्रेस्थाप्य पापामिमा

लक्ष्मीमीश्वरदुर्गतव्यवहृतिव्यस्त जगन्निर्मितम् ॥ ४१ ॥

सीता—( 'मोद्वेगम् । ) इमिणा ज्ञेय्य मत्पुसेमीविदुद्धसाअरेण चन्द्रमुद्धरिअ पउसिदभत्तणो इत्थिआजणस्स उवरि चारहली विढत्ता । [ अनेनैव मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण चन्द्रमुद्धृत्य प्रोपितभर्तृकस्य स्त्रीपनस्योपरि चारहली विस्तीर्णा । ]

( सबे हसन्ति । )

वासुकिनागरुपरज्जुहृत धर्षणम् सरुड विरुडो य पत्तच्छिदाघात पत्तच्छेदनवण तत्र अन्नुदम् अनिव्ययकम् अपि कथ सोढवान् सोढुमशकत् । ब्रणे विरुडेऽपि तस्थान धर्षणासहिष्णु तिष्ठति, पत्तच्छेदव्रणस्थाने वासुकिरज्जुहृतधर्षणकष्ट नितान्तव्यथाकरमपि न जाने केन बलेनाय मद्दरोऽनहतेति भाव । एतेनैव दुरात्मना दुष्टचित्तेन मन्दरेण जलनिधे समुद्रात् पापा चापत्येन दुर्वृत्ताम् लक्ष्मीम् उद्धृत्य बहिरानीय जगत् विश्वम् ईश्वरो धनी दुर्गतो दरिद्र इति व्यवहृत्या व्यपदेशेन व्यस्त दु स्थ निर्मितम्, यद्यप्य दुष्टहृदयो मैताक समुद्रात्पा पाचारा लक्ष्मीं नोद्धरेत् तदा जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारकृत कष्ट न केनापि लब्ध म्यादित्याशय ॥ ४१ ॥

मस्तुशेषीकृतदुग्धसागरेण क्षीरसमुद्र मयितवता, मस्तु तत्कविशेष । 'मण्ड दधिभव मस्तु' इत्यमर । प्रोपितभर्तृकस्य विरहिण । चारहली पौरुषम् । देश्य शब्दोऽयम् । अयमेव मद्दराचल प्रयासमाधाय क्षीरसागर मथित्वा च ततश्चन्द्र-मुद्धृत्य विरहिन्प्रोजनेषु स्वपौरुष चन्द्रद्वारा तत्कष्टजननसामर्थ्यरूप प्रकटी-कृतमित्यर्थ ।

इसी पापा मन्दराचलनु इस पापा लक्ष्माको सागरसे निकालकर दुनियामें धनी निधनका व्यवहार जारी किया जिससे यह विश्व व्यस्त है ॥ ४१ ॥

सीता—( उद्वेगके साथ ) इसी मन्दरने क्षीरसागरको मत्त बनाकर चन्द्रमा निकाला और उसके द्वारा विरहिणी स्त्रियोंपर अपना पराक्रम प्रकट किया ।

( सभी हसत हैं )

विभीषण—( तदेव रामसूक्त भावयन् । ) अहह ।

प्रक्षेप्तुमुदधौ लक्ष्मीं भूयोऽपि बलते मन ।

किं तु प्रक्षिप्त एवायं पुनरायाति चन्द्रमा ॥ ४२ ॥

( विमृश्य आकाशे । )

कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूर पीठदीर्घालयां

देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किञ्चिदाचक्ष्महे ।

यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिदं विद्यागृहं यच्च ते

नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेनत्किमाचार्यकम् ॥ ४३ ॥

प्रक्षेप्तुमिति । लक्ष्मीरेव जगतीश्वरदरिद्रव्यवहारप्रवर्तकतया कष्टबीजामिति विभाष्य मन भूयोऽपि लक्ष्मीमुदधौ सागरे प्रक्षेप्तुम् पातयितुं बलते चेष्टते, परंतु क्षिप्तापि सा पुनरागच्छेत् यत्—प्रक्षिप्त कालेन समुद्रे पातित एवायं चन्द्रमा पुनरायाति बहिस्तथैवयं क्षिप्तापि पुनर्बहिरागच्छेदिति परिश्रमवैयर्थ्यं सभायेव लक्ष्मी सागरे न क्षिप्यत इत्याशयः ॥ ४२ ॥

कस्मैचिदिति । हे देवि लक्ष्मि, चेत् यदि न कुप्यसि क्रुद्धा भवसि तत् तदा कस्मचित् कपटाय केनापि च्छलेन ( किमपि वञ्चनवस्तुम् ) कैटभरिपोनारायणस्य उर पीठम् विशालपीठम् चत् एव दीर्घालयश्चिरकालिकावासो यस्यास्तादृशीं त्वाम् अभिवाद्य नमस्कृत्य किञ्चिदाचक्ष्महे कथयाम पृच्छाम, यत् ते अम्बुजन्म कमलम् मन्दिरम् गृहम्, किमिदं विद्यागृहम् शिक्षणशाला? यच्च ते नीचान्नीच तरोपसर्पणम् नीचान्नीचपात्रोपसर्पणम् मिसेतत् अपाम् जलानाम् आचार्यकम् अध्यापनपाठवम्? हे लक्ष्मि, किमपि वञ्चन मनसि निधाय हरेर्बुधसि चिराद् वसन्ती भवन्तीमिदं प्रष्टुमिच्छामि यत्तच्च कमल गृहं तदिदं किन्तव विद्यागृहं,

विभीषण—( रामकी उसी उक्तिको याद करता हुआ ) अहा ।

इच्छा तो होती है कि इस लक्ष्मीको फिर उसी सागरमें फेंक दूं, परंतु ऐसा इतलिवे नहीं कर रहा हू कि व्यव होगा, फिर यहीं चली आवेगी, चंद्रमा तौ सागरमें फेंक देनेपर फिर भी आ ही जाता है ॥ ४२ ॥

( कुछ सोचकर आकाशकी ओर ) किसी बड़े कपटकी लक्ष्य बनाकर मगवान् विष्णुकी छातीमें रखनेवाली लक्ष्मी देवि, यदि आप दिगङ्गे नहीं तो आपको नमस्कार करके पूछूंगा कि आप जो कमलवासीनी बनी हुई हैं सो कमल आपका विद्यागृह है क्या? और आप जो नीचे से नीचे उतरती जाती हैं सो इस कल्पमें आपके आचार्य जल तो नहीं हैं ॥ ४३ ॥

लक्ष्मण — ( सहासम् । ) हन्त, सुरासुर<sup>१</sup>मल्लभटीनूर्यतालनर्तकी स-  
लराजकुलपत्नीकाररज्जुला<sup>२</sup> साहसिकजनसहस्रशस्त्रान्धकारखेलनरज्योती  
मधुमथनजीमूतविलामविद्युल्लता किमेवमुपालभ्यते । इय हि

गुणवद्भिः सह सगममुच्चैः पदमाप्तुमुत्सुका लक्ष्मी ।  
वीरकरवालवसतिर्ध्रुवमसिधाराव्रत चरति ॥ ४४ ॥

यच्च त्वया नीचानीच उपलभ्यते तद्वि शिञ्चितासि किम् ? यथा कमलानि  
वर्हिर्मनोहराण्यन्त कण्टकाकीर्णनालानि च तथैव त्वमध्यापातरम्या पर्यन्तवैर  
स्यावहा चासीति, किञ्च यथाऽऽपो नीचाभिमुत्स्यस्तथैव त्वमपि नीचाभिमुन्वी  
तदिदं किं त्वया अद्भ्य शिञ्चितम् इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

सुरासुरति । सुरासुरमल्लाना देवदानववीराणा भटीनूर्यम् रणवाद्यभेदस्तत्र  
तालने नर्तकी नर्तनशीला । सकलाना राजकुलाना नृपसमुदायाना खलीकारे  
वद्धने खनूला कण्टकधारिणी तदासक्ता सकलराजयकवद्धिकेत्यर्थः । साहसिका  
जना वीरजना तेषा सहस्रस्य शस्त्रान्धकारेषु अनवरतशरवर्षणकृतान्धकारेषु खेलने  
क्रीडने रज्योती ज्योतिरिङ्गणपत्निणी, यथा रज्योती समसि खेलति तथेयमपि लक्ष्मी  
वीरजनशरवर्षणान्धकारे खेलतीति बोध्यम् । मधुमथनो विष्णुरेव जीमूतो मेघस्तेन  
सह विलासे क्रीडाकर्मणि विद्युल्लता चपला । उपाद्भ्यते—निचते आक्रुश्यते ।

गुणवद्भिरिति । वीरकरवालवसति साहसिकजनरज्जुनिवासिनी लक्ष्मी ध्रुव  
निश्चयेन गुणवद्भिः गुणजनैः सह सद्गमम् एव उच्चैः पदम् उन्नतं स्थापनम् आप्तु  
मुत्सुका लब्धुमुत्कण्ठिता ( सती ) असिधाराव्रत करवालधारायामवस्थितिरूप  
नियमं चरति पालयति । अन्योऽप्युन्नतपदप्राप्तये यकिञ्चिद्भवत पालयत्येवमिय  
मपि लक्ष्मीगुणवद्जनसद्गमरूपमुच्चैः पदं प्राप्तुमेव साहसिकजनवद्गधारानिवासा  
रमकं व्रतं पालयतीत्यर्थः । हेतुमेवाऽत्रालङ्कारः ॥ ४४ ॥

लक्ष्मण—(इसकर) अहा ! देव दानव युद्धमें ब्रजनवाले बायोके तालपर नाचनेवाली,  
सकलराजगणको परिभवमें डालनेके लिये व्यग्र रहनेवाली, साहसी जनोके शस्त्र उकारमें  
जुगनुकी तरह प्रभाव होनेवाली तथा मधुमूदनरूप मेघके साथ विलास रसिका चपला  
इस लक्ष्मीका आप क्यों कोस रहे हैं ? यह तो—

गुणवानोके साथ निवासरूप उन्नत पदको प्राप्त करनेके लिये यप्र यह लक्ष्मी  
वीरजनोंके लक्ष्मीमें रहकर असिधारा व्रत करती रहती है । ४४ ॥

सीता—( साम्भसूयमिब । ) णिअदेवदुविविलासविआरालसो लोओ लच्छीदेवीए दुज्जसवअणाइ गाएदि । ( पुरो दर्शयन्तो । ) को एमो वीसटि दिअसकूडीकिदजोण्हाविच्छद्दपडिऊपो गिरी । [ निजदैवदुविलाम विचारालयो लोको लक्ष्मोदेव्या दुर्यशोवचनानि गायति । क एप हरयते दिवमकूटीकृतज्यो त्वाविच्छर्दप्रतिरूपो गिरि । ]

विभीषण—देवि,

सोऽय कैलासशैल स्फटिकमणिभुवामशुजालैर्ज्वलद्भि

शृङ्गाया पीतापि यत्र प्रतिकृतिभिरुपस्थाप्यते पादपानाम् ।

यत्रोपान्तोपसर्पत्तपनकरवृत्तस्यापि पद्मस्य मुद्रा

मुह्यमानो दिशन्ति त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखामयूखा ॥ ४५ ॥

राम—हन्त, शतधा 'दृश्यमानोऽपि न चक्षुरकौतुक करोति ।

निजदैवेति । निजदैवदुविलासस्य स्वभाग्यदोषस्य विचारे विवेके अलसोऽहम दुर्यशोवचनानि—अकीर्तिकथा । दिवसकूटीकृता दिनसमूहता प्रापिता । ज्योत्स्ना चन्द्रिका तस्या विच्छर्दं विस्तार तत्प्रतिरूप तत्समान । राशीकृतदिवससमूह कान्तिविस्तारवद्भासुर इत्यर्थः ।

सोऽयमिति । सोऽय कैलासशैल कैलासपर्वत ( दृश्यते ) यत्र कैलासे स्फटिकमणिभुवाम् स्फटिकशिलासम्भूतानाम् पादपानाम् वृक्षाणां ज्वलद्भि अतिदीप्तैश्चशुजालै मयूखनिवहं पीता निर्गीर्णाऽपि शृङ्गाया वृक्षशृङ्गाया प्रतिकृतिभि प्रतिविम्बै उपस्थाप्यते प्रकटीक्रियते । अत्र कैलासे स्फटिकमणिशिलामु स्थितानां वृक्षाणां छाया प्रभानिलीनतया शिवभासते केवल तस्या प्रतिविम्बमात्रमालोक्य मान तत्सद्भाव प्रत्याययतीत्यर्थः । यत्र कैलासे उपान्ते प्रान्तदेशे उपसर्पत सञ्च

सीता—( असूयाके साथ ) अपने भाग्यके दोषसे आलसों बना हुआ आत्मी लक्ष्मीको गालियों दिया करते हैं । ( आगे दिखलाती हुई ) दिनमें एकट्ठी हुई सूर्य किरणोंकी तरह चमकनेवाला यह कौन सा पर्वत दोख रहा है ?

विभीषण—देवि, यह वही कैलास पर्वत है जहाँ पर स्फटिकमय भूमिमें पैदा होनेवाले वृक्षोंकी छाया केवल प्रतिविम्बमें ही देखी जाती है, और जहाँ समीपमें धूमने वाले सूर्यके हाथमें रखे गये कमलकी भी महादेवके सिरपर रहनेवाले चन्द्रमाकी किरणें सङ्कुचिन कर देती हैं ॥ ४५ ॥

गिरि कैलासोऽय दशवदनकेयूरविलस-

मणिश्रेणीपत्राङ्कुरमकरमुद्राङ्कितशिल ।

अमुष्मिन्नाख्य स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले

निरीक्षन्ते यथा फणिपतिपुरस्यापि चरितम् ॥ ४६ ॥

अपि च—

दशमुखभुजदण्ड<sup>१</sup>मण्डलीना<sup>२</sup>दृढपरिपीडनपीतमेखलोऽयम् ।

रत तपनस्य सूर्यस्य करैर्षतस्यापि सूर्यहस्तस्थितस्यापि पद्मस्य कमलस्य उद्दामान अतिस्वच्छा त्रिपुरहरशिरश्चन्द्रलेखा शङ्करशिरोवत्तिशशाङ्कलेखा-मुद्रा दिशन्ति सङ्कोच जनयन्ति । सूर्योऽप्यत्र समीपेन चरति, तत्करस्थमपि कमलमत्र तीव्रभिर्हरशिरश्चन्द्रलेखाभि सङ्कोचमञ्जतीत्यर्थ ॥ स्मधरापृत्तम् ॥ ४५ ॥

अङ्गीतुकम् उत्कण्ठारहितम्, अत्र पर्वते शतशो दृष्टेऽपि दर्शनोत्कण्ठा न निवर्तत इत्यहो रामणीयकमस्येत्यर्थ ।

गिरिरिति । अय कलासो नाम गिरि दशवदनस्य रावणस्य केयूरेषु अद्भुतेषु विलम्बन्तीना स्फुरन्तीनाम् मणिश्रेणीना हीरकपद्मना पत्राङ्कुरमकरमुद्राभि उद्वृङ्कितमकरावृत्तिभि अङ्किता शिला यस्य तादृश, अस्य कैलामस्य रावणेनोत्तोलन कृतमिति तद्बाहुकेयूरसमूहस्थितहारकोद्वृङ्कितमङ्कुरमुद्राभिरस्य कैलासस्य शिला अङ्किता समजनपतेत्यर्थ, स्फटिकमयसर्वाङ्गविमले स्फटिकमयतया सर्वतस्वच्छे अमुष्मिन् कैलासे आख्य आरोहण कृत्वा यथा दवयोनिविशेषा फणिपति पुरस्य नागलोकस्यापि चरितम् कार्यकलापम् इच्छन्ते चक्षुषा पश्यन्तीति पर्वतस्यास्य सर्वाङ्गधवलतयाऽत्र स्थिता अधोभुवनस्यापि वृत्त परयन्ति सर्वाङ्गधवलस्यास्य दृक्शक्तिप्रतिबन्धकत्वविरहादिति भाव ॥ ४६ ॥

दशमुखि दशमुखस्य रावणस्य भुजदण्डमण्डलीना दण्डोच्छ्रितविनालभुज-समुदयाना दृढपरिपीडनेन गाढयत्नान पीता कुक्षौ कृता अतिघर्षिता मेखला मध्यभागो यस्य तथोक्तोऽय कैलास स्फटिकगिरि गिरिशस्य जलगुहकवितदिका-

राम—अहा ! इसे सौ बार देखनेके बाद भी आँखोंकी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती है ।

यह बड़ी कैलास पर्वत है जो रावणके केयूरमें बसमान मणिगणके पत्राङ्कुरमें बने मकरावृत्ति चिह्नसे अङ्कित है, तथा सभी अवयवोंमें स्वेनवण निरत कैलास पर चढकर यक्षलोक नागलोकका चरित भी देखा करते हैं ॥ ४६ ॥

१ 'मण्डलीनि' ।

२ 'निविडनिपीडन' ।



जलगृहकवितर्दिकासुखानि स्फटिकगिरिगिरिशस्य निर्मिमीते ॥ ४७ ॥

विभीषण — ( सीता प्रति । ) देवि, दृश्यन्ताममी

कैलासाद्रितटीषु धूर्जटिजटालकारचन्द्राङ्कुर

ज्योत्स्नाकन्दलिताभिरिन्दुहृदपदाम्बिर्नदीमातृका ।

गौरीहस्तगुणप्रवृद्धवपुष पुष्प्यन्ति धात्रेयक

भ्रातृस्नेहसहोदपण्मुञ्चशिशुकीडासुखा शाखिन ॥ ४८ ॥

मुष्यानि मल्लिगृहवेदिकासुखानि निर्मिमीने करोति, पुग रावणे भुजदण्डै  
कैलाममुत्तोलयति सति तद्भुजदण्डमण्डलीभिर्मैयलासु दृष्ट निपीडिततया उपरि  
प्रवहमाननिर्झरजलप्लावनाय स्रवजलधारतया कैलासोऽयं जलगृहवेदिकाकृत्यहरस्य  
सम्पादयतीत्यर्थ ॥ ४७ ॥

कैलासाद्रितटीष्विति । कैलासाद्रितटीषु कैलामपर्वततटेषु स्थिता शाखिनो वृक्षा  
धूर्जटे शिशुरस्य जटानाम् अलङ्कार भूषणभूतो यश्चन्द्राङ्कुरश्चन्द्रलेखा तस्य  
ज्योत्स्नाभि कौमुदीभि कन्दलिताभि समेधिताभि इन्दुहृदपदाम् चन्द्रकान्त  
मणीनाम् अङ्गि जलराशिभि नदीमातृका प्लाविता पोषिताश्च, तथा गौर्यां हस्त  
गुणेन हस्तलालनपादनेन प्रवृद्ध रूढि गत वपु शरीर येषा तयोक्ता, तथा धात्री  
वृक्षाणाम् उपमाता गौरी तस्या अपत्यम् धात्रेयक स चासौ भ्राता चेति  
धात्रेयकभ्राता स्व-दस्तस्य स्नेहेन सहोद सहप्राप्त पण्मुञ्चशिशुना यात्कान्तिक्र-  
येन क्रीडासुख विनोदो येषाम् तथाभूताश्च पुष्प्यन्ति विकसन्ति । कैलासपर्वत  
तटीषु स्थिता वृक्षा महादेवशिरोवर्त्तिचन्द्रकलाद्रुतचन्द्रकान्तमणिनलै मिक्रतया  
प्रवृद्धा गौर्या पोषिततया पुष्टवपुष धात्रीभूतोमातनयकान्तिक्रयेन सह क्रीडमानाश्च  
सन्तो विकसन्तीत्यर्थ । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ४८ ॥

रावण जब अपने भुजदण्डोंसे कैलासकी मेखलाको जोरोंसे पीड़ित कर देता था  
तब इसके भीतरसे पानी ऊपर निकलकर प्रवाहित होने लगता था, उस समय यह  
कैलाम महादेवको स्नानागारका मुख प्रगट किया करता था ॥ ४७ ॥

विभीषण—( सीताके प्रति ) देवि, इधर देखो—

कैलास पर्वतकी तलहटीमें महादेवके सिरको भूषित करनेवाले चन्द्रमाकी कलासं  
तिगन चन्द्रिका द्वारा शृष्ट चन्द्रमणियोंके जलधारासे नदीमातृक बननेवाले, तथा जिन्हें  
पावतीने अपने हाथोंसे पाला पोसा है और जो साथ-साथ खेलनेवाले कान्तिक्रय रूप  
अपने भाइके साथ बालक्रीडाका मुख भोग चुके हैं—ऐसे यह वृक्ष फूल रहे हैं ॥ ४८ ॥

अपि चास्य नित्यमधित्यकाजासी परमेश्वर ।

सहस्राक्षैरङ्गैर्नमसितरि नीलोत्पलमयी-

मिवात्मान मालामुपनयति पत्यो मखभुजाम् ।

जिघृक्षौ च क्रीडारभसिनि कुमारै सह गणै

हंसस्रवो भद्राणि द्रढयतु मृडानीपरिवृढ ॥ ४२ ॥

किं च ।

यन्नाश्रयभ्रमिगूर्णमानवसुधाचक्राधिरुढे भृशं

मेरो पार्श्वनिविष्टवासरनिशाचके परिभ्राम्यति ।

तैजस्यस्तडितो भवन्तु शतशो दृष्टा हि जाता कथ

सहस्राक्षैरिति । नमभुजा देवाना पयौ स्वामिनीग्रे सहस्राक्षैः नेत्रसहस्रयुतै  
अङ्गै शरीरावयवैर्नमसितरि प्रणाम कुर्वन्ति अतश्च स्वम् आत्मान नीलोत्पलमयीं  
मालाम् नीलकमलम्वमिव उपनयति उपहरति सति, क्रीडारभसिनि खेलनप्रिये  
कुमारै कार्त्तिकेये च, जिघृक्षौ नीलोत्पलम्वमिव प्रतीयमानामिन्द्रतनु ग्रहीतुकामे  
गणै प्रमथवगं सह हसन् मृडानीपरिवृढ शिव वो युष्माक भद्राणि शुभानि द्रढयतु  
अव्याहृतानि करोतु । सहस्रनयनयुतमिन्द्रस्याद्ग नीलकमलमाख्यत्वे प्रतीतमिति  
भ्रान्तिमास्पृशोऽलङ्कार । चक्षुषामुत्पलमाभ्याञ्च तद्द्वानामुत्पलमालारूपता ।  
शित्वरिणीवृत्तम् ॥ ४९ ॥

यन्नाद्येति । यस्य नाट्ये मर्त्तने भ्रमिभ्रमण ततो धूर्णमान भ्रमत् यत् वसुधा-  
चक्रम् भ्रूमण्डलमेव चक्रम् तत्राधिरुढे मेरो पार्श्वयोर्निविष्ट वासरनिशाचक यस्य  
तादृशे (तस्मिन्मेरो) परिभ्राम्यति सति शतश बह्व्य तैजस्यो भास्वररूपास्तामस्य-

और हम कैलासजी अधित्यक में महादेव नित्य वास किया करते हैं—

मन्त्र नेत्रोंसे अलङ्कृत अपने अङ्गोंसे जब इन्द्र महादेवको प्रणाम करते हैं तब ऐसा  
लगने लगता है मानो वह नाळ कमलभा माला महादेवको उपहृत कर रहे हों, और  
उस नीलकमलमालाके समान प्रताप होनेवाले इन्द्रके आनन शरीरको खेलनेमें रसिक  
कुमार उठाकर ले लेता चाहते हैं तब जिह्वा हसी लगने लगती है ऐसे महादेव आपका  
कल्याण करें ॥ ४९ ॥

और—जिस महादेवके नृत्यमें धूमने लगने पर सारा मत्तार धूमने लगता है फलन  
सुमेरु पर्वत भी धूमने लग जाता है, जिसपर दोनों पार्श्वोंमें चन्द्रमा तथा सूर्य वर्त्तमान

१ 'पार्श्वनिवेशि-', 'पार्श्वनिवासि-' ।

तामस्योऽपि सद्य पुनातु जगतामन्त्येष्टियज्वाविभु ॥५०॥

लक्ष्मण —

जयति परिमुषितलक्ष्मा भयादनुपसर्षतेव हरिणेन ।

इह केसरिकरजाङ्कुरकुटिला हरमौलिविधुलेखा ॥ ५१ ॥

सीता—( सपरिहासम् । ) एदस्म उदसूअणरकरोडिमुण्डमालामण्ड-  
णस्स मसाणमासिणो भूसणता ज्ञेव रोहिणीवल्लहस्स कलको, कि

मलिनवर्णाश्च तडितो विद्युत् भवतु जायन्ताम्, ता कथं दृष्टा जाता, स जगताम्  
अन्त्येष्टि यज्वा दाहक विभुर्भगवान् व पुनातु। यस्य शिवस्य नृत्य भ्रमणेन वसुध  
भ्रमतीति तत्र स्थितौ मेरुपि भ्रमति, मेरोर्द्वयोर्भागयोर्दिवसनिशयोरवस्थितिरिति  
तयोरपि भ्रमण भवति, भ्रमत्योश्च दिवसनिशयोविषये लोकास्स दिहते यदिमारते  
जस्यस्तामस्यश्च विद्युत्, ( दिनानि तैजस्यो निशश्च तामस्यो विद्युत् ) तदि य  
यदीय नृत्य त्रिभुविस्मयकर म ससारदाहक शिवो व पुनात्वित्यर्थ । अन्त्येष्टिर्दाह  
इति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

जयतीति । इह अरिमन् कैलासतटे हरमौलिविधुलेखा शिवशिरश्चन्द्रकला  
केसरिण सिंहस्य करजाङ्कुरो नखाङ्कुरस्तद्वत् कुटिला यत्रा, ( अस्तीति शेष  
तद्गवादेव ) भयात् सिंहनखाभचन्द्रलेखादर्शनेन सिंहसन्नावभ्रमजन्यभयात्  
अनुपसर्षता समीपमनागच्छता हरिणेन परिमुषितलक्ष्मा अकलङ्का जयति । अत्र  
कैलासे चन्द्रलेखा अमलङ्का, यत सा सिंहनखकुटिला, तत्र सिंहनखध्रान्त्या  
हरिणा न समीपमुपसर्षन्ति, समीपमागता हरिणा एव तु शशिन कलङ्कतया  
मतास्तद्भावेऽकलङ्का एव विधुलेखेत्यर्थ ॥ ५१ ॥

रहते हैं। उनके घूमने लगनेसे सुमेरुके एक भागमें प्रकाशमय तथा एक भागमें अंधकार  
मय विजलियों जलने लगती हैं, ऐसे ससारके प्रलयरूप यज्ञको सम्पन्न करीवाले महादेव  
आपको पवित्र करें ॥ ५० ॥

लक्ष्मण—महादेवके शिरपर सिंहके नखकी तरह कुटिल चन्द्रकलाको देखकर  
मगधौन हरिण उस चन्द्रकलाके पास नहीं आता है, इस प्रकार वह हरिण रूप कलङ्कसे  
सुक्त चन्द्रकला बहुत सुदूर दिखाई पड़ती है ॥ ५१ ॥

सीता—( परिहासके साथ ) एक महादेवका भूषण बनना ही रोहिणीवल्लभ चन्द्रमा  
के लिये कलङ्ककी बात है जो महादेव सौंघ तथा नरकपालकी भी अपना भूषण बनाते हैं,  
किर चन्द्रमामें हरिणरूप कलङ्कना होना न होना एक सा है ।

तवस्त्रिणा कुरङ्गएण । [ एतस्य दन्दशूकरनरकरोदिमुण्डमालामण्डनस्य रमशान-  
चामिनो भूषणतैव रोहिणीवल्लभस्य कलङ्क, किं तपस्विना कुरङ्गकेण । ]

विभीषण — ( विहस्य । ) शङ्के भगवानपि न मृगाङ्कमलकारकाम  
कलयति । 'तथा हि ।

सहचरपिशाचपरिषत्प्रसत्तये कामचारतो रजनीम् ।  
कारयितुमिदं कपाली शिरसि निशाकरमयं वहति ॥५२॥

( सर्वे हसन्ति । )

राम — ( सबहुमानम् । )

श्रीकण्ठस्य कपर्दवन्धनपरिश्रान्तोरराग्रामणी

दन्दशूका सर्पां नरकरोटय कपालार्थानि मुण्डमाला च भूषणानि यस्य  
तादृशस्य । च त्रमसोऽयमेव कलङ्को यदसौ शिवस्य तस्य भूषणं यो हि संपन्नैर  
मुण्डमालाभिश्च युक्त, कुरङ्गस्तस्य कलङ्क इति कथयित्वाऽलमित्यर्थ ।

अलङ्कारकाम भूषणेच्छु, शिवेन शशी नालङ्कारार्थं रक्षित अपि तु कार्यान्त  
रार्थं तत्कार्यमग्रेतनरलोकेनाह ।

सहचरेति । अयं कपाली शिव सहचराणां नित्यसन्निताम् पिशाचानां भूतानां  
परिषद् समूहस्य प्रसत्तये प्रमन्नताये कामचारत स्वेच्छया रजनीं रात्रिं  
कारयितुम् विधापयितुम् इव शिरसि निशाकरं वहति, यदा तदा पिशाचेच्छा  
नुमार रात्रिं विधातुमेव शिव शिरसा चन्द्रं वहति, तस्य गोपनप्रकाशनाभ्यां रात्रेर-  
भावभावयो सुकरत्वं मनमिष्ट्यैवायं शिवस्य चन्द्रधारणप्रयास इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीकण्ठस्येति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य कपर्दीं जटाजूटं तस्य बन्धनेन समयमनेन  
परिश्रान्तं श्रमखिन्नो य उरराग्रामणी सर्पराजो वासुकि तेन सन्दृष्टा कवलि-

विभीषण—( इसकर ) मैं समझता हूँ कि महादेव मो अलङ्कारकी इच्छासे चंद्रमा  
को नहीं धारण करते हैं वह तो—

चंद्रमा को इसलिये मस्तकपर धारण करते हैं कि अपनी इच्छाके अनुसार रात्रिका  
निर्माण करके अपने साथ रहनेवाले पिशाचोंको प्रसन्न करें ॥ ५२ ॥

( सभी हसते हैं )

राम—( मादरके साथ ) महादेवके द्वारा जटाजूट बाँधनेके समय परिश्रान्त होकर

१ 'तथादि' इति कश्चिन्नास्ति ।

२ शिरोनिशाकर ।

सदृश मुकुटावतसकलिका वन्दे कलामेन्दुधीम् ।

या विम्बप्रतिपूरणाय परितो निष्पीड्य संदशिका

यन्त्रेणैव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिरावर्त्यते ॥ ५३ ॥

( पुष्पक प्रति । ) विमानराज, 'मनागुन्नभ्यताम्' । 'आलोकयतु मैथिली सुमेरुशिखराणि ।

त्रिभीषण — ( सीता प्रति । ) देवि पश्य पश्य ।

मेरोमेंदुरयन्ति समदमघ सपातिभिर्ज्योतिषा

माटोपेचिटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृतोऽधित्यका ।

ताम् मुकुटावतसकलिकाम् शिरोभूषणे कलिकामिव भासमानाम् ऐववी चान्द्र  
मसीं कलावन्दे, या कला विम्बप्रतिपूरणाय सम्पूर्णमण्डलता प्रापयितुम् परित  
उभयो पार्श्वयो निष्पाज्य दृष्टं च गामदशिकायन्त्रेण 'सदसी' इति प्रसिद्धेनोष्ण  
पदार्थसन्निधिप्रापिणा यन्त्रेण इव ललाटलोचनशिखिज्वालाभिर्भालस्थनयनाग्नि  
शिखाभिर्जावर्त्यते द्रवीभ्रियते । यथा सुवणादि न्यूननिम्नाशपूतये सदृशत  
वह्नानाभ्यते यत्र द्रुते तस्मिन्पूयते निम्नाशस्तथैवाय चन्द्र कपर्दसयमनपरिश्रान्त  
वासुकिभक्षिताशपूतये हरभालनयनाग्निशिखाभिरावर्त्यते यत्र द्रुते तत्र पूत  
स्यादिति भाव । 'कपर्दोऽस्य जटाजूट', 'ग्रामणीनांपिते प्रभौ' इत्युभयग्रामर,  
उत्प्रेचालङ्कार । शार्दूलवित्रीडित वृत्तम् ॥ ५३ ॥

मरोगिनि । अध सपातिभिर् अथ सज्जारिभिर् ज्योतिषा सूर्यादीना तेजसा  
नक्षत्राणां वा आटोपैर् तेज समूहैर् चिटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृत शाखोपरिवर्त्त-

जव भूषणनाग महादेवकी चन्द्रकलाको चूसकर निष्कलङ्क बना दत है तब उनके विम्बको  
पूण करनेके लिए सदशसे पकड़कर उसे महादेवके तृतीय तनपर उल्टाया जाता है  
जिससे उनका चूसा गया तेज फिरसे उनमें आ जाय, ऐसे चन्द्रविम्बको मैं नमस्कार  
करता हूँ ॥ ५३ ॥

( पुष्पकके प्रति ) विमानराज, घोटा और ऊपर उठें, मैथिली सुमेरु शिखरोको भी  
देख ले ।

त्रिभीषण—( सीताके प्रति ) देवि, देखिये देखिये—

मीनेकी ओर पड़नेवाली प्रभाके विस्तारसे वृक्षोंकी शाखाओपर जिनकी छाया पडा  
करती है ऐसी मेरुकी अधित्यकार्ये आनन्द प्रदान करती है, जब जब प्रतिमासमें देवों

निष्पीतासु च मासि मासि विबुधैरिन्दो कलासु क्रमा-  
दुद्दामालवमानलाञ्छनमृगच्छिडनाप्रदर्भाङ्कुरा ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण — ( सीता प्रति । )

एतासु पर्वतनिगम्यतटीषु पश्य  
मध्यदिनेऽपि हरिचन्दनवाटिकेयम् ।  
पक्षस्थितद्युमणिविम्बतयातिदीर्घ  
च्छायावितानमधुरा मुदमाद्धाति ॥ ५५ ॥

मानवृक्षच्छायावत्य, मासि मासि विबुधैर्वै इन्दो कलासु क्रमात् पीतासु  
भक्षितासु उद्दामस्य उच्छृङ्खलस्य लवमानेन कूर्दता लाञ्छनमृगेण शशिकलङ्कनया  
मतेन हरिणेन द्विजाम्ना दर्भाङ्कुरा कुशप्ररोहा यासु तथोक्ताश्चाधिका मेरो  
रुम्मदम् आनन्दमेदुरयन्ति वर्धयति । अयमर्थ — यदा ज्योतिरूर्ध्वं तदाऽधरच्छाया  
यदा चाधोज्योतिस्ततोपरिच्छायेति नियमेनात्र मेरोरुच्चतया शैलाग्रस्थितवृक्षाणां  
मधोज्योतिषा सञ्चारादूर्ध्वमेव तरुणा छायेति 'विटपोपरिस्थिततरुच्छायाभृत'  
इत्युक्तम् । चन्द्रे पूर्णे कलङ्करूपस्य मृगस्य तत्र प्रतिरङ्गगतिकतया दम्भाङ्कुरा  
अक्षता, यदा चाय चन्द्र प्रतिनाम्नममर पीयते तदा लाञ्छनमृगोऽयमुद्दाम  
भ्रमन् अधित्यकारितया दम्भाङ्कुरान् चर्चयतीति चागित्यकाविशेषणान्तरम् । अन्य  
स्मृतम् । शार्दूलविक्रितित वृत्तम् ॥ ५५ ॥

एतास्विति । एतासु पर्वतनिगम्यतटीषु मुनेरुत्कृष्टप्रदेशेषु इय हरिचन्दनवाटिका  
देवदारवनश्रेणी मध्यदिने मध्याह्नेऽपि पक्षस्थितद्युमणिविम्बतया पार्श्वं सूर्यमण्डल  
सम्भावेन अतिदीर्घच्छायावितानमधुरा लम्बायमानच्छायाविस्तारमनोज्ञा मुदम्  
आदधाति कुम्भे । अन्यत्र प्रातःसायकालयोर्वृत्तच्छाया दीर्घा, अत्र तु रवे  
पार्श्वस्थतया मध्याह्नेऽपि दीर्घाच्छायेति हर्षनारणम् । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे'  
इत्यमर ॥ ५५ ॥

द्वारा चन्द्रमाका सारा अर्द्धकला पा ला जाना है तत्र तव स्वनवमावसे विचरण करनेवाले  
मृगगण यहाँके दम्भाङ्कुरोंकी चर जाया करने हैं ॥ ५४ ॥

लक्ष्मण—( सीताके प्रति ) आप देखिये—इस पर्वतके नितम्ब देशमें वर्तमान यह  
हरिचन्दनवृक्षों की पक्षि पार्श्वदेशमें अवस्थित सूर्यविम्बसे ससृष्ट होने रहनेके कारण  
मध्यदिनमें भी लम्बी छाया फैलाती है जो बड़ी अच्छी लगता है ॥ ५५ ॥

अपि च ।

भूमे स्वर्णतया फलोत्तरतरस्मेरस्य मेरोस्तटी

सीमन्तोऽयमनूत्सारथिरथप्रस्थानघण्टापथ ।

अस्मिन्नुद्भिद्यते कथञ्चन ह्यैरुद्दामचण्डातप-

ज्वालाजालविलीनकाञ्चनशिलाजम्बालमग्न प्रधि ॥५६॥

( निहृप्य च सहर्षस्मितम् । ) कथमुपर्युपरि 'पुष्करार्तकानभ्रमुवल्लभ  
( विमृश्य । )

अथाय विबुधेन्द्रवान्धववसूक्तभुक्तसंतानक

घ्नदाग्नीममरावतीं विहरते निर्घरमैरावण ।

भूनेरिति । भूमे स्वर्णतया काञ्चनमयतया फलोत्तरे फलपूर्णं तरभि स्मेरस्य  
विकसितस्य जाहादितस्येत्यर्थः । सुमेरो अथ तटीसीमन्त तदरेखा अनूत्सारथे  
सूर्यस्य रथप्रस्थाने स्यन्दनसञ्चार घण्टापथ राजमार्गः, सुमेरतटवर्त्मना सूर्यरथ  
सञ्चारो भवतीति तत्तटस्य सूर्यरथप्रस्थानघण्टापथत्वमुक्तम् । अस्मिन् घण्टापथे  
मेरो वा उद्दामचण्डातपानाम् उत्कटप्रचण्डसूर्यकिरणानाम् उज्जालाजालेन विलीना  
द्रवोभूता या काञ्चनशिला सैव जम्बाल कर्दम तत्र मग्न प्रधि रथनेमि ह्यै  
सूर्याश्वं कथञ्चन महता प्रयासेन उद्घ्रियते । काञ्चनशिलासु द्रुतासु कर्दमभाव  
गतासु मरणा रथनेमि सूर्याश्वेर्नहता प्रयासेनोपरि नीयत इत्यर्थः । 'घण्टापथो  
राजमार्गः', 'नेमि स्त्री श्वात्प्रधि पुमान्' इत्युभयत्रामर ॥ ५६ ॥

अथायमिति । अद्य सम्प्रति अयम् ऐरावण सुरगण विबुधेन्द्रस्य देवराजस्य  
बाधना देवास्तेषां वधूभिः सुराङ्गनाभिः सम्भुक्तम् यथोपयोगं निषेवितं सन्तानक  
स्त्रजाम् देवतरपुष्पमालानां दामं समूहो यस्याः तादृशीम् अमरावतीम् स्वर्गं

श्रीर—स्वर्णमय भूमि होनेके कारण फलसदृश दृशोत्ते ईसता हुआ यह सुमेरुका  
मध्यभाग ऐसा लगता है मानो यह सूर्यक रथक चलनका राजमार्ग हो, इस सुमेरुके  
राजमार्गमें प्रचण्ड सूर्यकरसे होनेके विपल जानेसे जब रथ स्वर्णपट्ट मग्न हो जाता है तब  
उसमेंसे सूर्यके घोड़े बहुत अमसे रथको बाहर लाते हैं ॥ ५५ ॥

( देखकर हृषसे ह्मते हुए ) क्या पुष्करावतकके भी ऊपर ऐरावत आगया है ।

इन्द्रके बाधवज्रोंकी श्रियाँ जिन देवतरुओंके पुष्पोंकी मालायें पहना करती हैं,  
उन स तानवतरुओंसे युक्त अमरावतीमें आज ऐरावत विना रोक टोकके अमग्न कर

यं दोर्मात्रपरिच्छदो युधि मुदोत्क्षिप्य प्रतीच्छन्मुहु  
सतेने दशभिर्निजैरपि मुनै साराविण रावण ॥ ५७ ॥

सुग्रीव — सत्यमगोचरे गिरा दशकण्ठक्रीटितानि ।

एकैके निवसन्ति ते भुजभृत कस्मै निगृह्यामहे  
वीरक्षेत्रमिय पुनर्वसुमती पौलस्त्यमाधिभ्रती ।

नगरीम् निर्वर निविरोध विहरते भ्रमति । दोर्मात्रपरिच्छदो वाङ्मात्रसहायो  
रावण युधि युद्धे यम् पेरावण मुदा जनायासम् उक्षिप्य उपरि क्षिप्त्वा मुहु  
पुन पुन प्रतीच्छन् गुह्यन् दशभिर्निजैर्मुखैरपि साराविण सम्भूय शब्द मिहनाद  
वितेने कृतवान् । यमैरावण त्रिनेत्रान्द्रमाहाय्य गृहीत्वा विधिति विक्षिप्य तत  
पतन्त च त गृहीत्वा पुनस्तथ विनिष्य च राजणे दशभिर्निजैर्मुखैर्भूमिभ्रमकृत,  
सोऽथ देवगण सम्प्रति हते राजणेऽमरावती भ्रमति, यत्र देवान्ना सन्तानक  
तन्पुष्पमाल्यै स्त्रवपूषि प्रसाधयति इत्यादय । स्वगृहाम इत्युभयोस्तुल्यार्थ  
तथा दामपदमत्र समुहार्थरुमाश्लेषम् । विहरते क्रीडायामभ्रमकृतया भ्रमणार्थ  
तथा प्रयोगो श्रेष्ठ, ‘साराविणमि’ यत्र ‘अभिविधौ भाव इनुण्’, ‘अगिमुण’  
इत्यण् । ‘सरावो बहुभि कृत’ इत्यमर । ‘विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलाया सुगता-  
लये इति मेनिनी, ‘सतान कल्पवृक्षश्च’ इत्यमर ॥ ५७ ॥

अगोचरे गिराम्—वाचाम् अत्रिषये । वक्तु न शक्यानीयर्थ ।

एकैके इति । एकैके प्रसिद्धास्ते भुजभृतो वीरा निवसन्ति पृथिव्या सन्ति  
कस्मै च वीरमुद्दिश्य निगृह्यामहे कुस्मा कुर्म, कोऽपि न निन्दामर्ति, पुन  
किन्तु इय वसुमती प्राची पालस्त्यम् रावणम् आधिभ्रती धारयन्ती एव वीर  
क्षेत्रम् वीरभूमि, मन्तु नाम ग्रहवो वीराम्तेषु कोपि न निन्दापात्रम्, परमस्या

रहा है इसी देवानको लडाके मैदानमें रावण ऊपर फेंककर लोचना या और जोरोंसे  
दशनुवोंमें भयङ्कर शब्द किया करता था ॥ ५७ ॥

सुग्रीव—रावणको वीर क्रीडाभौका बान नहीं हो सकता है ।

एकसे एक वीर पृथ्वी पर रहने हैं किमके किमके विषयमें क्या कहा जाय, परन्तु  
रावणको धारण करनेसे ही यह पृथ्वी वीरक्षेत्र रही जाती है । कालीने युद्धके लिये  
ललकारनेवाले रावणको जो दुश्शाकी थी, उसको हम दैतने हैं इसलिए कि दो आरों हैं

१ ‘निगृह्यामहे’, ‘निगृह्यामहे ।



वाली त्वाह्वयमानमेनमपि यच्चक्रे कृते चक्षुषी

पश्याम श्रवसी कृते च शृणुमस्तद्वक्तुमल्पे वयम् ॥५८॥

राम — ( सवहुमानम् । )

स किं वाच्यो वाली भुजकुलिशमूलेन 'दशतो

दशग्रीव यम्य प्रतिजलधि संध्याविधिरभूत् ।

कथं वा निर्वाच्य स च दशमुखो यस्य दमने

मनागासीद्वालिव्ययचरितमेवोपकरणम् ॥ ५९ ॥

भुवो नीरप्रसूप्रतिष्ठामूलं रात्रणं पवति भावः, वाली तु एनम् रावणमपि आह्वयमानम् यलगवेण स्पर्धमानम् यत् यादवपराभवगतं कक्षानिहितं चक्रे तत् चक्षुषी नयने द्वे कृते त्रिधात्रा रचिते इति पश्याम, श्रवसी द्वे श्रोत्रे विधात्रा कृते इति शृणुम, तत् रात्रणस्य वालिना कृतमवस्थान्तरम् वक्तुं वाचाऽभिधातुम् वयम् अल्पे जममर्था । श्रवणे चक्षुषी च द्वे स्त इति इष्टं श्रुतञ्च, एतेनैव मुखेन तु रात्रणपरिभ्रमो वालिपराक्रमश्च वक्तुं न शक्यत, बहुभिरेव मुखं वक्तुं शक्यं इति भावः । शादूलविनीडितं वृत्तम् ॥ ५८ ॥

स किंवाच्य इति । स वाली किंवाच्य कथं वर्णनीय, यस्य वालिनो भुजकुलिशमूलेन वज्रोपमग्राह्यमूलेन दशग्रीव रात्रणं दशत पीडयत प्रतिजलधि समुद्रे समुद्रे सन् यात्रिधि सन् यात्रन्दनमर्मजभूत् । तस्य वालिनो वर्णनं कथं कियता यो रावण कक्षादेशं निक्षिप्य मन्वेपु सागरेषु संध्यावन्दनकृत्य कृतवानिति भावः । स दशमुखो वा कथं निर्वाच्यो वर्णनीयो यस्य दशमुखस्य दमने राममर्तुके निग्रहे मनाङ्गसूचमभावेन वालिव्ययचरितम् वालिनिनाशनम् एव उपकरणम् सामग्री आसीत् । रात्रणवधार्थमेव मया वाली हतः, अन्यथा बालिसहायस्य तस्य वधोऽशक्यसम्पादनं स्यादिति भावः । शिरारिणीवृत्तम् ॥ ५९ ॥

और शमीलिय सुनत ह कि दो कान ह, उसका बगन नहां कर सकत ह क्योंकि जोम अधिक है ही नहीं ॥ ५८ ॥

राम—(आदरके साथ) उस बालोके बारेमें क्या कहा जाय जिसने अपने कक्षमें रावणको दबाकर सप्त समुद्रमें संध्यावन्दन सम्पन्न किया, रावणका हा वर्णन कैसे किया जाय जिसके दमनमें बालिवध ही सेनापक उपकरण हुआ । वालीका कथं शमीलिये किया गया कि रावण मारा आसके ॥ ५९ ॥

सीता—( राम प्रति । ) अज्जउत्त, ि उण एद दल्लिदकप्पूरम-  
लाआमल्लज्जगोरअ गअणङ्गणे दीमइ । [ आर्यपुत्र, ि पुनरेतदल्लितकप्पूर-  
शलाआल्लण्टगौर गगनाङ्गणे दश्यते' । ]

विभीषण —( सीता प्रति । ) देवि, चन्द्रलोकोपकण्ठमविन्दो वि-  
नानराज । द्रश्यता च भगवानयम् ।

य प्राक्प्रत्यगवागुदञ्चि ककुभा नामानि सन्निभ्रत

ज्योत्स्नाजालप्रलङ्गलाभिरभितो लुम्पन्तमन्ध तम ।

प्राचीनादचलादितस्त्रिजगतामालोकृतीजाद्बहि-

निर्यान्त हरिणाङ्गमङ्कुरमिव द्रष्टु जनो जीवति ॥ ६० ॥

ल्लितति । दलित भग्न यत् कर्पूरशलाकापण्डम् तद्वत् गौर स्वच्छम् चन्द्र-  
लोकोपकण्ठम् चन्द्रलोकरस्य समीपदेशम् ॥

य प्रागिति । यम् प्राची पूर्वा, प्रतीची पश्चिमा, जवाची दक्षिणा, उदीची उत्तरा  
एव दिशः, तानि प्राक्प्रत्यगवागुदञ्चि ककुभा नामानि सन्निभ्रतम् निरूपयन्तम्  
( यश्चन्द्र स्योदयादिना प्राच्यादिनामानि निरूपयति, तदुदयादिसन्धमूलकत्वा  
प्राच्यादिव्यवहारस्य, प्राच्यादिना दैदिशामभिधान प्रयोजयतीत्यर्थः, तम् )  
ज्योत्स्नाजालप्रलङ्गलाभि ज्योत्स्नीनिवहप्रभाभि मन्ध तमो गाढाधरार लुम्पन्त  
विनाशयन्तम् इत अस्मात् प्राचीनात् पूर्वदिगवस्थितात् अचलात् सुमेरुपर्वतात्  
जगताम् आलोकरुतीजात् प्रनाशदायकात् नियान्त प्रन्तीभ्रन्तम् अङ्कुरमिव  
प्ररोहमिव बाल हरिणाङ्गम् चन्द्र द्रष्टुम् जनो जीवति । प्रागादिदिगभिधानानि  
स्योदयादिना निरूपयन्तो निजकौमुदानिवहान्ध तमो लुम्पतो बालचन्द्रस्याङ्कुर-

सीता—( रामके प्रति ) आर्यपुत्र, यह आकाशमें चूण किये गये कपूर खण्डकी  
नरह स्वच्छ क्या दाख रहा है ?

विभीषण—( सीताके प्रति ) देवि, चन्द्रलोकके समापमें हमारा विमान पहुँच  
गया है, देखो यह भगवान् चन्द्रमा—

जो चन्द्रमा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओंका नामकरण करना है, और  
जो ज्योत्स्नाकी श्लमनाहटमें अंधकारको नष्ट करता है । जो प्राची दिशामें वक्षमान  
तथा सनारको आलोक प्रदान करनेवाला उदयाचलसे निकल रहा है, इसी चन्द्रमाको  
देखनेके लिये यह विश्व जीना है ॥ ६० ॥

अपि च—

स श्रीकण्ठकिरीटकुट्टिमपरिष्कारप्रदीपाङ्कुरो

देव कैरवचन्द्रुरन्ध्रतमसप्राग्भारकुक्षिम्भरि ।

मंस्कृता निजकान्तिमौक्तिकमणिश्रेणीभिरेणीदृशां

गीर्वाणाधिपते सुधारसवतीपौरोगव प्रोदगात् ॥ ६१ ॥

अपि च—

प्राणायामोपदेश सरसिरुहवने यौवनोन्मादलीला-

इत्येव जगदालोकत्रीजादस्मादेव प्राचीन्द्रिगद्यस्थितारसुमेरोरुदयो भवति, य चन्द्रदृष्टमेव लोकी जीवन् धारयति, अयमेव जगज्जागतुभृतस्य चन्द्रस्योदयस्थानसुमेरुरित्यर्थ । 'स्यादास्फाल इलङ्गला', 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्युभयत्र हररित्यमरौ । अन्योऽप्यङ्गुरो त्रीजान्निर्गच्छति अयमपि अङ्गुरोपमो बालश्चन्द्रो जगदालोकत्रीजासुमेरानिर्गच्छतीति रूपक त्रीजम् । शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम् ॥६०॥

न श्रीकण्ठेति । श्रीकण्ठस्य शिवस्य किरीटम् भालदेश एव कुट्टिम गृहाभ्यन्तरभागा तस्य परिष्कारे प्रकाशने प्रदीपाङ्कुर स्वरूपदीप, यथा दीपेन गृहकुट्टिम प्रकाश्यते तथा शिवकिरीटस्य चन्द्र प्रकाशक इति रूपकार्य । कैरवचन्द्रु वैरव कुलविकासकर, अन्धतमसप्राग्भारण अन्धकारराशिना कुक्षिम्भर स्योदरपूरक सञ्जलतमोविध्वंसित्यर्थ, निजकान्तय एव मौक्तिकमणय तेषां श्रेणीभिः समुदाये षणीदृशा वनिताना मस्कृता प्रसाधक कान्तिप्रधक, गीर्वाणाधिपते इन्द्रस्य सुधारसवत्या अमृतपाकीगारस्य पौरोगवो महानसाध्यश्च स देवश्चन्द्र प्रोदगात् उदय गत इत्यर्थ । 'रसवती पाकस्थान महानसम्', 'पौरोगवस्तदध्यश्च' इत्युभयत्रामर । मालारूपकमलङ्कार ॥ ६१ ॥

प्राणायामेति । सरसिरुहवने कमलकुले प्राणायामोपदेश प्राणायामोपदेशक निमीलनकर, यौवनोन्मादे या लीला विलासा तदर्थं या गोष्ठ्य तत्र पीठमर्द

महादेवके भालदेशरूप सहनकी नमकानेर्मे दीपका कार्य करनेवाला, कैरवोंका मिन, अंधकार समुदायका संहारक, अपनी चिरणरूप मुक्तामणियोंसे सुन्दरियोंको मुसज्जिन करनेवाला, तथा रुद्रकी अमृत पाकशालाका प्रधानपाकक चन्द्रमा निकल जाया ॥ ६१ ॥

यह चन्द्रमा कमल बनको मोन मुद्राका उपदेश देता है, यौवनकी मत्तलीलाका

१ 'अपि च' इति कचि नास्ति ।

गोष्ठीना पीठमर्दस्त्रिभुवनधनितानेत्रयो प्रातराश ।  
 कामायुष्टोमयज्या शमितकुमुदिनीमौनमुद्रानुराग  
 शृङ्गाराद्वैतवादो विभवति भगवानेष पीयूषभानु ॥ ६२ ॥

लक्ष्मण — ( विलोक्य सकीर्तवम् । )

कर्णोत्तसयवाङ्कुरं करतले कृत्वा हसित्वा मिथ  
 सहृत पुरुहृतपौरयुवतीवर्गेण कौतूहलात् ।  
 'प्रासार्तिभूमितोऽयमङ्कुरिण कुर्वीत किं किं कला

प्रवर्त्तक महायभेद, त्रिभुवनधनिताना लोकत्रयस्थिताना रमणीना नेत्रयो प्रातराश प्रातर्भोजनम् सादरदर्शनविषय, क-दपय आयुष्टोम आयुर्वर्द्धको याग, तेन यज्या यानिक कामजीवनशक्तिवर्द्धक, शमित समार्ति नीत कुमुदिन्या मौनमुद्रानुराग मौनावस्थाप्रीनियन तादृश कुमुदिनीमौनमुद्राभङ्गकस्तद्विकासक, शृङ्गाराद्वैतम् शृङ्गार एवम् रसो नान्य इति वादी कथनपर शृङ्गारमाग्राज्य समर्थक एष भगवान् पीयूषभानु सुधाकर विभवति स्व वेभव विस्तारयति । 'निर्मलितहृद्मौनी प्राणायाम समाचरेत्' इत्युक्तदिशा कमलनिर्मलकस्य चन्द्रस्य सरसिरुहप्राणायामोपदेशकस्वमुक्तम् । 'पीठमर्दो विरश्चैव त्रिदूषक इति त्रय । शृङ्गारं नर्ममविवा नायकस्यानुनायका' इति भरतोक्तदिशा कामगोष्ठीविधौ चन्द्रमस पीठमर्दं तत्सहायकतोक्तम् । प्रातराशोक्ति सादरसेवताध्वननाय । अग्रधारावृत्तम् ॥ ६२ ॥

कर्णोत्तसिति । पुरुहृतस्य इन्द्रस्य पौरयुवतीवर्गेण सुराङ्गनागणेन कौतूहलात् कुतुकात् कर्णोत्तम स्वकर्णभूषणीकृतो यवाङ्कुरं तम् करतले कृत्वा स्वहस्ते निधाय मिथ परस्पर हसित्वा सहृत आकारित प्रासार्त्या बुभुक्षापीडया भूमित चलित अयम् अङ्कुरिणश्चन्द्रकोडवर्त्ती कलङ्कमृग अनसम् बहुधा घटनाया

जिसमें प्रदर्शन किया जाता है ऐसी गोष्ठियोंका यह पीठमर्द पत्रक है, समारकी युवतियोंका भावोंको आहार देनेवाला है, कामकी आयु वृद्धयर्थ याग करनेवाला, कुमुदिनियोंका मौन मुद्राका भंग करनेवाला तथा शृङ्गाराद्वैतवादका समर्थक यह सुधाकर अपना प्रताप प्रकट कर रहा है ॥ ६२ ॥

लक्ष्मण—( देखकर कौतुकम् ) कानमें पड़ने गये यवाङ्कुरोंको हाथोंमें लेकर परस्पर मुस्कराकर यदि कौतूहलवश इन्द्रपुरकी युवतियों चन्द्रमाके अङ्कुराका इरिणको बुलाव,

कन्यामिन्दुमयीमजस्रघटनोद्घाटय्यथावस्थिताम् ॥ ६३ ॥

सुग्रीव —

रोमन्थप्रचलोष्ठसपुटसुखासीनश्चिरं कौतुकाद्  
दृष्ट्वा सिद्धवधूमिरङ्कहरिणमनालेख्योऽत्रासित ।

मा भाङ्गीदनुमासनयघटनानि सधिवन्धवपु  
शीतांशो क्षुभितस्तु शक्यवदय दुःखाय, वर्तिष्यते ॥ ६४ ॥

अवयवयोजनाया उद्घाटेन सञ्चालनेन श्लथारस्थिताम् श्लथीकृतावस्थाम् इन्दुमयीं चान्द्रीं कलाकन्याम् किं किं कुर्वति । का का दशामानयेत् । यदि दवाङ्गना स्वकर्णावतमयवाङ्कुर करतले निधाय चन्द्रकलङ्कमृगम् आह्वयेत्तदा बुभुक्षितस्य मृगस्य सत्परोपसर्पणप्रयासैश्चालिता चन्द्रकला कथा अवयवयोजनाया शैथिल्येन दुर्गतामवस्थामधिगच्छदिति, अथापि कन्या केनचिदस्यर्थं चालिता सती विशीर्यं दवयवा भवतीति चन्द्रकलाया कथाया क्षुभितमृगसञ्चालनया विशीर्णायवस्व कृत दी स्थे जायेतेत्यर्थं ॥ ६३ ॥

रोमन्थेति । चिरं दीर्घकालं रोमन्थेन भक्षितस्याकृप्य पुनश्चर्वणन प्रचल चञ्चल यद् ओष्ठपुटम् यथा तथा सुखासीन रोमन्थ वर्त्तयन् सुखासीन अथ सिद्धवधूमि देवयोनिविशेषाङ्गनाभि कौतुकाद् दृष्ट्वा ताल करतलशब्दैश्चासित भीषित अयम् अङ्कहरिणो लाञ्छनमृग अनुमास प्रतिमास नव्यघटनया मासे मासे च्यो शृद्धिश्चेति जननिर्माणेन नि सधिवन्धम् अदृष्टीभृत् शीताशोर्वपु मा भाङ्गीत् काम भग्न न कुर्यात्, किन्तु क्षुभित सन् चञ्चलता गतोऽसावङ्कमृग शक्यवत् हृदये निहित शल्याखमिव दुःखाय वर्तिष्यते भविष्यति, रोमन्थ परायणोऽय हरिण क्रियत कालात्कथं सुखमास्ते न चलत्यपीति कौतुकाद् यदि

तो भूला हुआ वह अङ्कहरिण बारबार शरीर सञ्चालन करके इन चन्द्रमाल्य कथाकी कैसा दशा करदे, नहीं कहा जा सकता है ॥ ६३ ॥

सुग्रीव—रोमन्थ ( चवाये गये खावको पुन चवाना ) कालमें ओठ चलाना तथा आरामसे बैठा हुआ हरिण यदि निकट श्रुतियो द्वारा ताली पीटकर भयभीत कर दिया जायगा, तब यह चञ्चल हो उठेगा, उसका चक्रप्रचल हो जानेसे प्रतिमास नवीनरूपमें सङ्कटित होनेवाला यह चन्द्रमाला शरीर दूट भले ही न जाय परन्तु उम स्थितिमें वह हरिण चन्द्रमालके हृदयमें शक्यकी तरह बधप्रद होगा ॥ ६४ ॥

अपि च ।

एतस्य कलामेकाममृतमयूखस्य पार्वतीरमण ।  
वर्णावलिमिव वहति प्रतिमास घट्यमानस्य ॥ ६५ ॥

राम — ( सादर प्रणम्य । )

त्व गीर्वाणगणाय नित्यममृतधाद्भवद्दीधिति  
धात्रीकर्म च वीरधा विदधती धत्ते जगज्जीवितम् ।  
सोम त्वामनिधाय मूर्धनि भवेत्क कालकूट गिल  
ऋण्डे तच्छलकालपाशवलयालीढोऽपि मृत्युञ्जय ॥ ६६ ॥

सिद्धबध्भिरय शशिनोऽङ्कमृग करतालिकाभिर्भीषित स्यात्तदा चलेत् चलिते  
च तस्मिन् प्रतिमासनूतानिमाणतयाऽटवध शशिन शरीर काम भग्न न  
भवत्, पर शुभितेन तेन मृगेगान्द्रोलिननया हृदयशल्यमवश्यमुत्पद्येत शशिन  
इत्यर्थ ॥ ६४ ॥

एतस्येति । पार्वतीरमण शम्भु प्रतिमास घट्यमानस्य नवीनरूपेण निर्माय  
माणस्य अमृतमयूखस्य चन्द्रस्य एका कला वर्णावलिम् इव—यावतो वारानस्य  
घटितस्तावदक्षरपङ्क्तिमिव वहति शिरसा धारयति । नार्थावृत्तम् ॥ ६५ ॥

त्वद्गीवाणनि । हे सोम चन्द्र, त्वम् गीवाणगणाय दवृन्द्याय नित्य सततम्  
अमृतधादम् अमृतरूप श्रद्धादत्त हयम्, ( देवाश्चन्द्र पित्रतीनि चन्द्रस्य अमृत  
हृदयत्वमुक्तम् ) भवतश्चन्द्रस्य दीधिति मयूख वीरधा एतोषधीना धात्रीकर्म  
उपमावृत्तार्थं पोषणादि विदधती जगज्जीवितम् ससारस्य प्राणान् धत्ते धारयति  
परिपालयतीत्यर्थ । त्वाम् मूर्धनि शिरसि अनिधाय अष्टवा कालकूट हालाहल  
गिलन् भक्षयन् तच्छल्येन भक्षितहालाहलयानेन कालपाशवलयालीढ यमराज-  
बन्धनरज्जुगृहीत अपि को मृत्युञ्जयो मृत्युञ्जयी स्यात् ? हे चन्द्र, त्व देवाना

प्रतिमास नवीन रूपमें सङ्घटित होनेवाले इस चन्द्रमाकी एक कलाको भगवान् शिव  
अपने मस्तकपर वर्णावलिकी तरह धारण किया करते हैं ॥ ६५ ॥

राम—( सादर प्रणाम करके ) हे चन्द्रदेव आप देवोंके लिये प्रत्यह अमृत धाद हैं,  
और आपकी किरणें लता-वृक्षादिकोंका लालन पालन करके जादूके जीवनका रक्षा  
करता हैं, आपको अगर शिर पर नहीं धारण करते तो कौन शक्ति थी जिसके बलसे  
महादेव कालकूट निगल कर मो उमीके बहाने कालपाशसे वेष्टित होकर भी मृत्युञ्जय  
बने रह जान ॥ ६६ ॥

( सीता प्रति । )

नेत्राणा मधुपर्कसत्त्वमुदधे सर्वाङ्गमेदस्कर

शृङ्गारस्य रसायन मलयभुजा पीयूषगङ्गापति ।

देव किं स्तुमहे महेश्वरशिरोनेपथरत्नाङ्कुर

क्षीरोदार्णवशुक्तिमौक्तिकमयं दाक्षायणीनायक ॥ ६७ ॥

सीता—( ह्यन्ती ) अज्जउत्त, समाणकुलसीलरुवजोव्वणाण पि सत्रत्तीण मीसे दिण्णो धण्णाए दम्परगोत्तधवलाए रोहिणीए चल्लणो । जेण रोहिणीरमणो ज्जेव्व भअय चन्दो सुणीअदि । [ आर्यपुत्र, समानकुल

सुधारूप ह्यस्य विद्यमे तद्भङ्गनात्तेषा प्रीतेरदयात्, तव दीधितिरोपधिपोषिणीति द्वारा त्व जगज्जीवितपालकोऽमि, कालकूटपायी शिव कालकूटव्याजन यमपाशवद्ध गले भूत्वापि यत्र मृतस्तद् तव मूर्धस्थाया कलाया विजृम्भितम्, यदि विदुः क्षिरमि नाभविष्यत्तदा कालकूटपायी शिव कथ मृत्यु व्यनप्यतीति भाव । शार्दूल विज्रीडित वृत्तम् ॥ ६६ ॥

नेत्राणामिति । नेत्राणा लोकलोचनाना मधुपर्कसत्रम् दधिघृतमधुप्रस्तुतसर्वं हृद्यवस्तुयज्ञ, ( य पीद्य लोचनानि मधुपर्कतप्तिसनुभवति तादृश ) उदधे सागरस्य सयाङ्गमेदस्कर सर्वावयववृद्धिकर ( सागर शशिन उदये बद्धत इति स तथोक्त ) शृङ्गारस्य रसायन पुष्टिकर, मलयभुजा देवाना पीयूषगङ्गापति सुधामद्यशालाऽप्यस्य ( देवाश्चन्द्रन्लागृत पिबन्तीति चन्द्रस्य पीयूषगङ्गापति खमुक्तम् ) महेश्वरशिरस हरमूर्धनेपथ्ये भूपणे रत्नाङ्कुर हारकण्डरूप, क्षीरोदार्णव क्षीरसागर एव शक्तिस्तस्या मौक्तिकम् मुक्ताफलम्, अयम् देवो दाक्षायणीनामश्विन्यादिताराणा नायक पति, अस्तीति शप, अस्य चन्द्रस्य किं स्तुमहे स्तुति कथ कुर्म ? अशक्या स्तुतिरस्येत्यर्थ । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे स्वदादाने वनऽपि च', 'गङ्गा तु मदिरागृहम्', 'दाक्षायण्योऽश्विनीत्यादितारा' इति सर्वानामर । शार्दूलविज्रीडित वृत्तम् ॥ ६७ ॥

समानकुलशीलरूपयौवनानाम्—कुलगौरवे शीलबले रूपसम्पदि यौवन

( माताके प्रति ) लोकलोचनोके लिये मधुपर्क सत्रस्वरूप, समुद्रको सर्वाङ्गमें वृद्धि प्रदान करनेवाला, शृङ्गारका पोषक एव देवोंके लिये मदिरालयाध्यक्ष स्वरूप यह चन्द्रमा महादेवके मस्तक पर अलङ्कारका काय करता है क्योंकि यह क्षारसमुद्ररूप शुक्तिमें उरपन्न मौक्तिक है इसको कितनी स्तुति की जाय ॥ ६७ ॥

सीता—( हसती इह ) आयपुत्र, समान कुल शील-रूप यौवन-सम्पन्न अपनी

शीलरूपद्रौवनातामपि सपत्नीनां जीवै दत्तो धन्यया दक्षगोत्रधवल्या रोहिण्या चरण । येन रोहिणीरमण एव भगवाश्चन्द्र श्रूयते । ]

राम — ( विहस्य । ) आ जानकि,

प्रियोपभोगतुल्येऽपि तागणा सप्तविंशते ।

धत्ते किमपि 'सौभाग्यमञ्जरीमिह रोहिणी ॥ ६८ ॥

( स्पर्शं च रूपयत् । )

दलितकुमुदकोषोदञ्चद्रूपोपचार-

क्षणशमितचकोरीचन्द्रिकापानजाडया ।

शोभाया च समानाम् । शीर्षं शिरसि । दक्षगोत्रधवल्या दक्षगोत्रप्रकाशिका । धन्यामु वह्नीषु स्त्रीषु सतीष्वपि यद्य चन्द्रो रोहिणीरमणसन्देन व्यसद्वियते तदिदं तस्या सौभाग्यभितरमपत्नीकुलं भवति सत्—तस्या विजय व्यञ्जयति ॥

प्रियोपभोगेति । इह जगति रोहिणी नाम चन्द्रस्त्रीषु तारास्वन्वयतमा सप्तविंशते-स्ताराणाम् सप्तविंशतिसंख्यानामध्विन्द्र्यादीनाम् प्रियोपभोगतुल्येऽपि प्रियसभोग-रूपमुत्पन्नाम्ये मत्प्रपि रोहिणी किमपि इतरमपत्नीविलक्षणं सौभाग्यमञ्जरीम् सौभाग्यरथाति धत्ते, रोहिणी सोरये समाऽपि सौभाग्येऽनिरिच्यते सपत्नीभ्य इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

दलितति । दलितत्वात् विकसितात् कुमुदकोषात् कैरवमध्यभागात् उदञ्चनाम् उदञ्चिताम् ऊष्मणाम् उपचारण सेवया क्षणात् शीघ्रं शमितं शान्तिं नीतं चकोरी-णाम् पवित्रेदंशुणां चन्द्रिकापानजाडयं याभिस्तास्तथोक्ता, (रात्रिं यावच्चन्द्रिका रूपानिशीतवस्तुपानान् नदीभूतानां चकोरीणां जाडयं प्राप्तं कुमुदकोपनिर्गतोष्म-सेवनेन निवर्त्तते, प्रातर्जायमाने चकोर्यो जडता विहाय चेतयन्ते, मन्ये कुमुद-

मपत्नियोंके मिरपर रोहिणीने वैर रख दिया क्योंकि उनपर चन्द्रमाकी बड़ी प्राप्ति है क्योंकि यह सप्तर 'रोहिणीरमण' नामते पुकारा करता है ।

राम—( हसन् ) हौं जानकी,

प्रियोपभोग-सुख ममोके लिये तुल्य ही है परन्तु सप्तरम तारोंमें रोहिणीका कुछ ऐसा सौभाग्य ही है कि लोग चन्द्रमाकी रोहिणीरमण कहते हैं ॥ ६८ ॥

( स्पर्शका अनुभव करने हुए ) विकसित होनेवाले कुमुद कोषसे निन्दनेवाली गर्मोंके सेवनेसे तत्काल शमित कर दिया है चकोरियोंके चन्द्रिकापान-पनिज जाडको जितने, ऐसी-

१ 'सौभाग्यै सोरभ्यमिह' ।



अभिस्मरमृगाक्षीमूकदूत्य म्बदन्ते

शशिमणिमकरन्दोत्कन्दलाश्चन्द्रभास ॥ ६९ ॥

अपि च—

ते सर्वज्ञीभवद्भिस्त्वानेत्रमिद्धाजनेर्वा

नीरन्ध्रैर्वा त्रिभुवनदशमन्धपट्टेस्तमोभि ।

व्याप्त पृथ्वीवलयमग्निल क्षालयन्नुच्छलद्भि

ज्योत्स्नाजालैरयमुदयते शर्परीसार्वभौम ॥ ७० ॥

अपि च जगतामनुग्रहाय

उदयति कलमन्त्रे कण्ठनालैरलीना

कोपोष्मोपचारेणैव तासा जाड्य शमितमिति भाव ) अभिस्मरा अभिसारिका या मृगाक्षी रमण्यस्तासा मूकदूत्यो विनैव शब्द दूतीकमन्वरण कुवाणा शशि मणाना चन्द्रकाताना मकरन्देन अमृतरसलावेण उत्कन्दला मजातप्ररोहा इव चन्द्रभास चन्द्रकिरणा स्वदन्ते प्रीति जनयन्तीत्यर्थ । मालिनीवृत्तम् ॥ ६९ ॥

त सवशापि । अय शर्परीनाथ निशापतिश्चन्द्र सर्वज्ञीभवतीनाम् अखिल कामकलाविज्ञानात् सर्वज्ञताभिमानशालिनीनाम्, अतिचतुराणामित्यर्थ, नेत्र सिद्धाजने सिद्धाजनमोपधनितयो येन तमस्यपि दृश्यते, तादृशं, कृष्णाभिसारिका-स्तमस्यैव कान्तानभितरन्तीति तमसस्तनेत्रसिद्धाजनरूपत्वमुक्तम् । नीरन्ध्रै सा-न्ध्र त्रिभुवनदशाम् नेत्राणाम् अन्धपट्टे अन्धत्वसम्पादकाच्छादनरूपैर्वा ते तमोभि व्याप्तम् अग्निल समस्त पृथ्वीवलयम् भ्रूमण्डलम् उच्छलद्भि विकास शब्दद्भि ज्योत्स्नाजाले प्रभाभर चालयन् धावयन् श्रेत्य नयन् उदयते उदय शब्दति । मन्दाग्रान्तावृत्तम् ॥ ७० ॥

उदय-१ । मद्मुसुराणाम् मदेन वाचालाना चक्रीणा तोपे सन्तोपणे

अनिमार कर्णवाला युवनियोषा मूकदूतियो, एव चन्द्रकातमणिके मकर दोम पठवित दानवाला यद् चन्द्रकिरणे बही अच्छी लग रही है ॥ ६९ ॥

अभिषय चतुर अभिसारिकाओंकी आँखोंके लिये सिद्धाजन स्वरूप तथा त्रिलोकको अ धा बनानेवाले घने अन्धकारमे व्याप्त धरामण्डलकी अपनी उच्छलनी हुई किरणोंसे धोकर स्वच्छ बना देनेवाला यह रात्रिवा नाथ चन्द्र उग रहा है ॥ ७० ॥

यद् चन्द्रमा समारकी भलाहके लिये उग रहा है, यह चन्द्रमा कुमुदकी कलियोंपर

१ अय इत्येक वचनिसिमदलोकादनतर वनेते ।

२ 'जगतामनुग्रहाय' इति वचिन्नास्ति ।

कुमुदमुकुलकेषु व्यञ्जयन्द्वारान् ।

मदमुखरचकोरीतोषरुर्मान्तिकोऽयं

तुहिनरचिरधामा दक्षिणं लोकचक्षु ॥ ७१ ॥

इदं चास्य—

प्राचीनाचलचुम्बिचन्द्रमणिभिर्निर्व्यूढपाद्यं निजै

निर्यामैरुडुमिनिजेन वपुषा दत्तार्धलाजाञ्जलि ।

अन्त प्रौढकलङ्कतुच्छमभित सान्द्र परिस्तीर्यते

विम्वाद्ङ्कुरभङ्गनैशिकतम सदोहमिन्दोर्मह ॥ ७२ ॥

कर्मान्तिक कर्मां यच्च चकोरीसन्तोषकर इत्यर्थ । दक्षिण प्रीतिप्रद लोकानां चक्षु, तुहिनै रश्मि धाम यस्य स तुहिनरचिरधामा चन्द्र कलमन्द्रे मधुरगभारै अलीमा कण्ठतारै अमराणां सनीतक्रियाभि कुमुदमुकुलकेषु कुमुदकोरकेषु अङ्गहारान् अङ्गविनेषारै गांतध्वनिध्रुवणानन्दजनितानन्दव्यञ्जकरशिरश्चालनानि व्यञ्जयन् नात्रिर्भावयन् उदयति । अमराणां मधुरगभीरै स्वरै कुमुदमुकुलानि चलानि कुर्वन्, मदमुखरचकोरीसन्तोषकर शीतकरश्चन्द्र उदयत इत्याशय । 'अङ्गहारोऽङ्गविच्छेप' इत्यमर । मालिनीवृत्तम् ॥ ७१ ॥

प्राचीनेति प्राचीनाचल पूर्वदिगवस्थितमुदयाद्रि चुम्बित सम्प्रभ्रमिति ये तैश्चन्द्रकान्तमणिभि निजेनियामै स्वदेहच्युतनलरूपमारभागै निर्व्यूढपाद्यम् सम्पादितपादोदकप्रियम्, उडुमि नक्षत्रै स्ववपुषा स्वकायेन दत्त अर्धरूपो लाजाञ्जलिर्यस्म तथोक्तम्, अन्त प्रौढकलङ्कतुच्छम् अभ्यन्तरस्थितोरफटकलङ्क हीनम् अङ्कुरभङ्गनैशिकतम सदोहम् अङ्कुरवस्थाविनाशितरात्रितम पटलम् मह तेन सान्द्रम् सत् इदोश्चन्द्रस्य विम्वात् मण्डलात् अभित समन्तत

अमरोंके मयुर " नार कण्ठनालोके अङ्गविश्व यजिन कर रहा है, मतवाली होकर मुखरित होनेवाली चकोरीदोंकी मनुष्य कर रहा है और लोकोकी आलोंकी दशानशक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है ॥ ७१ ॥

यह च द्रमणा नेत्र,

उत्थात्रल पर वत्मान चद्रवातमणि द्वारा दिखे पाद्य तथा अपने सारस्वरूप तारों द्वारा अपने शरीरोंसे ममपिन अधनाजाञ्जलि प्राप्त करनेवाला, अन्त कलङ्कान्य, एव समूल अचकारका नाशक ममस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ७२ ॥

१ इदं चास्य' इत्यारभ्य 'मलकुदामगोर जनम्' इत्यत पाठ केपु विपुस्तकेपु 'सोपक्रम-७-८४' इत्यादिश्लोकादये वनमानादनंतर वर्तने ।

१एन च—

मृगराजकरजभङ्गरकिंशुककलिकावतसिकासुदृश ।  
भयसङ्कुचदङ्कहारिणबहलोज्ज्वलमिन्दुमीक्षन्ते ॥ ७३ ॥

विभीषण —

इन्दोरेकफलाया रुद्रेणोद्धृत्य मूर्धनि धृताया ।  
स्थानमिव तुच्छमेतत्कलङ्करूपेण परिणमते ॥ ७४ ॥

परिस्तीर्यते प्रसरति । यस्मै महसे उदयाचलवत्तिचन्द्रकान्तमणय स्वाङ्गसूत  
जलरूप पादमर्षयन्ति, उद्वनि स्ववपुषाऽर्पलाजाजलिमुपहरन्ति, यदन्त कलङ्क  
हीनम्, येन रात्रितमोऽदुराग्रस्थायामेव विनाश्यते, तदिद महश्चन्द्रविम्बाःसर्वत  
प्रसरतीत्यर्थ । शार्ङ्गलविकीर्णित हस्तम् । ताराणा शुभ्रचतुल्लोलाजत्वच्य  
पदेश ॥ ७२ ॥

मृगराजेभि । सुदशो रमण्य मृगराजस्य मिहस्य करज इव नत्वं इव भङ्गुरा  
कुटिला या किंशुककलिका पलाशकोरक अवतस कर्णभूषण यासा तथाभूता  
कर्णयो मिहनासकुटिल पलाशकोरक भूषण विधाय भयेन पलाशकोरके सिन्न  
खभ्रमजन्म्येन मङ्कुचन् अङ्कहरिण । लाङ्गुनमृगस्ततो बहलोज्ज्वल समधिक  
प्रकाश हरिणे आयताङ्गे स्वल्प प्रवाश तदङ्गैश्चन्द्रायामाधिकाशनिह्नुवात्, सङ्कु  
चित्ताङ्गे तु लाङ्गुनमृगे स्वल्पस्येव चन्द्रायामस्यादृश्या बहुप्रकाश चन्द्रस इक्षन्त  
पर्यन्ति । नार्यादृत्तम् ॥ ७३ ॥

इन्दोरिति । रुद्रेण हरेण उद्धृत्य आहृत्य मूर्धनि स्वमस्तक धृताया स्थापि  
ताया इन्दाश्चन्द्रमस एकफलाया एकस्या कलाया एतत् तुच्छ रिक्त स्थान  
कलङ्करूपेण परिणमते पर्यवस्यति । महाद्वेन या चाऽद्री कलाऽऽहृत्य स्वशिरसि  
धृता रिक्त तत्कलास्थानमेव लोका कलङ्क कुच इत्यर्थ ॥ ७४ ॥

मृगराजके नगरी तरह कुटिल किंशुक कलिकाको भूषण बानेवाली युवतीयाँ  
भयमात होकर सङ्कुचित अङ्गुवाले अङ्क मृगसे युक्त अन पव अधिकदीपित चन्द्रमाको देख  
रही हैं ॥ ७३ ॥

विभीषण—चन्द्रमाकी एक कलाको बटाकर महादेवने अपने सिर पर रख लिया,  
उसीका रिक्त स्थान कलङ्कके रूपमें प्रतीत होता है ॥ ७४ ॥

( विद्वत्स्य राम प्रति । )

रोदसीकूपमण्डूक कियदेश प्रकाशने ।

चन्द्रमा यद्य देव त्वत्कीर्ते प्रतिगर्जति ॥ ७५ ॥

सीता—( सस्मितम् । ) नाणामि अज्जउत्तस्स कित्तिमन्तीहिं पडि-  
स्पद्ध न्दुअ पराजिणेण सपदि भवअदा हरिणङ्केण कलङ्कसघदी पिढत्ता ।  
[ जानाम्मार्यपुत्रस्व कीर्तिकान्तिभि प्रतिस्पर्धा कृत्वा पराजितेन भप्रति भगवता  
हरिणाङ्केन कलङ्कसहतिरर्पिता । ]

( सर्वे हनन्ति । राम स्तयते । )

सीता—( राम प्रति । )

सारम्म सिरिवच्छलञ्छणभुआपज्जत्यमन्याअल

क्खोभोच्छल्लिद्धदुद्धसिन्धुलहरीगम्भच्छईसच्छअम् ।

रोमाति । रोदसी वावाभूमी एव कूपस्तस्य मण्डूक भेक आकाशपृथ्व्यन्त-  
रालमात्रचर ष्य चन्द्रमा कियत्प्रकाशत किंपरिमाणप्रकाशो विद्यते यत् येनाय,  
हे देव राम, त्वत्कात् त्ववशम् प्रतिगर्जति सादृश्यमभिमन्यते इत्यर्थ । कूपमण्डूको  
यथा कूपमात्रचरस्तथवाय चन्द्र पृथ्वीं त्रिव च केवला प्रकाश्यापि समस्तब्रह्माण्ड  
प्रकाशस्य तथ यशम् स्पधत इत्यहो चन्द्रस्य वालिशत्वमिति भाव ॥ ७५ ॥

हरिणाङ्कमहति कलङ्कसमूह । भवत्कीर्तिकृतपराजयापमान एव कलङ्कश्च-  
न्द्रस्येव्यर्थ ।

सारम्ममिति । सारम्म प्रथममेव श्रीवासलाञ्छनस्य विष्णोर्भुजाभि पर्यस्त-  
सञ्चालितो यो मन्याचल मन्दरपर्वत तत्क्षोभेण तत्कृतालोढनेन उच्छलितस्य  
आलोटितन्य दुग्धमिधो क्षीरसागरस्य लहरीणा तरङ्गाणा गर्भस्य मध्यभागस्य

( इत्थं रामके प्रति ) पृथ्वी तथा आकाशरूपी कूपका मण्डूक यह चन्द्रमा किना  
प्रकाशित होना है जिससे यह आपकी कीर्तिते बराबरी करनेका साहम करता है ॥ ७५ ॥

सीता—( मुकुटारकर ) ने समझती हूँ, आपकी कीर्तिके साथ प्रतिस्पर्धा करके  
पराजित होने पर ही चन्द्रमाने यह कलङ्क अभिजित कर लिया है ।

( सभी इतते हैं राम मुकुटारते ह )

सीता—( रामके प्रति ) समुद्रपथ के प्रारम्भकालमें मायाय विष्णुके मुकुटपङ्के  
सञ्चालित मन्दराचलरूप मन्यान दण्डसे मथित क्षीर समुद्रके गर्भकी छविके समान स्वच्छ,

को गायेदि ण दे रघुणं पटुणो अन्धारपम्बन्तरा

सन्तुष्टन्तमिभङ्गमण्डलमलङ्कुद्दामगौरं जसम् ॥ ७६ ॥

[ सारम्भ श्रीवत्सलाङ्कनभुजापर्यस्तमन्थाचल

क्षोभोच्छलितदुग्धमिन्धुलहरीगर्भच्छविसदृशम् ।

को गायति न ते रघूणा प्रभोरन्धकारपक्षान्तरा

मन्त्रुद्वन्मृगाङ्गमण्डलखण्डोद्दामगौर यश ॥ ]

राम — ( सहर्षस्मितम् । ) अयि प्रिये प्रिययादिनि,

चन्द्रलोकादपि पर पद्मारोपयन्ति माम् ।

अमूरमृतत्रिन्दूनामनुप्रासास्तयोक्तय ॥ ७७ ॥

विभीषण — ( सानुरागम् । )

अद्योर्वातलमूलघर्षणवशादुन्मृष्टचूडामणि

श्रेणिश्रीपरिपीतपीधरतम पूरे पुरे भोगिनाम् ।

च्छविभि सदक्षम् नितान्तधवलम्, अन्धकारपक्षस्य अन्तरा मध्ये सन्तुष्टवत् क्षीयमाणम् यत् मृगाङ्गमण्डलम् चन्द्रप्रिम्ब तस्य खण्डवत् उद्दामगौरम् अति भासुरम् रघूणा प्रभोस्ते तव यश को न गायति ? सर्वोऽपि गायति तव यशो यदादावेव विष्णुकरनिहितमन्दराचलखण्डान्दोत्तसञ्चालितसागरलहरीगर्भगौरम् पृष्णपक्षमध्यक्षीणचन्द्रखण्डउदतिम्बच्छमिति भाव ॥ मालोपमालङ्कार ॥ ७६ ॥

चन्द्रलोकादिनि । हे प्रिये, अमृतत्रिन्दूनाम् अनुप्रासा अनुरूपा अमू तवोक्तय वचनानि माम् चन्द्रलोकादपि पर पद्म् आरोपयन्ति प्रापयन्ति । त्वदीया प्रशसोक्तिपरम्परा श्रुत्याऽहमात्मान चन्द्रलोकादप्युपरिवर्त्तमान प्रत्येमि, इति भाव ॥ ७७ ॥  
अद्योर्वातलनि । अद्य सम्प्रति उर्वातलस्य पृथ्वीतलस्य मूलेन आद्यधोभागेन घर्षणवशात् सतसमृष्टयात् उन्मृष्टाना धवलीकृताना चूडामणिश्रेणीना भोगरत्नसमूहाना धिया कान्त्या परिपीतो नि शेषविनाशित तम पूरोऽन्धकारराशिर्यत्र

शुक्ल पक्षके अतिरिक्त पक्षके मध्यमे वत्तमान चन्द्रमण्डलखण्डकी तरह चमकदार, रघुवश श्रेष्ठ आपकी कीर्तिको कौन नहीं गादा है ॥ ७६ ॥

राम—( हृषसं मुस्कराते हृष्ट ) अये प्रियवादिनि प्रियतमे,

अमृतको बूदोंसे परिपूर्ण तुम्हारी यह मधुरोक्तियों मुझे चन्द्रलोकसे भी ऊपरके स्थानमें पहुँचा रही हैं ॥ ७७ ॥

विभीषण—( प्रेमसे ) आज पृथ्वीके मूल भाग द्वारा घर्षण होनेसे सर्प चूडामणियोंके मृष्ट हो जानेके कारण अति प्रकाशशाली मणियों द्वारा आलोकित पाताल लोकमें नागराज

कर्णाभावनिरस्तकुण्डलरवव्यासङ्गमाधुन्वता

मूर्त्नं पन्नगपुगवेन सुभग त्वत्कीतिराङ्गर्ण्यते ॥ ७८ ॥

( विहस्य<sup>१</sup> । )

भोगीन्द्र प्रमदोत्तरङ्गमुरगीसङ्गीतगोष्ठीषु ते

कीर्तिं देव शृणोतु विंशतिशती यच्चक्षुषा वर्तते ।

तादृशे भोगिना सपाशा पुरे नागलोके पन्नगपुगवेन नागराजैः दामुकिना चक्षु  
ध्रवस्तया कर्णाभावन निरस्त अपरात कुण्डलभरव्यासङ्ग कुण्डलसमुदयप्रयूहो  
यत्र तथा मूर्त्नं स्वफणामण्डलानि आधुन्वता सुभग सा तु त्वत्कीतिस्तव यश  
आङ्गर्ण्यते श्रूयते । पाताले स्थितस्य तामुकं पन्नगमणयो भूमूलवर्षणेन मृष्टतया  
समेधितदीप्तय समतो निशेषे तत्रस्य तमो गच्छयन्ति, तदेवमुज्ज्वलालोके तत्र  
पाताले पन्नगराजस्तव यशोगीतमाकर्णयति त्रिशिरामि चान्द्रातिरेकेण धुनोति,  
शिर कम्पने तदा क्रियान् विनोऽप्यमन्त्रित् यदि तस्य कणा अमविप्यन्,  
प्रतिमुखा द्वौ कर्णाविति सहस्रमुग्यस्य द्विमहत्सुः कणानामभविप्यत्तनश्च तावना  
कुण्डलाना धारणे भाराधिक्याच्छिर कम्पन इष्टसाय स्यापर तु चक्षु ध्रवस्तया  
कुण्डलकथेव नास्तीति सान्द्रमय तामुकि शिरामि कम्पयँस्त्वन यश शृणोतीति  
भाव । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ७८ ॥

भोगीन्द्र इति । हे देव, भोगीन्द्र सपराजो तामुकि उरगीसङ्गीतगोष्ठीषु नुन  
गात्रनाकृतसङ्गीतसमारोहे उत्तरङ्गम् उद्गतकोतुर यथा स्यात्तथा ते तव राम्य  
कीर्तिं शृणोतु यत्र यत तस्य तामुके चक्षुषा विङ्गविशती सहस्रद्वय वर्तते तस्य  
सहस्रमुखतया द्विसहस्री नयनाना विद्यत इयसा चक्षु ध्रवस्तया प्राप्तद्विसन्ध  
ध्रवजमाधनेन्द्रिय सान्द्र भुवङ्गीभिर्गीयमान तत्र यश श्रोतुमर्तस्त्वं । तु  
किन्तु सहस्राच्च इन्द्र कर्णद्वयीदु स्थ द्वाभ्यामेव कणाभ्या विद्यमानाभ्या दुरवस्थ

वामुकि कान नहीं होनेके कारण कुण्डलके स्वरान्न मुक्त होकर मरलवासे मस्तकोंको  
द्विहाइलाकर आपके चरित-गीतका श्रवण करत है ॥ ७८ ॥

आनन्द विभोर होकर नागाङ्गनाथें जब आपकी कीर्तिना गान प्रारम्भ करनी हैं  
तब नागराज इसलिये उमे खूब दुन पाव हैं कि उनको दो हानाँ बाँटें हैं उहीने उनको  
सुनना भी है । परन्तु प्रसन्न होकर द्वाङ्गनाथें यदि आपकी कीर्ति गान लगी तो मो

<sup>१</sup> 'विहस्य च' ।

रक्ताभि सुरसुरन्दरीभिरभितो गीतां तु कर्णद्वयी-

दुःस्थ श्रोष्यति नाम किं स हि सहस्राक्षो न चक्षु 'थवा ॥७९॥

राम—( <sup>१</sup>विलक्षस्मितेन विभीषणसूक्तमनुष्टुप् चन्द्र सीतामुख च <sup>३</sup>क्षणमा लोक्य <sup>४</sup>स्वगतम् । )

आरब्धे 'दयितामुखप्रतिसमे निर्मातुमस्मिन्नपि

व्यक्त जन्मसमानकालमिलितामंशुच्छ्रुता वर्षति ।

अतो रक्ताभि मानुरागाभि सुरसुन्दरीभिर्देवाङ्गनाभि अभितो गीता तव कर्णौ किं नाम कथं नाम श्रोष्यति श्रोतुं पारयिष्यति हि यत यस्मात् सहस्राक्षं चक्षुः श्रुत्वा न । इन्द्रस्य सन्ति सहस्रमर्द्धाणि परं दृशा तस्य श्रवणशक्तिहीनतया सुरसुन्दरीगीयमानभवत्कीर्त्तिश्रवणे वासुकेरिव सुविधा न सम्भाव्येति तात्पर्यम् । पूर्वोक्ताविपरीतं वृत्तम् ॥ ७९ ॥

आरब्ध शब्दः । अस्मिन् रोहिणीपरिवृष्टं रोहिणीनाथे चन्द्रे दयितानां रमणीनाम् मुखानां प्रतिसमे अनुरूप समाने निर्मातुम् आरब्धे सति ( विधातरि स्त्रीमुखसमानच्छ्रुतिं चन्द्रमुपक्रममाणे सति ) अस्मिन्नपि चन्द्रे जन्मसमानकालमिलिताम् जन्मकालसद्वताम् स्वल्पामशुच्छ्रुता वर्षति सति जायमानस्यैव चन्द्रस्य बालकिरणे

इन्द्रबनाराकेसंभुनसकेगा जमे हज्जार आँखें हैं भी फिर मां वह आँखों से भुन नहीं जो पाता है ॥ ७९ ॥

राम—( लज्जायुक्त इमीके साथ विभीषणकी उक्तिको स्वीकार करके चन्द्रमा तथा सीताके मुखकी ओर देखकर स्वगत )

प्रद्वाने मेरी प्रियाके मुखके समान चन्द्रको बनाना प्रारम्भ किया था, जब बाल चन्द्रमा बना, तभी उसको जो थोड़ी सी कान्ति मिली उमने अपना प्रकाश पैलाना

१ इति च अस्माच्छ्रुतलोकादग्रे 'अपि च, अथ स्वर्गिवधूगणे गुणमय-वत्कीर्ति मत्सुखञ्चलासुचैर्गायति निष्कलङ्कितमदशानापत्यते चन्द्रमा' । गीताकर्णानमोदमुत्तयव समासाभिलाषोऽपुना स्वामि-नङ्कसुग कियन्त्यपि दिनान्येनस्य वर्तिष्यते ॥ अपि च 'गायते यदि पतंगीभिरभितस्त्वत्कीर्तयस्तद्वयं गुष्टा एव परतु वेत्सि चमत्कारोऽयमारो इति । तासां तादृशभावमङ्गलनासत्थानसन्दर्शिनि व्यालेन्द्रे रसघूतमूर्धनि महीचक्र पुनर्भ्राम्यति ॥' इति श्लोकद्वयमधिकमरित ।

२ 'सविलक्षस्मितम्' । ३ 'क्षणम्' इति वचिन्नास्ति ।

४ 'स्वगतम्' इति वचिन्नास्ति । ५ 'दयितानन-' ।

आत्मद्रोहिणि रोहिणीपरिवृढे पर्यङ्कपङ्केरुह

सकोचादतिदु स्थितस्य न विधेन्तच्छिल्पमुन्मीलितम् ॥८०॥

( सीता प्रति । )

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन तुपारभानोस्तुलया धृतस्य ।

ऊनस्य नून परिपूरणाय तारा स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डा ॥ ८१ ॥

प्रसरति सतीत्यर्थ । पर्यङ्कपङ्केरुह विधातृवामास्त्रभूतकमलस्य सङ्कोचात् निमीलनात् अतिदु स्थितस्य अत्यन्तदुरस्था गतस्य विधे ब्रह्मण आत्मद्रोहिणि आवासमश्लेषकतया रात्रुभूते चन्द्रे तत् प्रारम्भमाण शिल्पम् । न उन्मीलति न समृद्धयति । अयमाशय —यदैव ब्रह्मा वनितावदननमानम् इन्दु निर्मातुमारभत, तदा उत्पद्यमान एव बालश्चन्द्र स्वबालप्रभया ब्रह्मण आवासकमल समकोचयत्, ततश्चाश्रयकमले सङ्कुचति सति दुरवस्थो ब्रह्मा चन्द्रनिर्माणे स्व कौशल पहलवयितु न प्राभूत्, आत्मद्रोहिणि चन्द्रे तस्य वीतस्नेहत्वानहि स्नेहहीन कृत्यफलति, अत एव चन्द्रो न रमणीतुलामृच्छति यद्य चन्द्रो ब्रह्मावासकमल न समकोचयिष्यत्तदा ब्रह्मा स्वस्थ ममनोऽन्ध कदाचिदिन्दु रमणीवदनसम निर्मातुमपारयेदपीति । शार्दूलविस्तीर्णित वृत्तम् ॥ ८० ॥

अनेनेति रम्भे कदलीस्तम्भो इव उरु यस्तास्तस्त्वम्बोधने हे रम्भोरु सीते, भवन्मुखेन भवत्या वदनेन सह तुलया धृतस्य तुलायामारोपितस्य तुपारभानो शीतकरस्य ऊनस्य हीनपरिमाणस्य हीनरश्चेश्च परिपूरणाय समताप्रापणाय नून प्रतिमानखण्डा सजातीयवस्तुशकलोपमा तारा स्फुरन्ति । यथा सुरर्णादौ तोलयमाने न्यूनताया पूर्तये पृथक्प्रतिमानखण्डा सुरक्षिता स्थाप्यन्ते तथैव तव मुखेन सह तोलयमानस्य चन्द्रस्य पूर्तये प्रतिमानखण्डभूतास्तारा विधात्रा स्थापिता ह्ययुप्रेक्षाथ ॥ ८१ ॥

प्रारम्भ कर दिया ब्रह्माका आवासभूत कमल मुद्रिन हो गया, फलत अपना हानि करनेवाले उस चन्द्रमाको ब्रह्मा नहीं बना सके, ब्रह्माका वह शिल्प मफल नहीं हो सका । ८० ॥

( सीताके प्रति ) हे सीते ब्रह्माने चन्द्रमाके साथ तुम्हारे मुखकी तुलना करनेके लिये दोनोंको अलग अलग पल्ले पर चढ़ा दिया और यदि चन्द्रमामें कमी आवेगी तब उसे पूरा करनेके लिये नत्समान वस्तुके कुछ खण्डके रूपमें यह तारे रस छोड़े ॥ ८१ ॥



किं चान्यदपि—

गोत्रे साक्षाद्गनि भगवानेव यत्पद्मयोनि  
शय्योत्थाय यदक्षिरामह पीणयन्ति द्विरेफान् ।  
पद्मात्रा यद्वधति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं  
तत्प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि ॥ ८२ ॥

सीता—( स्मेरावनतमुखी । ) अज्जउत्त, कध उण सपुण्णमण्डलमीरिस चन्दमवमच्चिअ कलामेत्त भअरदा भूदणाहेण चूडामणीक्खि आसी ।  
[ आर्यपुत्र, न्य पुन सपूर्णमण्डलमीदश चन्द्रमवमत्य वलामात्र भगवता भूतनायेन चूडामणीकृतमासीत् । ]

राम—( 'सप्रहासम् । ) प्रिये जानकि, त्रयाणामपि <sup>१</sup>जगतामुप-

गोत्र इति । यत् यत् पद्म योनिरपत्तिस्था यस्य तादृश ब्रह्मा गोत्रे पद्म रूपे स्वकुले साक्षात् स्वयम् वज्रनि, यत् शय्योत्थाय शय्याया उत्थाय विवसित मात्रम् अक्षिराम् अह समग्र दिा यावत् पद्मानि द्विरेफान् भ्रमरान् प्राणयन्ति नकर दैन्तर्पयति, यत् भगवति उष्णभानौ पद्मात्रा अवयभावा भक्तिं दधति अनुराग धारयति, तत् अम्भोरहाणि पद्मानि हे सुतनु सु दरि सीते, ते तव वदनौपम्य मुखसादृश्य प्रापु प्राप्नुवति । ब्रह्मा कमलाना सगोत्र इति तद्दृश्या भ्रमर प्राणनरूपपरोपकृत्या सूर्यभवत्या च पद्मानि त्वन्मुखसादृश्यमह भतेत्यर्थ ॥ ८२ ॥

चूडामणीकृतम् शिरोभूषणं प्रिटितम्, पूर्णचन्द्रलाभे समवति कलामात्र धारणभ्य । बुद्धिद्वारिद्वयसूचकतया प्रश्न ।

उपनीव्य जीवनाधायक । निवनिर्माह्य लोको ऽ सेवते सकले चन्द्रे दिवन्

ओर भी—

इत कमलके वशर्म वदाने मायात् जन्म ग्रहण किया, शय्यासे उठकर यह कमल प्रतिदिन दिा भर अनरौंदो वृत्त करते हैं, एकाय दृष्टिसे मगधान् सूर्यकी ओर देखनेका प्रत धारण करत हैं, इसीलिये, ह सुन्दरि, यह कमल तुम्हारे मुखकी समता प्राप्त कर सके हैं ॥ ८२ ॥

सीता—( सुस्फुरादृशके साय सुँद नीचे करके ) आयपुत्र, भगवान् शङ्करने पूणचन्द्रमण्डलको छोडकर इस कलामात्र चन्द्रमाको क्यों शिरोभूषण बना लिया ?

राम—( हलकर ) प्रिये जानकि, यह चन्द्रमा तीनों लोकोंका आधार है । यदि पूरे

जीव्योऽयममृतदीधिति । यदि पुन समग्रमेन मौलिना पिनाकपाणि  
रधारयिष्यन्, <sup>१</sup>अङ्ग शिवनिर्माय<sup>२</sup>मनुषभोग्य एवायमभविष्यत् ।

( सर्वं हसन्ति । )

राम — किं च भवत्यापि <sup>३</sup>मासप्रमितो दृश्यत एवाय

पीयूषाश्रयण जगत्त्रयदशामालातलेखालवो

विश्वोन्माथहुताशनस्य ककुभामुद्घाटनी कुञ्चिका ।

वीरेषु प्रथमा च पुष्पधनुषो रेखा मृगाक्षीमुख

श्रीणा च प्रतिराजबीजमधिकानन्दी नवश्चन्द्रमा ॥८२॥

शिरोभूषणीकृते तस्मिन्निर्माह्यदुद्धया लोको न तमुपजीवेदित्येतदर्थमेव क्लामात्र  
मीश्वरेण भूषणीकृतस्मियुत्तराशय ।

मामप्रमित माम प्रमित प्रतिपच्चन्द्रो मास परिच्छेत्तुमारब्धवान् इत्यर्थ ।  
नादिकर्मणि निष्ठा ।

पीयूषेति । नव प्रत्यग्रोदित चन्द्रमा जगत्त्रयदशाम् लोकत्रयीनयनानाम्  
पीयूषाश्रयणम् अमृतस्थाली, विश्वेपा जनाना सर्वेषाम् उन्माथे सन्तापने हुता  
शन वह्निरूपो य काम तस्य भालातलेनालत्र अद्वारराजिकण, कामाग्नेस्त्सु  
कस्य लेश इव, ककुभा दिशाम् उद्घाटिनी प्ररुटयित्री कुञ्चिका दिग्विभागकारीत्यथ ।  
वीरेषु वीरगणमध्ये पुष्पधनुष कन्दर्पस्य प्रथमा रेखा जगति के के वीरा इति  
गणनाया काम पूर प्रथमो वीर इति सूचनार्थं कल्पितो विन्दुरित्यर्थ । मृगाक्षीणा  
सुन्दरीणाम् या मुखश्रियस्तासा प्रतिराज प्रतिपत्तिभूतो राजा, तस्य बीजम् ,

इम चन्द्रमाको महादेव अपने सिर पर रज लत नव ता निर्मात्य बन-र यह चन्द्रमा  
अनुपमोग्य हो जाता ।

( समी हसते ह )

राम—और मामका प्रारम्भ करनेवाले इस चन्द्रमाको तुम भा देख हो रश हो ।

नीनों लोकका आलोक लिये अमृत स्थाली, स्वरूप, ममस्त विश्वके विरही जनोको  
सन्तानेवाले काम नामक अग्निको चिनपारा के समान, दिशाओं को खोलने वाली ताडीके  
सदृश, कन्दर्पके वारमटोंमें प्रथम गणनीय, एव मृगाक्षीके मुखके साथ स्पर्धा करनेवाला यह  
नवीन चन्द्रमा देखा जाना है ॥ ८३ ॥

१ 'अङ्ग' इति क्वचि नास्ति । २ 'अनुपयुक्त' । ३ 'मास प्रमितो', 'मास प्रति' ।

सीता—( अनुमोदमाना । ) अज्जउत्त, परिपुण्णा गुणिणो जहि कहिं पि सोहन्ति । सीणा उण सीसमारुहन्ति ति हरजटाचन्दो ज्जेअ पढम णिडसणम् । [ आर्यपुत्र, परिपूर्णा गुणिनो यस्मिन्कस्मिन्नपि शोभन्ते । क्षीणा पुन शीर्षमारोहन्तीति हरजटाचन्द्र एव प्रथम निदर्शनम् । ]

राम—( विहस्य ) देवि महाकुलक्षत्रियसभवे, एवमेतत् ।

'सेत्पन्नमसंभ्र'माहृतगिरिप्रक्षेपवेगोच्छल

च्चि शेषाम्बुपरिस्फुटोदरदरीगम्भीरिमा सागर ।

चक्रे गोष्पद्प्रद्विलङ्घितवतोऽप्यन्तर्भय मारुते

पूर्णत्वादतिरिच्यते हि महत्तन्तुच्छस्य दुर्लङ्घ्यता ॥८४॥

आधा प्ररोहावस्था, अत एवाधिकानन्दी अधिकप्रीतिदो दृश्यत इति पूर्वतनगद्या-  
शेनान्वय । भारारूपकमलङ्कार ॥ ८३ ॥

परिपूर्णा कलापूर्णा । यरिमन् कस्मिन् यत्र कुत्र । यथा पूर्णश्चन्द्रो यत्र तत्रैव  
राजते क्षीण पुनर्बालचन्द्रो मृदशिर आरूढस्तेन प्रमीयते । यत्पूर्णा गुणी यत्र  
तत्र स्वगुणप्रकाशयति, क्षीणगुणस्तु लोकानतिक्रमितु सदैव सचेष्टस्तिष्टतीत्याशय ।  
महाकुलक्षत्रियसभवे क्षत्रियाणा महति कुले प्रसूते ।

सेत्पन्नमेति सेतो' समुद्रे रचितस्य बन्धस्य उपक्रमे प्रारम्भे स्वभ्रमेण वेगेन  
आहतानाम् आनीय निक्षिप्ताना गिरीणां पर्वताना प्रक्षेपवेगेन उच्छ्रलन्ति उपरि  
गच्छन्ति निश्शेषाणि समग्राणि भ्रम्यन्ति जलानि तैर्हेतुभि परिस्फुट सुव्यक्त  
उदरमेव दरी गुहा तस्या गम्भीरिमा गम्भीरत्व यस्य [तथोक्त सागर गोष्पदवत्  
गोष्पदपरिमितजलाधारवत् विलङ्घितवत् तीर्णवतो मारुते हनूमन् अपि अन्तर्भय  
चक्रे, हि यत् महतो गम्भीरस्य तुच्छस्य रिक्तता गतस्य दुर्लङ्घ्यता पूर्णत्वात्

सीता—( अनुमोदन करता हुई ) भावपुत्र, पूर्णक्षीणा जहाँ कहीं भी भले दीखत हैं,  
क्षण होनवाले ही सिरपर चढ़ जाते हैं, इसमें च द्रमा ही प्रथम वृष्टांत है ।

राम—( हसकर ) देवि महाकुलप्रसूते, तुम ठीक कहती हो ।

सेतुबन्धनके उपक्रममें जल्दी जल्दी लाकर डाले गये धनुर्वीके प्रक्षेपसे उछलने वाले  
पानीके ऊपर बठ जानेसे साफ दृढ़ हो रहा है, गम्भीर उदरदेश जिसका पसा यह  
सागर हनुमान्की भी भयभीत कर देना था, जिस हनुमान्ने इस सागरकी गोष्पदका  
तरङ्ग पार कर लिया था—इससे सिद्ध होना है कि पूर्णकी अपेक्षया रिक्त अधिक दुर्लङ्घ्य  
होता है ॥ ८४ ॥

( नेपथ्ये । )

'देव, त्वर्यता त्वर्यताम् । सनिधत्ते १खलु भगवद्वसिष्ठगृहीतो मङ्गलाभिषेकमुहूर्त्त ।

राम —( आकर्ष्य । ) ३कथमयोध्याया प्रत्यावृत्तो मारुतिरस्मास्त्वरयति ।

सीता—( सहर्षम् । ) अज्जउत्त, कथ अञ्जणाणन्दणो तुमरावेदि । ता भअव पुष्पअ, अणम । मेइणीमणिहिदगमणमग्गेण गच्छद्द । [ आर्यपुत्र, कथमञ्जनानन्दनस्वरयति । तद्भगवन् पुष्प, अवनम । मेदिनी सन्निहितगमनमार्गेण गच्छाम । ]

पूत्तिदशाया अतिरिच्यते विशिष्यते । अयमाशय -हनूमान्प्रदा प्रथममर्द्धि लङ्घित वास्तदा पूर्णस्य सागरस्य गोप्पदबल्लहने तस्य मनसि जय नोदित पर यदा सेतु बन्धनसमये सिष्यमाणगिरिवेगोच्छलज्जलभरनया सागरोदरगुहाध्यक्तदश्याऽजायत तदा रिक्तस्य तस्य लहने मारुतेरपि मनसि भय पदमाधत्त, तेन पूर्णस्य महतो यावती दुर्लङ्घ्यता ततोऽधिका भवति दुर्लङ्घ्यता तस्येव रिक्तस्येति ॥ ८४ ॥

त्वर्यताम् शीघ्रता क्रियताम् । सनिधत्ते समीपमुपसर्पति । भगवद्वसिष्ठगृहीत भगवता वसिष्ठेन निर्णति । मङ्गलाभिषेकमुहूर्त्तं शुभराज्याभिषेकसमय । प्रत्यावृत्त आगत ।

अवनम अवनतो भव, नीचै सञ्जर । मेदिनीसन्निहितगमनमार्गेण पृथ्वी

( नेपथ्यमें )

देव, शीघ्रता करें, भगवान् वसिष्ठ द्वारा निर्धारित विद्या गया अभिषेक मुहूर्त्त समीप आता जा रहा है ।

राम—( सुनकर ) क्यों, अयोध्याते आये हुए हनूमान् हमको शीघ्रता करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ?

सीता—( सहर्षं ) आर्यपुत्र, क्या अञ्जनानन्दन शीघ्रता करनेको कह रहे हैं ?

१ 'देव, त्वर्यताम् । सनिधत्ते भगवान्वसिष्ठ सगृहीतमङ्गला—'

२ 'खलु' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'अयोध्याय' ।



दूरेऽपि ज्योतिरक्षणोरपलपति मरुर्जाज्वलजाङ्गलश्चा ।  
विश्वद्वीचीभिरस्मिन्निविडमुडुपते कान्तिभि प्रस्नुवाना  
फेनायन्ते निजोष्मकथनपरिणमदूदुदुदु चन्द्रकान्ता ॥८६॥

( सर्व विमानावनन्ति नाटयन्ति । )

राम —( विलोक्य सीता प्रति । ) देवि, दक्षिणेन

सिंहद्वीपमग्भोधिसभूमिदमुत्पलम् ।

माणिक्याचलकिञ्जल्करमणीयमुदीक्ष्यते ॥ ८७ ॥

या करभी उडुखी तथा काम्य स्पृहणीय कान्तारवर्त्म वनमागो यस्मिस्तादृश  
( ग्रीष्मे उडुजातिप्रियभोग्यकण्टकिवृक्षा सपत्रा जायन्त इति उष्ट्रीणा कान्तार  
यात्राया रम्यो भवति, तादृश च कान्तार मरावेव भवति, कण्टकिवृक्षाणा मरुषु  
प्रसिद्धिरपीति बोध्यम् ) जाज्वलन्ती अतिदीप्यमाना जाङ्गलश्ची निजलभूमिशोभा  
यत्र तादृशश्चाय मह दूरे विप्रकपे सद्यपि अचगो नयनयो ज्योतिस्तेज अप-  
लपति हरति दृक्शक्ति लुम्पतीत्यर्थ । अस्मिन् मरुं चन्द्रकान्ता नाम मणिमेदा  
विश्वद्वीचीभि सर्वतोऽप्यास्ताभि उडुपते चन्द्रस्य कान्तिभि प्रभाभरै प्रस्नुवाना  
द्वीभवनन्त निजै मरुदेशभवरूपमभि यत् ववथनम् पाक तेन परिणमदुदुदुदु  
निर्गच्छदुदुदुदु यथा स्यात्तथा फेनायन्ते फेनमुदुधमन्ति । करभीणा ज्येष्ठमासीय-  
यात्रोपयुक्तवनमार्गपूर्ण प्रभाभासुरतया जाङ्गलभूमिना दृक्शक्ति लुम्पन्, चन्द्र  
किरणप्रस्नुता ग्रीष्मोष्मकवधिता अत एव बुदुबुदोपमफेनयहाश्च चन्द्रकान्ता  
यत्र सन्ति तादृशश्चाय मरुरेव दृश्यत इत्यर्थ । 'ज्येष्ठमूलीयमिच्छति मासमापाठ  
पूर्वजम्' इति हारावली । 'जङ्गलो निर्जलो देश' इति धरणिश्च । अग्धरावृत्तम् ॥८६॥

सिंहलेति । दक्षिणेन सिंहद्वीपम् सिंहद्वीपस्य दक्षिणे भागे अग्भोधिसग्भू-  
तम् सागरसमुत्पन्नम् इदम् उत्पलम् एष रोहणगिरि कमलवत् प्रतीयते, यत्  
कमलम् माणिक्याचलै मणिमयपर्वतै किञ्जल्के केशरै रमणीय सुन्दरम् उदी

ऊटकी बिर्योनी बहुत अच्छा लगता है, यहाँ जलते हुए निजल भूमिदशको चमक दूरमें  
रहकर भी आँखको चकाचौंधमें डाल देता है, ओर फैलती हुई चन्द्रकिरणोंसे एसीजने-  
वाले चन्द्रकान्त अपनी ही गर्मोंसे पानीके सन्तप्त ही जानेसे बुलबुले निकाल रहे हैं ॥८६॥

( सभी विमानके डनरनेका अनुभव करते हैं )

राम—( सीताकी ओर देखकर ) देवि, दक्षिणकी ओर यह सिंहद्वीप देना लगता है  
नानों समुद्रमें उत्पन्न कमल ही, जिसके किञ्जरक यह माणिक्याचल हों ॥ ८७ ॥

सीता—जहिं कासकुसुममकासो अगस्त्यहसो चरइ । [ यत्र काश-  
कुसुमकाशोऽगस्त्यहसधरति । ]

राम—( स्मित्वा । ) आ मैथिलि, आम् । <sup>१</sup>इहैव रोहणगिरेरुपत्य-  
काया द्वितीयमायतन मुनेर्लोपामुद्राप्रलभस्य । स तत्रभवान्

वृहत्पात्रप्राप्त्या विततजलमम्भोधिमुदरे

<sup>२</sup>दधावीपद्प्राह्यं किल कलशजन्मा कुलपति ।

यमाराध्यन्विन्ध्याचलशिखरशोथैकभिपजं

विद्यस्वानाश्वीन <sup>३</sup>गगनमविरोधात्कलयति ॥ ८८ ॥

द्यते, सिंहलद्वीपस्य दक्षिणे भागे समुद्रोदित पद्मविषाय रोहणो नाम गिरिस्तस्य  
च केशरैरिषैत माणिव्याचलै शोभा समेधमाना दृश्यत इत्याशय ॥ ८७ ॥

काशकुसुमसङ्काश काशपुष्पवदतिषवल वार्धक्ये श्वेतकेशतयेत्यमुक्तम् ।  
रोहणगिरेरुपत्यकायाम् रोहणारथपर्वतासन्नभूमौ । लोपामुद्रावल्लभस्य अगस्त्यस्य,  
लोपामुद्राऽगस्त्यस्त्री प्रसिद्धा । तत्रभवान् पूजनीय ।

वृहत्पात्रेति । कलशजन्मा कुम्भयोनि कुलपति महामुनि ईपद् प्राह्य गण्डूप  
मात्रेण ग्रहणीयम् अम्भोधिम् समुद्रम् उदरे स्वकुत्तिदेशे वृहत्पात्रप्राप्त्या विशा  
लाश्रयलाभेन विततजलम् विस्तृतपानीय दधौ धृतवान् यस्यागस्त्यस्य गण्डूपमात्रेण  
पीत सागरस्तस्योदर विस्तृतमनकास प्राप्य विततजलमास्तेत्यर्थं । यत्र विन्ध्या  
चलशिखराणाम् शोथेऽङ्गवृद्धौ उन्नमने एतभिपजम् एकमात्रवैद्यम् उपशमित  
विन्ध्यपर्वताङ्गवृद्धिम् विन्ध्यपर्वतस्योन्नतनमपनयन्तम् अगस्त्यम् आराध्यन्  
सेवमान विवस्त्रान् सूर्य आश्वीनम् अश्वरेकाहगन्धम् गगनम् अविरोधात् विना

सीता—वही सिंहलद्वीप है जहाँपर कासपुत्री तरह स्वच्छ अगस्त्य इस विचरते हैं ।

राम—( मुस्कराकर ) हाँ मैथिलि हाँ, इसी रोहणगिरिकी उपत्यकामें लोपामुद्रा  
वल्लभ अगस्त्यमुनिका द्वितीय निवास है, वह भगवान्—

पद्येइव अगस्त्यमुनि समुद्रको आयासरहित भावसे पी गये और वह सारा सागरका  
जल इनके विस्तृत उदरमें फैलकर सावकाश समा गया, उहाँ अगस्त्यमुनिकी आराधना  
करके जो विन्ध्य पर्वतके शोथ वृद्धिके एक मात्र वैद्य है—भगवान् सूर्य एक दिनमें ही  
अपने अश्वों द्वारा आकाशको पार कर जाते हैं ॥ ८८ ॥

अपि च—

निपीते येनाव्यौ स्तिमितगुरुभि पक्षपटलै  
प्रयत्नादुड्डीय प्रतिपद्मपव्यस्तपतिता ।

'विशन्त कौलीर कुहरमशरण्या शिखरिण  
क्षणं दृष्टास्तस्य स्तुतिषु न गिरां साहसरस ॥८९॥

अपि च यत्र शृङ्गारसार्वभौमस्य रत्नसिंहासने सिंहलद्वीपनाम्नि  
प्रदोषारम्भेषु

विष्णुम् कलयति पर्यटति । य सागर पीत्वा स्वोदरे सावकाश स्थापयामास,  
यश्च त्रिध्याचले शिखरैरुन्नमति सति तदीयामुनति प्रणामद्वारा प्रतिबद्ध सूर्या  
येकेनाह्वा वियत्पर्यटनावसर ददाविति भाव । कल्पि कामधेनुरिति तस्याऽ  
गमनार्थता ॥ ८८ ॥

निशित इति । यन अगस्त्यमुनिना अर्धौ सागरे निपीते निरवशेष पीते मति  
स्तिमिता आर्द्रा अत एव गुरवो भारवत्तश्च ये पक्षपटला पक्षतिसमुद्रया तै  
प्रयत्नात् प्रयासमाधाय महता प्रयासेनेत्यर्थ । उड्डीय प्रतिपद्मम् अपव्यस्त विपर्यस्त  
यथा स्यात्तथा पतिता अत एव अशरण्या रक्षारहिता शिखरिण समुद्रे स्वपक्ष  
रक्षाय निलीय वर्तमाना मैनाकादय पर्वता कौलीर कर्णटारयजनु सम्बन्धि कुहर  
गर्त्तविल विशन्तो दृष्टा जनैरिति शेष । तस्यागस्त्यस्य स्तुतिषु गिरा वाचा साहस-  
रस दृष्टप्रवृत्तिर्न वाचस्तस्तुतिमाहस न कर्तुं शक्ता अशक्यत्वात्तादृशकार्यस्ये  
त्याशय । येनागस्त्येन समुद्रे पीयमाने आश्रयापगमेन पर्वता किलन्नै पक्षैरुड्डीय  
पतन्त पतिताश्च पुन स्वरक्षार्थं कौलीरकुहर प्रविशन्तो लोकैर्दृष्टास्तस्य मुने-  
स्तुतौ कथ वाच साहस कुर्वन्विति तात्पर्यम् ॥ ८९ ॥

शृङ्गारसार्वभौमस्य शृङ्गाररससम्राज , रत्नसिंहासने रत्ननिर्मितसिंहासनसमे,  
प्रदोषारम्भेषु निशामुत्सेषु ।

और—अगस्त्यमुनिन जब समुद्र ५१ लिया तब भीग हानक कारण भारी पड़ोते  
किसी तरह उड़-उड़कर गिरते-पड़ते समुद्र स्थित पर्वतगण अपने शरणीभूत बन्दके समाप्त  
हो जानेके कारण घबडाकर कैंकड़ोंके बिलोंमें पैठते हुए देखे गये, उम महाप्रभाव अगस्त्य-  
मुनिकी स्तुतिमें वाणी कैसे साहस करे ? ॥ ८९ ॥

और यह सिंहलद्वीप तो शृङ्गाररसका सार्वभौम ठहरा, यहीं इस रसका रत्नसिंहा-  
सन है, यहींपर प्रदोषारम्भमें—



उदेष्यत्पीयूषयनिरचिकणाद्रां शशिमणि

म्यलोना पन्थानो घनचरणलाक्षालिपिभृत ।

चकोरैरुड्डीनैर्झटिति कृतशङ्का प्रतिपदं

पराञ्च सचाराविनयवतीना विवृणते ॥ ९० ॥

( अन्यनो दर्शयन् । ) इयमितो मौक्तिकीयानामपामाधारस्ताम्रपर्णी ।

शुक्तिकागर्भसम्बन्धस्तम्भितास्तोयविन्दव ।

भ्रमन्ति सुभ्रुवामद्वादङ्कमस्या प्रसृतय ॥ ९१ ॥

उदेष्यति । उदेष्यत उदय प्राप्स्यत पीयूषयुतेरमृतकरस्य चन्द्रमम रचि  
कणै मयूगलेशे आद्रां सञ्चत ( अत एव सिक्काद्रां ) घना साम्ना या चर  
णयो कामिनोचरणयोलांसा अलक्तफरागस्तस्या लिपिम् लेखम् विभ्रतीति तथोक्ता  
शशिमणिरथलोनां चन्द्रकान्तरचितभूमिना पयातो मार्गा उड्डीनै चकोरै  
र्झटिति प्रतिपद प्रतिचरणेषु कृतशङ्का समेधितजनागमभया मन्त विनय  
वतीना दुःशोलानामभिसरन्तीना स्त्रीणाम् पराञ्च प्रतीपान् सञ्चारान् विवृणते  
प्रकटयन्ति । अयमर्थ — चन्द्रोदय मन्निहिते सति चन्द्रकरस्पर्शाद्रां चन्द्रकान्त  
मार्गा स्त्रीचरणालक्षकलेखपूर्णा भवन्ति, यदा च तत्रैव सञ्चरन्तीनामभिसारिकाणा  
मनासि चकोरैरुड्डीनेषु जनागमभयेन भीतानि जायन्ते तदा ता द्रुतपदन्यास परा  
वर्तन्ते येन प्रतीपाश्चरणन्यासास्तत्राद्र वार्त्मानि दृश्यन्त इति । शिलरिणीवृत्तम् ॥९०॥

शुक्तिकागर्भेति । शुक्तिकाना मुक्ताम्फोटाना गर्भेषु मध्यभागेषु सवन्ध ।  
यकियत्कालपर्यन्त स्थितिस्तेन स्तम्भिता पिण्डीभूतास्तोयविन्दव शुक्तिगर्भ  
सम्बन्धपिण्डितास्तोयविन्दव इव अस्या मौक्तिकीयजलवाहिन्यास्ताम्रपर्णीनसा  
प्रसृतय उत्पाद्या मुक्ता सुभ्रुवाम् सुन्दरीणामद्वादङ्क भ्रमन्ति सञ्चरन्ति । यथा

उदित होनवाल चद्रमाका किरणोम आद्र चन्द्रकान्त मणिले बने माग खिपोंके  
चरणान्तक द्वारा लिखे गये लेखोंसे युक्त होकर उडनेवाल चकोरोंसे खिपोंके हृदयमें  
मयका सञ्चार करके अभिसारिकाओंको उलटे पांव लौटनेको बाधित करते हैं ॥ ९० ॥

( दूसरा तरफ दिखलते हुए ) मुक्ता पैदा करनेवाले पानीका आधार एपर ताम्र  
पर्णी नदी है ।

शुक्तिका गममागसे सम्बन्ध होनेके कारण जमे हुए जल स्वरूप ताम्रपर्णीमें पैदा होने  
वाले मौक्तिक चन्द्रियोंकी गोदीमें मूला कर्ने है ॥ ९१ ॥

अपि च—

युवतिकुचभोगकर्मभिर्हृद्भूतै शुक्तिसंपुटवृतानि ।

दधतीह ताम्रपर्ण्या स्थिरकरकाभावमम्भासि ॥ ९२ ॥

सीता—अज्जउत्त, जेट्ठेति दक्षिणमत्तएण भअवदो साअरस्स भाईरहीपक्खपादो । पेम्मसब्बस्सण्णीसन्दो उण सहजमअङ्गमोत्तिआहरणरमणीआए तम्मपण्णीए लक्खीअदि । [ आर्यपुत्र, ज्येष्ठेति दाक्षिण्यमात्रकण भगवत् सागरस्य भागीरथीपक्षपात । प्रेमसर्वस्वनि स्यन्द पुन महजसर्वात्मौक्तिकाभरणरमणीयायास्ताम्रपर्ण्या लक्ष्यते । ]

कस्याश्चन भाग्यवत्या प्रसूतिमपरा ललना स्वाङ्केषु निदधति तथैव ताम्रपर्णी-प्रसूत मुक्तागण सुभ्रुवोऽङ्कादङ्क परिक्रामयन्ति स्व स्वमन्न ताभिर्मुक्ताभिरलङ्कुरन्तीत्याशय ॥ ९१ ॥

युवतिकुचेति । इह अत्र प्रदेशे ताम्रपर्ण्या अम्भासि जलानि उद्भूतै पूर्वन्मवृत्ते युवतिकुचभोगकर्मभि यै कर्मभिर्युवतिकुचाप्रस्थितिरूपो भोग प्राप्यते तादृशै पूर्वाचरितमुचरिते शुक्तिसंपुटवृतानि सति शुक्तिसंपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकाभावम् अद्रवशीलवर्षोपलस्वरूपत्वम् दधति धारयन्ति । पूर्वन्ममुञ्जत वशात्ताम्रपर्णीजलानि शुक्तिसंपुटगतानि भूत्वा स्थिरकरकारूपेण परिणमन्ते या मुक्ताभूता युवतिकुचभोगमनुभवन्तीत्यर्थ, ‘वर्षोपलस्तु करका’ इत्यमर ॥ ९२ ॥

ज्येष्ठा पूर्वपरिणीता इति बुद्ध्या दाक्षिण्यमात्रकण केवलेन समदर्शित्वसुचरव्यापारमात्रेण, भगवत्या भागीरथ्या पक्षपात अनुग्रह केवल स्वसमदर्शित्व प्रकटयितुमेव सागरो भागीरथ्या स्नेह प्रकाशयतीत्यर्थ, प्रेमसर्वस्वनि स्यन्द पूर्ण प्रेमप्रवाह । सर्वाङ्गमौक्तिकाभरणरमणीयाया—सर्वेष्वङ्गेषु मुक्ताभरण वहन्त्या । ताम्रपर्णा एव सागरस्याधिका प्रिया यतोऽसौ भूषितसर्वाङ्गशालिनी, प्रियानुरागफलस्य भूषणस्य तथैव लाभादित्यर्थ ।

ताम्रपर्णीया जल युवनिगण के कुचस्थलमें काम प्रदान करनेवाले अपने पूर्व पुण्योक्त प्रभावे शुक्ति संपुटमें रहकर स्थिर करकाका रूप धारण कर लेते हैं ॥ ९२ ॥

सीता—आद्यपुत्र, समुद्र मन्थनाके कारण ही गङ्गाको बड़ी खी समझकर पक्षपात करता है, नहीं तो समुद्रका सारा प्रेम ताम्रपर्णीपर ही प्रतीत हो रहा है क्योंकि उसका मम्पू शरीर मौक्तिक भरणीने लगा हुआ है ।

राम — ( विहस्यान्यतो दर्शयन् । )

रमयति मलयाचलोऽयमस्मादुपनमता पवनेन मानिनीनाम् ।  
दयितविनयकूटसाक्षिणीभि स खलु सखीभिरदुष्कर प्रबोध ॥१३॥  
लक्ष्मण — ( अग्रे दर्शयन् । )

स्वपाणिप्राग्भारप्रबलविततोत्तानसलिल-

स्वयंदृष्टक्रीडत्तिमिनिवहलग्नमिच्च घृणाम् ।

दधानस्यापीतोऽजितजलनिधेरेतदपरं

पुरो लोपामुद्रासहचरमुनेरथमपदम् ॥ १४ ॥

रमयतीति । अथ मलयाचल मलयारय पर्वत रमयति अस्मानामन्दयति ।  
अस्मात् मलयाचलात् उपनमता प्रवृत्तमानेन पवनेन वायुना करणभूतेन दयित  
'विनयकूटसाक्षिणीभि प्रियवृत्तविनयप्रत्यक्षदशिकाभि सखीभि' मानिनीनाम् स  
प्रबोध' मातापनय खलु अदुष्कर सुकर । अथ मलयाचलो न प्रीणयति  
यतश्चलितेन वायुना सहकृता सरयो दयितकृतप्रार्थनाभिरपि मानमप्यजन्यो  
मानध्वयस्स्वरितममुनीयन्त इत्याशय । पुष्पिताम्रावृत्तम् ॥ १३ ॥

स्वपाणीति । स्वपाणिप्राग्भारे निजकरविस्तारे प्रबलविततम् अतिविस्तृत यत्  
उत्तानसलिलमगभोर समुद्रजलम् तत्र जले स्वय दृष्टा आत्मनाऽवलोकित्वा ये  
क्रीडन्त तिमिनिवहा महामत्स्यसमूहास्तेषु लग्नां जातारं घृणा दया दधानस्य  
धारयत इव आपीतोऽजितजलनिधे विनैव पान कृत्वा त्यक्तयागरस्य लोपामुद्रा  
सहचरमुने अगस्त्यस्य पुर अग्रे वर्त्तमानम् पृतत् अपरमाध्रमपदम् विद्यत इति  
शेष । अगस्त्यो यदा विस्तृते निजपाणितले सागर पिपासया घृतवास्तदा सागर

राम — ( इसकर दूसरी ओर दिखलात हुए ) यह है मलयाचल, यह मुझे आनन्द  
दे रहा है । इनपरसे बहने वाली वायुने सखियों मानिनियोंके मानको सरलतासे दूर  
कर सकनी है, जिन मानवतो नियोने प्रियतमों द्वारा किये गये बहुविनयको भी ठुकरा  
दिया वह सखियों भी मलयानिलके बहनेपर सखियोंद्वारा सरलतासे मना दा जाता है ॥१३॥

लक्ष्मण — ( आगेकी ओर दिखलाकर )

अगस्त्यने पीनेके लिए समुद्रको हाथमें लिया, उनके विस्तृत हाथमें फैलकर समुद्रका  
जल छिन्नला हो गया, उस पानीमें जब अगस्त्य मुनिने खेचते हुए महामत्स्योंको देखा  
तब इनको बड़ी दया आइ, उसी दयासे द्रुन होकर उन्होंने समुद्रका जल पीकर तुरन्त  
निकाल दिया, उस लोपामुद्राके सहचर अगस्त्यमुनिका यह दूसरा आश्रमपद है ॥ १४ ॥

अपि चास्मिन्—

चतुरव्यपानचेष्टादृष्टपिपासे मुनाबुदयमाने ।

पाययितुमिवात्मान 'विशुध्य सज्जीभवन्त्याप ॥ ९५ ॥

सुग्रीव —( अस्मितम् । )

भ्रुवमिह चतुरम्भोनिधिरचितापोशानकर्मणि मुनीन्द्रे ।

भक्ष्यमन्यानि किमपि चकम्पिरे सप्तभुवनानि ॥ ९६ ॥

जलमतिविस्तृतमभवत् तत्र मुनिना क्रीडन्तस्तिमिनिवहा प्रत्यङ्गीकृतास्तेषु दया-  
माधायेव मुनिस्तःसागरजलमापीतमेवोञ्जितवान्, तस्य लोपामुद्राशतेरगस्त्यस्या  
परमिदमाश्रमपद पुरो दृश्यत इत्यर्थ । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ९५ ॥

चतुरव्यपीति । चतुणाम् अर्ध्यानाम् सागराणा पानचेष्टया पानप्रयासेन दृष्टा  
पिपामा यस्य तादृशे मुनाश्रमस्ये उदयमाने उदग्च्छति सति आपो जलानि  
आत्मान पाययितुमिव विशुध्य निर्मलीभूय सज्जीभवन्ति । अयमगस्त्य उदयति  
स हि चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽपि न गतपिपाम सजातस्तदसौ अस्मानपि  
पीत्वा गतपिपासो जायतामिति धियेज्जलानि स्वशोधयित्वा सज्जिता भवन्तीति ।  
अगस्त्योदये जलशुद्धि स्वाभाविकी मैत्रात्रागस्त्यपिपासानिवर्त्तनेच्छाजनितत्वनो  
स्प्रेक्ष्यते । उध्रेच्छाऽलङ्कार ॥ ९५ ॥

भ्रुवमिहेति । इह अस्मिन् मुनीन्द्रे मुनिश्रेष्ठेऽगस्त्ये चतुर्भिः अम्भोनिधिभि-  
रचित कृतम् अपोशानकर्म भोजनपूर्वकालसम्पाद्यामृतोपस्तरणकर्म येन तादृशे  
सति भक्ष्यमन्यानि आत्मान भक्ष्य मन्यमानानि सप्तभुवनानि भूर्भुव स्वरादीनि  
किमपि अनिर्वाच्यरूपेण चकम्पिरे यदा मुनिरगस्त्यश्चतुरोऽपि सागरान् पीत्वाऽ  
पोशाककर्म निर्वर्त्तितवास्तदाऽऽस्मानमपि भक्ष्य मन्यमानानि सप्तापि भुवनानि—

इस अगस्त्यमुनिको देखकर तथा चारो सागरोंको पी जानेवाली इनका पिपासाका  
अन्दाज करके सप्ताका पानी स्वच्छ होकर तैयार हो जाते हैं कि मुनिवर मुझे भी पीकर  
शुनाथ कर सकें ॥ ९५ ॥

भोजनके पूव किये जानेवाले आचमनके रूपमें अगस्त्यने जब चारो सागरोंका पान  
कर लिया तब सप्तभुवनको मालूम हुआ कि वहाँ हम ही न इनके भक्ष्य हों, ऐसा समझ-  
कर सप्तभुवन काँप उठे ॥ ९६ ॥

( सर्वतोऽवलोक्य सहर्षाद्भुतम् । ) अहो चिरेणाथ चतुर्दशलोकैरुदण्डधरे  
धर्मासनाधिकारिणि रामदेवे दण्डकारण्यगृहमेधिना तपोपनानामृद्ध्य ।

राम —( सलज्जस्मित विमानवेगनाटितकेनाधोऽवलोक्य । ) कथं हिर  
ण्यहरिणविहारकान्तारस्थलीनामुपरि प्रतिष्ठामहे ।

सुग्रीव —( सोपहासम् । ) इयं सा मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मनो  
दशकण्ठस्य कपटभिक्षुवेपथि<sup>१</sup>डम्बनाडम्बरेकमर्मज्ञा पञ्चमटी । (सादर च ।)

अपोशानकर्मनन्तरं भोजनस्य प्राप्तावसरतया कदाचिदस्मान्नेवाय मुनिभुञ्जीतेति  
चिन्तयाऽन्यन्तेऽर्थं ॥ ९६ ॥

चतुर्दशलोकैकदण्डधरे चतुर्दशभुवनशासके । धर्मासनम्-राज्यम् । दण्ड  
कारण्यगृहमेधिनाम् दण्डकारण्यवासिना गृहिणाम् मदारानां तपस्विनाम् ।  
ऋद्ध्य-अभ्युदया ॥

हिरण्यनि । हिरण्यहरिण काञ्चनमृग तस्य विहाराय विचरणाय या कान्ता  
रस्थलयो वनभूमय तासामुपरि ऊर्ध्वदश प्रतिष्ठामहे चलाम । यत्र सम्प्रति वयं  
सञ्चरामस्तदथ ष्य हिरण्यहरिणविहारवनस्थली अस्तीति भावः ।

मारीचशरीरोपहाररक्षितात्मन मारीचशरीरं दत्त्वा सुरक्षितस्वदेहस्य, यदि  
रावणो मारीचमायामृगं त्रिधाय नाघातयिष्यत्तदा मीताहरणकाले रामस्याधम  
स्थित्या स्वयममरिष्यदिति राजणेन मारीचशरीरमुपहृत्यात्मा रक्षित इत्युक्तम् ॥  
कपटभिक्षुवेपथो मायाऋत्पितपरिव्राजदम्पम्, तेन या विडम्बना वञ्चना तस्याड  
म्बरस्य विस्तारस्य मर्मज्ञा मात्सिणी ।

( चारों ओर देखकर हथ तथा आनन्दके साथ ) अहा, बहुत दिनोंके बाद चतुर्दश  
भुवनशासक भगवान् रामके धर्मासनाधिकारी होनेपर दण्डकारण्यके तपस्वी गृहस्थ  
वत्सव मना रहे हैं ।

राम—( लज्जासे मुस्कराते हुए विमानके वेगके साथ नीचे की ओर देखकर ) क्यों,  
सुवर्ण-मृग मारीचके सचरवाले वनोंसे ऊपर चल रहे हैं ।

सुग्रीव—( उपहासके स्वरमें ) यही है वह पञ्चमगी जिमने मारीचकी देहको  
बलिदान करके अपनी जान बचानेवाले तथा कपटभिक्षु वेपथके आटम्बरमें लगे रावणके  
व्यापारको आँखों देखा है ।

विश्वामित्रमखद्विपे च वपुषा चित्रेण पत्युर्मुखा-  
दप्याकृष्टविदेहराजतनयानेश्वरविन्दाय च ।

मारीचाय नमो नम किमपर यस्मै कुले रक्षसा

द्वौ वारौ विभुनापि दाशरथिना चक्रे ततज्यं धनु ॥९७॥ -

( माता लज्जते । )

राम — ( प्रसवणाच्चल दर्शयन्सीतामपवार्यं । )

नक्तं रत्नमयूखपाटलमित्तकाकोलाकोलाहलेन

त्रस्यन्तकौशिकभुक्तकन्दर्पमा सोऽय गिरि स्मर्यते ।

विश्वामित्रेति । विश्वामित्रमखद्विपे कौशिकेन चित्रनाशिने, चित्रेण आश्चर्यकरेण स्वर्णमयेन वपुषा देहेन पत्युर्मुखात् रामानन्तात् अपि आकृष्टस्वरिमन्नाकृष्य नीत विदेहराजतनयाया सीताया नेत्रारविद् तयनरुमलयनं तथोक्ताय च यस्मै मारीचाय रक्षसा कुले रक्षोदलमध्ये विभुना परमेश्वरावतारेणापि दाशरथिना रामेण द्वौ वारौ द्विधा धनु ततज्य एतप्रत्यञ्चारु चक्रे कृतम्, तस्मै मारीचाय नमो नम । अयमाशय — यस्मै मारीचाय सवानपि राक्षसान् मङ्गदेव चापमारोप्य मारितव तापि रामेण द्विधा धनुरारोपितम्, षड्दा विश्वामित्रमण्डपमारिणि, अपरत्र च चित्र वपुरादाय सीतानयनमपि राममुखादाकृष्टवति तदित्थ द्विधा रामबाग विपयता गताय मारीचाय नमो नम इत्याशय ॥ ९७ ॥

नक्तमिति । नक्त रात्रौ रत्नमयूखपाटला मणिगणप्रभामि क्षेत्ररत्नवर्णता गता मिलित दूरादागय सद्गता ये काकोला द्रोणमाका तेषा कोलाहलेन क्लरवण त्रस्यन्त भय प्राप्नुवन्तो ये कौशिका धुकास्तेर्भुक्तम् अनुभूतम् कन्दरतम गुहारिधत तिमिर यत्र तथोक्त सोऽय गिरि प्रन्ववग स्मर्यते ध्यानविषयीक्रियते,

( आदरके साथ ) उस मारीचको नमस्कार है जिसके ऊपर भगवान् रामचंद्रने दो-दो बार अपने बाण चलाये । पहली बार तब बाण चलाया था जब विश्वामित्रके यज्ञमें उपद्रव कर रहा था, और दूसरी बार तब जब वह चित्र शरीर बनाकर पञ्चवर्णके बनोंमें घूम रहा था और उसके रूप पर आकृष्ट होकर सीताजीने उसकी ओर देखनेके लिये रामके मुत्तपरसे अपनी आँखें आकृष्ट कर ली थीं ॥ ९७ ॥

( सीता लज्जित होती है )

राम — ( प्रसवगिरिकी ओर दिखलाते हुए सीताके पास-कानमें ) देवि,

यह वही पवन दाद आरहा है, जिम पर्वतमें रात्रिके समय रत्न किरणोंकी लालिमामें मिलित द्रोणकों द्वारा किये जानेवाले कोलाहलोंसे ढरे हुए कौशिक पक्षिगण नन्दराके

स स्थूलकरणो मदश्रुपयसामासीदवर्षन्नपि ।  
यद्दारावलितैर्न शास्त्रिभिरपि त्वत्पालितैर्मा तथा  
दृष्ट्वा कन्दलित न केकिभिरपि प्रारम्भि सगीतकम् ॥ १०० ॥

सीता—( १म-युगद्गदकण्ठप्रन्थिलस्वरा पुष्पक प्रति । ) विमानराज, सी-  
दस्मि । ण दलदि व्जेय वज्जमअ मे हिअअम् । तथा पि सुपरोहि ।  
एसा अन्तरीअट्टु दण्डआरणणविन्द्धोली । [ विमानराज, सीतास्मि । न  
दलत्येव वज्जमय मे दृदयम् । तथापि त्वरस्व । एसा अन्तरीयता दण्ड  
कारण्यपङ्क्ति । ]

राम—( विमानवेगनाटितके साता प्रति । ) २देवि, इदमग्रे महारा

अवर्षन् वृष्टिमवृषन्नपि कादम्बिनीडम्बर मेघमालाविस्तार मदश्रुपयसा मदीयनेत्र  
जलानाम् स्फुलङ्करण वृद्धिकर आसीत्, अत्र त्वद्वियोगार्त्तेन मया मेघमण्डल  
दृष्ट्वा रोदितुमुपक्रान्तमासीदित्यर्थ । मा तथा रुदन्त दृष्ट्वा यस्य कादम्बिनीडम्बरस्य  
धाराभि जलसपातै वलिते सिक्तै त्वत्पालितै त्वया पूर्वं पोषितै शास्त्रिभि  
वृत्तेरपि न कन्दलित न पल्लवित धारामिक्तै त्वत्पालितै केकिभिर्मयूरैरपि  
सङ्गीतकम् न प्रारम्भि नारब्धम्, मेघमागत दृष्ट्वा त्वद्वियोगेन मा रुदन्त वीक्ष्य  
त्वत्पालिता वृत्ता मयूराश्च दुःखिनो जाता येन सिक्ता अपि वृक्षा न नवपल्लव  
प्राकाशयन् वा सिक्ता अपि मयूरा नत्तितुमारभन्तेत्यर्थ । 'कादम्बिनी मेघमाला'  
इत्यमर । शार्दूलविनीडित वृत्तम् ॥ १०० ॥

मन्युना प्राक्तनकष्टस्मरणदुःखेन रादृग्गदे जडे कण्ठे प्रन्थिल यद्ध स्वर यस्या  
स्तथाभूता सीतेत्यर्थ । अन्तरीयता तिरोहिता भवतु । महाराष्ट्रमण्डलैकमण्डनम्  
दशभेदस्य महाराष्ट्रस्य मुख्यमलङ्करणम् ।

किर भी हमारो आखोंमें पानीकी बाढ़ ली आगद थी, धारा वृष्टि होनेपर भी मुने उस  
दुःखकी स्थितिमें देसकर वृक्षोंने नवपल्लव नहीं प्रकट किये थे और मयूरोंने सगान भी  
छोड़ दिया था ॥ १०० ॥

सीता—( दुःखसे भरे गलसे पुष्पकके प्रति ) विमानराज, मैं सीता हूँ, मेरा वज्जमय  
दृदय फटेगा नहीं, किर भी शीघ्रता करो जिससे यह दण्डका बनकी भूमि छिप जाय ।

राम—( विमानके वेगका अनुभव करके सीताके प्रति ) महाराष्ट्र देशका अलङ्कार

मृमण्डलैकमण्डन कुण्डिन नाम नगरम् । इह हि  
 अनन्यक्षुण्णश्रीर्मलयवनजन्माऽयमनिलो  
 निपीय स्वेदाम्बु स्मरमकरसंभुक्कविभवम् ।  
 विदर्भीणा भूरिप्रियतमपरीरम्भरभस  
 प्रसङ्गादङ्गानि द्विगुणपुलकस्त्रञ्जि तनुते ॥ १०१ ॥

किं च—

'विभ्रतीं कैशिकीं वृत्तिं सौरभोद्गारिणीं गिर ।  
 दूराध्वानोऽपि कवयो यस्य रीतिमुपासते ॥ १०२ ॥

अनयेति । न अन्येन क्षुण्णा निता प्राप्ता वा श्री शोभा यस्य तादृश अनय  
 क्षुण्णश्री अनिनरसाधारणशोभन मलयवनजन्मा मलयाचलकाननप्रभवोऽयम्  
 अनिलो वायु दक्षिणानिल स्मरमकरसंभुक्तविभवम् कामवाहनमूतमकराकृति  
 स्तनविरचितपत्रावलीपीतम् स्वदाम्बु भ्रमघर्मनलम् निपीय शोषयित्वा वैदर्भीणाम्  
 भूरिप्रियतमपरीरम्भरभसप्रसङ्गात् बहुलीभूतप्रियतमालिङ्गननितसर्पवशात् अङ्गानि  
 तामामेन वैदर्भीणा शरीरावनवान् द्विगुणपुलकस्त्रञ्जि द्विगुणीभूतरोमाङ्गानि तनुते  
 विधने । मलयोदितोऽनन्यसाधारणशोभाशाली चायं वायुर्वदभीणामङ्गेषु सप्त  
 सस्तदीयमकराकृतिपत्रावलीपीतशेषमपि स्वेदाम्बु शोषयित्वा प्रियालिङ्गनानन्द  
 जातपुलकस्त्रजा द्वेगुण्य विधत्ते इत्यर्थः । शिररिणीवृत्तम् ॥ १०१ ॥

विभ्रतीमिति । दूराध्वानं सुन्दरमार्गवृत्तिनो भिन्नदेशीया अपि कवयः कैशिकीं  
 वृत्तिं दधाना सौरभोद्गारिणीम् सुरभिरयतिमतीम् यस्य विदर्भदेशम्य गिरो वाण्या  
 रीतिं वैदर्भी नाम उपासते मेवत । भिन्नदेशीया अपि कवयो यद्देशोद्भवा वैदर्भी  
 रीतिं मेवन्ते, या वैदर्भी सौरभोद्गारशालिनीं कैशिकीं वृत्तिं धारयतीत्यर्थः । 'अस्पृष्टा

यद् कुण्डिन नगर आनेका ओर दिक्कार दे रहा है ॥ यहाँ पर—

मलयानिल लवने पहले अनुपमुक्त सौरभके साथ यहाँ आता है, कामदेवके निह  
 स्वरूप स्तनविरचिन मकरने निमके वैभवका उपभोग किया है उस स्वेद नन्को सुखा  
 देता है वहाँकी विधियोंको प्रियतमालिङ्गनमें उल्हाह वृद्धिके लिये उनके अङ्गोंमें दुगुने  
 रोमाञ्च भी उत्पन्न कर देता है ॥ १०१ ॥

जिम विदम् देशकी रीति वैदर्भीको दूरदेशवर्ती बहिगण भी अपनाने हैं क्योंकि  
 वैदर्भी रीतिमें वाणीके परिमलको बलानेवाली कैशिकी वृत्ति बलमान रहनी है ॥ १०२ ॥

१ 'विभ्रत' ।



विभीषण — ( दक्षिणतो दर्शयन् । ) देव, प्रणम्यतामयमन्ध्रविषय-  
लक्ष्म्या 'सप्तगोदावरहारकलापैकनायको भगवान्भीमेश्वर । अय हि

तत्कालारभटीविजम्भणपरित्रासादिव 'अश्रयता

वामार्धेन तदेकशेषचरण विभ्रद्रपुर्भरयम् ।

तुल्य चास्थिभुजगभूषणमसौ भोगीन्द्रकङ्कालकै

विभ्राण परमेश्वरो विजयते कल्पान्तकर्मान्तिव ॥१०३॥

दोषमात्राभि समग्रगुणगुम्फिता । विपञ्चीस्वरसौभाग्या वेदर्भी रीतिरिष्यते । वृत्ति  
लक्षण यथोक्तम्—'या त्रिकासेऽथ सङ्कोचे विक्षेपे त्रिस्तरे गिराम् । चेतसो वर्त्तयित्री  
स्यात्सा वृत्ति सावि षड्विधा । कश्चियारभटी चैत्र तथा मध्यमरैशिकी । मध्य  
मारभटी चैत्र भारती सात्पती परा' । सुदुमार्गार्थसन्दर्भा त्रैशिकी ताम् व्यथ्यते ॥१०२॥

तत्कालारभटीणि । तत्काले नृत्यारम्भसमये या आरभटी प्रारम्भिकी त्रिया वृत्ति  
र्वा तथा त्रिभुजगम कायवृद्धिस्ततो य परित्रासो भय तस्माद्विप्र अश्रयता स्थलता  
वामार्धेन वनितारूपाधेभागेन पुत्रशेष एकमात्राप्रशिष्टश्चरण पादो यत्र तादृशम्  
भैरव भीषण वपु शरीर दधत् धारयन्, भोगीन्द्रस्य वासुके कङ्कालकै अस्थिभि  
तुल्यम् समम् अस्थिभुजगमय भूषण विभ्राण दधान असौ कल्पान्तकर्मान्तिक  
कल्पप्रलये कर्मकर्त्ता त्रिश्वसहर्त्ता परमेश्वर शिवो विजयते सर्वोत्कृषण वर्त्तत ।  
नृत्यप्रारम्भकक्रियाया कायवृद्धौ क्रियमाणाया वर्द्धमान शिवस्य कायमालोक्यार्ध  
नारीश्वरस्य तस्य देहार्धरूपभीतगारीभागोऽधोभ्रष्टस्ततश्चैकपादाप्रशिष्ट तस्य वपु  
भैरवमभूत्, किञ्च वासुकिनागो भूषणीकृतो भी या प्राणानसृजत्ततश्च तत्क  
ङ्कालरैवास्थिभुजगभूषण विषयते स्म, एतादृशोऽसौ सहारकरो भगवान् शिवो  
जयतीत्यथ ॥ १०३ ॥

विभीषण—( दक्षिणभा ओर । दसोने हुए ) आ भ्र देशकी लक्ष्मीरूप नाविकाके गलेमें  
सप्त गोदावर रूप जो हार है उसका सुमेश यद् भीमेश्वर महादेव है रहें प्रणाम कर लें ।

यद् नृत्यारम्भकालमें शरीरकी वृद्धि देने ही डरकर जब वामार्ध गौरीका भाग  
अलग जा बैठना है तब एक ही चरणवाले कौबङ्कर शरीर धारण कर लेते हैं, कङ्काल तथा  
सपका भूषण ज्यों का त्यों रह जाना है क्योंकि भूषणमें आये हुए सर्प ही मरकर  
कङ्काल बन जाते हैं और आकारमें सर्प भा रह जाये है । इस प्रकार प्रलयकारी भीमेश्वर  
की जय हो ॥ १०३ ॥

राम — ( कृताञ्जलि । )

नृत्यारम्भपरित्रसद्गिरिसुतारि'कार्धसपूर्तये

निर्गूढभ्रमिविभ्रमाय जगतामीशाय तुभ्य नम ।

यश्चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिस्तादृग्भ्रमन्तीर्दिश

पश्यद्भिर्भ्रमघूर्णमाननयनै शान्तोऽपि न श्रद्दये ॥ १०४ ॥

अपि च—

क्रीडानटस्य प्रलयान्धकारै कण्ठे निपाते तव नीलकण्ठ ।

पृथक् पृथक् पृथक्त्तमाङ्ग नृत्यद्भ्रयादैक्षत कालरात्रि ॥ १०५ ॥

नृत्यारम्भेति । नृत्यारम्भे नृत्यस्योपक्रमे परित्रसन्ती भीता या गिरिसुता पार्वती तथा हीनस्य परित्यक्तस्य अर्धस्य स्वदेहार्धस्य सम्पूर्तये पूरणाय निर्गूढ समापित भ्रमिविभ्रमो भ्रमगदिलासो येन तथोक्त्या गौर्या भयात्पक्षेऽर्धभागे तद्विषयानुरागप्रकरणेण तद्विरहासहिष्णुतया सद्य एव तत्सङ्गमाधिगमाय त्यक्तनृत्योपक्रमाय जगतामीशाय तुभ्य शिवाय नम । यो भवान् चूडाभुजगेश्वरप्रभृतिभिः शिरोभूषणवासुकिप्रभृतिभिः तादृक्पूर्ववदेव दिशो भ्रमन्ती पश्यद्भिः भ्रमघूर्णमाननयनैः भ्रान्तनयनैः शान्तोऽपि निवृत्तनृत्योऽपि न श्रद्दये निवृत्तो नृत्याद्यमिति न विश्वस्य ज्ञात । भवन्ति नृत्यादिनृत्तेऽपि वासुकि प्रभृतिभिर्दिशो घूर्णमाना विलोक्यद्भिः भ्रमपणितदृष्टिभिस्तथा येन भवान् प्रतीत, समग्रयपि शिरो नृत्यये वेति तेषां भ्रमो न निवृत्त इत्याशय ॥ १०४ ॥

क्रीडानटस्येति । हे नीलकण्ठ, प्रलयांधकार कल्पान्तकालिकमहांधकारे क्रीडानटस्य स्वेच्छागृहीतनटवेषस्य तव कण्ठ निपाते आच्छादिते सति कालरात्रि भैरवी कबंध शिरोहीन वतु पृथक्, उत्तमाङ्ग शिरश्च पृथक् नृत्यत् भयात् सभयम् ऐक्षत । कण्ठे पिहिते योजकादक्षणे द्वयोरपि कबंधशिरोभागयोः पृथक् पृथक् नृत्यद्रूपता विलोक्य भैरवी भीतिमभजतेति तात्पर्यम् ॥ १०५ ॥

राम—( हाथ जोटकर ) जिस महादेवने नृत्यारम्भमें बरतो हुए पावतीसे खाली अपने अथाङ्गको पूण करनेके लिए नृत्य हा छोड़ दिया, और जिनके नृत्यसे निवृत्त हो जानेपर भी—नस्तरूपर बसमान सपराजको दिशाओंको घूमती देखकर बरा सा देखकर लोपोंको विश्वास नहीं होता है कि शिवने नाचना छोड़ दिया है, वनको नमस्कार है ॥

हाहाय नृत्य करनेवाला शिवजीका कण्ठदेश जब प्रलयांधकारमें मिलीन हो जाना है तब महामंत्वीको माखम पडना है तिर भलग नाच रहा है और बंध अलग नाच रही है ॥

( सर्वं नमन्ति । )

राम — ( अन्यतो दर्शयन् । ) देवि, द्रविडमण्डल<sup>१</sup>मौलिमण्डनमाणि  
क्यमणिस्तवकमिड काञ्चीनामधेयमायतन मीनकेतनस्य । ( सीता  
मपवार्य । ) इह हि

स्वेदजलपिच्छिलाभिस्तनुभिर्यूना च शिथिलमाश्लेषम् ।

विपुल पुलकशलाकापटल शटिति प्रतिकरोति ॥ १०६ ॥

अपि च—

अभिमुखपतयालुभिर्ललाटधमसलिलैरवधूतपत्रलेख ।

द्रविडेति । द्रविडमण्डलस्य द्रविडदेशस्य मौलिमण्डन क्षिरोऽलङ्करण यत्  
मागिक्यमजिरतत्ररुम् ताडशम् । जायतन स्थानम् । मीनकेतनस्य कामदेशस्य ।

स्वेदजलेति । यूना तटणाना स्त्रीपुमाना स्वेदजले घर्माभोभि पिच्छिलाभि  
तनुभि शिथिलम् गाढतामनाप्नुवन्तम् आश्लेषम् आलिङ्गनम् विपुल घन पुलक  
शलाकापटल रोमाञ्चरूपशलाकासमुदय शटिति प्रतिकरोति विघटमान घटयति  
समाधत्ते । काञ्चीनामधेये नगरे - स्थिताना यूना स्वेदोदयेनालिङ्गन गाढ, न  
समनति पिच्छिलवाद्द्वपुषा परजाते रोमाञ्चमण्डकेन पिच्छिलस्य वपुषो गाढालिङ्ग  
नाक्षमव विनिवर्त्य गाढालिङ्गन विधायत्यत इ यर्थ ॥ १०६ ॥

अभिमुखेति । अभिमुखपतयालुभि मुखमार्गपानिभि ललाटधमसलिलैर्भाल  
स्वेदजले अवधूता प्रोच्छ्रिता पत्रलेखा पत्रावलीरचना यस्मात् तथाभूत अत एव  
मृदित विशुद्धनिष्कल यो हिमघृतिश्च द्रस्तद्गद् निर्मल स्वच्छ कपोल वधूना  
पुरपायित विपरीतरति कथयति प्रकटीकरोति । ललाटस्वेदपातेन पत्रावली

( सभा प्रणाम करते हैं )

राम—( दूसरी ओर दिखलाते हुए ) देवि द्रविडदेशके मस्तकको अलङ्कन करनेमें  
मौक्तिक स्तवकका तरह दीखनेवाला यह, काञ्चीनगर कामदेवका निवास स्थान है ।  
( सानाके प्रति दूसरीसे धिपाकर )

यहाँपर पसीनेसे गीले शरीरों द्वारा जब युवाओंके आलिङ्गनमें बाधा पडने लगती है  
तब वनका रोमाञ्च वनकी मदद करता है अर्थात् रोमाञ्चके द्वारा पिच्छिलना कुछ कम  
बाधक हो पाती है और उ हैं आलिङ्गनमें दृढता लानेका अवसर मिल जाता है ॥ १०६ ॥

सामने, गिरनेवाले ललाटपरकी जलबिन्दुओंसे जिनका पत्रावलिलेख धुल गया है

कथयति पुरुषायित घघूना मृदितहिम'द्युतिनिर्मल कपोल ॥ १०७ ॥

सुग्रीव—( वामतो दर्शयन् । ) इयमित शृङ्गारदेवतागर्भगृहमव-  
न्तिविषयमीमन्तमौक्तिकमुज्जयिनी नाम राजधानी । 'इह हि

कमितुरभिसृत्स्वरीणा गौराङ्गीणामिहेन्दुगौरीषु ।

उडूयमानानामिच रजनिषु परमीक्ष्यते छाया ॥ १०८ ॥

अपि च—

अधस्तात्सौधानामिह हि चरतामिन्दुकिरणा

मोञ्छितासु निर्मलचन्द्रवत् प्रतीप्रमानस्तासा काञ्चीपुरयुवतीना कपोल तासा  
पुरपायित रुधयतीर्थं, पुष्पिताप्रावृत्तम् ॥ १०७ ॥

शृङ्गारेति । शृङ्गारस्य देवता कामदेव तस्या गर्भगृहम् अत पुरम् अवन्तिर्दश  
भेद तस्य सामन्तमौक्तिकम् केशरेखाऽलङ्कारमणि ॥

कमितुरिति । इह उज्जयिन्याम् इन्दुगौरीषु चन्द्रकिरणोज्ज्वलासु रजनिषु  
रात्रिषु कमितु कामिन ( समीपम् ) अभिसृत्स्वरीणाम् अभिसारिकाणाम् गौराङ्गी  
णाम् नायिकाणाम् उडूयमानाना पक्षिणाम् छाया पर केवल दृश्यते न शरीरम्  
इति भाव । गौराङ्गीषु श्वेताभिसारिकासु चन्द्रज्योत्स्नामिलितासु सतीषु तासा  
छायामात्र दृश्यते न शरीरमिति ताःपर्यम् ॥ १०८ ॥

अधस्तानिति । इह उज्जयिन्याम् घन वारधारमुदञ्चन् विघटमानो यश्चन्द्रपुट  
स्तत्र निहितनेत्रा दत्तदृष्टय युवतय सौधाना हर्म्याणा अधस्तात् अधोभागे  
इन्दुकिरणान् चन्द्रकरान् चरताम् पिबन्ताम् ज्योत्स्ना ण्य रस पानीय तस्य  
कुमुप स्वल्पचर्मघटस्तस्य कौतूहलम् कुर्वतीति ज्योत्स्नारसकुमुपकौतूहलकृताम्

वैसा कपोल बना देवा है नि यहाँकी युवतियोंने विपारान्तिका अभ्याम किया है ॥ १०७ ॥

सुग्रीव—( बायीं ओर दिखलाते हुए ) शृङ्गार देवतावा अतगृह अवन्तिदेवताका  
सामन्तमौक्तिक वनयिनी नामका राजधानी यह शहर दीख रही है । यहाँ पर—

यहाँ अपने प्रियतमोंके पास चन्द्रबल-रात्रियोंमें अभिसार करनेवाली स्त्रियोंकी  
छायामात्र ऐसी दाख पटना है मानों यह उड़नेवाली औरनोंकी छायायें हो ॥ १०८ ॥

सौधके ऊपर खड़ी खिन्नों नाचेके चकोरोंका चन्द्रकापान देख रही हैं वे देवती हैं  
कि चकोरोंका चोंच लुली है वे धडाधड चन्द्रकापान कर रहे हैं, उन स्त्रियोंकी आँखें

न्धनोद्भृच्चञ्चूपुटनिहितनेत्रा युवतय ।  
 चकोराणा ज्योत्स्नारसकुतुपकौतूहलकृता-  
 मुद्रीक्षन्ते नश्यत्तिमिरविशदाभोगमुदरम् ॥ १०९ ॥

अपि च—

इह युवतिवदनकान्तिभिराप्यायिततुन्दपरिमृज शोते ।  
 भुक्तापभुक्ताहिमरचिमरीचिरन्त पुरचकोर ॥ ११० ॥

चन्द्रज्योत्स्नारूपपानायादानकुतुपप्रीडामित्राभ्यस्यताम् चकोराणाम् पक्षिभेदानाम्  
 नश्यति तिमिरे विशद प्रकाशित जाभोगोऽन्यतरविस्तारो यस्य तादृशम् उदरम्  
 उदीक्षन्ते उर्ध्वदद्यात् पश्यन्ति । सोधाग्रस्था युवतयोऽधोभागे चन्द्रकिरणान्  
 निबन्धु चकोरपु वारवार विघटमानेषु भूरि वा विघटमानेषु चकोराणा चञ्चुपुटेषु  
 नेत्राणि निक्षिप्य ज्योत्स्नारूपपानायादान कुतुपैरिव कुर्वता तेषा चकोराणा  
 ज्योत्स्नाननश्यत्तिमिरतया प्रकाशाभजदुदराभोग वीक्षन्ते । यथा ह्यचन गृहे स्थित  
 वस्तु गगनात्ते दृष्टिं निक्षिप्य दृश्यते तथवात्रया युवतयश्चकोराणा चन्द्रिकापानाय  
 विघटितेषु चञ्चुपुटेषु निक्षिप्तदृष्टयो ज्योत्स्नारसादानकुतुपप्रीडामित्राचरता चको-  
 राणामुज्ज्वलभावन्तमुदराभोग पश्यन्तीति भाव । 'कुतू कृत्ते स्नेहपात्र सेवाख्या  
 कुतुप पुमा' इत्यमर । शिञ्जिणी वृत्तम् ॥ १०९ ॥

इति । इह अप्रोत्नयिष्याम् जन्त पुरचकोर भुक्ता अपभुक्ताश्च त्यक्ताश्च  
 हिमरचेश्चन्द्रस्य मरीचय त्रिरणा येन तथाभूत सानपि युवतिवदनकान्तिभि  
 आप्यायित पूर्ण पुटलम् तुन्द स्त्रोदर परिमाष्टि परामृशति वस्तथाभूत सन्  
 शते । अन्योपि भुक्तेज्जिताहार पूर्णोदरश्च यदि लौट्यात्पुनरश्नानि तदा तुन्द  
 परिमृजोऽलसो भूत्वा ह्यचिच्छेते, अयमन्त पुरचकोरोऽपि यथाचि चान्द्री ह्यो  
 निर्णय पानाशक्त्या परित्यज्य च पुनर्दृश्यमानेषु युवतिमुखेषु तत्कातीरप्या  
 यासैरास्वाधारमतुन्द पुटल परिमृजालसोऽन्त पुरं शोते इत्यर्थ ॥ ११० ॥

सुली इद चोचकी राइसे पट तक पहुँच जाती है और यह भा देगती है कि पीनचद्र  
 किरणों से चकोरोंके उदरदेशमें वक्षमान तम भी मिटते आ रहे हैं ॥ १०९ ॥

यहाँपर चकोरोंको युवतियोंके बदनमेंकी कान्तिवां पर्याप्त मात्रामें पीनेको मिल जाती  
 है गिनसे उनकी वसुधा शान्त हो जाती है और वे अलम हो जाते हैं, बादमें चन्द्रमाकी  
 किरणोंको वह चकोर कुछ राते कुछ श्चर श्चर देखते हैं और वहाँ सो जाते हैं ॥

विभीषण—इहैवायमलकाया शाखानगरगौरवभाजि त्रिपुरद्व-  
नाधिष्ठानप्रतिष्ठो भगवान्महाकालनाथ । अयं हि

उद्दामभ्रमिवेगविस्तृतजटावल्लीप्रणालीपत-

स्वर्गङ्गाजलदण्डिकावलित निर्माय तत्पञ्जरम् ।

सभ्राम्य’भुजदण्डपक्षपटलद्वन्द्वेन हसायित-

स्त्रैलोक्यव्ययनाटिकानयनट स्वामी जगत्प्रायताम् ॥१११॥

राम—( प्राञ्जलि । )

नमस्तुभ्य देवासुरमुकुटमाणिक्यकिरण

अलकाया कुपेरपुर्या । शाखानगरस्य उपनगरस्य गौरव भजते तादृश्याम्  
अलकाममायाम् । इह उज्जयिन्याम् । त्रिपुरदटनस्य शिवस्य अधिष्ठानेन निवासेन  
प्रतिष्ठापयानिर्यस्य तथोक्त महाकालनाथ तदारयशिवलिङ्गभेद ।

उद्दामेति । उद्दामा महाभीषणा या भ्रमि नर्तनभ्रमण तद्वेगेन विस्तृता दीर्घी  
भूता जटावल्ली एव प्रणाली जलनिगममार्गं तस्या तद्वर्त्मना पतन्ती या स्वर्गगा  
तस्या जलायेव दण्डिका शलाका ताभिः पलित वष्टितम् यत् पञ्जरं तत्  
निमाय कृत्वा सभ्राम्य’भुजदण्डानेव पक्षपटलद्वन्द्वम् तेन हसायित हसमाग्य  
गत त्रैलोक्यत्रय ससारनाश एव नाटिका तस्या नयेऽभिनये नट स्वामी शिव  
जगत् प्रायताम् रचतु । अयमथ—वगेन भ्रमणे प्रवृत्ते जटामु विस्तृतासु तद्वर्त्मना  
गङ्गापयम्सु सहस्रगरीभूय पतन्सु तज्जलधाराशलाभिरिव निर्मित पञ्जरे स्थित  
भ्राम्यतोभुजयोदण्डोपमयो पक्षयोरिव प्रतीयमानयोर्हससाग्न गतत्रिलोकीसहार  
नाटकसूत्रद्व शिवो जगत् प्रायतामिति । रूपकालङ्कार ॥ १११ ॥

नमस्तुभ्यमिति । देवासुराणां देवानामसुराणां च मुकुटेषु किरीटेषु यानि माणि-

विभीषण—इमी उज्जयिन्यामे जो अलकाके शाखानगरका गौरव धारण करता है—  
बानदबबो जयनेकी प्रतिष्ठा धारण करनेवाले यह महानालिनाथ रहते हैं ।

प्रचण्ड भ्रमण वेगम फला जटारूप प्रणाली होकर गिरते हुए आकाशगङ्गाके जलरूप  
काठियोंमे पञ्जर मा बनाकर भ्रमण करनेवाले बाहुदण्डरूप पक्षोंसे इसके समान प्रणीत  
होनवाले तथा त्रिलोकके सहाररूप नाटिकाके अभिनयमें नट बननेवाले स्वामी महादेव  
जगत्प्रायताम् प्राण करें ॥ १११ ॥

राम—( हाथ जोड़कर ) देव तथा असुरगणके मुकुटमें खचित माणिक्योंका किरण-

१ ‘भुजदण्ड’ ।

प्रणालीसभेदस्नपितचरणाय स्मरजिते ।

महाकल्प<sup>१</sup>स्वाहाकृतभुवनचक्रेऽपि नयने

निरोद्ध्य भूयस्तत्प्रसरमिथ कामं हुतवते ॥ ११२ ॥

किं च—

वेगाद्गाहे च तत्र त्रिनेत्र युग्मेतरस्माच्चयनात्कृशानु ।

कामे तु समोहनशस्त्रहस्ते स्वाहामनुध्याय चिर जडोऽभूत् ॥ ११३ ॥

क्यानि रत्नानि तेषां त्रिणा एव प्रणालीसभेदा जलनिर्गमभागनिर्गतजलानि तै  
स्नपितौ घातितौ चरणौ यस्य तथामृताय प्रणिपतद्देवदानप्रमुञ्चमणिसुतिजल  
स्नपितपादद्वन्द्वयोर्व्यर्थं । महाकल्पे महाप्रलयकाले स्वाहाकृत स्वहुताशो हुत भुवन  
चक्रजगन्मण्डलं यत्र तादृशाऽपि नयने निजतृतीयनेत्रे भूय पुन तत्प्रसर स्व  
तृतीयनेत्रसञ्चार निरोद्ध्युम् वारयितुमित्र काम हुतवते होमत्रिपथ कृतवते स्मर  
नितं शिवाय नमः । देवदानप्रणुत्तौ यश्चित्तो जगन्मण्डलं सहतघतो निजतृतीय  
नयनस्य प्रचारमवरोद्ध्युमिथ काम भस्मीकृतवान्, यद्यप्य वामो नात्र हूयते तथा  
कुपितनानेन तृतीयनेत्रेण पुनजगद्भस्मान्त्रियेतेति तत्प्रतारणायैव काम भस्मीकृत  
वते शिनाय नम इत्यर्थं । शिखरिणीवृत्तम् ॥ ११२ ॥

वेगादिनि । हे देव त्रिनेत्र शिव, तव युग्मेतरस्मात् तृतीयात् नयनात् कृशानु  
अग्नि उगात् अगात् कामसमीप गत किन्तु समोहनशस्त्रहस्ते हस्तघृतसम्भो  
हननामकाश्रे कामे स्वाहा नाम निजपत्नीम् अनुध्याय स्मृत्या चिर बहुकाल  
पर्यन्त जड अक्रियोऽभूत् । प्रहरन् काम दग्धु त्वया तृतीयनयनात् प्रेरितोऽग्नि  
वेगेन कामस्य समीप गतस्तत्र च कामस्य हस्ते समोहन नामास्त्रमालोक्य स  
चद्धि स्वपत्नीस्मरण कर्तुं बाधितो भूवा चिर किङ्कर्तव्यविमूढ आसीदित्याशयः ।  
द्वन्द्ववज्रावृत्तम् ॥ ११३ ॥

रूप नालाने निगत प्रभारूप जलमजिनके चरण स्नपित हुआ करते हैं, और महाकल्पमें  
भुवनमण्डलको जलानेवाले हस्तके प्रसरको रोकनेके लिए ही पि होने कदपको दग्ध  
कर दिया है ऐसे कामागिको न स्कार ॥ ११२ ॥

हे त्रिनेत्र, आपके तृतीयनेत्रसे अनल तो बड़े वेगसे चला, कामके समाप पडुवा,  
पर तु वहाँ जब उसने वन्दपको समोहनास्त्र लिये खटा देखा तब वह तृतीय नेत्रानल  
अपनी ध्यारी स्वाहानामक स्त्रीको यत्न करने लगा श्मीलित ठिठका खटा रहा ॥ ११३ ॥

( सर्वे नमन्ति । )

सीता—( विहस्य । ) 'अहो तत्प्रभवदो ममहरसेहरस्म क्वलित-  
चउदसभुवणस्स त्रि ण पलाइदा अम्पिअनुमुक्त्वा जेण भअअ मअणो  
पि त्रिआलिअग्गासीकिदो । [ अहो तत्रभवत शशधरशेखरस्य क्वलितचतुर्द-  
शभुवनस्यापि न पलायिता अत्रितुमुक्षा येन भगवान्मदनोऽपि विकालिक  
प्रामोहृत । ]

( संपे हसन्ति । )

राम —( नविमर्शम् । ) अस्य हि भगवत

बाणीभूतपुराणपूरुषधृतिप्रत्याशया धाविते

विद्वाति स्फुरदाशुशुक्षणिकणकान्ते शकुन्तेश्वरे ।

शशधरशेखरस्य चन्द्रशेखरस्य । क्वलितचतुर्दशभुवनस्य चतुर्दशापि भुव-  
नानि सहस्रवत् । न पलायिता न निवृत्ता । अस्त्रिबुमुक्षा दृष्टिबुधा । विकालप्राप्ती-  
कृत म'याह्लादिपरकालभोजनता नीत , यथा कृतभोजनेनापि सावशेषभोजनेच्छन्न  
जनेन विकाले किञ्चिद्रूप भुंयते तथैव चतुर्दशभुवनान्यप्यशित्वाऽस्त्रिबुधायाम  
निवृत्ताया शिव कामदाहरूप विकालाशनमिव कृतवानित्यर्थ ।

बाणीभूतेन । पुरा त्रिपुरदाहावसरे भगवान् विष्णु शिवस्य यागो जात तत्  
बाणीभूतस्य शरस्वरूप गृहीतवत् पुराणपुरस्यस्य नारायणस्य धृतो धारणे पृष्टेन  
बहने वा प्रत्याशा उक्तेच्छा तथा धाविते प्रस्थिते ( किन्तु ) स्फुरद्भि प्रचलै  
आशुशुक्षणे अग्ने वणे कलाते पीडिते शकुन्तेश्वरे पश्चिराजे गच्छे विद्वाति पलाय

( समा प्रणाम करत ई )

सीता—( इमवर ) महादेवको आँसोंने चतुदश भुवनको प्राप्त बना लिया फिर मी  
उनकी सुभुक्षा शान नहीं हुए जिसमें कि उन्होंने कामदेवको जलपानके रूपमें प्राप्त  
बना लिया ।

( सभी हसते हैं )

राम—( विचार करके ) इस महादेवका—

त्रिपुरासुरके शरकालमें विष्णु जब उनके बाण बन गये थे तब अपने स्वामी विष्णुको  
अपनी पीठपर लीनेकी लालसासे गरुड बाण बने हुए विष्णुके पाम गये, परन्तु शिवजीके  
तृतीय नेत्र स्थित बद्धिकी ज्वालामे कुलमकर भाग सड़े हुए, जब वह गरुड समीप आने



नम्रोन्नम्रभुजंगपुगधगुणव्याकृष्टवाणासन

क्षित्तास्त्रस्य पुरद्रुहो विजयते संधानसीमाश्रम ॥११४॥

(अन्यतो दर्शयन् ।) इयं च 'कलचुरिकुलनरेन्द्रसाधारणाप्रमहिषी  
माहिष्मती नाम चेदिमण्डलमुण्डमाला नगरी । इह हि

आश्लेषचुम्बनरतोत्सवकौतुकादि

माने सति नम्र गच्छोपसर्पणन्यभयान्तत उन्नम्र तदपस्तरणानुन्नतश्च यो  
मुच्छ्रुत्पुङ्गव सर्पराज स एव मौर्वी प्रत्यक्षा तेन व्याकृष्टं चल यत् शरासनम् धनु  
स्तेन क्षिप्तम् अश्रुम् येन तथाभूतस्य पुरद्रुह शङ्करस्य संधाने शरयोजने सीमा  
इयत्ता तत्र श्रम विजयते । त्रिपुरारे शिवस्य त्रिपुरदाहोपक्रमे भगवाविष्णु  
शरस्वरूपता गतो वासुकिश्च प्रत्यङ्कारूपत्वं गतः, विष्णोर्बाह्वनगरइस्तथाभूतमपि  
विष्णु घोडुमुक्खण्डमास्तत्समीपमागतुमुपचक्रमे समीपमुपसरन्नेवामौ तृतीय  
नयनज्वालयाऽऽप्लीडसर्वाश्रयवस्सद्भुतपद पत्यायितः, समीपमागच्छन्तस्माद्  
भयैव वासुकिर्नमति स्म, तस्मिन्नापक्रामति चोन्नमति स्म, तदेव तस्य वासुके  
श्रयङ्कारूपस्य नमनोत्तमनयोर्चायमानयो शर क्षिप्तो जातस्तदा च पुन शरोऽ  
योज्यत पुन क्षिप्ते शरोऽयं शरो योजित इति शरयोजनायास एव विजयते कस्त  
तथा वर्णितो बोध्यः । शार्दूलकिरीडित वृत्तम् ॥ ११४ ॥

करचुरिकुल कार्त्तवीयार्जुनवशस्तत्र ये नरेन्द्रा राजानस्तेषां साधारणी ष्व्  
भात्रा अग्रमहिषी ज्येष्ठा भार्या । चेदिमण्डलस्य चेदिराज्यस्य मुण्डमाला भस्तका  
छङ्करणभूता ।

आश्लेषेति । आश्लेष आलिङ्गनम् चुम्बनम् रतोत्सव सुरतप्रसक्तिश्च एते

ये तव प्रत्यक्षा बने हुण नागराज नम्र हो जात थे, और जब वह तामासहिष्णु हाकर  
दूर चले जाते थे तब नागराज कुछ उन्नत हो जाते थे, इसलिए प्रत्यक्षाके चचायमान  
होते रहनेसे बाण बहुत तीव्रसे छूटने लगे, अतः महादेवको तीव्रताके साथ बाण संधान  
करना पडा, महादेवका वह श्रम विजय लाभ करे ॥ ११४ ॥

(दूसरी ओर दिखलाये हुए) करचुरी कुलके नृपनियोंकी साधारण पटरानी तथा  
चेदिमण्डलकी शिरोभूषण स्वरूप यह है माहिष्मती नगरी । यहाँपर आलिङ्गन, चुम्बन,  
रतोत्सव आदि धनका पण बनावे करते हैं और उस धन का मध्यस्थ बनना है कामदेव ।

क्रीडादुरोदरपणप्रतिभूरनङ्ग ।

'भोगस्तु यद्यपि जये च पराजये च  
यूनोर्मनस्तदपि वाञ्छति जेतुमेव ॥ ११५ ॥

( विमानवेग त्ययित्वा । ) देवि,<sup>१</sup>

देव्या भूमेर्मृगमद्मधीमण्डनं सिद्धसिन्धो

सध्रीचीयं जयति यमुना या तटैकाग्रवृत्तीन् ।

प्रेमोत्कर्षादिव पितृपतेर्भ्रातुराच्छिद्य हस्ता

हस्तानां गमयति पितुर्मण्डलं चण्डभानो ॥ ११६ ॥

आद्यो यस्यास्तादृशो यो दुरोदरपण द्यूतक्रीडाशुलकम् तस्य प्रतिभू प्रवर्त्तको मध्यवर्त्ती विश्वामदायक भङ्ग कामदेव एव । यद्यप्यत्र दुरोद्रे जये परानये च भोग परस्परालिङ्गनादिरूप समान एव तथापि यूनोर्मन जेतुमेव वाञ्छति । कामदेवेन मध्यस्थीभय प्रवर्त्तिते आश्लेषादिपणे द्यूते जयपरानययोरन्तर नास्ति भोगस्योभयसमनियतत्वात्तथापि युवानौ नेतुमिच्छत प्रयेकमिति भाव ॥११५॥

देव्या इति । भूमेर्धराया देव्या मृगमद् कस्तूरी एव श्यामतया मल्ली तथा मण्डनम् अटङ्करागमाम् पृथ्व्या भुवे कस्तूरीकृतलेखवत् प्रतीयमाना सिद्ध सिन्धोर्गङ्गाया सहचरो सध्रीची इय यमुना जयति । या यमुना तटैकाग्रवृत्तान् एकाग्रमनसा नटवर्त्तिनो जनान् भ्रानु स्वयोदरस्य पितृपतेर्यमराणस्य हस्तात् आच्छिद्य बलादपहस्य प्रेमोत्कर्षात् स्नेहातिशयादिव अस्ताबाध निर्विघ्न पितु चण्डभानो सूर्यस्य मण्डल नयति प्रापयति । इय हि यमुना पृथ्व्या मृगमदलेख

यद्यपि इमं द्यूतं जान नम हार दानों स्थितियोग भोग समान ह तथापि युवनोंको जीतनेकी ही इच्छा होती है ॥ ११५ ॥

( विमानके वेगका अनुभव करके ) देवि,

देवी पृथ्वीके लिए कस्तूरी के मृगमदी तरह दीखने वाली, गङ्गाका सिद्धिना य यमुना अपने सहचर रहनेवाले जनोंको प्रेमकी प्रचुरताके कारण अपने भाग्य चमरात्रके हाथोंसे बलपूर्वक छीनकर अपने पिताके मण्डल तक पहुँचा देती है जहाँ विश्वी प्रकारका कोई क्लेश नहीं होता है ॥ ११६ ॥

१ 'भोगस्तु यद्यपि जयेऽपजये च तुल्यो' भोग स यद्यपि = ये विजयेऽपि तुल्यो' ।

२ 'देवि' इति कञ्चिन्नारिण । ३ 'मास्करस्य' ।

लक्ष्मण — ( दूरमहुन्या दर्शयत । )

त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितै 'क्रीडयद्भि-  
भुवनममृतमानोर्बालमित्रै पयोभि ।

सगरसुतचिताया पावनी तोयराशे-  
रियमियमघमग्रे जह्वी निहुते न ॥ ११७ ॥

राम — ( सहर्षम् । )

गौरीविभज्यमानार्धसंकीर्णहरमूर्धनि ।

अग्न्य द्विगुणगम्भीरे भागीरथि नमोऽस्तु ते ॥ ११८ ॥

समा प्रतीयमाना स्वतदागतान् जनान्यमपाशाद् मोक्षयित्वा सूर्यमण्डल मोक्ष  
मार्गं प्रापयतीत्यतिशयवतीयमिति भाव ॥ ११६ ॥

त्रिपुरहरेति । त्रिपुरहरकिरीटक्रीडितै शिवशिरोदेशविहितवासै भुवन विश्व  
क्रीडयद्भि प्रसन्नता प्रापयद्भि अमृतमानोश्चन्द्रस्य बालमित्रे बालसत्तै पयोभि  
पानीये सगरसुतचिताया सगरसुताना कपिलकत्तृकदाहस्थानभूतस्य तोयराशे-  
सागरस्य पावनी पवित्रताकरी अग्रे इयम् जाह्वनी न अस्माकम् अघम् पाप निहुते  
अन्तर्दधाति । यानि पयासि शिवशिरस्यक्रीडन्त यानि च जगत्प्रमन्मभृपत,  
यानि चन्द्रपादैस्सह बालसखित्प्रमभृपत, तैरेव सत्रपयोभि सगराणा कपिलेन  
कृतस्य दाहस्य स्थानभूत सागर पुनन्ती इय जहुतनया गद्गाऽस्माकमघमेकपद एव  
विनाशयतीत्यर्थो बोध्य, आदरातिशयकृते सभ्रमे इयमियमिति द्विरक्ति ॥११७॥

गौराति । अग्न्य, मात, भागीरथि गङ्गे, गौर्या विभज्यमानम् अर्धम् अर्धभाग  
स्तेन सङ्कीर्णै स्वहृषीभूते हरस्य मूर्धनि अर्धनारीरवरस्य शिरोऽर्धभागे द्विगुणगम्भीरे  
द्विगुणीभूतगम्भीरे, ( अविस्तृते प्रदेशे नद्य सङ्कीर्णां त्रि-तु गम्भीरा बहन्ती  
त्याशयेनेद् विशेषणम् ) ते तुभ्य नम ॥ ११८ ॥

लक्ष्मण—( अङ्गुलिसे दूर तक दिखाते हुए ) महादेवके सिरपर खेलनेवाले तथा  
चन्द्रमाके बालमित्र जलीसे सगरपुत्रोंकी चितास्वरूप सागरको पवित्र करनेवाली यह  
गद्गा हमारे पापोंको दूर करे ॥ ११७ ॥

राम—( महर्ष ) पार्वती द्वारा आधे अङ्गुलिसे विभाजित कर लिये जानेपर सङ्कीर्ण हो  
गये महादेवके मस्तकपर द्विगुण-गम्भीर होकर बहनेवाली मातङ्गि, तुमको नमस्कार  
करता हू ॥ ११८ ॥

( साता प्रति । ) देवि, यन्दस्व ।

देवम्याम्बुजसम्भवस्य भवनादम्भोधिमामुका<sup>१</sup>

सेय मौलिविभूषण भगवतो भर्गस्य भागीरथी ।

उद्यातानपहाय विप्रहृमिह स्रोत प्रतीपानपि

स्रोतस्तीव्रतरत्वर गमयति द्वाग्रहलोक जनान् ॥११९॥

सीता—( कृताञ्जलि । ) एमा णिअस्सोतसिह्वलासदाणिवतिहुअणा  
मन्दाइणि वन्दिज्जसि ।

( सर्वे नमन्ति । )

लक्ष्मण—( अन्यतो दर्शयन् । )

दवस्येति । अम्बुजसम्भवस्य कमल्योनेर्देवस्य ब्रह्मण भवनात् गृहात् तत्क  
मण्डलो अम्भोधिम सागरम् आगामुका आगतुकामा भगवतो भर्गस्य शिवस्य  
मौलिविभूषणम् सेय भागीरथी विद्यते इति शेष । इह भागीरथ्या विप्रहृ क्लेश्वरम्  
अपहाय त्यक्त्वा उद्यातान् उर्ध्वगतान् स्रोत प्रतीपान् प्रवाहप्रतिकूलगामिन  
अपि जनान् स्रोतस्तीव्रतरत्वर प्रवाहापेक्षयाऽप्यधिकेन वेगेन गमनशीला इय  
भागीरथी द्राम् इदिति ब्रह्मलोक गमयति । ब्रह्मकमण्डलो सागर गच्छन्त्यस्या  
भागीरथ्या ये जना शरीर त्यक्त्वा त्रियमाणान् जनानिय भागीरथी प्रतिकूल  
प्रवाहाभिमुख्य प्रवाहाभिमुखापेनयापि तीव्रतर धावित्वाऽनित्वरया ब्रह्मलोक प्राप  
यतीत्यहो अस्या साहाय्यमिति भाव ॥ ११९ ॥

( सीताके प्रति ) देवि, गद्गामानाको प्रणाम करो ।

कमल्योनि ब्रह्माके वरमे ममुद्र तक अनेवाली तथा महादेवके मस्तकको अलङ्कृत  
करनेवाली यही हैं भगवती भागीरथी । इसके तटपर जो लोग शरीर त्याग करत हैं उन्हें  
यह प्रवाहके विरुद्ध दिशामें प्रवाहकी अपेक्षा तेजीसे चलकर शीघ्र ब्रह्मलोक पहुँचा  
देती हैं ॥ ११९ ॥

सीता—( हाथ जोड़कर ) इस गजाने अपने प्रवाहरूप कड़ियोंसे त्रिभुवनको बाँध  
रखा है, भागीरथि, आपकी नमस्कार करती हूँ ।

( सभी प्रणाम करते हैं )

लक्ष्मण—( दमरी ओर निखलाने हय )

१ 'आगामुकी' ।

धनाधिनाथप्रणयानुरोधाद्भग्नकेलासनिःकेतनस्य ।  
देवस्य कल्पान्तकपालपाणेर्वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् ॥१२०॥

राम — ( सहर्षमवलोक्य । )

प्लवमानैरपारोऽयं जनैः समारसागर ।

द्वीपे वाराणसीनाम्नि विश्रान्तेरिद्ध तीर्थते ॥ १२१ ॥

अपि चैना नित्यमध्यान्ते भगवान् ,

कण्ठच्छाया निपीतपद्मगफणारक्षौघभाद्रस्थितौ

द्वारे निर्भयपार्वतीभुजलताबन्धोल्लसत्कन्धर ।

धनाधिनाथेति । पुरस्तात् अग्रतः धनाधिनाथस्य कुबेरस्य च प्रणयः स्नेहस्तद्  
नुरोधात् अभग्नम् अत्यक्तम् केलीसनिःकेतनम् येन तथोक्तस्य कुबेरस्नेहानुरोधात्  
केलासने निवसत कल्पान्ते प्रणये कपालपाणे कपालं करे पृत्वा भ्रमत देवस्य  
शम्भो वाराणसी नाम पुरी पुरस्तात् अग्रे दृश्यत इति शेषः ॥ उपजातिर्चुत्तम् ॥१२०॥

प्लवमानैरिति । अथ सप्तार एव सागरः प्लवमानैः सन्तरङ्गिजनैः अपार  
तरीतुमयोग्यं किन्तु इह वाराणसीनाम्नि द्वीपे विश्रान्तेः सद्भिः तीर्थते । अथ  
माशयः—यथा विश्वसागरः सहृद्दारम्भमात्रेण न तर्तुं शक्यं प्रवाहस्य विस्तृत  
त्वात्, किन्तु मध्ये मध्ये द्वीपेषु विश्रम्य तर्तुं शक्यते, तथैवायं सप्तारसागरोऽपि  
काशीनामके द्वीपे विश्रम्य तर्तुं शक्यत इति ॥ १२१ ॥

कण्ठच्छायेति । कण्ठस्य छाया प्रतिबिम्बम् कण्ठच्छायम् तेन निपीतं निश्चो  
पेण पीतं तिरोहितं पद्मगफणारक्षौघं सर्पगणामणिकान्तिकचयं तन्मात्रेण अस्त  
कान्तिस्वरूपेण स्थिते द्वारे नागद्वारे निर्भयायाः कणामणिनिह्वयेन वासुकेरसद्भाव  
सुरप्रेक्ष्य गतभीते पार्वत्याः भुजलतया बन्धेन अशिशिलालिङ्गनेन उल्लसन्ती

धनाधिनाथ कुबेरके स्नेहानुरोधसे महादेवने कैलासरूप अपना पुराना वासस्थान नष्ट  
रहा किया, परन्तु प्रलयकालमें कपालपाणि वननेवाले शिवजीका वासस्थानभूत वाराणसी  
ही है जो आगे दिखलाइ पढ़ रही है ॥ १२० ॥

राम—( इससे देखकर ) यह सप्तारसागर तैर करके पार करनेवालोंके लिए अपार है,  
इस वाराणसी नामके द्वीपमें विश्राम करनेपर सप्तारसागरका पार प्राप्त किया जा  
सकता है ॥ १२१ ॥

इस वाराणसीमें महादेव मदा रहा करते हैं ।

महादेवके गलेकी काली छायाके पङ्कजसे सर्पगणामणि प्रच्छादित हो जाती है, पार्वती

नत्नर्धाङ्गविरामवामनतमैरेव स्वरै सामग

विभ्रद्ब्रह्मशिर शिवाय जगतामेपाङ्गचूडामणि ॥१२२॥

( ‘अन्यतो दर्शयन्, सीता प्रति । ) देवि, दृश्यतामिति ।

नगोन्मीलनमोर्वाकिणनिकरकार्कश्यसदय

प्रवृत्तस्वर्पाणौ किमपि निविडं पीडयति मे ।

शोभमाना कन्धरा यस्य स तथोक्त । पूर्वं पार्वतीहरकण्ठे स्थितात्सर्पाद्बिम्ब्यती स कण्ठग्रहेण नानन्दयति स्म, सम्प्रति कण्ठस्य नीलप्रभया अन्तर्हिते फणामणि द्वीसिन्धवे सर्पस्यासद्भावमुत्प्रेचय पार्वती तस्य कण्ठ बाहुभ्यामारिल्लुप्तवती येन तस्य कन्धरा उल्लासमवभूदित्यर्थ । तन् प्रसिद्धमतिप्रिय वा सर्वान्नविरामेण सरुलाङ्ग विनाशेन वामनतरे पर्वता गत इत्थ एव स्वरे सामगम् सामवद्गायक ब्रह्मशिर ब्रह्मण कपाल विभ्रत् धारयन् एगाङ्गचूडामणि मृगाङ्गरोखर सिव जगता शिवाय जायतामिति शेष ॥

शाश्वतरूपरत्या शिवोऽनेनेपा ब्रह्मणा विनाश पश्यतीति स तत्कपालधारि तयाऽत्र वर्णित, तत्कपाल चाङ्गातरसद्वरहितमिति मन्स्वरेणैव माम गायती स्युःप्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १२२ ॥

नवो नादिति । यस्या पुण्यां मिथिलायाम् नवाद्यन् सद्य सजायमान मौर्वा किणनिकर प्रत्यङ्गाघर्षणोत्पन्नगणार्गुदममूह, तत्कार्कश्यात् हेतो सदयप्रवृत्त स्वर्पाणि सदय प्रहीतु प्रवृत्तमान ( अस्या कोमल करो मया नवोदितवर्णकिण कर्कशेन बलवद् गृह्यमाणो व्यथेनेति विभाष्य सदयमेव तव कर कलयितु म्यापृत ) मे मम कर किमपि स्नेहानिरेकवशात्निर्वचनीयरूपेण निविड गाढ

का सर्पभय निवृत्त हो जाता है और वह निर्मय भावसे शिवका कण्ठालिङ्गन कर लेना है जिससे शिवकी घोवा उत्कमिन हो उठती है । प्रलयकालमें ब्रह्माका मारा शरीर समाप्त रहता है केवल कपाल रह जाता है अतएव वह कपाल मन्दस्वरेसे ही सामगान कर पाता है वही कपालको मदादेव धारण करते हैं, ऐसे च द्रचूड शिव विश्वका कल्याण करें ॥१२२॥

( दूसरी ओर दिखते हुए ) ( सीताके प्रति ) देवि, श्वर देखो,

हमारे हाथमें ताजे दने प्रत्यङ्गाघर्षणवर्ण ब्रह्मकिण ये, अत हम चाहते थे कि तुम्हारे कोमल हाथको कष्ट न पहुँचे अत हमने कोमलरूपमें तुम्हारा हाथ पकड़नेकी चेष्टा की थी

कृतार्थोऽय यस्यां समजनि कर सैव पुरतः

पुरी पूर्वेषां ते नयनमियमालानयति न ॥ १२३ ॥

सीता—( सस्मितानुराग 'साचीकृताक्षी राम परयन्ती पुरीं प्रति । ) अम्ब मिथिले, वन्दिज्जसि । गुरुअण्ये पि वन्दण मे त्रिण्णवेसि । [ अम्ब मिथिले, वन्द्यसे । गुरुजनेऽपि वन्दन मे दिज्ञापयिष्यसि । ]

राम—( सुग्रीवविभीषणौ प्रति । ) 'वयस्यौ, इय सा जानकीं प्रजा यमानाया भगवत्या भूमेररिष्टमन्दिर मिथिला ।

'सुग्रीवविभीषणौ—( समौतुःस्मितम् । ) यत्र भगवत 'पार्वतीजीवितेश्वरस्य 'धनुर्धनुरन्तेवासिनावजगवभार्गवौ भञ्जतो भवत सहपासु क्रीडादीर्घसखीय वीरलक्ष्मी ।

वन्पाणौ पीडयति सति ( सद्य प्रवृत्तस्य मम करस्य तत्र पाणिनैव गाढ ग्रहणे क्रियमाणे सति ) कृतार्थं धन्य अजनि जात सैव ते तव पूर्वेषां पूर्वजानामिय पुरी न अस्माक नयनम् आलानयति बध्नाति आकर्षति ॥ १२३ ॥

प्रजायमानाया जनयन्त्या । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र जनि । अरिष्टमन्दिरम् सूतिकागृहम् ।

पार्वतीजीवितेश्वरस्य हरस्य । धनुर्धनुर तेवासिनौ धनुश्चाप धनुरन्तेवासी चाप

परतु जब तुम्हारे हाथन दा हमारे सद्यप्रवृत्त उन हाथको जोरोंस धाम लिया तब हमारा हाथ तुम्हारे प्रेम प्रकषका पता पारर ध य हो उठा, यह सारी घटना जिस नगरीमें हुए बही यह तुम्हारे पूर्वजोंकी मिथिला नगरी हमारी आँखोंको आकृष्ट कर रही है ॥ १२३ ॥

सीता—( मुस्कुराहट तथा प्रेमके साथ कुटिलदृष्टिसे रामकी ओर देखती हुए पुरीके प्रति ) अम्ब मिथिले, वन्दना करती हू, कृपया मेरे गुरुजनोसे भी मेरी वन्दना निवेदित कर देना ।

राम—( सुग्रीव और विभीषणके प्रति ) मित्रो, जानकीको बचान करनेवाला पृथ्वी का सूतिकागृहरूप मिथिला यही है ।

सुग्रीव और विभीषण—( दुतूदलके साथ हँसकर ) यहीपर शिवजीके धनुष तथा धनुर्बंद विषाके शिष्य परशुरामका भङ्ग करके आपने साथ साथ धूलिक्रीडा करनेवाली शोरलक्ष्मी प्राप्त की थी ।

१ 'कृताक्षी' । २ 'वयस्यौ' इति क्वचिन्नास्ति । ३ 'तौ सकौतुकम्' ।

४ 'पार्वतीदयितस्य' । ५ 'धेनुरन्तवासिनौ' ।

राम — ( 'सल्लस्मितमन्यतो दर्शयन्सीता प्रति । ) देवि, इयं पुनस्त-  
तोऽपि पुरस्ताच्चम्पानाम गौडानां विनयमधुरशृङ्गारविभ्रमरमणोया मक-  
रकेतनकुमारव्रतचर्यातपोवनमित्र राजधानी । ( अपवार्थं च । ) इह हि

रोमाञ्चोच्छ्वसदङ्ग<sup>३</sup>सन्धिनिविडैरालिङ्गनैर्यामिनीं

शोषीकृत्य विवृण्वते निजरहश्चातुर्यमेणीदृश ।

यष्टिस्थे सपदि प्रदीपमुकुले दग्ध्वा दशां मल्लिका

तैले प्रज्वलति स्तृणोति वसतीर्यन्नाभिदग्धं तम् ॥ १०४ ॥

विद्याशिष्यश्च तौ अजगवभार्गवौ अजगवनामक धनु भार्गव परशुरामश्च तौ ।  
भजत धनुभञ्जयत परशुराम पराजयमानस्येति यथोपयोगमथ । सहपासु  
क्रीडादीर्घसन्धी वाल्यावस्थायामेव सङ्गता वीरता ।

विनयेति । विनयेन नम्रतया मधुर मनोहर शृङ्गारविभ्रम कामकलाविलाम  
त्वेन रमणीया । मकरकेतनस्य कामदवस्य कुमारव्रतचर्या ब्रह्मचर्यतपस्या तदर्थं  
तपोवनम् इव, सततसन्निहितजागरूकरवाक्कामदेवस्य तथोक्तम् ।

रोमाञ्चोच्छ्वसदिति । णीदृशो मृगानयना कामिन्य रोमाञ्चैव उच्युमता  
परिणाहमागच्छताङ्गसन्धिना समस्ताङ्गेन निविडै गाढै आलिङ्गनै यामिनीं रजनीं  
शोषीकृत्य किञ्चिन्मात्रावशिष्टा कृत्वा सपदि सम्प्रति प्रभातप्रायाया निशि यष्टि-  
दीपाधारदण्डस्थिते प्रदीपमुकुले दीपाङ्कुरे दशां वर्ति दग्ध्वा मल्लिकातैले मल्लि-  
कारयसुगन्धिपुष्पनिर्मिततैले प्रज्वलति मति यत् यदा नभिदग्धं नाभिप्रमाणं तम्  
स्तृणोतु व्याप्नोतु तदा निजरहश्चातुर्यम् दधीय मुरतपाटव विवृण्वते प्रकृतयति ।  
अत्रत्या स्त्रिय समस्ता निश दृढालिङ्गनैर्यापयित्वा अल्पशेषाया निशि दीपस्थ

राम—( लज्जाको हँसाके माथ दूसरा ओर दिखलाते हुए सीताके प्रति ) देवि  
मिथिलात भा पूव दिशामें बसमान यह गौडदेशकी राजधानी चम्पापुरी है जो नम्रता  
तथा शृङ्गार विन्यासस रमणीय है और जो कामदेवके ब्रह्मचर्यका तपोवन माना जाती है ॥

( दूसरोंसे बचाकर सानामात्रक प्रति )

इस चम्पापुरीमें रोमाञ्चसे उच्छ्वसित होनेवाले अङ्गोंसे श्रियतमोंको गाढ आलिङ्गन करके  
स्त्रियों रात्रिको स्वल्प शेष कर देती हैं, पाछे जब दीपदण्डपर स्थापित दीप बत्तीके निदेश  
दग्ध हो जानेसे मल्लिका तैलको जलाने लगना है जिससे प्रकाश दीप मध्यमें चला जाता  
है और नीचे न बचाकर व्याप्त हो जाता है तब अपना रतिकौशल प्रकट करती हैं ॥ १०४ ॥



लक्ष्मण — ( अग्ने दर्शयन् । ) एते भगवत्यां भूमिदेवाना मूलायत-  
नमन्तर्वेदी पूर्वेण कृष्णागुरुमलयजमयमङ्गरागमिरान्योन्यस्य कुर्वाणे  
कलिन्दवन्यामन्दाकिन्यौ सगच्छेते ।

हिमालयोत्सङ्गसदाधियासतो जातेष पाण्डु प्रतिभाति जाह्नवी ।  
निदाघभानो पितुरङ्गलालनाकृतेष काली यमुना च दृश्यते ॥१२५॥

दशाया दग्धाया तत्सेले ईप्रज्वलति सति तदीपाधोदेशेऽन्धकारध्यासौ गृहस्थ  
शयनीयतल्पस्थान्धकारावृतताया सुरते प्रवचन्त इत्यथ, यावत् दशा ज्वलति  
तावत्समस्तगृहे प्रकाश इति ता लज्जन्ते ता च लज्जा गाढाश्लेषेण गोपयन्ति,  
यदा च तैल ज्वलति तदा दीपाधोभागे तमो व्याप्तेरानुभविकतया ता सुरतमार-  
भन् इत्यहो चातुर्यं तासामिति भाव ॥ १२४ ॥

भूमिदेवानाम् ब्राह्मणानाम् । मूलायतनम् आदिम वासस्थानम् । अन्तर्वेदीम्  
नामप्रदेशम् । पूर्वेण पूर्वस्यो दिशि । कृष्णागुरु कृष्णवर्णमगुरु, मलयज चन्दनम् ।  
अङ्गरागम् अङ्गविलेपनम् । अन्योन्यस्य परस्परस्य । अयमाशय — प्रयागे यमुना  
गङ्गे सङ्गते, तत्रान्योन्यमिलिते इत्थ प्रतीयते यथा ते परस्परम् अङ्गरागमिव  
कुचाते, तत्र यमुना गङ्गाया दहे कृष्णागुरुकृतमङ्गराग लिम्पति गङ्गा च यमुनाया  
वपुषि चन्दनाङ्गराग लिम्पति, अर्थात् यमुनापानीयसम्पर्केण गङ्गाऽशत श्यामा-  
प्रतीयते पृथमेव गङ्गापानीयसपर्केण यमुनाशत शुक्ला प्रतीयते इति ।

हिमालयेति । जाह्नवी गङ्गा हिमालयस्य उत्सङ्गे श्लोढे सदाधियासत सतताव-  
स्थानात् पाण्डु शुभ्रा जाता ( शीते स्थाने वसत शुभ्रता प्रसिद्धा ) इव प्रति-  
भाति प्रतीयते । यमुना च पितु स्वजनकस्य निदाघभानो सूर्यस्य अङ्गलालनात्  
श्लोढे लालनात् काली कृष्णवर्णा जाता प्रतिभासते इत्यन्वय ॥ १२५ ॥

लक्ष्मण—( आगेदी ओर दिखलाते हुए ) यह दोनों ब्राह्मणोंके आदिम वासस्थान  
अन्तर्वेदी नामके स्थानसे पूर्वभागमें पृष्ठाकी काल अगुरु तथा चन्दनका अङ्गराग मा  
लगाती हुई यमुना और गङ्गा एक दूसरेसे मिल रही हैं ॥

बराबर हिमालयकी गोदमें रहनेसे गङ्गा स्वच्छकाँति हो गई मालूम पड़ती है, और  
अपने पिता सूर्यकी गोदमें दुलारी जानेके कारण यमुना काली ही गई हो ऐसा प्रतीत  
होता है ॥ १२५ ॥

( विभाव्य च । )

यत्किञ्चिद्वा पादनखाशुराजिभि स्मरारिमौलीन्दुमरीचिवीचिभि ।  
हिमाद्रिनि स्यन्दरस्यै पदे पदे विवर्धत वैदुःसैन्धवी रचि ॥ १२६ ॥

अपि च—

प्रयाग सर्वतीर्थभ्यस्तीर्थमुच्चैस्तरामियम् ।

'समाराध्ये पर पारमिहृन्धैरवलोक्यते ॥ १२७ ॥

गम — ( सादरम् । ) किमुच्यते ।

सत्यमेव प्रयागोऽय मोक्षद्वारमुदीर्यत ।

यत्किञ्चिद्वा इति । यत्किञ्चिद्वा चामनावतारस्य विष्णो पादनखाशुभि पादनावर  
कान्तिभि, स्मरारे शिवस्यमौलीन्दो ललाटस्थितस्य चन्द्रस्य या मरीचि  
वीचय किरगप्रगाहास्तानि, हिमाद्रे हिमाद्रस्य निःस्यन्दरमे प्रसृतजलै पदे  
पदे प्रतिस्थान वैदुषसैन्धवी गङ्गासम्पत्तिनी रचि विवर्धते समेधने, प्रथम विष्णो  
पादप्रसृता, तत शिवमोहिकासिनो ततश्च हिमाद्रिसञ्चारिणीय गङ्गा विष्णुनज  
कान्तिभि शिवशिरोभूपाच व्रद्युनिभिर्हिमालयस्रुतजलप्रवाहैश्च प्रतिपदमानो  
द्युतिमपुष्पादिन्याशय ॥ १२६ ॥

प्रयाग इति । जय प्रयाग सर्वतीर्थेभ्य सर्वेभ्य पुण्यक्षेत्रेभ्य उच्चैस्तराम्  
प्रधान तीर्थम्, इहृन्धैरत्र प्रयागे स्थितै जनै ससाराध्ये भवसागरस्य परम्पारम्  
अन्यत्तटम् अवलोक्यते । उच्चै स्थाने स्थितस्य दूरदर्शनम् उचितमिति समारपर  
परदर्शकतयाऽस्य प्रयागस्योच्चैस्त्वमिति भाव ॥ १२७ ॥

सत्यमेवेति । अयमप्रयाग सत्यमेव यथार्थभागेनैव मोक्षस्य निर्वाणस्य द्वारम्

( विचार करके ) भगवान् विष्णुक चरणनलकान्तिगोले महादेवके शिरोभूषण  
चन्द्रमाको किरणों और हिमालयके निष्पन्नसे पग पगपर गङ्गाकी कान्ति समृद्ध  
होगी रहती है ॥ १२६ ॥

यद् प्रयाग सभी तीर्थोंमें लक्षा तीर्थ है, यहाँ रहनेवाले समारसागरके उस पारकी भी  
देव सकते हैं ॥ १२७ ॥

गम—( सादरके साथ ) क्या कहा जाय,

सचमुच प्रयागको लोग मोक्षद्वार कहते हैं जिसके दोनों भागोंमें बहनवाली गङ्गा प्रसृता

१ 'समारस्य' ।

देव्यौ यस्याभितो गदायमुने वहत श्रियम् ॥ १२८ ॥  
( साता प्रति । ) देवि, प्रणम्यतामित ।

श्यामो नाम वट सोऽयमेतस्याद्भुतकर्मण ।

छायामप्यधिवास्तव्यै, पर ज्योतिनिषेव्यते ॥ १२९ ॥

( सब प्रणमन्ति । )

राम — ( विमानवेगनाटितकेन सर्पम् । )

यूपाङ्कुरप्रकादन्तुरतीरलेखा-

सरयायमानमनुसन्ततिसततन्तु ।

कारण माया वा उदीर्यते दध्यते, यस्य प्रयागस्य जमित उभयत गदायमुने  
नाम नद्यौ श्रिय शोभा वहत पुष्यत ॥ १२८ ॥

श्याम इति । स प्रसिद्ध अथ श्यामो नाम वट वटवृक्ष दृश्यते, एतस्य  
अद्भुतकर्मण आश्चर्यजनककर्मण वटस्य छायायाम् अपि अधिवास्तव्यै अधिवसद्भि  
जनै पर ज्योति ब्रह्म निषेव्यते प्राप्यते । अन्येषा वटाना वृक्षाणा छायामधि  
वसद्भि तम निषेव्यतेऽस्य आश्चर्यजनकभ्यापारस्य वटस्य छायामपि श्रितवद्भि  
पर ज्योतिर्ब्रह्म प्राप्यत इत्यर्थ । छायाश्रयणे तेज प्राप्तिरिति विरोध, ब्रह्मपर  
कताया तु तत्परिहार ॥ १२९ ॥

यूपाङ्कुरेति । यूपा यज्ञीयपशुबन्धनदारुविशयास्त एवाङ्कुरा प्ररोहा तेषा प्रक  
रेण समूहन दन्तुरा उन्नतदन्ता नतोन्नता वा तीरलेखा तटसीमान तामि  
सरयायमाना एरुद्धि याद्विगणनात्रिपत्नीक्रियसाणा मनुसन्ततीनाम् मनुवश्य  
राजानाम् ससततव यज्ञा यत्र सादृशी स्वतीरसीमावत्तियूपगणनाद्वारा वा मनु-

उसकी शोभा समृद्धिको बढ़ाया करता है ॥ १२८ ॥

( सीताके प्रति ) देवि, देखो, स्वर प्रणाम करो—

वह बड़ी आश्चर्यजनक श्याम वटवृक्ष है जिसकी छायामें भी रहनेवाले परम ज्योति  
महका साक्षात्कार कर पात हैं ॥ १२९ ॥

( सभी प्रणाम करते हैं )

राम—( विमान वेगना अनुभव करके दृषके साथ ) यूपाङ्कुर समुदायको गिनतासे  
अहाँ मनुवशी राजगणके यज्ञोंकी गिनता ही जा सरती है । वह इक्ष्वाकु राजगणकी प्रधान

इक्ष्वाकुराजमहिषीपदपट्टलक्ष्मी

देव्या भुवो भगवती सरयूरिय न ॥ १३० ॥

इय च भगवत्ययोध्या

‘गगनगतास्मदुदीक्षणकु नूहलोत्तानपृथुलनि स्यन्दै ।

उन्नालस्थलकुवलयनमिव जनलोचनै क्रियते ॥ १३१ ॥

( सर्वे १तमस्त्वन्ति । )

सुग्रीवविभीषणौ—( निर्वर्ण्य । )

वृन्तैरिव क्रतुसहस्रभुवा फलाना

मालोक्य यूपनिकरैर्मधुरामयोध्याम् ।

वरयन्तृपाणा यागान् गणयतीव तादृशी, देव्या भुव पृथिव्या इक्ष्वाकुराजाना तद्दृश्यन्तृपाणाम् महिषीपदाय प्रधानराज्ञीपदाभिपेकोचित पट्ट पट्टवस्त्र तस्य लक्ष्मीरिव लक्ष्मीर्यस्मास्तथोक्ता भुवो राजमहिषीपदाभिपेकोचिनपट्टवस्त्रनसादृश्य धारयती इय न अस्माक सरयूरस्ताति शेष ॥ १३० ॥

गगनेति । गगनगतानाम् विमानवर्तिनाम् अस्माकम् उदीक्षणे उर्ध्वनिरीक्षणे यत् कुनूहलम् तेन उत्तानानि उन्नमितानि पृथुलानि विशालानि निस्पदानि निश्चलानि च नयनानि तै जनलोचनै अयोध्यावासिलोकनयनै उन्नालानाम् उद्गतनालाना स्थलकुवलयाना स्थलवस्त्रिनिलकमलाना वनमिव क्रियते उध्व मुवानि लोकनयनानि उन्नालस्थलकमलानीव प्रतीयन्ते, सर्वेद्युःसुका अस्मान् परयन्तीति भाव । उप्रेक्षाऽलङ्कार, आयाभेदो वृत्तम् ॥ १३१ ॥

वृन्तैरिवेति । क्रतुसहस्रभुवाम् सहस्रसरयुक्यज्ञोत्पन्नानाम् फलाना स्वर्गादी नाम् वृन्तैरिव यूपनिकरै यूपसमूहै मधुराम् रमणीयदशनाम् अयोध्याम्

रानी अयोध्याके षट्टवस्त्रकी शोभा धारण करनेवाली भगवती सरयू दीख रहा है ॥ १३० ॥

यह है अयोध्या,

आकाशमें वर्तमान हम लोगोंको देखनेके लिए उत्कण्ठावश विशालतया निस्पन्दन जननवनोत्तै यह अयोध्या उन्नाल स्थलकमल वन भा बना दी गई है ॥ १३१ ॥

( समा प्रणाम करते हैं )

सुग्रीव विभीषण—( देखकर ) हजारों यज्ञोंने उत्पन्न फलोंकी वृन्तवस्त्रियोंकी तरह दीखनेवाले यूपोंसे रमणीय हम अयोध्याकी देखकर तथा हम नगरमें रहनेवाले नृपोंकी

राज्ञामिह प्रवसता च विचिन्त्य सिद्धिं

देव शचीसहचरोऽपि न रोचते न ॥ १३२ ॥

राम—( तौ प्रति । ) वयस्यौ,

ईदृशा<sup>१</sup> प्रागजायन्त राजानो यदिहान्वये ।

तद्वसिष्ठचरोरैन्द्रावाहस्पत्यस्य वैभवम् ॥ १३३ ॥

( पुरोऽवलोक्य<sup>२</sup> सहर्षोऽस्मात् । ) कथं स एवायं भगवान् प्रकल्पिता-  
स्मदभिपेकसम्भारो भरतशत्रुघ्नाभ्यां सह वसिष्ठो मा प्रतीक्षमाण  
स्तिष्ठति । ( पुष्पक प्रति । ) विमानराज, समप्रतीर्यतामस्यां<sup>३</sup> ककुत्स्थ-  
कुलोपकारिकायाम् ।

आलोक्य, इह प्रवसता निवासं कुर्वताम् राज्ञां च सिद्धिम् विचिन्त्य न अस्मभ्यम्  
शचीसहचर शचीपतिर्देव इन्द्रोऽपि न रोचते, अत्रत्यराजनिद्रितुलनायां शक-  
स्यापि सिद्धिरस्माभिलिखीय प्रतीयत इत्यादयः ॥ १३२ ॥

ईदृशा इति । इह जस्मिन् अन्वये वशे यत् ईदृशा पूर्वोक्तगुणशालिन राजान  
अजायन्त जनिमलभन्त तद् ऐन्द्रावाहस्पत्यस्य इन्द्रो बृहस्पतिश्च देवते यस्य तथो  
क्तस्य वसिष्ठचरो वसिष्ठसम्पादितमन्त्रसंस्कृतपायसविशेषस्य वैभवम् प्रभाव  
अस्तीति शेष, वसिष्ठस्य पुरोहिततया तत्कारितयजद्वारिका एवास्मत्पूर्वजानां  
सिद्धिरासीदिति भावः ॥ १३३ ॥

कल्पितास्मदभिपेकसम्भारं सज्जीकृतास्मदभिपेकोपकरणं । प्रतीक्षमाणं प्रति-  
पालयन् । ककुत्स्थकुलोपकारिकायाम् ककुत्स्थवशस्य राजगृहे 'राजसदनमुपकारि-  
कोपकार्या' इत्यमरः ।

निद्रियोको विचारकर इमको इदपर मो श्रद्धाधिक्य नहीं रह जाता है ॥ १३२ ॥

राम—( उन दोनोंके प्रति ) ऐसे माननीय राजागण जो हम वशमें बैठले उत्पन्न हो  
सके यह इन्द्रस्पति देवताको उद्देश्य करके वसिष्ठ द्वारा संपादित यगुपाकका प्रभाव है ॥

( आगे देखकर हृषीके उल्लसित होकर ) क्यों, यहाँ वह भगवान् वसिष्ठ हमारे  
राज्याभिपेकका सारा प्रबंध करके भरत तथा शत्रुघ्नके साथ हमारी प्रतीक्षामें खड़े हैं ?  
( पुष्पकके प्रति ) विमानराज ककुत्स्थकुलकी राजधानी इस अधोध्यामें उत्तर जाइये ।

१ 'प्रभवनाम्' । २ 'तादृशा' । ३ 'सहर्षम्' । ४ 'उपकल्पित-' ।

५ 'सह वसिष्ठा' इति कचिन्नास्ति । ६ 'अवनायताम्' । ७ 'रघुकुल-' ।

( सर्वे विमानावतरण नाटयन्ति । )

( ततः प्रविशति पदान्तेपेण वसिष्ठो भरतगन्धुनौ च । )

वसिष्ठ—

चक्रे लङ्केश्वरपरिभवच्छेदनिष्णातक्षोष्णा

यद्वत्स्नेन त्रिजगद्भयं तन्व चित्रीयते न ।

वाल्लेनाजौ विगलितवतो वीर्यनिर्यामराशे

र्यतिपण्याक् स मुनिरमुना निर्मितो जामदग्न्य ॥१२४॥

( राममवलोक्य सहर्षम् । )

भल्लावलूनदशकन्धरकण्ठपीठ-

सीमासमाप्तभुजविक्रमकर्मकाण्ड ।

अत्र इति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य परिभव पराजये छेदे विनाशे च निष्णात-  
क्षोष्णा समर्थभुजेन वत्सेन रामेण यत् त्रिजगत् लोकत्रयम् अभय गतसकलभयम्  
चक्रे कृतम् तत् रामकृतक रावणवधद्वारक जगद्भयम् न अस्मान् न चित्रीयते  
न विस्मापयति, यत् यस्मात् वाल्लेन शिशुना रामेण अमुना आजौ युद्धे स प्रसिद्धो  
मुनि परशुराम विगलितवतः दूरपराहतस्य वीर्यनिर्यामराशे वीर्यसारसमूहस्य  
पिण्याक् तिलकलक निर्मित कृत निवार्यता गमित, यत् रामेण वाल्ल्यावस्था  
यामेव परशुरामो निर्वायं कृतस्तस्य रावणविजयद्वारा जगद्भयजनन नाश्रयं  
करमित्यर्थं ॥ १२४ ॥

मल्लावलूनेति । मल्लेन अस्त्रविशेषेण अवलूनं द्विन्न दशकन्धरस्य रावणस्य  
कण्ठपीठम् तस्य सीमासमाप्तं अवसाने समाप्तं शेषता गत भुजविक्रमकर्मकाण्ड-

( सभी विमानसे उतरते हैं )

एक ओरसे पर्दा हटाकर ( वसिष्ठ और भरत शत्रुघ्नका प्रवेश )

वसिष्ठ—हे राम, आपने लङ्केश्वरको जोड़नेमें निपुण अपने भुजोंद्वारा समाप्त  
अभयदान दिया इसमें मुझे आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि आपने वाग्यावस्थामें ही परशुराम-  
का वीर्यसार निकालकर चढ़े निस्सार मीठा बना दिया था । परशुरामको जीतनेवाला  
रावणको जीत ले तो क्या आश्चर्य ? ॥ १२४ ॥

( रामकी ओर देखकर हर्षसे ) मल्लनामक अस्त्रसे स्वर्णित रावणके कण्ठ समुदायरूप  
सीमापर जिसके पराक्रमप्रकाशनरूप कर्मकाण्डका अन्त हो जाता है, वही रामचन्द्र

दिष्ट्या जगद्विजयमाङ्गलिकैर्यशोभि

सोऽयं पुनर्नयनवर्त्मनि रामचन्द्र ॥ १३५ ॥

राम — ( ससन्नमुपसृत्य वसिष्ठपादाबुपगृह्य च । )

रघुत्रयक्रियाचार्यं पुराणब्रह्मवादिनम् ।

ब्रह्मर्षिं ब्रह्मजन्मानमेव रामोऽभिधादये ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ — ( सादरमालिङ्ग्य । ) वत्स रामभद्र, का तुभ्यमाशी ।

आदाय प्रतिपक्षकीतिनिवहान्ब्रह्माण्डमूषान्तरे

निर्विघ्नं धमता नितान्तमुदितै स्वैरेव तेजोग्निभिः ।

तन्नाहकपुटपाकशोधितमिव प्राप्तं गुणोत्कर्षिणा

चाहुपराक्रमप्रदशनकमकलापो यस्य तद्योक्तं भल्लनामकेनास्त्रेण शवणशिरस  
श्च्छेद्वन कृत्वा विजेनव्याभावान् समापितभुजरीर्यप्रकाशनात्मकक्रियाकलाप जग  
द्विजयमाङ्गलिके विश्वत्रिजयमङ्गलमर्यैर्यशोभि ( उपलक्षित ) सोऽयं रामचन्द्र  
दिष्ट्या भाग्यवशात् पुन नयनवर्त्मनि वर्त्तत इति शेष ॥ १३५ ॥

रघुबद्धेति । रघूणा रघुवश्यानाम् ब्रह्मक्रियाया वैदिककर्मानुष्ठाने आचार्यम्  
गुरुम्, पुराणब्रह्मवादिनम् प्राचीन वेदविद् ज्ञानिन च ब्रह्मजन्मानम् ब्रह्मपुरम्  
ब्रह्मर्षिम् वसिष्ठम् एव अहं रामोऽभिधादये प्रणमामि ॥ १३६ ॥

आत्मावेति । ब्रह्माण्डमेव मूषा आवर्तनघटिका तस्या अभ्यन्तरे मध्ये प्रतिपक्षाणा  
अत्रणाम् कीर्त्तिनिवहान् यशोराशीन् आदाय निधाय नितान्तम् अत्यर्थम् उदिते  
स्फुटीभूतै स्वैरेव तेजोग्नि प्रतापै अग्निभि निर्विघ्न विघ्नात्यन्ताभावेन धमता  
पृच्छुर्यता भवता रामेण गुणोत्कर्षशालिना स्वगुणविस्तारकेण भवता तत् साहक्य  
पुटपाकशोधितमिव मृत्तिकामयावरणपाकपरिशोधितमिव पिण्डस्थम् एकत्रीभूतम्

ससारके मङ्गलको बदानेवाला कीर्त्तियोत्ते युक्त होकर सौभाग्यदश हमारी आँलोक  
सामने है ॥ १३५ ॥

राम—( देखीसे आका और वसिष्ठके चरण छूकर )

रघुवशके ब्रह्मचर्योपदेशक, पुराने ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठको मैं  
रामचन्द्र प्रणाम करता हूँ ॥ १३६ ॥

वसिष्ठ—(रामको आदरके साथ गले लगाकर) वत्स रामभद्र, आपको क्या आशीर्वाद  
दिया जाय ?

९२मनोंकी कीर्त्तियोंको ब्रह्माण्डरूप मूषायन्त्रमें भरकर अपने प्रतापरूप अग्निसे उसे

पिण्डस्थ च महत्तरं च भवता नि क्षारतारं यश ॥१३७॥

अपि च—

त्रिजगद्गहनलङ्घनजाह्निकैस्तव यशोभिरतीव पवित्रिता ।

प्रथमपार्थिवपुगव कीर्तयो विबुधसिन्धुजलैरिव सिन्धव ॥ १३८ ॥

तथापीदमस्तु<sup>१</sup> ।

जगदालोरुधौरेयौ सूर्याचन्द्रमसाविव ।

पुत्रौ गोत्रस्य गोप्तारी जनय स्वभुजाविव ॥ १३९ ॥

( सीता मुनि वन्दते । )

महत्तरम् विशाल नि चारम् निर्दोषम् तारम् उद्भट च यश प्राप्तम् । यथा कोऽपि वैद्य सुवर्णादिमूषाया न्यस्य समिद्धेनाग्निना धमन् असति पात्रादिभङ्ग विघ्ने गुणोत्कृष्ट पिण्डीभूत विशालगुण चारत्वशून्यम् तार शुभ्रञ्च भस्म लभते तथैव भवान्यशोऽल-धेति भाव । अभिधाश्रयव्यञ्जनया द्वितीयाथप्रत्यय ॥ १३७ ॥

त्रिजगदिति । त्रिजगत् त्रिभुवनम् एव अज्ञानम् अज्ञिस्म तस्य लङ्घने अतिजगणे जाह्निकै समर्थजहाशालिभिद्रुतगामिभि तव रामस्य यशोभि अतीव पवित्रिता प्रथमे पूर्व ये पार्थिवपुङ्गवा राजश्रेष्ठास्तेषा कीर्तय विबुधसिन्धुजलै गन्नापयोभि अतीव पवित्रिता सिन्धव सागरा इव हरयन्ते इति शेष, यथा भागीरथीजलै-सागरस्थपयस पवित्रता शोभा समेधते तथैव तव कीर्त्तिभिस्त्वत्पूर्वजाना राज्ञा कीर्त्तय पावनीकृता इत्याशय ॥ १३८ ॥

जगदिनि । जगताम् आलोके उद्योतने धौरेयौ धुरधरौ सूर्याचन्द्रमसाविव स्वभुजाविव च गोत्रस्य कुलस्य गोप्तारी रक्षितारौ पुत्रौ जनय लभस्व ॥ १३९ ॥

एकाकर आपने पिण्डीभूत तथा दोषशून्य विशाल यश प्राप्त कर लिया है जो पुटपाक शोधित है ॥ १३७ ॥

तीनों भुवनोंको लॉघनेमें समथ तुम्हारे यशमे तुम्हारे पूर्वजोंकी कीर्त्तियाँ और अधिक पवित्र हो गई हैं जैसे गन्नापाराके गिरनेमे सागरका जल और अधिक पवित्र हो जाता है ॥

फिर भी यह होवे—

ससारको आलोकित करनेका मार लेनेवाले सूर्य-चन्द्रमाके समान तथा वशवी रक्षक करनेवाले और आपके मुत्रोंके समान दो पुत्र आपको प्राप्त हों ॥ १३९ ॥

( सीता मुनिके चरणों को छूनी हैं )

१ किं च, 'पतदस्तु' ।



वसिष्ठ—वत्से जनकप्रशसुपासिनि, युवयो साधारणीमेव 'रामस्य वयमाशिपमयोचाम ।

सीता—( सहर्षमात्मगतम् । ) अम्मो, णिस्तात्रत्तञ्च मे अज्जउत्तस्स घरणित्तण ह्विस्सदि । [ अम्मो, नि सापत्न्य मे आर्यपुत्रस्य गृहिणीत्व भविष्यति । ]

लक्ष्मण—सगरगोत्रगुरो मेत्रावदणे, सौमित्रिरभिषादयते ।

वसिष्ठ—एतस लक्ष्मण, आशिषा विषयमतिक्रम्य वर्तसे ।

वीरमिन्द्रजित जित्वा दिष्टञ्चा वर्धयतो जगत् ।

अभये दक्षिणीयस्ते गीर्वाणग्रामणीरपि ॥ १४० ॥

युवयो साधारणीम् समानाम्, रामाय मया या पुत्रद्वयजननाशी प्रदत्ता सा स्व-साधारणी, तत्रानि मया सैवाशी क्रियत इत्यर्थः ।

नि सापत्नम्—सपत्नीसम्भारनावर्जितम्, रामाय वसिष्ठेन पुत्रद्वयजननाशी प्रदत्ता, सा च म साधारणी, अतो रामेगान्यस्या स्त्रियां पुत्रौ न जननीयौ किन्तु मध्येवेति मया सपत्नीसम्भवकष्ट न लभ्यमिति तात्पर्यम् ।

सगरगोत्रगुरो मगरवशकुलपूज्य आचार्य । मैत्रावरणे वसिष्ठे ।

आशिषा विषयम् आशीर्वादप्रभं, आशीर्वाद शुभाशसनम्, यस्य किमपि लब्धय भवति तस्मै तद्विषयक आशीर्वाद प्रदीयते यस्तु सर्वमेव लब्धव्यं लब्ध्वा चत्तेत तस्मै किमाशीर्वादेताशसनीयम्, तथा च स्वयापि सर्वशुभलामस्य कृत-स्वात्तद्विषय किमपि नास्त्याशसनीयमित्याशयः ।

वाराणसि । वीरम् इन्द्रजित नाम रावणसुत जित्वा समरे निहत्य दिष्टवा भाग्य-वशेन जगत् 'वर्धयत वृद्धिं प्रापयतस्तव गीर्वाणग्रामणी देवानामोश' शक्रीऽपि

वसिष्ठ—मैने जो आशीर्वाद दिया है उसमें तुम्हारा भी समान भाग है ।

सीता—( इसके साथ स्वात ) अहा ! तब तो मैं आर्यपुत्रकी अकेली रानी रहूंगी ।

लक्ष्मण—सगरवशके गुरु मैत्रावरणे, सौमित्रि लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

वसिष्ठ—वत्स लक्ष्मण, आशीर्वादके पर हो तुम, क्योंकि—

वीर इन्द्रजित्को मारकर जगत्को वृद्धि प्रदान करनेवाले तुमने देवराज इन्द्रको भी अमयदान दिया है ॥ १४० ॥

तथापि यूय सर्वऽपि द्वौ द्वौ जनयतात्मजौ ।

यैरादिराजवशोऽयमष्टशास्त्र प्ररोहति ॥ १४१ ॥

राम —( सहर्षं कृताञ्जलि । ) भगवन् परमनुगृहीतमिच्छाकुंकुलम् ।

भरत —( राम प्रति । ) आर्य, शून्यभवनप्रकोष्ठैकरक्षापदातिर्भरत  
प्रणमति ।

राम —( सहर्षमालिङ्ग्य । ) यत्स भरत,

आत्मानमिन्दुकरमेदुरचन्द्रान्त-

स्तम्भोज्ज्वलं वितर मे हृदि निर्वृणोमि ।

न भ्रातृसगमसुखासिन्ध्या जहाति

अभये दक्षिणीय दक्षिणार्हं दत्ताभयदक्षिण । इन्द्रायापितृव मेघनाद हत्वाऽभय  
दक्षिणा दत्तवानसीति तवाशसनीय किमपि नास्तीत्यर्थ ॥ १४० ॥

नथापीति । तथापि जगदभयदानसम्पादनशक्तिमत्तयाऽऽशीर्विपनातिक्रमेऽपि  
यूय सर्वे भ्रातरश्चत्वार द्वौ द्वौ प्रत्येकद्वौ आत्मजो पुत्रो जनयत उत्पादयत, ये  
पुत्रे अयम् आदिराजवश मनो कुलम् अष्टशास्त्र अष्टधा भिन्न सन् प्ररोहति  
वर्धत ॥ १४१ ॥

शून्यभवनेति । शून्य भवनद्विरहित यद् भजन गृहम् तस्य प्रकोष्ठो वहिर्गृहम्  
तस्य एका केवला रक्षा तस्या पदाति पादचारी सन्निक ।

आत्मानमिति । इन्द्रोश्चन्द्रस्य किरणै करे मेदुर स्निग्धो यश्चन्द्रकान्तस्तम्भ  
चन्द्रकान्तमणिनिर्मितो दण्ड तद्वत् उज्ज्वलम् आत्मानम् स्वदेहम् न मम वक्षसि  
हृदि वक्षसि वितर अपर्ध, ( तेन ) निर्वृणोमि शान्ति लभे सुखीभवामि । चपला  
चञ्चला अपि लक्ष्मी भ्रातृसगमे या सुखासिका सुखावस्थान तथा हेतुना सकौ

किर भा तुम मनी दो दो पुत्र प्राप्त करो जिससे यह मनुका वश आठ शास्त्राभ्रोंमें  
समृद्ध हो । १४१ ॥

राम—( सहर्ष हाथ जोड़कर ) आपने इच्छाकु कुंजर बंदी कृपा की ।

भरत—( रामके प्रति ) आर्य, सूनू भवनका रक्षकाज यह पादचारी सैनिक भरत  
आपको प्रणाम करता है ।

राम—( इसके साथ गले लगाकर ) वास्तु भरत,

चन्द्रकान्तमणिकी तरङ्ग सुन्दर स्तम्भोज्ज्वल अपना अङ्ग लामो जिसे आलिङ्गित कर  
शान्ति प्राप्त करू । माइके आलिङ्गनमें बड़ा आनन्द है, इमोलिय चञ्चल हो 'क'के भा

विष्णो सकौस्तुभमुरध्वपलापि लक्ष्मी ॥ १४२ ॥

भरत — ( 'सीता प्रति । ) 'देवि, प्रणमामि ।

सीता—उच्छ भरत उष्णकरकिरणणितुरम्बचुम्बिभ्रकमलखण्ड  
विश्र चिर मे णअण आणन्देहि । [ वत्स भरत, उष्णकरकिरणनिकुरम्ब  
चुम्बितरमलखण्डमिव चिर मे नयनमानन्दय । ]

( लक्ष्मणो भरत वन्दते । )

भरत —

वत्स लक्ष्मण सोत्कण्ठं चिरात्परिरभस्व माम् ।

श्रद्धालुभ्रातुरज्ञानि चन्द्रनेत्रप्यरोचकी ॥ १४३ ॥

स्तुभम् कौस्तुभारयरत्नभूषितम् विष्णो उरो वक्ष स्थलम् न जहाति न त्यजति ।  
कौस्तुभस्य लक्ष्म्याश्चेकस्मात्समुद्रादुत्पत्तत्वेन लक्ष्म्या भ्राता कौस्तुभस्तत्सहवास  
सुखानुभवनैव घपलापि लक्ष्मीर्विष्णोरुदश न जहाति, अत एव चन्द्रकान्त  
मनोहरशीतल स्वमद्ग मदुरस्यपर्य येन भ्रातुरज्ञाना सम्पर्केण निर्जृति लभेयेति  
भाव ॥ १४२ ॥

उष्णकरस्य सूर्यस्य त्रिरणनिकुरम्बेन करसमूहेन चुम्बितम् कमलखण्डम्  
कमलखण्डमिव । यथा सूर्यकरस्पृष्ट कमलकुलमानन्दति तथा त्वदृशनेन मदीय  
नयनमान द लभता तथा यतस्य मत्समीपमुपेहीत्यर्थ ।

वत्सेति । हे वत्स लक्ष्मण, चिरात् बहो कालात् सोत्कण्ठम् तदालिङ्गनघृतोक्त  
भावम् माम् भरत परिरभस्व आलिङ्ग, भ्रातुरज्ञानि श्रद्धालु सादरमादधान

लक्ष्मी कौस्तुभमणिरूप अपने भार्दके साय रइ पानेके लोमसे भगवान्की छातीको कभी  
नहीं छोटती है ॥ १४२ ॥

भरत—( सीताके प्रति ) देवि, प्रणाम करता हूँ ।

सीता—वत्स भरत, सूर्यकिरणसे विकसित कमलकी तरह चिरकाल तक हमारी  
आँखोंको आनन्दित करते रहो ।

( लक्ष्मण भरतको प्रणाम करते हैं )

भरत—वत्स लक्ष्मण, मैं बहुत दिनोंसे तुम्हारे आलिङ्गनके लिये उत्सुक हूँ, भाओ  
मुझसे लिपट जाओ । भार्दके अङ्गोपर श्रद्धा रखनेवाला चन्दनमें अक्षि धारण  
करता है ॥ १४३ ॥

( ‘निर्भर परिभ्य । ) हन्त रघुवशशस्तडागयूपदण्डेन लक्ष्मण-  
बाहुना परिक्षिप्यमाणश्चिरेण शीतलीकृतोऽस्मि ।

इन्द्रो कलाकलापेन पङ्क्तिमनिवेशिना ।

‘सर्वदुःखापनोदाय सोदर्याणा भुजा कृता ॥ १४८ ॥

शत्रुघ्न — ( राम प्रति । ) आर्य पादुकाभृत्यानुभृत्य शत्रुघ्न  
प्रणमति ।

राम — ( गालिङ्गन । ) कथमावृत्त्या<sup>१</sup> लक्ष्मणमनुभवामि ।  
( अपवार्य सीतायै दर्शयन् । )

सप्रेमालिङ्गन् जन चन्दनेषु अपि जरोचक्री जनास्थो भवतीत्यर्थं, भ्रातुरालिङ्गने  
जायमान सुख चन्दनविलेपनसुखमप्यतिशय्य वर्त्तत इत्याशय ॥ १४३ ॥

रघुवशस्य यज्ञ एव तडागस्तत्र यूपदण्डेन तत्पवित्रतासूचकेन, रघुवशस्य  
यज्ञसि पवित्रतामुत्कर्षितवता । परिक्षिप्यमाण आलिङ्गयमान ।

‘ शीरिति पङ्क्तिमनिवेशिना श्रेणीक्रमपूर्वकं निर्धायमानेन इन्द्रोश्चन्द्रस्य कला  
कलापेन कलासमुदायेन कृता रचिता सोदर्याणा सोदर्याणा भ्रातृणा भुजा सर्व  
दुःखापनोदाय सकलकष्टवारणाय भवतीति शेष, चन्द्रकलाभिरिव यथास्थान निवे  
शिनामि निर्मायमाण सोदरभुजा सकलमपि कष्टमपनुदन्तीति तात्पर्यम् ॥ १४४ ॥

पादुकाभृत्यानुभृत्य पादुकाया भृत्यो भरतो नाम तस्यानुभृत्य सेवकस्यापि  
सेवक शत्रुघ्न ।

आवृत्त्या पुनरपि । शत्रुघ्नस्य लक्ष्मणानुजतया तत्समानरूपत्वेन लक्ष्मणरूप  
तया शत्रुघ्नदशनस्य आवृत्त्या लक्ष्मणदर्शनः प्रमुक्तम् ॥

( गालिङ्गन करके )

अहा ! रघुवश कीत तडागके यूपस्वरूप लक्ष्मणदाहसे आलिङ्गित होकर शीतल  
हो गया है, ऐसा अवसर आज चिरकालपर प्राप्त हुआ है ।

चन्द्रमात्री कलाओंको सिलसिले करते सचाकर सारे दुःखोंको दूर करनेके लिये हा  
मादर्योंके भुजा बनाये गये हैं ॥ १४४ ॥

शत्रुघ्न — ( रामके प्रति ) आर्य, आपकी पादुकाके भृत्य भरतका भृत्य मे शत्रुघ्न प्रणाम  
करता हूँ ।

राम — ( जोरोंसे आलिङ्गन करके ) क्यों मैं फिरसे लक्ष्मणका अनुभव कर रहा हूँ ।  
( सीताको दिखानेके हुए )

१ निर्भर च<sup>१</sup> । २ ‘दुःखप्रणोदाय’ । ३ ‘आवृत्त्या’ ।

एतत्तदेव मुखमक्षतचन्द्रविम्ब-

सवावदूकमयलोक्य लक्ष्मणस्य ।

गीर्वाणधारणकरागलकर्कशौ मा

तावेव लक्ष्मणभुजौ नु परिष्वजाते ॥ १४५ ॥

( शत्रु न सीता प्रणमति । )

सीता—तेल्लोकमल्लुद्धरणगौरविदेहि चरिदेहि लक्ष्मणसरिसो होहि । घट्ट सत्तुहण, अज्जाजणो कहि । [ त्रैलोक्यशक्त्योद्धरणगौरवित्तैश्च रितैर्लक्ष्मणसरिशो भव । वत्स शत्रुघ्न, शत्रुघ्न पुत्र । ]

शत्रुघ्न—कृतमङ्गलोपचारो मध्यमाग्याभयने भयतीं प्रतीक्षते ।

( उपर्युक्त्य लक्ष्मण प्रणमति । )

एतत्तदेवेति । अक्षतेन पूर्णमण्डलेन चन्द्रविम्बेन सवावदूकम् मिलित तुल्यम् एतत् तदेव लक्ष्मणस्य मुखम् अथलोक्य पर्य, ( चादश लक्ष्मणस्य मुखं तादृशमेवास्य शत्रुघ्नस्यापि मुखमिति पर्येत्यर्थं ) गीर्वाणा देवास्तेषां धारणस्य करिणोपरायतस्य करं शुण्डादण्ड, अगल कपाटप्रवरणप्रतिबन्धको लौहमय काष्ठमयो वा दण्डश्च तद्वत्कर्कशो कटिभौ तावत् लक्ष्मणभुजौ परिष्वजाते अलिङ्गितो मामिति शेष, लक्ष्मणस्य मुखमिवास्य शत्रुघ्नस्य मुखं तस्य भुजाविकास्य भुजावपीति ता पर्यम् ॥ १४५ ॥

त्रैलोक्यशक्त्योद्धरणगौरवित्तैश्च शत्रुघ्नत्रितयमनोदुत्सापनयनगौरवशालिभिः, सुवनत्रयशक्यमेघनादहतवान् लक्ष्मण इति प्रसिद्धैः, चरितैर्लक्ष्मणसरिशो भव, यथा लक्ष्मणो लोकत्रयदुत्सापनयनशस्वी तथा स्वमपि लोकत्रयदुत्सापनयनशस्वी भूया इत्यर्थः ।

कृतमङ्गलोपचारं विहितमाद्रुष्ट्यानुष्ठानं । मध्यमाग्याभयने कैश्वरी गृहं ।

सम्पूण चन्द्रमण्डलस्य मिलिता इभा लक्ष्मणकाक्षी मुखं तो यह देख रहा हो, परावतके शुण्ड तथा अगलनं समान कठोर लक्ष्मणके भुज ही तो मुखे अलिङ्गित कर रहे हैं ॥१४५॥

( शत्रुघ्न सीताको प्रणाम करता है )

सीता—त्रैलोक्यके दुःखको दूर करनेमें समर्थ चरितसे लक्ष्मणके समान हो । वत्स शत्रुघ्न ! शत्रुघ्न वहाँ हैं ?

शत्रुघ्न—मङ्गलोपचार करने मङ्गली माताके भयनेमें आपकी राह देख रही हैं ।

( सीता जाकर लक्ष्मणको प्रणाम करते हैं )

लक्ष्मण —( सहर्षमालिङ्गव ) 'वत्स, दिष्ट्या दीर्घायुषि त्वयि दीप्यमाने न<sup>२</sup> वयमेकाकिनमार्यभरत परित्यज्य गता ।

राम —( मुनि प्रति । ) भगवन्, एतो लङ्काकिण्किण्वयोरधिपती विभीषणसुग्रीवौ भगवन्त प्रणमत ।

वसिष्ठ —त्रिकर्त्तनपुलस्त्यकुलकीर्त्तितोरणमालात्रलम्बन<sup>३</sup>स्तम्भाविमोचिरस्य भूयास्ताम् ।

राम —( भरत प्रति । ) उत्तम, पुनस्त्र मदा मानावेतो पोलस्त्यसापित्री ।

( भरतशत्रुनविभोषणसुग्रीवौ 'मित्रो यथोचितमाचरति । )

वसिष्ठ —( महर्षम् । ) 'दिष्ट्या चतुर्दशभिः परिवत्सरे<sup>४</sup> पुनः समुद्यमान दशरथकुटुम्बमीजामहे । ( सविमर्शस्मितम् । )

विकर्त्तनकुलम् सूयवश, पुलस्त्यकुल च तयो कीर्त्तितोरणमालाया यशप्रशस्तिस्त्रज, अवलम्बनस्तम्भो आश्रयदण्डो । मूर्धकुट्टस्य सुग्रीव इति बोध्यम् । पुलस्त्यकुलस्य विभीषण इति च ।

समुद्यमानम्-वृद्धिमानम् ।

लक्ष्मण —( सहर्ष गले लगाकर ) वत्स चिरजावा तु शर माय रदनके कारण इनको कभी हम बानकी चि ना नहीं सना सको कि हम भरतको अकेले छोड आये हैं ।

राम —( वसिष्ठके प्रति ) महाराज, ये लङ्का किण्किण्वाके स्वामी विभीषण तथा सुग्रीव आपको प्रणाम करते हैं ।

वसिष्ठ —सूयवश तथा पुलस्त्यवश काश्चित्तोरणमालाके आधार बनकर आप दोनों चिरायु हों ।

राम —( भरतके प्रति ) वत्स, पुलस्त्यवशावत्स विभाषण तथा सूयकुट्टासक सुग्रीवको नमस्कार करो ।

( भरत शत्रुन सुग्रीव विभाषण परस्परमें यथोचित आचार करते हैं )

वसिष्ठ —( सहर्ष ) श्रीभार्यवश चतुर्दश वर्षों के बाद पुनः दशरथके परिवारको समृद्ध देख रहा हूँ । ( विचार करके हमने हुए )

१ 'वत्स' इति क्वचि नास्ति ।

२ 'न' इति क्वचि नास्ति ।

३ स्तम्भो स्व स्व माविना' ।

४ 'मित्रो' इति क्वचि नास्ति ।

५ 'दृष्ट्वा' । ६ 'पुनः पुनः समुद्यमानम्' ।

जेतारं दशकन्धरस्य जितवानेवाञ्जुनं भार्गव  
 स्तं रामो यदि काकपक्षकधरस्तत्पूरितेयं कथा ।  
 ऊर्ध्वं कल्पयतस्तु बालचरितात्तत्प्रक्रियागौरवा  
 दन्येयं कविता तथापि जगतस्तोषाय वर्तिष्यते ॥१४६॥

( राम प्रति । ) वत्स, माङ्गलिकलाप्तमतिक्रामति ।

तदिदं रघुसिंहाना सिंहासनमलङ्कृतम् ।  
 राजन्वन्त प्रतन्वन्तु मुदमुत्तरकोशला ॥ १४७ ॥

जेतारमिति । भार्गव परशुराम दशकन्धरस्य रावणस्य जेतारम् अञ्जुनं काकं  
 वीर्यम् जितवानेव, ( तत्र कौऽपि सन्देहाग्रमरो नैवारित ) काकपक्षकधर शिखण्ड  
 कधारी शिशु राम यदि त परशुराम जितवान् तत् तदा इय कथा रामस्य  
 विजयवार्ता पूरिता समाप्तिं प्रकर्षं वा गता । परशुरामे जिते रावणादिजयस्य  
 सिद्धवत्प्रतीभमानतया रामस्य जयवार्ता परशुरामजयेनैव पूर्णता गतेत्यर्थं ।  
 तथापि बालचरितात् तस्य रावणवधादे प्रक्रियाया प्रकरणस्य समुद्रलङ्घनादिना  
 गौरवात् गुरव्यात् ऊर्ध्वं कल्पयत पश्चात् रावणवधादिक रचयत अन्या अपरा  
 इय कविता वर्णना जगतस्तोषाय वर्तिष्यते स्थास्यति । बालचरितात्परमपि राम  
 चरितमधीत्य तोष प्राप्स्यताम् लोकाना तृप्तय एव सकलोऽपि परशुरामजयोत्तर  
 कालिको व्यापारकलाप । पिनयस्तु परशुरामजयेनेव प्रत्यायित इत्यर्थं । 'बालाना  
 तु शिरा प्रोक्ता काकपक्ष शिखण्डक' इत्यमर । शार्दूलविष्णीडित वृत्तम् ॥ १४६ ॥

तत्प्रमिति । तत् इदं रघुसिंहानाम् इदं सिंहासनम् राज्यासनम् अलङ्कृतं स्वोप  
 वेशनं भूषितं कुरष्व । उत्तरकोशला कोशलराज्यजनपदविभागस्य उत्तरविभागा  
 राजन्वन्त सुराजसम्पन्ना सन्त मुदं प्रतन्वन्तु स्वमानन्दं विस्तारयन्तु ॥ १४७ ॥

रावणको पराजित करने वाला काकवीर्याञ्जुन उसके भी पराजेता परशुरामको बाल्या  
 वरधामें ही जब रामने जीत लिया उसी समय यह कथा पूरी हो गई, बालचरितके बाद  
 कल्पना कारकें प्रक्रिया गौरव द्वारा प्रस्तुत यह रावणविजयकी कविता सत्तारको सतोष  
 प्रदानके लिये होगी ॥ १४६ ॥

( रामके प्रति ) वत्स माङ्गलिक लग्न भीता जा रहा है ।

अब तुम रघुवशियोंके इस सिंहासनको अलङ्कृत करो, तुम्हें सिंहासनासीन पाकर  
 सुराजके राज्यमें बसनेके कारण उत्तरकोशलके प्रजाजन आनन्द प्राप्त करें ॥ १४७ ॥

( रामस्तथा करोति । वसिष्ठ <sup>१</sup>देन्द्रेण महाभिषेकेण मन्त्रपूर्वकमभिविञ्चति । अन्ये तूच्चावचमभिषेकं नाटयित्वा पश्चात्तुम्बितभूमयं प्रणमन्ति । नेपथ्ये <sup>२</sup>मङ्गलीतिनान्दावायानि च । )

वसिष्ठ — ( सहर्षम् । ) वत्स रामभद्र, सम्प्रति

उदयदुदयद्धर्मस्कन्धे ध्रुव त्वयि विभ्रति

क नु परिभवौ दृष्टादृष्टो प्रजा परिचिन्वते ।

अपि खलु यथा जीवात्मानं प्रभो परमात्मनो

दिशि दिशि दिशामष्टौ नाथास्तथेन विभीषिका ॥१४८॥

( रामो लज्जते । )

उच्यन्ति । उदयन् उदयन् प्रतिफलं वर्धमानं धर्मस्कन्धे यस्य तादृशे त्वयि रामचन्द्रे ध्रुव राज्यभारं विभ्रति धारयति सति प्रजा भ्रूतयः दृष्ट परराजसमुत्थितं अदृष्ट अनावृष्ट्यादि समुत्थितश्च सौ परिभवौ क्लेशौ क नु जानते त्वयि राननि प्रजानां दृष्टादृष्टकृतयोर्नाम्नोऽपि ज्ञानमपि न सम्भवतीत्यर्थः । प्रभो निग्रहानुग्रहसमर्थस्य परमात्मन ईश्वरस्य जीवात्मानो यथा तथा दिशि दिशि प्रतिदिशम् अष्टौ नाथा दिक्पाला इन्द्रादयोऽपि तवैव विभीषिका भयप्रदर्शनानि । यथा परमात्मन स्वाश्रयता जीवा केवलं मिथ्याप्रत्ययभिन्ना तथैवेन्द्रादयोऽपि न त्वज्जिना ते तु स्वयैव प्रजानां भयमुत्पाद्य ता सत्पथेन सञ्चारयितुं विभीषिकारूपतया स्थापिता इत्यर्थः । 'अदृष्टं वद्वितोयादि दृष्टं त्वपरचक्रजम्' इत्यमरः ॥१४८॥

[ राम विह्वलमानपर बठने है । वसिष्ठ देन्द्र महाभिषेकद्वारा मन्त्रपूर्वक उनका अभिषेक करते हैं । और लोग भी यथावधि अभिषेक करके पृथ्वीपर पडकर प्रणाम करत हैं । नेपथ्यमें मङ्गलगान होना है तथा बाजे बजते हैं । )

वसिष्ठ — ( सहर्ष ) वत्स रामभद्र, सम्प्रति,

अनुभूय धर्मके उदयमें सत्पथ तुमने जब राज्यभार ले लिया है तब प्रजाओंको सत्पथकृतयमय तथा अनावृष्ट्यादि जानमयकी क्या चिन्ता रहै । जिन प्रकार परमात्माके रूपान्तर जावात्मा है उसी तरह सभी दिक्पाल तुम्हारे ही रूपान्तर हैं ॥ १४८ ॥

( राम लज्जित होते हैं )

१ 'देन्द्रेण महाभिषेकेण' इति वचिन्नास्ति ।

२ 'मङ्गलीतिनान्दीमङ्गलवायानि', मङ्गलीतिनान्दादि' ।



विभीषण —( कृताञ्जलिर्जानुभ्या प्रणिपत्य । ) देव,

लङ्का च पुष्पकमिदं च विमानमार्या  
यक्षेश्वरादपहृतं दशरन्धरेण ।

एकां भवानदितं मह्यमयेदमन्य

दाहापय द्रुतमुपैतु पतिं निर्धनान् ॥ १४९ ॥

राम —( वसिष्ठेनानुज्ञातं पुष्पकं प्रति । ) विमानराज, प्रथमस्वामिनं  
प्रथमपौलस्त्यमुपतिष्ठस्व ।

वसिष्ठ —( सहर्षप्रसादम् । )—रामभद्र, किं ते भूय प्रिय 'करोमि ।

राम —भगवन्, किमत परमपि प्रियमस्ति, 'भगवत्प्रसादात्

ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिकमणिं कृत्वा महापोत्रिणो

लङ्का चेति । दशरन्धरेण रावणेन आर्यात् पूजनीयात् ज्येष्ठभ्रातु यक्षेश्वरात्  
कुबेरात् लङ्का नाम पुरी इदं पुष्पकं विमानं ज्योमयानं च अपहृतम् यलादाश्छिद्य  
गृहीतम्, तयोर्लङ्कापुष्पकयो एका लङ्का भवान् मह्यं रामाय अदितं दत्तवान्,  
अथत् अवशिष्यमाणं चेदं पुष्पकम् द्रुतं शीघ्रं निर्धनान् पतिं वित्तेश कुबेरम् उपैतु  
गच्छतु इति आज्ञापय, त्वदान्त्या पुष्पकं कुबेरं पुनराप्नोतु इत्याशयः ॥ १४९ ॥

प्रथमस्वामिनम् आरभन् प्रथमं पतिम् । प्रथमपौलस्त्यस्य पुलस्त्यस्य प्रथमं  
ज्येष्ठं पौत्रम् । रावणस्य पिता विश्रवास्तस्य द्वौ पुत्रो तयो कुबेरो ज्येष्ठो रावणश्च  
कनिष्ठ इत्यर्थः ।

ताताज्ञामिति । तातस्य पितुराज्ञाम् अधिमौलिं मस्तके मौक्तिकमणिं मुक्तामाल्य

विभीषण—( हान जोडकर और छुटन टकर ) देव,

रावणने यक्षेश्वर कुबेरसे लङ्का तथा यह पुष्पक विमान छीन लिया था, उनमें लङ्का  
तो आपने मुझे दे दी है, आप आज्ञा दें कि दूसरा यह विमान कुबेरके पास चला जाय ॥

राम—( वसिष्ठकी आज्ञाने पुष्पकके प्रति ) विमानराज, आप अपने प्रथम स्वामी  
पौलस्त्योमें ज्येष्ठ कुबेरके पास जाय ।

वसिष्ठ—( इसके साथ ) रामभद्र, अब आपका और क्या प्रिय वरू ।

राम—भगवन्, इसने अधिक प्रिय क्या होगा ? आपके अनुग्रहसे—

मैंने पिताकी आज्ञाकी शिरोधार्य करके भगवान् वराहकी दृष्टा स्वरूप विध्याचल ही

दृष्टाविध्यविलासपत्रशररी दृष्टा भृशं मेदिनी ।  
 सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिपी जीमन्तयन्निर्वित  
 ३रूपान्त च कृत च त्रिध्वमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥१५०॥  
 तथापीडमस्तु ।

समुन्मीलत्सूक्तस्तवकमदरन्दे श्रवणयो  
 रविश्रम्यद्धारा<sup>१</sup>भवन्नुपचिन्वन्तु कवय ।  
 न शब्दब्रह्मोदय परिमलमनाघ्राय च जन  
 कवीना गम्भीरे ध्वनि गुणदोषो रचयतु ॥ १५१ ॥

कृत्वा मुक्तामाल्यमित्र पितुरादेश गिरसा निधाय, महापोत्रिण आदिवराहस्य  
 दृष्टा इव यो विन्ध्य पर्वत म एव विगासाय पत्र कर्णभूषण चस्यास्तादृशी या  
 शररी तिराती मैव मेदिनी भृश दृष्टा पितुरान्तया कर्णनिहितपत्रा शररीव विध्य  
 पर्वतरूपकर्णभूषणधरा इय मही परि यन्तेति भाव । दक्षिणपश्चिमौ समुद्रौ सीम  
 न्तयन् द्विधा कूर्बन् सेतु अर्पित सागराय दत्त, त्रिध्व ममन्त च जगत् कल्पान्त  
 प्रलयकालपर्यन्तम्य कृते अदाग्रीवोपसर्गम् रात्ररूपयात्रिविरहित कृतम् ॥१५०॥

समुन्मीलति । कवय समुन्मीलन् प्रियम् गच्छन् य सूक्तस्तवः सदुक्ति  
 गुण्य तस्य मन्दरदै पुष्परसै श्रवणयो लोकाणा कर्णयो अविश्रम्यत् विश्रम  
 विराममनाप्नुवत् धारासवन धारास्नानम् उपचिन्वन्तु वर्धयन्तु । कवय सूक्तानि  
 रचयन्तु, स्तवकोपमाना सूक्ताना मन्दरन्देश्व लोकाणा कर्णा अनवरतधारास्नान  
 निव लभन्ता तृप्ता भवन्तिवत्यर्थ । जन लोक शब्दब्रह्मोदय शब्दब्रह्मो जायमान  
 परिमल सुगन्धमनाघ्राय अनासवाद्य शब्दशास्त्रहस्त्यभज्ञा या गम्भीरे कवीना

त्रिसका कर्णाभरण हे एसा गवराक रूपमें ( अनुपभाग्य ) पृथ्वीको छोड़ दिया दक्षिण  
 तथा पश्चिम सागरोंको जोड़नेवाला संतु बंधवाया, और सृष्ट्यन्तवके लिए जगत्को रचण  
 के उपद्रवोंमें मुक्ति ली ॥ १५० ॥

किर मा यह हो—

विक्रमिन् होनेवाले सूक्तिस्तवकोंके रमस कविगण अनवरत धारास्नान प्रप्त करें और  
 शब्दब्रह्मके रहस्यकी विना समस्त लोग कवियोंके गम्भीर वचनमें गुण दोषका निर्धारण  
 न किया करें ॥ १५१ ॥

अपि च—

देवस्यात्मभुव कमण्डलुजलस्रोतासि मन्दाकिनी  
गङ्गाभोगवतीमयानि पुनते यावत्त्रिलोकीमिमाम् ।  
तावद्दीरयशोरसायनमधुस्यन्द<sup>१</sup> कवीनामयं  
जागर्तुं श्रुतिशङ्कुलीयलयितव्योभाघगाह्री गुण ॥ १५२ ॥

( इति निष्फान्ता सर्वे । )

इति नायकानन्दो<sup>२</sup> नाम सप्तमोऽङ्कः ।

इति महाकविश्रीमुरारिरिचितमनर्घराघव नाम नाटक समाप्तम् ।

वचसि काव्ये गुणदोषौ न रचयतु दुष्टमिदं गुणवदिदं चेति स्वीयं विचारं न  
प्रकाशयत्वित्यर्थः ॥ १५१ ॥

दवस्वेति । मन्दाकिनी वियद्गङ्गा गङ्गा मर्त्यलोकस्था, भोगवती पातालगङ्गा  
चेति तन्मयानि तस्वर्गस्थाणि देवस्य आत्मभुवो ब्रह्मण कमण्डलुजलस्रोतासि  
कमण्डलुपत्तिजलधारा यावत् इमा त्रिलोकीं भुवनत्रयं पुनते पवित्रयन्ति, तावत्  
अयं वीराणां यश एव रसायनं पुष्टिकरमहौषधिबिषोप तस्य मधुस्यन्दं माधुरी  
प्रवाहं श्रुतिशङ्कुल्या श्रोत्रिरेण वलयितं वदितम् यत् स्योम आकाशम् तद्व  
गाह्री कवीनां गुण शब्दं जागर्तुं तिष्ठति । यावद् मन्दाकिनी स्वर्गं वहति, गङ्गा  
भुवि वहति भोगवती च पाताले वहतीत्यं त्रिभुवनमेतानि ब्रह्मकमण्डलुपलस्रो  
तासि पवित्रीकुर्वन्ति, तावद् वीराणां यशोवर्णनं कवीनां रचनागुणं श्रवणा  
काशं वचनताम्रं श्रयतामित्यर्थः । अत्र शुभाशसनरूपा प्रशस्तिः ।

औरभी—

मन्दाके कमण्डलुका जलप्रवाहरूप मन्दाकिनी, गङ्गा तथा भोगवती जब तक तीनों  
लोकों पवित्र करती रहे तब तक यह वारकात्तिकाधारूप कर्णावृते प्रवाह लोको को कानरूप  
आकाशका गुण बना रहे ॥ १५२ ॥

( सबका प्रस्थान )

सप्तम अङ्क समाप्त ॥

यो जातो धरणीसुरान्वयसरोहसारप्रमर्षघशो  
 ज्योत्स्नाद्योतितदिह्मुखान्मपुरिपुष्यानैकबद्धाशयात् ।  
 मिश्रारयान् 'मधुसूदना' 'ज्जयमणौ' सीमतिनीना मणौ  
 तस्य श्रीयुतरामचन्द्रसुधियो व्याख्याप्रसिध्यादियम् ॥ १ ॥  
 बाणहोणिधराङ्घ्रिसम्मित शरयाशतिथौ माघगे  
 चन्द्रे पुष्यति चन्द्रसूनुदिवसे श्रीशारदानुग्रहात् ।  
 सम्राड्धर्मसमाजसस्कृतमहाविद्यालये पूर्णता  
 मानीतेयमुमामहेश्वरपदान्भोनेषु विश्राम्यतु ॥ २ ॥  
 'विद्वांसो वसुधातले परवच श्लाघासु वाञ्छ्यमा'  
 उक्त्वैतद्विमुखीभवामि नमनादालोचनावरमन ।  
 ते हि स्वर्णपरीक्षणैकनिकषा निष्पत्तपाता दश  
 निक्षिप्यात्मगुणोचितादरभुत्र कुर्युमनेमा कृतिम् ॥ ३ ॥  
 छिद्रान्वेषणमात्रसज्जधिषणानप्यत्र दोषान् बहून्  
 ग्रन्थे दर्शयतो न मत्सरितया निन्दानि किन्वर्थये ।  
 निर्दोषेण यथा प्रशस्तरचना निर्माय काचिरकृतिं  
 लोकेभ्य समुपाहरन्तु भविना भूयो यदोऽनेन व ॥ ४ ॥  
 मान्यान् यानहमाद्रिये नतशिरास्ते ते सत्पायश्च मे  
 येषामाग्रहतो विद्वन्पि निजा शक्तिं प्रवृत्तोऽभयम् ।  
 व्याख्यानेऽत्र न तैरिय मम कृति कार्यान्ययाद्वपद्  
 सवानिन्दितकीर्तिलाभसुभग भाग्य कुतोऽस्मादशाम् ॥ ५ ॥

इति मुत्तफरपुरमण्डलात्त पानि 'पकडी' ग्रामवामिना मुत्तफरपुरस्थधर्मसमाज  
 सस्कृतमहाविद्यालये साहित्याध्यापकं न व्याकरणवदात्तसाहियाचार्याद्युपाधि  
 प्रसाधिना मेथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्र 'शर्मणा' विरचितायामनर्घ  
 राघवनाटकस्य प्रकाशाभिधाया व्याख्याया  
 सप्तमाङ्क 'प्रकाश'

# विशेष-विवरण

( नोट्स )

अनर्घराघवप्रकाशपरिशिष्टम्

१—चकोरपारणपट्टज्योतिर्मता

नान्दी श्लोक होनेके लिए गङ्गा चन्द्र आदि शब्दका होना आवश्यक है, अतः इसी पदसे चक्रकी सूचना समझी जानी चाहिये—लिखा है—‘अत्र यद्यपि ‘गङ्गा नागपति सोम सुधानन्दो जयाशिष । एभिनामपदे शार्ङ्गानादी कविभि रङ्किता’ इति भरतवचनादवश्योपादेय गङ्गादिपद न कण्ठन श्रयते, तथापि चकोर पारणपट्टज्योति पदेन चन्द्रसङ्कीर्तनमेव । न च एभिनामपदेरित्यनेन तत्तत्पदे नैवोपादान युक्तमिति वाच्यम् तस्योपलक्षणत्वात् ‘जितमुद्रुपतिना’ इत्यादि रत्नावली नाद्या तथैव दर्शनात् ॥

२—उदरमग्निशब्ददुम्

ब्रह्मा ससार बनाते हैं अतः उनको ससारका विशदज्ञान आवश्यक है, कत्ता को कैसे होना चाहिये इसके लिए उसके लक्षणपर ध्यान दे । ‘उपादानगोचरा परोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमख द्वि क्तत्वम्’ अतः ‘यथा पूर्वमकल्पयत्’ इस श्रुतिक अनुसार करिव्यमाणसृष्टिका पूर्णज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रलयकालमें ब्रह्मा विष्णुके उदरमें पैठे जाते हैं । क्योंकि वहां सारा ससार एक ही जगह रखनेको मिल जाता है ।

३—नान्यन्ते

रत्नकोपमे लिखा है—‘प्रत्याहारगीतवाद्यादिद्वाविशत्यङ्गे चतुर्गता पूर्वरत्नस्य प्रधानाद्भूता नादी’ सा चेय द्वादशपदाष्टपदा वा कार्या, ‘सूत्रधार पठेत्तत्र मयम स्वरमाश्रित । नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टभिवाप्यलङ्कृतम्’ इत्युक्ते । पद चात्रद्वि विधमभिप्रेतम्, सुप्तिङन्तरूप श्लोकपादारम्भ । तदुक्त नाट्यलोचनकृता—‘सुप्तिङन्त पद चात्र श्लोकपादश्च वा पदम्’ ततश्चात्र श्लोकपादाभिधपदप्रहणादष्ट पदानान्दीयोध्या ।

४—उपस्थानीया

उपपूर्वकस्थाधातुसे यहा कर्त्तामें अनीधर प्रत्यय हुआ है, ‘अयगेयप्रवचनी- योपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा’ पाणिनि सूत्र ३।१।६८।

## ५—सोदरोऽपि विमुञ्चति

रघुपतिने इस शब्दके सम्बन्धमें लिखा है—मनु समानशब्दस्य—'विभापो द्रो' इति च भावे 'सोदराद्य' इति यप्रत्यये सोदर्य इति स्यात् । अतएव 'समानो दर्यसोदर्यसगर्भ्य सहजा समा' इत्यमरोऽपि । 'तत्कथ सोदर इति । उच्यते, समानमुदर यस्येति बहुव्रीहौ सोदर 'समानस्य' इति योगविभावाद् 'वोपस र्जनस्य' इति वा समाव । अतएव 'सोदरोऽपि सहोदर' इति शब्दभेदे उक्तम् ।

## ६—चान्ते

यद्यपि चान्तशब्दम जुगुप्सा श्यञ्जक अश्लीलत्व दोष प्रतीत होता है परन्तु—'निष्ठधूतोद्गीर्णवान्तादिगौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरम्' इस उक्तिके अनुसार यहा उक्त यधरु होनेसे दुष्ट नहीं होता है । जैसे सुबन्धुने लिखा है—'अविदित गुणमपि सखविभगिति कर्णेषु वमति मधुधाराम्' ॥

## ७—अनर्घराघवम्

'अनर्घं पूज्यो राघवो रामो यत्र तादृशम्' । ऐसा विग्रह करना चाहिये । 'अमूल्ये दृश्यतेऽनर्घस्तथा पूज्ये सुदुर्लभे' इति कोष । इस तरहके नामकरणकी शैली संस्कृतसाहित्यमें प्रचलित है, जैसे प्रसन्नराघव, उदात्तराघव आदि ।

## ८—मद्वर्ग्यारसपाठगीति इत्यादिश्लोक

तुलनाके लिये पहिले रत्नावली नाटिकाका श्लोक—'श्रीहर्षो निपुण कवि परि पदप्येवागुणग्राहिणी लोके हारि च वत्सराज धरित नाटये च दद्यावयम् । वस्तुकेक मपीह वाञ्छितफलप्राप्ते पद किम्पुनर्मदभाग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणानागण' ।

## ९—वसिष्ठस्यानुशासनम्

(क) वसु तेजस्तदस्यास्तीति वसुमान्, वसुमान् शब्दसे अतिशय अर्थमें इष्टम् प्रत्यय करनेपर 'वि-मतो' इत्यादि सूत्रसे मनुप् प्रत्यय तथा उकारका लोप, इस प्रकारकी सिद्धि धातुपारायणमें लिखित है । अतएव गदसिंहने दत्त्यसकार मध्यशब्दके परिगणनमें वसिष्ठशब्दको गिनाया है—'प्रस्तासनानुवासनवसिष्ठ रसविसोवविच्छर्धा' आश्रयमञ्जरीकारने श्लोकके अनुरोधसे 'वसिष्ठ' इस तालव्य घटितरूपको स्वीकार किया है ।

(ख) यहा पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैसे भवभूतिने उत्तर रामधरितमें 'आमान् यज्ञेन घय निरुद्धास्व बाल एवांसि नव च राज्यम् । युक्त प्रजाशामनुरञ्जने स्वास्तस्माद्यशो यत्परम धनव' इस तरह वसिष्ठके सन्देशका प्रतिपादन किया है जिससे नायकके अगले कार्यकलापका स्वरूप निर्धारित होना है, उसी तरह इस नाटकमें भी मुरारिने वसिष्ठके—'हुतमिष्ट च तप्त च धर्म

श्याय कुलस्य ते । गृहात्प्रतिनिवर्त्तन्ते पूर्णकामा यदर्थिन ' इस प्रकारके सन्देशसे ही विश्वामित्रके आनेपर दशरथके कार्यकलापका नियन्त्रण किया गया है मालूम पड़ता है कि भवभूतिकी अनुकृति की गई है ।

### १०—विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा

यह पुरु प्रसिद्ध महर्षि थे, इनका जन्म राजकुलमे हुआ था, इनके पिताका नाम गाधि था, विश्वामित्र राजकुलमें जन्म लेकर भी कठोर तपस्यासे महर्षि बन गये थे । प्रावेशिकी का अर्थ है प्रवेशसूचिका और ध्रुवा का अर्थ है गीति । भरतने लिखा है —'ध्रुवा तु गीति भेदोऽय वृन्दसामानियध्यते' । सा च पञ्चधा—'प्रावेशिकी निष्कामणी परिक्रामण्यवस्थिति । उत्थापनी तु पञ्चम्या ध्रुवा नाट्यार्थ सिद्धये । तत्र प्रावेशिकी ज्ञेया प्रवेशे गानयोगत ।'

### ११—त्रिशङ्कुरुपभोगाय नद्यौरपि न भूरपि

त्रिशङ्क एक सूर्यवंशी राजा थे, सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छासे उन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठको यज्ञ करानेके लिये कहा । वसिष्ठने अस्वीकार कर दिया । अनन्तर त्रिशङ्क विश्वामित्रकी शरण गये । उन्होंने यज्ञ करवाया, परन्तु उस यज्ञमें देवगण नहीं आये । विश्वामित्रने दूसरा स्वर्ग बनाना चाहा । देवोंने बहुत कह सुनकर विश्वामित्रसे सन्धि कर ली, तदनुसार आजतक अधोमुख त्रिशङ्क अन्तरिक्षमें लटक रहे हैं ॥

### १ — ब्राह्मणमुच्चकार

यहा ब्राह्मण शब्द जातिपरक है, 'ब्राह्मण इदम्' इस विग्रह द्वारा सामान्य सम्बन्धमात्रपरक नहीं है, अतएव 'ब्राह्मोऽजातौ' इस सूत्रके द्वारा टिलोप नहीं होता है, रुचिपतिने लिखा है—'ब्राह्मणमिति जातिपरम्, तेन ब्रह्मण इदं ब्राह्मणमित्यन्नगिकृते ब्राह्म जातौ इति टिलोपोर्न भवति । यद्यपि विशुद्धनाता पिमृयोनिजत्व ब्राह्मणत्वमिति सर्वतान्त्रिक सिद्ध तथापि क्षत्रियाजातस्य परशु रामस्य योजनगन्धाजातस्य च व्यासस्यैव विश्वामित्रस्यापि ब्राह्मण्यमचिन्त्यतप-प्रभावाद्देवेति' ॥

### १३—स्वस्ति भवते सपरिवाराय

परिवारेणसह वर्त्तत इति सपरिवारस्तस्मै सपरिवाराय । 'तेनसहेतितुल्ययोगे' इति समासे 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य स । ननु प्रकृत्याऽऽशिषि' इत्याशीर्वि वक्ष्याया प्रकृतिभावप्राप्तया सहभाव एव स्यान्न सभाव इति चेदत्र केचित्-अत्राशी विवक्ष्याया अभावाद् स्वस्तीत्यादिना प्रश्नस्यैव करणात् न प्रकृतिभाव प्रसक्ति । अन्येत्वाऽशीर्विवक्षैवात्र ननु प्रश्न तेन सहपरिवाराप्येव पाठ साधीयान्

दशरथकृताभिवादनानन्तर विश्वामित्रेणाशी प्रदानस्यैवैचित्त्य प्राप्तत्वात् । इति रचिपति पद्धति ॥

### १४—शौपापद

शुन इव पदमस्येति श्वापदो व्याघ्र, 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घ, तत 'तस्यैवम्' इत्यणि 'द्वारादीनरं च' इति ऐवि शौपापदमिति रूपम् ।

### १५—गृहाङ्गनमात्रकुटुम्बिन

अत्राङ्गनशब्दो णकारान्त इति कैचित् पठन्ति, तदप्रामाणिकम्, न च पृषोदरादिपाठन णत्वमिति वाच्यम्, पृषोदरादिपाठे प्रमाणाभावात्, तथापि धानुप्रासथमकाक्षरदर्शनात् । 'तवर्गं पञ्चमोपान्तमङ्गन केवलं त्रिदु' इति शब्द भेदप्रामाण्येन नानात्वेनैव तस्य स्वीकार्यत्वात् । 'अङ्गन प्राङ्गणे चाने कामि-या मङ्गनामता' इति मेदिन्यादिकोपे नानावर्ग एव तत्पाठाच्च । ( रचिपति )

### १६—यश स्तोमानुच्चेरुपचिनु

'यशस्तोमानुच्चेरुपचिनु चकोर प्रगयिनी रसज्ञा पाण्डित्यच्छिदुरशशिधाम भ्रमभरान् । अपि त्वत्तेजोभिस्तममि शमिते रक्षतु दिशामसौ यात्रामैत्रो नमसि नितरामग्वरमणि' मुरारिके इस श्लोकको निम्नके साथ तुलना कीजिये —

'यश पूर दूर तनु सुतनुनेत्रोत्पलवना तमस्तन्द्राचण्डातपतपसहस्राणि शरदाम । इय चास्ता युष्मच्छरशमिषलङ्घेश्वरशिर धितोत्सङ्गानन्दसुर नर भुजङ्गा त्रिजगती' ॥ प्रसवराघव ४।४८

दोनों श्लोकों के छन्द, भाष्य, शैली सबकुछ एकसा हैं, जो अन्तर हे वह प्रमत्तको ठीक बनाये रखने की दृष्टिसे आवश्यक था । इससे सिद्ध हे कि यह भावादि साम्य इच्छाकृत है ॥

### १७—त्रेताग्निराचामति

अमरकोषम लिग्या हे —'दक्षिणाग्निर्गाहपत्या हवनीयौ त्रयोऽग्नय । अग्नि श्रयमिद् त्रेता' । यद्यपि त्रेता शब्दसे ही अग्नित्रयका बोध होता हे अत अग्नि पद की आवश्यकता नहीं थी, तथापि उसका उपादान स्फुट-वार्थक हे, जैसे करिकलभमें करिशब्दका । अथवा त्रेताशब्द युगादि परक भी हे अत अग्निरूप त्रेता बोधनार्थ यह अग्नि शब्द का भी प्रयोग किया गया है ॥

### १८—दिनकर कुलीना

'दिनकरस्य कुलम् तत्र भवा' इस विग्रहमें 'कुलाख' इस सूत्रसे ग्रन्थय खको ईन आदेश । रचिपतिने लिखा हे —'कुलाख' इति स । न च ग्रहण यता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्तीति तदन्तत्वाभावात् कथ खग्रन्थय इति



चाच्यम् परिभाषाया ज्ञापकमूलत्वादनित्यत्वात् 'ज्ञापकसिद्ध न सर्वत्र' इति न्यायात् । यद्वा दिनकरा इव कुलीना दिनकरकुलीना ॥

१६—मेध्यात्रत्सतरी विहस्यवृद्धिभि

'बह्विया मारी जाती है' इस उक्तिमें मध्यपि अब अनौचित्य प्रतीत होता है परन्तु पूर्वकालमें गोमासकी भक्षणीयता प्रचलित थी, मधुपर्क प्रकरणमें 'नामासो मधुपर्क स्यात्' ऐसा लिखा है । साङ्ख्यग्रन्थोंके देखने से भी गोमासकी भक्ष्यता प्रतीत होती है, लिखा है 'पौषा चैतश्चरताभ्येदे'ति याज्ञवल्क्य । यह क्रम अनुचित था यह कहा जा सकता है परन्तु था अवश्य । भवभूतिके नाटकोंमें भी गोमारणकी बात आती है, दक्षिणे महोदर-उद्धित पृ० १०० 'सचप्यते वसतरी' ॥

२०—परिणमयति ज्योतिर्वृत्त्या यजृषि

सूर्य यजुर्वेदको किरणोंके रूपमें परिणत कर रहे हैं, मध्याह्नकालमें सूर्यका किरणें यजुर्वेद मय होती है, अत मध्याह्नकाल हो रहा है यह अर्थ हुआ । पुराणमें लिखा है—'ऋद्धमय प्रातराद्विद्यो मध्याह्ने च यजुर्मय । सायसाम मयश्चेति त्रयीमय उदाहृत' । इस ग्रन्थमें भी आगे लिखा है—'एतत्त्रयीम-यऽऽद्योनिराद्विद्याय निमज्जति' ॥

२१—वाचमेपामृषीणा हि शास्त्रमेवानुवर्त्तते

तुलनाके लिये भवभूतिके 'उत्तररामचरित' का पद्य देखिये—'ऋषीणा पुनराद्याना वाचमर्थोऽनुधावति' । १।१०

२२—'प्रत्यूहाय बभूवुरऽनुजनुरो देवस्य चाद्रक्तय'

विधामित्र जत्र द्वितीय सृष्टि बनाने लगे थे तब ब्रह्मा आये, उनकी उड़ी स्तुति की, तत्र विधामित्रन द्वितीय सृष्टि करना बन्द कर दिया । उनका आना विधामित्रने जिन माना । तुलना के लिये देविये माघ प्रथमसर्ग—'यतर्कयद्विचन-मिवेष्टसाहस प्रनादमिच्छा सदश पिनाकिन' ॥

२३—किष्किन्धा

किष्किन्धा मालि और सुग्रीवकी राजधानी थी । मद्रास प्रान्तके विलारी जिलेमें इग्रीग्रामके समीप तुद भन्नाके उत्तरी तट पर यह स्थान बताया जाता है ॥

२४—जानास्थेय यथा पितु परेभयम् ।

महपि ऋषीकके पुत्र जमदग्नि वदिक ऋषि थे । राजा प्रसेनजित्की कन्या रेणुका उनकी स्त्री थी । एक समय सेनासहित कार्तवीर्य जमदग्निके आश्रममें

आये । जमदग्निने कपिलाके प्रभावसे ससैन्य कार्तवीर्यका यथोचित स्वागतसत्कार किया । उस गौके गुणोंसे आकृष्ट होकर कार्तवीर्यने ऋषिसे गौ मागी । जमदग्निने अस्त्रीकार कर दिया । इसपर बहुतसी सेना लेकर कार्तवीर्यने जमदग्निने आश्रमपर आश्रमण कर दिया । जमदग्निने यथाशक्ति प्रतिरोध दिया, परन्तु अन्तमें वह मारे गये । जमदग्निजी मृत्युके समय उनके पुत्र परशुराम आश्रममें नहीं थे, लौटनेपर रेणुकाके जमदग्निकी मृत्युका समाचार कहा, इसीपर परशुरामने प्रतिज्ञाकी कि कार्तवीर्यके साथ इम पृथ्वीको इन्हींस वार क्षत्रियशून्य बना दूंगा । उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ।

### २५—तदेहि, विमर्दक्ष्म प्रदेशमवतराम

यह पङ्क्ति भवभूतिके उत्तररामचरितम वर्तमान निम्नोद्धृत पङ्क्तिसे मिलती है, तुलना कीजिये —

‘तदितो विमर्दक्ष्मा भूमिमवतराम’ ( पञ्चमाहान्त )

### २६—आत्मनासौ तृतीय

यहां ‘आत्मनश्च पूरणे’ इस पाणिनि सूत्रसे तृतीयाका अलुक् होता है । भवभूतिके वीरचरितमें भी इस तरहका प्रयोग आया है —

‘स एवायमारमनातृतीय कुशिकनन्दनो नून भवन्तमेवाम्भुपेति’ (प्रथम अङ्क)

### २७—आतिपातिके कर्मणि राज्ञा मद्य शुद्धि

अतिपात । शत्रोराक्रमण तद्भव कार्यमस्त्रग्रहण तत्र । विष्णुस्मृतौ ‘न राजा राज कर्मणि’ इति दर्शनात् ।

### २८—तमदणा काणीचकार चरमो रघुराजपुत्र

चरमशब्द कनिष्ठवाचक है तत्र यहाँ रामके अर्थमें चरम शब्दका प्रयोग कैसे हुआ है इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ‘चरमो ज्येष्ठनिष्ठयो’ इत्य विश्वप्रकाश कोषके अनुसार ज्येष्ठार्थक चरम शब्दका प्रयोग है । कुछ लोग चरामा लक्ष्मी यस्य स चरम ऐसा विग्रह करके राम अर्थ निजालते हैं ।

### २९—जटायु

जटायु सूर्यस्तारथि अरणके पुत्र थे । दशरथके साथ इनकी मैत्री थी । सीता हरणके समय जटायुने रावणको रोकनेकी चेष्टा की थी, उसी समय रावणके अस्त्रसे जटायुकी मृत्यु हुई । सीताकी खोजमें भटकते हुए रामलक्ष्मणने जटायुको देखा,

जटायुने सीताका समाचार रामसे कहकर अपने प्राण छोड़े । रामने अपने पिताके मित्र उस जटायुकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी ।

‘दशरथदुरवाप प्रापनैवायमग्भ’

### ३०—आचुचूपति

‘चूप पाने’ धातुका चूपति रूप होता है, अत आचूपति होना चाहिये, सन्नत कर देने पर आचुचूपिषति हो जायगा । मेरी समझमें आशु चूपति पाठ सन्नत तथा शुद्ध है ।

### ३१—द्वनुराजकङ्कालकृट

रामायणमें लिखा है—

‘त्रिया मा मयम पुत्र दनु नाम्ना च दानवम् ।  
इन्द्रकोपादिद रूप प्राप्तवन्तमवहि माम् ॥  
अह हि तपसोऽप्रेण पितामहमतोपयम् ।  
दीर्घमायु समे प्रादात्ततोऽह पूर्णमानस ॥  
रणे शक्रमधर्षयम् ।  
तस्य बाहुप्रयुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ।  
सक्थिनी मे शिरश्चैव शरीरे सन्निवेशितम्’ ॥

### ३२—वत्सेनैकपि

निकपाया अपय स्त्री नैऋपयी होना चाहिये, अणु केमे हुआ ? इस प्रश्नका उत्तर रुचिपतिने यह दिया है कि ‘वत्सिदपवाद विषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते’ इति स्त्रीभ्यो ढक वाधिवाऽण् । क्वचित् ‘कैकमि’ ऐसा पाठ है ।

### ३३—जातजातभवलम्बनम्

यह कथन भवभूतिवृत्त उत्तररामचरितके पञ्चमाङ्क प्रारम्भमें वर्तमान ‘भो मैत्रिका जातजातभवलम्बनमस्मानम्’ इस उक्तिमें अक्षरश मिलती है ॥

### ३४—कर्णोत्तमयत्कुरम्

तुलना कीजिये—‘श्रवणपूतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुखे सखि निचिप ।

किमपि तुन्दलित स्थगयत्यमु सखिमुत्त न विधो पुनरीक्ष्यते ॥

( नैपथीयचरित )

## ३५—अपोशानकर्मणि

‘अपोशान’ इसतरहकी शिला धरुणचारियोंको दी जाती है, तदनुसार वह भोजनके पूर्व ‘अमृतोपरस्तरणमसि स्वाहा’ इम मन्त्रसे आचमन करते हैं इसीको अपोशानकर्म कहते हैं ।

## ३६—सगरसुतचिताया पारनी

सगरके अश्वमेधम छोड़े गये अश्वको सुराकर इन्द्रने कपिलमुनिके आश्रममें बाध दिया। सगरके पुत्रोंने घोड़ेको मुनिके पास बन्धा देखकर मुनिका अपमान कर दिया, मुनिके शापसे सगरके सभी पुत्र जल गये। पश्चात् भगीरथने तपस्या करके गङ्गामवाह ली उनका उद्धार किया।

## ३७—लक्ष्मणभुजौ न परिव्रजाते

‘परिव्रजात’ रूप अशुद्ध है, पाणिनिके अनुसार ‘परिव्रजेते’ रूप होगा।



## नाटकीया विषयाः

- स्वगतम्— 'अथाव्य खलु यद्भस्तु तदिह स्वगत मतम्' ।
- प्रकाशम्— 'सर्वथाय प्रकाश स्यात्'
- अपवार्य— 'तद्भवेदपवारितम्' ।  
रहस्य तु यदन्यस्य परावृत्त्यप्रकाशयते ।  
त्रिपतानकरेणाचानपवार्यान्तराकथाम् ॥
- जनानिकम्— 'अथायामत्रण य म्याज्जनाते तज्जनातिकम्' ।
- नेपथ्यम्— नटाना वेपपरिग्रहस्थानम्'
- नाटकम्— 'वीरशृङ्गारयोरेक प्रधान यत्र वर्णयते  
प्रत्यातनायकोपेत नाटक तदुदाहृतम् ।
- अङ्क — 'प्रयत्न नेतृचरिता रसभावसमुज्ज्वल ।  
भवेद्गुणशब्दार्थं सुटचूर्णकं सयुत ।  
नानैरुद्दिननिर्वर्च्य कथया सम्प्रयोजित ।  
आश्चर्यमाना कथाणात्मविरोधाद्विनिर्मित ।  
प्रयत्नचित्रचरितैर्युक्तोभावरसोद्भवै ।  
जन्तनिष्प्रातनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तित' ॥
- नाम्दी— 'आशीवचनसयुक्तास्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।  
द्वद्विजन्तृपादीना तस्मादादाति सजिता ॥  
मात्स्वयशङ्कच द्वाञ्जकोककैरवशमिनी ।  
पद्युक्ताद्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैस्त ॥
- सूत्रधार — 'नाट्योपररणादानि सूत्रमित्यभिधीयते ।  
सूत्र धारयते यस्तु सूत्रधार स उच्यते' ॥
- प्रस्तावना— 'नटी विद्रूपको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।  
सूत्रधारेण सहिता सलाप यत्र कुर्वते ॥  
चित्रेवाक्ये स्वसार्योऽर्थे प्रस्तुताक्षपिभिर्मिथ ।  
आमुख तत्तु विनेय नाम्ना प्रस्तावनापि स्ता' ॥
- विष्कम्भ — 'वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शन ।  
सत्तिसार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शन ॥
- प्रवशक — 'प्रवशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित ।  
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेय शेष विष्कम्भके यथा' ॥

वाक्य — 'त्यागी कृती कुलीन सुधीरुो रूपवीवनीत्साही ।  
दशोऽनुरफलोक्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता' ॥

प्रस्तावनाभेदा —

'उद्भात्यक कथोदात प्रयोगातिशयस्तथा ।  
प्रवर्तनावलगिते पञ्चप्रस्तावनाभिदा' ।

अत्र प्रयोगातिशयाख्या सा—

'यदि प्रयोग पूर्वस्मिन् प्रयोगोऽन्य प्रयुज्यते ।  
आगन्तुकेन भावेन पताकारस्थानक तु तत्' ॥

वीनम्— 'अल्पमात्र समुद्दिष्ट बहुधा यद्विमर्षति ।  
फलस्य प्रथमो हेतुर्वीनमित्यभिधीयते ।

विन्दु — 'अवान्तरार्धविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्' ।

कार्यम्— 'अपेक्षित तु यत्साध्यमारम्भो यश्चिद्व्ययन ।  
समापन तु यत्सिद्धये तत्कार्यमिति सा मत्तम्' ॥

मन्थि — 'अन्तरैकार्धसम्बन्ध सन्धिरेकान्वये सति' ।

पञ्चसन्धय — 'मुख प्रतिमुख गर्भो विमर्श उपसहृति ।  
इति पञ्चास्यभेदा स्यु'

मुखम्— 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।  
प्रारम्भेण समायुक्ता त'मुख परिकीर्तितम्' ।

प्रतिमुखम्— 'फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिन ।  
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखञ्च तत्' ।

गर्भ — 'फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चने ।  
गर्भो यत्र समुद्भेदो हासान्वेषणवान्मुहु' ॥

विमर्श — 'यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिद्यो गर्भतोऽधिक ।  
शापाद्यै सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृत' ।

निर्वहणम्— 'बीजरन्तो मुखार्थार्थ विप्रकीर्णा यथायथम् ।  
पृरुार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' ॥



## अनर्घराघवगतानिच्छन्दांसि सलक्षणानि

- १ अनुष्टुप्— 'श्लोके षष्ठ गुरु षय सर्वत्र लघुपञ्चमम् ।  
द्विचतु पादयोर्ह्रस्व सप्तम दीर्घमन्ययो ' ॥
- २ आर्षा— 'यस्या पाद प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयऽपि ।  
अष्टादशद्वितीय चतुर्थके पञ्चदश साऽऽया' ।
- ३ इन्द्रवज्रा— 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग' ।
- ४ उपे द्ववज्रा— 'जतज्ञास्ततो गौ ।
- ५ लपजाति — 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजां पादां यदीयावुपजातयस्ता' ।
- ६ शालिनी— 'मार्त्ता गौ चेच्छालिनीवेदलोके' ।
- ७ वशस्थविलम्— 'वदन्ति प्रशस्थविल जतौ जरौ' ।
- ८ पुष्पिताम्रा— 'अयुजि नयुगरफतो यकारो युजि च नजो जरगाश्च पुष्पिताम्रा'
- ९ पृथ्वा— 'जसो जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' ।
- १० मन्दाकान्ता— 'मन्दाकान्ता जलधिपटोर्भो न तो साङ्गुरु चेत्' ।
- ११ मालिनी— 'ननमनययुतेय मालिनी भोगिलीके'
- १२ वसन्ततिलका—  
'उक्ता वसन्ततिलका तमजा जगौ ग' ।
- १३ शादूलविकीडितम्—  
'\_\_\_\_\_ ।
- १४ शिलरिणी—
- १५ हरिणी—
- १६ स्रग्धरा— 'भ्रान्नेर्याना प्रयेण त्रिमुनिघनियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' ।

## अनर्घराघवगताः सूक्तयः

- १—‘यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्जोऽपि सहायताम् ।  
अपन्थान तु गच्छत मोदरोऽपि विमुञ्चति’ ॥
- २—‘कष्टा वेधव्यथा कष्टो नि यमुद्वहनकृम ।  
श्रवणानामलङ्कार कपोलस्य तु कुण्डलम्’ ॥
- ३—‘उक्षा रथो भूषणमस्थिमाला भस्माङ्गरागो गजचर्मवास ।  
षकालयस्थेऽपि धनाधिनाये मरयौ दशेय त्रिपुरान्तकस्य’ ॥
- ४—‘पतिते न्यसने द्वाद्द्वारणे दारणात्मनि ।  
सबर्मयति वज्रेण धैर्यं हि महता मन ’ ॥
- ५—‘यद्यस्ति वीर्यमस्त्येव तत्कर्म कथयिष्यति’ ॥
- ६—‘तौञ्च विमुच्य पुत्र च पितर च हिमालयम् ।  
प्रविश्य जलधि पक्षौ रक्षताऽनेन किं कृतम्’ ॥

शुभमस्तु





## श्लोकानुक्रमणिका



	अङ्क	श्लोकाङ्क		अङ्क	श्लोकाङ्क
			अरि पङ्क्तिर्वा	६	९
			अल विलक्षिवा	२	५७
अक्षेपु कंतुदण्डे च	६	६०	अलमिष्ट्वा मखान्मूर्त्ता	०	६१
अगम्यानासद्य	६	३०	अवनिमधिकर्विशा	४	२९
अग्रत वा दशग्रीव	६	१९	अविप्रागीजवि रसा	२	३४
अद्विराश्च पुलस्त्यश्च	२	४८	अविनयभुवामत्तानाना	४	१२
अणुराजरोम	७	९	असौ मयुष्यमात्रेण	६	१०
अद्य नैशाचरा	२	६६	असौ मीरध्वजो	२	८७
अद्य प्रदन्तिण	३	११	अस्त्राणि प्लवगाधिपेन	६	४०
अद्याय विदुग्नेद्र	७	५७	अस्मद्गोत्रमहत्तर	१	१८
अद्योर्पातलमूल	७	७८	अस्मदोर्मुल्लङ्गल	१	१०
अद्यस्तासौधाना	७	१०९	अस्मद्घातुवनान्दोल	६	४२
अनयच्छुण्ण श्री	७	१०१	अस्मिन्मात्स्यवत	७	१०
अनाकृतेरेव	३	५			
अनुभवपुनरुक्ता	४	३४	आ		
अनेन रम्भोह भवन्मुखेन	७	८१	आकण्ठहृष्ट	७	१४
अन्धकारीकृतव्योमा	६	६१	आजमप्रह्वचारी	४	१८
अपि कथमसौ	१	७	आत्मानमिन्दुकर	७	१४२
अप्रवृत्तिविषय	४	२८	आदाय प्रतिपत्त	७	१३७
अभिमुखपनयालु	७	१०७	आद्रेष्टा भगवान्	४	२९
अभदनोपास्ते	६	२	आघत्ते दभुसूनु	७	४०
अभाते गम्भीर	७	२६	आनीतद्रोणशैलन	७	१०
अय महाक्षत्रियगोत्रत्तमा	२	६७	आभिरश्चरचर्याभि	२	३७
अय सृष्टुष्णालिनी	४	४	आरब्धे दयितासुख	७	८०
अयमधिपतिर्भासा	४	४२	आर्द्रप्रसूतिरिय	२	२१
अयमनेन महोद्धि	७	२८	आर्द्राश्रितो	२	३६
अयमपि त्रयोपित्	२	४१	आर्यपुत्रार्यपुत्रेति	५	८
अयमीदृश	१	४८	आलवान्बलयेषु	२	२५

आश्लेषचुम्बन	७	११५	उ-मुद्रयति हि	१	१९
आसन्नतप	७	२५			
			ए		
इत पौरस्त्यायाम्	४	३	एकद्विप्रभृतिक्रमेण	२	५
इत्यमेत-महातीर्थं	२	१६	एकेनैव निवातकङ्कटभिदा	६	६८
इद वयो मूर्तिरिय	३	२४	एककानि शिरासि	७	२
इद वो ज्यायाना	१	५०	एकेके निवसन्ति ते	७	५८
इन्दुर्यद्युदमाद्रिमूर्ध्नि	२	७१	एको वेपपरिमह	५	३०
इन्दो कलाकलापेन	७	१४४	एतत्तदेव मुखमस्यत	७	१४१
इन्दोरेककलाया	७	७३	एतस्मै समराद्रय	१	२०
इमौ तस्य विशापरयु	३	३	एतस्य कलामेका	७	६५
इयमविरलश्वासा	५	२२	एतस्या हि तुषार	७	२६
इयमारमगुणेनैव	५	५६	एतस्या पुलिनोपकण्ठ	७	९९
इयमेभिरालवालै	२	२४	एता पश्य पलादपत्तन	६	२४
इह महिषविपाण	५	२०	एताभिस्तव	१	२४
इह युवनिवदन	७	११०	एतासु पर्वतनितम्ब	७	५५
इह वनेषु स	२	४२	एन कल्पतरुज्ञवै	६	३०
			एष त्रैश्वर्यमात्र	५	४०
			एष बहारिक	२	४०
ईरदा प्राजायन्त	७	१३२	एष रत्रेणकपोल	४	१०
			एहि विष्टरपादार्यं	४	६०
			ऐ		
उच्चा रधो भूपण	२	७	ऐश्वराकेण पुरारि	४	५
उत्पादयन्कमपि	२	३३			
उत्सव सोऽथमस्माक	५	५४	क		
उदञ्चन्यञ्चद्	६	७८	कञ्चिकान्तारभाजा	१	२५
उदयति कलमन्त्रै	७	७१	कटुभिरपि	७	१३
उदयदुदयद्वर्मस्कन्धे	७	१४८	कण्ठच्छायनिपीत	७	१२२
उदेप्यपीयूषद्युति	७	९०	कन्या काचिदिहापि	४	५७
उद्दामभ्रमिवेग	७	१११	कन्यामयोनिजन्मान	३	४२
उद्दामसुमगिद्युति	२	३०	कमितुरभिस्रवरीणा	७	१०८
उद्यम्य दृष्टनिज	७	६	कर्णोत्तसयवाङ्कुर	७	६३
उन्मीलति मृगाल	२	७०	कर्मण श्रयमाणस्य	२	३८
उन्मुक्ताभिर्दिवसमधुना	२	४९	कल्पान्तकर्कश	२	३३

कल्पान्तकूरसूरोत्कर	६	३१		ग	
कष्टा वेधव्यथा	१	४०	गगनगतास्म	७	१३१
कर्मोच्चिकपटाय	७	४३	गगनशिखरमुदया	७	५७
काञ्चिद्विभ्रति	२	४८	गात्रैर्गिरा च	६	१
काश्मीरेण दिहानमबरतल	५	५२	गायत्रा द्रुपदा देवी	४	६२
कि कुशाणपयोधि	७	८	गिरि क्लासोऽथ	७	४६
किं नु ध्वातपयोधिरेप	५	७१	गिरीशानाराद्ध	६	३५
कि घानजलन्यो	३	१३	गुणवद्धि मह	७	४४
किमपि कपय	६	२६	गुवाद्दशादव	२	५९
किमाचक्ष सेतुक्षिति	६	८	गोत्रे साक्षाद्गनि	७	८२
किमेतदेव भगवन्	६	४२	गौरा विभज्यमानार्ध	७	१११
किरतिमिहिरे	१	५४			
कुमुदधनविशायजा	५	१९		घ	
कुर्यु इन्द्रकथाममी	४	४४	घनतरतिमिर	२	६
कुले वा शौर्ये वा	५	१३		च	
कुशिकमुतसपथा	६	१०	चत्रे हृद्धेश्वरपरि	७	१३८
कूर्मराजभुजगाधिप	१	३९	चतुरधिपानचष्टा	७	९५
कैलासात्रिनटीधु	७	२८	चन्द्रलोकादपि पर	७	७७
कोऽप्यप वाङ्मनमयो	४	६८	चर्चितपीनाहि	७	८
काशिकम्ब्रीकृतस्यापि	१	२१	चरति जगतीजेये	६	८०
कौशिकोर्यो	१	४१	चिरमनया तपसि वा	७	३३
क्रमेणैव मुनीषगादी	५	४	चिरात्क्षत्र तेजस्विनग	४	६५
क्रियाया रचायै	१	४५	चिराद्दगोर्जाड्य	१	२४
क्रोधानटस्य प्रख्या	७	१०५	चिराय रात्रिचरवीर	५	४५
क्रोधेन पुरहृत	६	२२	चडारत्नै स्पुरद्धि	२	५१
क्रोधेन ज्वलिता	६	५२	चेन शुक्तिकया	१	५
क्रोद्ध विमुच्य	७	२३			
क्षुचिदस्मद्वियोगार्ति	१	५७		छ	
क्षुण्ण निशाचरपत्नी	७	११	छिन्ना मूर्ध्न किमिति	६	५५
				ज	
ख			जगतीभारविनाना	१	४७
खरादीनवधीद्रामो	६	५५	जगदालोकधौरेयौ	७	१२९
खेपूकृत्य हतेषु	६	४३	जगद्विगमघस	७	१७

जगद्विलोभि	५	१०	तमृषिं मनुष्य	१	१०
जटा धत्ते मूर्धा	४	२७	तमिस्रामूर्च्छालत्रिजग	७	१
जटश्चन्द्रस्तादु	२	२६	तमोभि पीयन्ते	२	१
जनयति वधि	१	२६	तरुणतमालकोमल	२	७२
जयति परिमुषित	७	५१	तर्जुटङ्कलिरितार्क	७	८५
जरयतु जगत्कल्पो	५	१५	तर्पातिभ्यतिलेलि	६	१०
जरादारान्धु	१	२५	तस्मै वीराद्भुताग्भ	१	६
जगत सोऽह दिनकरपुले	४	४०	तस्याज्ञयैत्र	१	१५
जाता पञ्चपलाण्डु	५	२	तस्यारिजलभीमस्य	६	६५
जाति मानय मानुषा	६	७	तानाजामधिमौलि	७	१५०
जानन्नेव दशाननो	५	५६	तापनैरेव तेजोभि	२	४७
जानास्येव यथा पितु	४	५४	तीर्णा भूतेशमीलि	५	५
जतार दशक धरस्य	४	५६	तेजोमय तमोमय	२	५०
जेतार दशान्धरस्य	५	५६	तेनाहुलीशत	३	४६
ज्येष्ठा नूर्लीययात्रा	७	८६	तै सर्वज्ञीभयदभि	७	७७
			तैर्मेधाजननप्रत	२	२७
			तैश्चि सप्तभिरेव	२	५१
त			त्रयस्त्रिंशत्कोटि	३	२
तच्छापमोशभुज	४	७५	त्रामोत्कम्प	१	३२
तत्कालारभटी	५	१०२	त्रिजगदङ्गनलङ्घन	७	१३८
तत्तादृकगृग	२	१४	त्रिपुरहरत्रिरीट	५	११७
तत्तादृकफगिराज	७	४१	त्रिभुवनतमोलुण्टा	२	७७
तत्तादृगुज्ज्वल	१	१२	त्रिभुवन विजयश्रिय	३	५५
तत्तादृदशकण्ठ	५१	१२	त्रेताग्निकुण्डपूर च	२	५२
तत्तादृरा कथमुदेति	४	७	त्रैलोक्यत्राणशीण्ड	४	३७
तथापि यूय सद्यऽपि	७	१४१	त्रैलोक्यामय	१	२८
तथा पौरस्त्याया	२	७८	त्रैत्रिक्रम सफलदान	६	७७
तथा मेतुश्रद्धारकलित	५	२०	स्व गीर्वाणगगाय	७	६६
तथैतेनोद्दृश्य	६	४१	स्व वेदीस्त्रिप्य	१	४६
तदालाप्रोन्मीलन्	६	७	स्व तास्ता स्मृत	१	५६
तदिद्द रघुसिहाना	७	१४७	स्व वेदवानसि वसिष्ठगुरो	४	४५
तदेतदारोपय	२	५१	स्वदध्यायक याकपि	७	५
तदेव स्थाणवीय	६	२७	स्वज्ञागधेयमपि	३	३
तमे वरद्वयमुरीहृत	४	६६			
तप कृशतररङ्ग	२	१९			

पथ्यर्धासनभानि	१	२९	देव्या भूमेर्मृगमद	७	११८
			द्वो मन्दोद्ववशवद	६	३
			द्वो श्तम्भद्ववदर्प	४	१३
दग्धा प्रदासपावक	६	१	दोलालादलितेन्दु	३	५५
दत्तेन्द्राभय	१	२७	द्वे तावत्परणे	७	८
दपोऽय भवत	६	५५			
दलप्रिततिभृता	२	७२			
दलित उमुदकोषो	७	६९	धनाधिनाथ प्रणयातु	७	१२७
दवायस्यो दूरादपथ	१	१९	धनुमनो वस्तो	४	६९
दशमुग्धमुनदण्ड	७	२७	धातुश्चतुर्मुखी	१	११
दशमुखवधनाट्य	६	४८	ध्यानमददृष्टिपात	१	४४
दशमुग्धशरपीडिता	६	२९	ध्यायत्यय गाधि	६	७३
दशरथपृष्ठे मग्भूत	२	६२	ध्रुव पतितपट्टिकधर	६	५९
दातयेयमवश्यभव	५	४४	ध्रुवनिह चतुरम्भो	७	९६
दिककूल कपकीति	२	६८			
दिकपालद्विपदर्प	६	६६	नक्त र नमयूखपाटल	७	९८
दिग्दतावलदत	६	२६	न द्वये न पूर्व	६	५८
दिङ्मण्डली	२	३	नक्षत्रदधिमौर्वीक	५	४७
दिनकरकिरणोत्कर	१	१३	नमन्तृपतिमण्डली	१	२३
दियास्त्रैर्भुव	६	७७	नमस्तुभ्य देवासुर	७	११२
दीर्घ प्रजाभिरति	२	६०	नयौ हि साङ्ग्रामिक	५	४८
दुन्दुभि नाम दैत्येन्द्र	५	५५	नवोन्मालिमौर्वी	७	१०३
दुर्लहयमीधर	३	२८	नानाविधानि शस्त्राणि	६	६०
दृप्यपौलस्त्यकण्डू	५	३०	नाराच कृतवीर्य	४	३०
दृप्यदिकपालदन्तावल	६	३८	निर्जात्रशोष	६	२
दृश्यते ममुमत्तकोनित	१	६	निजाय तस्मै गुरवे	३	१४
दृष्ट साक्षादसुर	१	३८	निर्पाते धेनान्धौ	७	८९
दृष्ट्वा राघवमेकराक्षम	६	२७	निर्मज्जच्चक्षु	२	५२
देव कास्तुभर्किजकरु	७	११	निर्माय कार्मणमृचा	३	१६
देव सत्वामसूत	५	४३	निर्मूलशेष	१	३५
देवस्यातमभुव	७	११२	निर्वृत्तो बहु तावदध्वर	२	३०
देवस्यास्तुजसम्भवस्य	७	११९	निशाचरागा तमसा	७	८५
देवेन्द्रोपनिवेद्य	६	२३	निष्प्रयूहमुपास्महे	१	१



बालेन सम्भाव्यमिदं च	३	२९
बालेनापि विलन	६	५१
बालेयतण्डुलविलो	२	२०
विभ्रता कैशिकी वृत्ति	८	१६२
बृहत्पात्रप्राप्त्या	७	१८
ब्रह्मज्योतिर्विधर्तस्य	३	१०
ब्रह्मशापपरिवर्तित	५	२१

भ

भग्नोऽयं कथमस्ति	५	१७
भयभ्रष्टप्रेयो	२	२९
भल्लावलन	७	१२५
भवति न तथा भानो	६	२३
भवतु शरणदो वा	८	५६
भस्माङ्कुरेति	४	२४
भुजनिवहविहङ्गिका	६	१४
भुजविटपमदेन	२	११
भुजागर्लितनमना	४	११
भूमात्रं क्रियदेतद्वर्णवमय	४	३५
भूमे स्वर्णतया	८	५६
भूयस्तराणि	२	८१
भूयिष्ठानि सुम्बानि	६	८१
भृगुनिलं नमस्ते	४	४०
भिन्नैरावणगन्ध	६	७८
भोगीन्द्रं प्रमदोत्तरह	८	७९

म

मघोनस्तद्घोरं	३	४०
मदयति यदुत्पन्नो	२	८०
मद्गया रसपाठ	१	८
ममुकैः भवान्बन्धु	२	१४
मध्येकृत्य धन	१	३७
म ये योमक्रीडयित्वा	०	३१
मनोऽपि शङ्कमानाभि	३	६

मन्त्रस्वकारसपना	२	१२
मन्दोदधूतै शिरोभि	१	५२
मन्ये दुर्पामयाविभ्या	५	२६
मन्स्वहम्भोलिङ्ग	६	७९
महाप्तेनो यस्य	४	३७
मानां मात स्वा	६	५२
मा भैष्ट कमठन्द्रपत्तगपती	६	२०
मारीचमृगया यधे	८	३०
माहेश्वरो दशघ्नीव	३	६९
मीमासते किमायोऽय	२	५८
मुनोऽकाशिक	३	९
मुनिरपि गुरुद्वियास्त्राणा	४	१४
मुनिविनियोग	७	२३
मुने कलशान्ननो	८	१६
मृगराजकरज	७	७३
मेरोमेर्दुरयन्ति	७	५४

य

य प्राक्प्रत्यगवागुद्वि	७	६०
य श्रोक्ठकिरीट	७	६१
य चन्द्रदेह	१	२२
यन्वेष्टा समनीकमीमनि	३	८
यज्ञपि तेत्तिरीयागि	३	१३
यज्ञोपप्लवशात्तय	४	११
यत्कयामभिलष्यता	६	५२
यत्तस्मिनिहतेऽपि	६	१२
यत्पीयूषमयूष	२	८२
यत्र त्वं ब्रह्ममीमासा	३	१२
यथा पूरापाति	७	१८
यथा यथा पर	७	२३
यदर्थमस्माभिरिह	४	५९
यत्ति क्षण	१	९
यदि क्षोरन्वेति	१	५८
यद्वोत्रस्य प्रथमपुरुष	३	२५

यद्देवत क्षिपति	६	७०	राजन्यरधिरामभोधि	२	१७
यद्यत्कृत्त दशमुंष	६	७६	राजन्येभ्यो जन्म	२	४१
यद्यरित वीर्यमस्येत्	२	२१	रचिभिरमितष्ट्रौ	२	८०
यद्वावगो बहृभिरेप	६	६३	रन्धन्नष्ट विधे	३	५३
यद्विदन्नपि विदेह	३	२६	रे काकु स्था दध व	४	९
यन्नाल्पभ्रमिघूर्णं	७	५०	रीदसीकृपमण्डूकं	७	७५
यन्मात्स्यप्रथनाव	६	४९	रोमन्यप्रचलौष्ठ	७	६३
यशरतोमानुश्चे	१	३६	रोमाञ्जोऽष्टुसद्व	७	१९६
यस्मिन्नर्जुनदो	४	२९			
यस्मिन्नेवधनुष्मतो	३	५३	लक्ष्मीरस्य हि याद्	७	१२
यस्य स्मृती प्रतीक्षन्ते	४	६१	लक्ष्म्या वालिनिर्हर्षण	५	५१
यातोऽस्तमेप	२	४४	लङ्का च पुष्पकमिद	७	१०९
यान्ति न्याय	१	४	लुम्पन्नष्टष्टजामातृ	६	१०
यूपाङ्कुरप्रकरदत्तुर	७	१३०			
युवतिकु चभोग	७	९२	य		
युवाभ्यामभिनियुक्त	२	४१	वत्स लक्ष्मण सोऽकण्ठ	७	१४३
ये चत्वारो दिनवर	३	२१	वधूटीमिच्छाको	५	९
येन वीरेण गुप्ताया	५	४३	वन्देत् ष्टन्दाटक	६	८२
येन रथा विनिहृत्य	२	५२	वन्दीकृत्य जाद्विनित्तर	५	४३
येनाच्छिद्य समस्त	१	४६	वपुरि विवृणोति	५	३८
ये मेत्रावरणि	६	५१	वर तादृक्कर्माद्	३	५२
येषा चापसमर्पित	६	३०	वसिष्ठोत्तैर्मन्त्रेर्दधति	१	५२
			वाणीभूतपुराणपूरुप	७	११४
			वाथ्यास्त्रयतिकर	२	६४
			वाराह्वीनभिपुश्वते	२	२९
			विंशत्यापि भुञ्जैरेप	६	६४
			विंशत्या युगपरत्तमैरपि	६	४७
			विकसितसकुचित	२	१२
			विदधति मुदमक्ष्णो	२	२७
			विदेहकन्याकुचकुम्भ	६	६७
			विद्याश्चतुर्दश चतुर्षु	६	२
			विद्वानपातृत्तमिव	६	१५
			विधानमानुश्रविष्	२	५६
			विनयनिचुलितैर्भव	४	३६

र

रक्ष स्वयवरविडम्ब  
रक्षोनिपिष्टकपि  
रक्षोभिन्वारचर  
रक्षविक्षोभवेगो  
रघुमहर्षिचाचार्यं  
रजनिचरचमूरम्  
रहाकरो जनयिता  
रमयति मलयाचलो  
रम्यमेतदरम्य वा



त्रिनेता वर्णानामय	५	२४ ।	स	
दिग्ध्यगिरिरान	५	१८	मनद्वेन्द्रायुध	६ २०
विपद्वा प्रतिवर्तारो	३	२७ ।	सम्भोगानवि	७ २७
द्विरमति महाकल्पे	१	२	सृष्टोऽय यदि	१ २१
द्विविधमणिमयूख	६	५३	स कि वाच्यो वाली	७ ७९
त्रिशिलौषविनीर्ण	८	४४ ।	स यमेव प्रयागोऽय	७ १२८
विश्व चाक्षुपमस्ममस्ति	०	५०	सद्य पीरवा	७ २०
विश्वामित्रमखद्विपे	५	९७	सप्तुष्टे तिसृणा पुरामपि	२ ६१
विश्वामित्रवर्णिकृते	४	१०	सतो मतपि कृयव	५ ३५
विश्वक्खौधन	०	००	सप्त तालानय भित्वा	७ ७०
वीरमिन्द्रजित त्रिवा	७	१२०	समन्तादुत्ताले	२ ६१
वृथा सज्जनमग्ग ३	३	६०	समतादुन्मीलद्वहल	५ २८
वृत्तैरिव ऋतुसहस्र	५	१३५	समस्या वा साम्ना	० १०
वेगादगाद्येव तत्र	५	११२	समुन्मीलसूक्त	७ १५१
वैदेहाकरग्रथ	७	११	सम्प्रदातरि	७ ८३
व्यादनध्वसुपाध्व	२	१८	सर्वराजकदुर्धर्ष	० १६
वनविहतिकरी	१	४९	सविधसुपसरन्ममूल	० २८
			महचरपिशाच	७ ७०
			महजवेर्यवशावद्	५ ९६
			सह वनारधमघो कृत्य	० ०
			महत्वाश्रद्ध	७ ०
			सहैव सुग्रीव	७ ०
			साक शक्तिधरेण	० -
			साधारणो रघूणा	१ १
			सारम्भ निरिवच्छ	७ ७२
			सिंहलद्वीपमग्भोधि	७ ८०
			सिद्धश्रोत्रपरम्परा	१ १२
			सीतास्तनस्त्वव	६ ६०
			सुग्रीव यदि पदपात	५ २५
			सुचरितमिन्मैतिहासिनाता	४ ६७
			सुदासुरेन्द्रसुत	७ २६
			सुराधीशानोधा	१ २७
			सुरासुराणामसुभि	५ ४२

श

शभुर्षदगुणवल्गरो	०	५१	सह वनारधमघो कृत्य	० ०
शम्भोराधारमचर	३	५०	महत्वाश्रद्ध	७ ०
शस्त्राशखिकथैव का	४	२०	सहैव सुग्रीव	७ ०
शस्त्रीकृतस्तकवरो	६	४२	साक शक्तिधरेण	० -
शस्त्रीकृतान्खपि	६	३३	साधारणो रघूणा	१ १
शाम्भव चापमारोप्य	३	६५	सारम्भ निरिवच्छ	७ ७२
शिवास्ते पथानो धन	०	६३	सिंहलद्वीपमग्भोधि	७ ८०
शक्तिकार्षभसम्बध	७	०१	सिद्धश्रोत्रपरम्परा	१ १२
शैलप्रवशातप्रचली	७	१९	सीतास्तनस्त्वव	६ ६०
श्यामो नाम वट	७	१०९	सुग्रीव यदि पदपात	५ २५
श्रीकण्ठस्य कपर्द	७	५३	सुचरितमिन्मैतिहासिनाता	४ ६७
श्रुत्वा वाशरधी	६	१७	सुदासुरेन्द्रसुत	७ २६
श्रुत्वा दुध्रवमद्सुत च	४	८	सुराधीशानोधा	१ २७
श्वसोर्भिप्रतिबन्ध	६	०५	सुरासुराणामसुभि	५ ४२

सुप्रिनिहितचन्द्रहाम	६	७१	स्यादेव तोयममृत	७	१३
सेनूपनममभ्रमा	७	८४	स्वच्छन्दैकस्तन	७	३१
ससूयोगे सपदि	७	२१	स्वतनुरचिभिदीघाही	६	३५
सोऽय कैलासशैल	७	२५	स्वपाणिप्राग्भार	७	९४
स्तोकोन्मिद्रनिदाघ	४	१	स्वविदनप्रसरेण	१	४९
स्त्रीषु प्रवीरजननी	२	३३	स्वपपुषि नखलचम	४	२३
स्थानेषु शिष्य	२	९	स्वेदजलपिच्छिला	७	१०२
स्फुरति पुरतो	२	६९	स्वेदाद्द्रवामकुच	७	३९
स्मरन्ति लोकार्थमर्मा	८	१७			
स्मरपरिभव	७	३०	हस्ते करिष्यति	३	८
स्मेरा दिश कुमुद	२	८३	हिमालयोरसङ्ग	७	१२५
स्यातां नाम कपीन्द्र	३	३९	हुतमिष्ट च तप्त च	१	१७

५१०३